आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन

जयशङ्कर त्रिपाठी
एम॰ ए॰, साहित्याचार्य, डी॰ फिल्॰

आचार्य दण्डी
एवं
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी. फिल्. उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित रूप

डा. जयशङ्कर त्रिपाठी

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मागाँधी मार्ग
इलाहाबाद–१

प्रथम संस्करण : १९६८
मूल्य : Rs. 30/=
Revised Price

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

भूमिका

भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव और विकास की लम्बी कहानी है—और यह कहानी समग्र रूप से संस्कृत-वाङमय में निबद्ध है। हिन्दी का रीतिकाल उसी के एक अंश का पल्लवन अथवा टूटी हुई कड़ी का नया वितान है। पुरातत्त्व की सामग्री में और वैदिक साहित्य में काव्य-चिन्तन के जो उल्लेख या संकेत प्राप्त हैं, उनके आधार पर काव्यशास्त्र के मूल उद्भव का इतिहास ढाई हजार वर्ष से भी पुराना सिद्ध होता है। इस अवधि में अनेक आलंकारिक आचार्य हुए हैं, जिनकी स्थापनाओं और मान्यताओं से काव्यशास्त्र का वाङमय समृद्ध है। इन आचार्यों में दण्डी का प्रमुख स्थान है और उनका 'काव्यादर्श' पुरा काल में अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। हिन्दी के आचार्य केशवदास ने प्रायः दण्डी के ही काव्यमत की अवतारणा अपनी 'कविप्रिया' में की है और उधर 'काव्यादर्श' का अनुवाद कन्नड़, सिंहली और तिब्बत की भोट भाषा में हो चुका है। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं जो दण्डी के उस ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं जिसकी पृष्ठभूमि में संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास का एक प्रकृत सोपान उभर कर सामने आता है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इस ऐतिहासिक विवेचन-क्रम में डा० जयशङ्कर त्रिपाठी का ग्रन्थ 'दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। दण्डी के 'काव्यादर्श' का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इतना विस्तृत विवरण प्रथम बार विद्वानों के सामने रखा गया है। इस प्रयास में लेखक का वैदुष्य तथा उसकी ऐतिहासिक दृष्टि दोनों का परिचय मिलता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास की एक हजार वर्ष की लम्बी कहानी–दण्डी से भोज तक की परम्परा को लेखक ने इतिहास का नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। इस दृष्टिकोण से सहमति या असहमति का प्रश्न तो अलग है, पर चिन्तन की गहराई को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ग्रंथ में लेखक के नूतन दृष्टिकोण के कुछ पक्ष इस प्रकार हैं—१. दण्डी भामह के पूर्ववर्ती, काव्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं; उनका समय चौथी शताब्दी ईस्वी का मध्य है, उनकी एकमात्र कृति 'काव्यादर्श' प्राप्त है। २. 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद, जिसमें चित्रमार्ग का व्याख्यान है, प्रक्षिप्त है, दण्डी की रचना नहीं है। ३. दण्डी के आचार्यत्व की मौलिकता उनके मार्ग एवं दश गुण-सम्बन्धी व्याख्यान

में है। ४. संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास की कहानी भाव तथा भाषा विषयक काव्य-सिद्धान्तों के यथाक्रम आवर्तन में देखी जा सकती है। ५. सूक्ति-काव्य और महाकाव्य (कथा-प्रबन्ध) कवि के कृतित्व के दो पक्ष हैं, एक में उक्ति वैलक्षण्य (भाषा-सौष्ठव) की प्रधानता है और दूसरे में रसानुभूति की। ६. 'वार्ता' काव्य नाम की एक प्राचीन विधा का व्याख्यान। ७. अलंकार-उद्भावना में दीपक की प्राथमिकता। ८. अलंकार-उक्तियों की मूल प्रकृतियाँ––स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति।

ये स्थापनाएँ, विशेषतः प्रथम चार ऐसी हैं जिन पर संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्येता को आश्चर्य हो सकता है। दण्डी को प्रथम आचार्य की पदवी, अधिकांश विद्वान् नहीं देते हैं, उनके अलंकारों के विस्तृत व्याख्यान को देखते हुए प्रायः यह धारणा बनती है कि यह विस्तार बाद का है, परन्तु प्रस्तुत लेखक ने अनेक तर्कों से उसकी प्राचीनता को सिद्ध किया है। ग्रंथ में यह स्पष्ट किया गया है कि दण्डी ने उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप आदि अलंकारों के भेदों की जो लम्बी सूची प्रस्तुत की है वह सूची विदग्ध-गोष्ठियों में कवियों द्वारा वाचित उक्ति-प्रकारों का संकलन है, न कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भेद-प्रदर्शन। दण्डी की विदग्ध-गोष्ठी और सूक्तिकाव्य को, प्रयाग-अभिलेख में सम्राट् समुद्रगुप्त के निरूपित वैशिष्टच सूक्तिमार्ग-कवित्व (अध्येय: सूक्तिमार्गः) के समकाल रख कर लेखक ने अपने दृष्टिकोण की ऐतिहासिकता की पुष्टि की है। 'काव्यादर्श' के रचना-काल पर एक लम्बा परिशिष्ट लेखक ने ग्रंथ के अंत में दिया है जिसमें पूर्वापर ऐतिह्य के विविध पक्षों द्वारा विषय का निर्धारण हुआ है। रचना-काल की तरह 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद के कर्तृत्व की परीक्षा भी सर्वथा नवीन चिन्तन का परिणाम है; काव्यशास्त्र के इतिहास में यह प्रश्न पहली बार उठाया गया है, यद्यपि इसमें अभी और छान-बीन की अपेक्षा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में, संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहासकारों––म० म० पाण्डुरंग वामन काणे, डा० सुशीलकुमार डे, डा० वी० राघवन्, डा० गणेश-त्र्यम्बक देशपांडे, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार आदि––की ऐतिहासिक स्थापनाओं का अतिक्रमण करने पर भी त्रिपाठी जी ने अपने को अपथगामी नहीं बनाया है। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसके पोषण के लिए आवश्यक प्रमाण उपस्थित किये हैं––हो सकता है कि ये प्रमाण भविष्य में उन्मीलित होनेवाले प्रमाणों से बाधित भी हो जाएँ, परन्तु फिर भी एक नवीन दिशा की ओर संकेत करने के लिए इनका आदर किया जाएगा।

नये दृष्टि-विंदुओं के अतिरिक्त कुछ पुराने चर्चित विषयों को भी त्रिपाठी जी ने नवीन अनुशीलन के साथ, साफ-सुथरे ढंग से उपस्थित किया है––जैसे महाकाव्य के विकास की कहानी, दश गुणों के उद्भव-विकास का परीक्षण, अलंकारों के

मूल-स्रोत आदि। दीपक अलंकार की प्राथमिकता के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवेचन इस पुस्तक में दिया गया है वह भी अपने आप में काफी रोचक है। दूसरे उन्मेष में लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र के समग्र इतिहास की एक संक्षिप्त विवेचनात्मक रूपरेखा प्रस्तुत की है जिसमें वैदिक कवियों से लोक-कवियों की विभाजक रेखा का सुन्दर निरूपण किया गया है। लेखक ने अपना निष्पक्ष मत साहसपूर्वक व्यक्त किया है, और किसी एक सिद्धान्त को सर्वोपरि न मान कर विभिन्न मतों का संतुलित विवेचन प्रस्तुत किया है।

हमें आशा है कि डा० त्रिपाठी का यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अध्ययन के विकास में योगदान करेगा।

नगेन्द्र

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
७-५-६८

अभिमत

भरत से लेकर जगन्नाथ तक जो काव्यशास्त्रीय चिन्तन-धारा प्रवाहित होती रही है; काव्य-साहित्य के स्वरूप को समझने-समझाने के लिए जो विचार-मन्थन होता रहा है उसे साहित्य के अल्पधी साधारण पाठक के लिए हिन्दी के लेखकों ने उपलब्ध कर दिया है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणेताओं के सामने भी यह समस्या, अर्थात् अपनी विचार-सरणि को बोध-गम्य रूप में रखने की समस्या, नहीं थी, सो बात नहीं है। 'उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः' 'अल्पसामल्पधियामपि' इत्यादि वाक्यों से पता चलता है कि वे भी अच्छी तरह समझते थे कि विचारों को स्वच्छ तथा सुगम रूप में उपस्थित किया जाए पर इसमें उन्हें सफलता भी मिली है, यह कहना कठिन है। उनका विचार-विजृम्भण इतना गुरु-गौरव-गम्भीर है, अभिव्यक्ति इतनी जटिल है, इष्टार्थव्यवच्छिन्न-पदावली इतनी गठित-गुम्फित है कि साधारण पाठक क्या, निष्णात विद्वानों के लिए भी लोहे का चना ही प्रमाणित होती होगी। ज्ञान-गौरव के उच्च शिखर पर स्थित उस 'काव्यशास्त्रामृत-रसास्वाद' को पाठक-जन के लिए सुलभ करने का बीड़ा हिन्दी ने उठाया है। और आज परिस्थिति यह है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का ज्ञान अब जितने पाठकों को सुलभ है वह तत्तद् युग में भी सम्भव था, यह कहना कठिन है। हिन्दी के जनभाषा होने का, जन-हृदय से उद्भूत होने का, जनता की भावभार-वाहिनी होने का यह प्रबल प्रमाण है। रामानन्द दुरूह हो सकते हैं, वल्लभ का दर्शन जन-मन के लिए जरा कठिन पड़ सकता है पर कबीर, तुलसी तथा सूर पर यह लांछन लानेवाला बड़ा साहसी होगा।

मेरी कल्पना में डा० जयशङ्कर त्रिपाठी ऐसे ही साहित्य-सेवियों की परम्परा में आते हैं। वे हैं संस्कृत के विद्वान्, थीसिस लिखी है उन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र-परम्परा के प्रवर्तक आचार्य दण्डी पर। परन्तु अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम उन्होंने हिन्दी को बनाया है। उनका प्रस्तुत ग्रन्थ 'दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन' ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्र के मूलभूत तत्त्वों तथा विकास का सूक्ष्म निरीक्षण, अभिनव चिन्तन है। एतद्विषय के पूर्व लेखकों से उनकी अपनी नवीनता है, संस्कृत आचार्यों की काव्य के सम्बन्ध में क्या मान्यताएँ हैं, वही सत्य हैं, इसे ही लेखक ने नहीं देखा है, न तो इसके निरीक्षण-परीक्षण

के लिए बहुत विस्तार किया है। आज के युग में बैठ कर लेखक ने एक हजार वर्ष अवधि की संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा को, उसकी इस लम्बी यात्रा को निरपेक्ष आलोचक की दृष्टि से देखा है, यात्रा की उपलब्धियों का लेखा-जोखा तैयार किया है। मान्यताओं की जन्म-कहानी खोजने की भरपूर चेष्टा की है और उनके प्रभाव का आकलन किया है, 'सरस्वती वन्दना' और महाकाव्य में मंगलाचरण के के बदलते रूपों का ब्योरा ऐसी ही खोज हैं, फलतः अनेक अनुद्घाटित तथ्य पहली बार सामने आये हैं। यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा के ये अभिनव-उन्मीलन इतिहास की परतों को तोड़ कर प्रकट हुए हैं।

लेखक ने अन्य महान् मनीषी विचारकों को छोड़ कर दण्डी को ही आधार के रूप में ग्रहण किया है। वैसे निरीक्षण की भूमि में उन्होंने भोज तक के संस्कृत काव्यशास्त्र को अपनी विचार-सीमा में समेट लिया है, 'पूर्वापरौ तोयनिधी' का अवगाहन कर लिया है पर सब के केन्द्र में दण्डी ही प्रतिष्ठित हैं। इसका एक कारण तो यही है कि लेखक ने दण्डी को संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रथम प्रतिष्ठाता माना है। मैं मनोवैज्ञानिक हूँ, जिसका काम है अचेतन में छिपी वृत्तियों को पकड़ना, चाहे उस व्यक्ति को भी उनका पता न हो जिसके माध्यम से वे प्रस्फुटित हो रही हों। मेरे सामने दो प्रश्न हैं। डा० जयशङ्कर त्रिपाठी ने हिन्दी को माध्यम क्यों बनाया तथा दण्डी पर ही उनकी दृष्टि क्यों गयी? लेखक ने भी इस ओर संकेत किया है—'(दण्डी ने) काव्य के सम्बन्ध में गुण जैसे नये सिद्धान्त का प्रतिपादन कर, जो प्रकारान्तर से सौशब्द्य (सुष्ठु शब्दों का प्रयोग) काव्य था, उसे भाव अथवा अर्थ-मूलक अलंकार-सिद्धान्त की तुलना में जबरदस्त समर्थन प्रदान किया, और जो उस युग के काव्य-विदग्धों का अभिमत था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी।' यह डा० त्रिपाठी का वैदुष्य बोल रहा है, यह एक स्कालर की उक्ति है। पर इसके पीछे एक ध्वनि आ रही है जो मुझे तो सुनायी पड़ रही है, दूसरे भले ही न सुन पाते हों, कि दण्डी और डा० त्रिपाठी दोनों में किसी न किसी तरह का समानधर्मित्व है, अतः 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' परम स्वाभाविक है। डा० त्रिपाठी स्कालर, सहृदय तथा विचारक तो हैं ही, जिसका प्रमाण उनकी यह पुस्तक ही है, साथ ही साहित्य-स्रष्टा एवं कवि भी हैं, उनके कवि का यह समानधर्मित्व विदग्ध-गोष्ठी के सूक्ति-कवि और आचार्य दण्डी के साथ है। प्रयोग तथा सिद्धान्त की समान अनुभूति दोनों के लिए है।

अतः दण्डी तथा त्रिपाठी का संयोग परम स्वाभाविक है और जब नैसर्गिक शक्ति की स्वतः स्फूर्त माँग के रूप में कोई कृतित्व सामने आता है तभी साहित्य तथा कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ सामने आती हैं।

यह पुस्तक वैसी ही एक उपलब्धि है। अलंकारों का जैसा सूक्ष्म विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है अलंकार-निदर्शन का षष्ठ उन्मेष अलंकार-सम्बन्धी विवेचन का बृहत् कोष है और डा० त्रिपाठी के अध्यवसाय, गहन पाण्डित्य तथा गम्भीर चिन्तन का परिचायक है। नीलकण्ठ दीक्षित का एक श्लोक है—

वाचं कवीनामुपलालयन् हि
भुंक्ते रसज्ञो युवतिं युवेव।
तानेव भुंक्ते ननु तार्किकोऽपि
प्राणान् हरन् भूत इव प्रविष्टः॥

डा० त्रिपाठी अपने ग्रन्थ के प्रथम चार-पाँच उन्मेषों में रसज्ञ के रूप में उपस्थित होते हैं, वहाँ पर उनकी प्रतिभा प्रसन्न-स्तिमित प्रवाह के रूप में लोगों पर चोट करती, उन्हें उत्तेजित करती तथा स्वयं उत्तेजित होती हुई चलती है पर यहाँ आ कर अभिभूत कर लेती है, कथ्य को पकड़ने के लिए वाकायदे मोर्चाबन्दी करती है। यह उनके तार्किक का रूप है।

पर प्रथम उन्मेषों में ग्रन्थकर्ता की प्रतिभा बड़े मजे-मजे में कैंची की तरह मार करती हुई चलती है, लगता है कि अन्धकार की उमड़ती फौज के व्यूह में पैठ कर एक पतली किरण उससे लड़ रही हो। दण्डी के 'काव्यादर्श' को अर्थ-मूलक अलंकार-उद्भावना के विरुद्ध सौशब्द्य काव्य की प्रबल भाषा-क्रान्ति कहना ऐसी ही एक किरण है जिस पर आगे चल कर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जायेंगे। अभी तो शायद लोग इस पर मशकूक नजरों से देखें। पर बात यही सही है, काव्य का इतिहास भाव और भाषा के संघर्ष का इतिहास रहा है। इस संघर्ष में भाव तथा अर्थ का ही पलड़ा भारी रहा है अवश्य, पर भाषा भी इसके विरुद्ध प्रोटेस्ट करती रही है। और जब भाषा का यह प्रोटेस्ट सफल हुआ है, काव्य में क्रान्ति हुई है। अंग्रेजी के अधिकांश आलोचकों ने भाव का साथ दिया है। सिउनी, ड्राइडेन, पोप, वर्डस्वर्थ, शैली, कालरिज ने भाषा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भाव को भी साथ लिया ही है। किसी ने भाषा-प्रयोग विधान को ही काव्य की एकमात्र विशिष्टता नहीं मानी। पर आज की न्यू क्रिटिसिज्म वालों की बात सुनिए तो मानो वे कहते हैं—भाषा-प्रयोग की विशिष्टता ही काव्य है, 'भाषा-प्रयोग वैशिष्ट्यमेव काव्यम्।' जो हो आज तो अंग्रेजी की आलोचना का मैदान भाषा-वैशिष्ट्यवादियों के हाथ में है।

डा० त्रिपाठी ने इस बात की ओर लोगों का ध्यान आर्कषित किया है और कहा है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में दण्डी ने प्रथम बार भाषा-विषयक क्रान्ति की थी। भारतीय साहित्य इस दृष्टि से भी यूरोपीय साहित्यशास्त्र से समृद्ध है क्योंकि

यहाँ पर इस तरह की कितनी ही क्रान्तियाँ हुई हैं। रीति, वक्रोक्ति ऐसी ही क्रान्तियाँ तो थीं। पर अंग्रेजी में तो यह प्रथम क्रान्ति है।

निश्चय ही डा० त्रिपाठी का यह ग्रन्थ हमारे काव्यशास्त्रीय अध्ययन को नयी दिशा प्रदान करता है। मैं प्रत्येक साहित्य-प्रेमी की ओर से, विशेषतः हिन्दी-साहित्य की समृद्धि में रुचि रखनेवालों की ओर से प्रतिभा, लगन तथा अध्यवसाय के इस ग्रन्थ का स्वागत करता हूँ। मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है कि यह ग्रन्थ सब का आदर पात्र होगा।

'न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।'

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग **देवराज उपाध्याय**
उदयपुर विश्वविद्यालय
९-५-६८

दृष्टिकोण

कवि का इतिहास उतना ही पुराना है, मानव-सभ्यता की कहानी जितनी प्राचीन है। प्लेटो के डायलाग्स और आर्यों के ऋग्वेद में कवि की जो चर्चा आती है, उसकी प्रकृति में अन्य वर्णित विषयों की अपेक्षा पुरानेपन की गन्ध है अर्थात् कवि की परम्परा उस वर्णन से बहुत प्राचीन है। कवि का यह लम्बा जीवन इतिहास की कई ऋतुओं से हो कर गुजरा है और उसमें अनेक आमूल परिवर्तन हुए हैं, सावन की नदी और फागुन की नदी का अन्तर उसमें आया है। इन परिवर्तनों के कारण जब हम समग्र इतिहास को अपनी आँखों के सामने रख कर कवि को देखते हैं तब संशय-स्तम्भित हो जाते हैं, प्रश्न की रेखा बुद्धि को घेर कर कहती है--किसे कवि कहा जाये? ऋग्वेद के आंगिरस ऋषि, जिन्होंने अग्नि की खोज किया, सोम की खोज किया, चमकते आयुध धारण कर सोम की रक्षा करते रहे, उल्लास का गान गाते रहे, जिन कवियों द्वारा खोजे जाने के कारण ही अग्नि और सोम का नाम 'कवि' प्रसिद्ध हो गया, जो स्वयं में शक्तिमान् क्रान्तप्रज्ञ थे, इन्द्र के सहायक थे, समाज के नेता थे, जिनकी परम्परा में हुए उशना कवि को भगवान् कृष्ण ने अपना विभूतिमान् अंश स्वीकार किया (मैं कवियों में उशना कवि हूँ), कवि-जीवन का मूल स्वरूप क्या यही है? अथवा जो कालिदास नें कहा, मैं मन्दमति हूँ और कवि के ऊँत्रे यश की कामना सँजो रहा हूँ (कैसी विडम्बना है?), वाणी का हीन-विभव ले कर भी मैं रघुवंशी राजाओं की कीर्ति का बखान करूँगा। कालिदास की कई शतियों के अनन्तर कल्हण ने भी कवि-धर्म की कसौटी राजाओं के वंश-गायन में स्वीकार करते हुए बड़े गर्व से कहा--'समुद्र की करधनी पहने पृथ्वी ने जिन राजाओं के भुजा-रूपी वनवृक्षों की छाया में विश्राम किया और निर्भय बनी रही, उन राजाओं का नाम भी इतिहास से मिट जाता है यदि वे कवि का अनुग्रह नहीं प्राप्त करते, ऐसे कवि-कर्म के लिए नमस्कार है।' अर्थात् कवि राजा का पूरक है, वह शरीरधारी इतिहास है, राजाओं का यश उस इतिहास तक पहुँच कर ही टिक पाता है, 'कवि-कृत यह इतिहास अर्थात् कवि का गुण, अमृत के प्रवाह को भी तुच्छ कर देनेवाला, अपने तथा राजा के यश को स्थायित्व देनेवाला सब प्रकार से वन्दनीय है।' क्या कवि का मूल स्वरूप यह रहा होगा?

कवि के उक्त दोनों स्वरूपों में विरोध है। एक जगह वह स्वयं समाज का

विधाता और अपनी स्थिति का निर्माता है, दूसरी जगह वह समाज के तथाकथित निर्माता राजा का आश्रित है और इस बात का अभिमान रखता है कि यदि राजा ने मेरी अभ्यर्थना न की तो मैं इतिहास से उसका नाम ही मिटा दूँगा। 'शृंगार तिलक' का रचयिता भी तन कर कहता है—'यदि कोई कमल पुष्प पर बैठा खंजन देख ले तो निश्चय ही वह कवि होगा, या नरपति।' अर्थात् क्षीण-पुण्य हो जाने से कवि होने का सौभाग्य न मिला तो राजा होने में सन्देह नहीं है। अधिक पुण्योदय कवि-जीवन की ही स्थिति लाता है। किन्तु अधिक पुण्योदय की यह उपलब्धि कितनी विचित्र है, कवि राजा से श्रेष्ठ भी है, वही राजा को इतिहास में अमर बनाता है, पर है राजा का यशोवाहन, उसकी रीति-नीति के अनुसार ही उसका स्तुति-गायक है। भर्तृहरि-शतक के अनुसार 'दाक्षिणात्य कवि' राजा के विलास उपकरणों में से एक उपकरण है। कल्हण, भर्तृहरि जैसा खरा इतिहास-लेखक या कवि सर्वत्र न तो सुलभ है, न आदर ही पा सकता है। तब बेंत के समान झुक जाने और तन जाने का कवि का यह वाणी-अभिमान किस मनोविज्ञान का सूचक है। यह अपने को अपार काव्य-संसार का प्रजापति कहता हैं और विश्व को अपनी ही कल्पना-प्रेरणा के अनुसार रसमय अथवा नीरस बना देने की क्षमता रखता है। सम्भवतः यह कवि के इतिहास-गत रक्त की उष्णता है। उसकी उक्तियों में खरे अभिमान की यह झलक ऋग्वेदकालीन कवि की सर्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता का क्षीणतम स्पन्दन है जो परम्परागत भाव-रक्त में स्फूर्ति ले रहा है।

सहस्राब्दियों के इतिहास में प्रायः कवि का एक लक्ष्य रहा है जो कुछ विभूतिमान् है, सुन्दर है, चाहे वह भगवान् के अवतार का विग्रह हो, चाहे प्रकृति-दर्शन हो, चाहे रमणी का सौन्दर्य हो, उनके सामंजस्य से भाव की अनेकधा स्थितियों के अनुभूति-परक निदर्शन के लिए वाणी-प्रयोग की साधना कवि करता रहा है। ऋग्वेदकालीन कवियों के धर्म से हट कर, प्रकृति-तत्त्वों की छानबीन से पराङमुख हो कर उसने कलात्मक जगत् में प्रवेश किया है। उसके कलात्मक जगत् के दो पक्ष रहे हैं—हृदय की अनुभूति तथा चुभते शब्द-अर्थ का प्रयोग। इस कलात्मक प्रयोग ने समाज को दैन्य-अवस्था में साहस दिया है, श्रान्ति में विश्राम का अनुभव कराया है और उत्कर्ष में आनन्द एवं उद्बोधन दिया है।

इस प्रकार किसे कवि कहा जाए? दोनों को या एक को, इसका इदमित्थम् निर्णय यहाँ नहीं करना है, पर जिस कवि के स्वरूप और जिस कवि के काव्य की शास्त्रीय मीमांसा को ले कर कम से कम दो हजार वर्ष से पूर्व की हमारी परम्परा अपने विचार प्रकट करती रही है, वह दूसरा, परवर्ती कवि ही है, जिसने प्रथमतः राजा के यश को सुरक्षित रखने का बीड़ा उठाया। अन्य लोक-वार्ताएँ उसके काव्य

का गौण विषय थीं। प्रथम कवि के समानधर्मा भी इन कवियों की परम्परा में होते रहे हैं, पर उन क्रान्तप्रज्ञों ने कलात्मक काव्य की रचना नहीं की है, सांख्य, वैशेषिक, ज्योतिष आदि में नूतन उपलब्धियों के जनक महान् मेधावी कपिल, कणाद, आर्यभट आदि वैदिक क्रान्तप्रज्ञ-कवियों के उत्तराधिकारी रहे हैं।

इस कलात्मक काव्य पर मनन-चिन्तन के सूत्र ढाई हजार वर्ष से भी पुराने उपलब्ध होते हैं। ऋग्वैदिक कवियों से भिन्न सरणि में इस कलात्मक काव्य का अभ्युदय हमारी अनुसंधित्सा को इतिहास की परतों में उलझाता है। श्रीमद्-भागवत की भक्ति उत्तर भारत में दक्षिण भारत से आयी है। उसका जन्म ही वहाँ हुआ है। इसी प्रकार इस कलात्मक कवि की परम्परा का उद्गम भी दक्षिण भारत है, यहाँ दक्षिण भारत से तात्पर्य सम्पूर्ण विन्ध्य मेखला और दक्षिण समुद्र की भूमि से है। भर्तृहरि ने राजा के विलास-उपकरणों का उल्लेख करते हुए जो यह लिखा है कि—

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः
पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।

अर्थात् दाक्षिणात्य कवि राजा के पार्श्व में बैठने का स्थान पाते थे, यह इतिहास की उक्ति है। इसका समर्थन तब और हो जाता है जब 'काव्यादर्श' का रचयिता अपने गुण-निरूपण में दाक्षिणात्यों की मान्यताओं का ब्यौरा प्रत्येक प्रसंग में देता जाता है और उनके वैदर्भ मार्ग काव्य में ही दश गुणों की स्थिति स्वीकार करता है, पौरस्त्य—गौड काव्य में नहीं। भामह अपने काव्यालंकार में इस समर्थन की पुनः पुष्टि कर देते हैं, वे वदर्भ काव्य की श्रेष्ठता की आलोचना करते हैं और गौड काव्य का समर्थन इन शब्दों में करते हैं—

गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा ।

अर्थात् गौड काव्य भी अच्छा हो सकता है, वैदर्भ काव्य नहीं भी अच्छा हो सकता। गौड काव्य के प्रति भामह की वकालत में इतिहास बोल रहा है कि उनके सामने भी वैदर्भ (दाक्षिणात्य) कवि श्रेष्ठ माने जाते थे, कवि के इस इतिहास में उनकी सत्ता पहले है, वे श्रेष्ठ माने जाते हैं, उनकी प्रथम सत्ता का तिरोधान तो नहीं हो सकता था पर श्रेष्ठता के प्रति आक्षेप भामह कर सकते थे, उतना भामह ने किया।

दाक्षिणात्यों की कवि-परम्परा और उनके काव्य-लक्षण का विस्तार प्रथम गौड देश तक हुआ। उज्जयिनी और पाटलिपुत्र में काव्य-परीक्षाएँ हुआ करती थीं। गौडों ने काव्य-लक्षण में अपना भी मौलिक योगदान दिया, फिर वह काव्य-

लक्षण पाञ्चाल एवं देश के उत्तरी छोर कश्मीर तक पहुँचा, उत्तर तक पहुँचते-पहुँचते उसमें बहुत परिवर्तन हो गया। पहली बात तो यह हुई कि काव्य-लक्षण को नाटच-तत्त्व ने अभिभूत कर लिया। इसकी पहली सूचना रुद्रट के काव्यालंकार से मिलती है। और काव्य-लक्षण में वाणी (शब्दार्थ)––प्रयोग के स्थान पर भाव और रस तत्त्व की अनुभूति की खोज की जाने लगी।

काव्य-लक्षण में भाव और रस तत्त्व की खोज का अभिनिवेश इतिहास में बीती हुई घटना की पुनरावृत्ति है। वाणी के प्रयोग का कलात्मक काव्य अपने लक्षण-परीक्षण के लिए उनके हाथ में पहुँचा जो अन्तर्मुखी वृत्ति के थे, जो सर्वत्र कलात्मक प्रयोग पर ही दृष्टि नहीं रखते थे, जिनकी परम्परा तत्त्वात्मक-चिन्तन के लिए प्रसिद्ध थी। ये औदीच्य आचार्य थे। कदाचित् इनके ही पूर्वज वे आंगिरस कवि रहे हों, जिन्होंने अग्नि और सोम का प्रथम साक्षात्कार किया था। उनके वंशजों की भूमि में इतिहास की बीती हुई घटना ने पुनरावर्तन किया। काव्य को पाकर वहाँ उसका तात्त्विक लक्षण-परीक्षण आरम्भ किया गया। ध्वनि-सिद्धान्त, अनुमितिवाद तथा आत्मा के रूप में भाव और रस की प्रतिष्ठा इस चिन्तन में की गयी। उनके डेढ़ हजार वर्ष पूर्व काव्य के पक्ष में निरुक्त और अष्टाध्यायी के लेखकों ने उपमा, रूपक तथा दीपक के क्रिया-प्रयोगों की जो चर्चा उद्धृत की थी, उस चर्चा का स्थान बहुत अवर हो गया। इन चिन्तकों ने इस भाव और रस को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर निरूपित करना आरम्भ किया, इसके आनन्द की तुलना योगी के ब्रह्मानन्द से की जाने लगी। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि प्रत्येक तत्त्व-चिन्तन का मार्ग टेढ़े-सीधे वहीं जा कर समाप्त होता है। भट्टनायक ने इस प्रसंग में जो उक्ति की है उससे इस तुलना की मूल प्रवृत्ति का पता चलता है––'वाणी-रूपी गौ से कवि-वत्स की तृष्णा को देखते ही अपने आप रस-दुग्ध स्रवित होने लगता है, भला योगियों के ब्रह्मानन्द से उसकी तुलना कैसे की जा सकती है जो बड़े कष्ट से लभ्य होता है ?' अर्थात् सुख से जीवन व्यतीत करनेवाले काव्य-विनोदी जनों के लिए इस बात का सन्तोष था कि वे योगिजीवन की महत्साधना को अपने काल्पनिक आनन्द में उतार रहे हैं। यहीं पर काव्य-लक्षण अपने प्रकृत पथ से विमार्गी हो रहा था, जिस रस को आधार बना कर काल्पनिक ब्रह्मानन्द का ऊँचा महल खड़ा किया गया वह रस काव्य का प्राण नहीं था, न तो उसके मूल उद्‌गम में उसकी सत्ता प्रकट हैं, नाटच-कला के साथ इस रस का उदय हुआ था, उसकी वास्तविक संज्ञा ही नाटच-रस है। काव्य-लक्षण के व्याख्याताओं ने जहाँ रस-व्याख्या की अवतारणा की है, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, यहाँ तक कि मम्मट ने भी, रस की अनुभूति को नाटच की मिसाल दे कर ही समझाया है। काव्य में रस की अभावात्मक सत्ता का

बोध इसी से हो जाता है। काव्य में रस-सिद्धान्त की इस स्थापना का संस्कृत के पिछले कवियों पर बहुत दुष्प्रभाव पड़ा है, वाणी-प्रयोग की उनकी मौलिकता का ह्रास होता गया है और वे रस-सिद्ध कवि होने के लिए उतावले बने रहे हैं। ऐसे भी कवि, जिनका कृतित्व उनके शब्दार्थ-प्रयोग, उक्ति-चमत्कार में ऊँची प्रतिष्ठा पा सका है, अपने को यही समझते रहे हैं कि इस प्रतिष्ठा का कारण मेरे कवित्व की रस-सिद्धता है, जैसे नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष। श्रीहर्ष ने अपने काव्य को 'शृंगारामृतशीतगुः' अर्थात् शृंगार रस-रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है, किन्तु शृंगार रस के सोपांग, काव्यलक्षण में विहित स्थिति के उदाहरण उसमें ढूँढ़ने पर ही मिलेंगे। सम्भवतः श्रीहर्ष का अपने काव्य की इस प्रशंसा में यह लक्ष्य रहा हो कि उन्होंने तीन सर्गों में केवल दयमन्ती का नखशिख-वर्णन किया है, और स्वयंवर की कहानी कई सर्गों में कही है, किन्तु नायिका का येन केन-प्रकारेण वर्णन ही तो लक्षण-विहित शृंगार-रस की स्थापना नहीं है, उसमें भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी-भावों की यथायोग स्थिति बहुत आवश्यक है, जो केवल नाट्य के रंगमंच पर ही आती है, काव्य में भी वह जिस प्रकार स्वीकार की गयी है ऐसे चमत्कारी स्थल भी 'नैषधीय चरित' में कम हैं। प्रेयस्, रसवत्, भाव-शबलता अथवा भावोक्ति की बात यहाँ नहीं की जा रही है।' नैषधीय चरित' काव्य को प्रकाशित करनेवाली उसकी बे-जोड़ उक्तियाँ है, जिनमें कहीं कल्पना की ऊँची उड़ान है, कहीं मार्मिक परिस्थितियों का बिम्ब-चित्र।

काव्य में उसकी आत्मा ध्वनि और ध्वनि की आत्मा रस की इस विषम स्थिति का आकलन कुन्तक ने किया, तथा काव्य के वक्रोक्तिजीवित की अवतारणा की, जो दण्डी के गुण, वामन की रीति का अभिनव संस्करण और विस्तार था। 'वक्रोक्ति-जीवित' में विस्मृत होती हुई काव्यलक्षण की मूल प्रकृति का पुनः उद्धार हुआ। अर्थात् वाणी-प्रयोग में कवि-प्रतिभा की सार्थकता का मूल्यांकन कुन्तक ने बताया। कुन्तक के बाद काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन का पटाक्षेप हो जाता है, इसके दो कारण हैं––१. काव्य में रस की स्थिति के प्रति दुराग्रह। २. देश की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन, इस्लाम धर्मावलम्बियों की विजय से सांस्कृतिक जीवन की अस्त-व्यस्तता और पश्चिमोत्तर भारत में विद्वानों के राज्याश्रय का तिरोधान; विद्वत्सभाओं की परम्परा का अवसान। पिछली शतियों में औदीच्य विद्वानों की अपेक्षा पूर्व तथा दक्षिण भारत के विद्वानों ने ही काव्यलक्षण की मीमांसा में अधिक भाग लिया है, और प्रायः सभी ने रस को केन्द्र में रख कर अपना काव्य-शास्त्रीय चिन्तन किया है। इन हजार वर्षों के काव्यलक्षण के जीवन का आकलन यदि हम करें तो एक विचित्र स्थिति सामने आती है। लगभग विक्रम की चौथी

शती में वैदर्भों के मार्ग तथा गुण के वाणी-प्रयोग के काव्य-लक्षण ने यात्रा का जो आरम्भ किया, वह गौड, पांचाल होता हुआ औदीच्य---कश्मीर पहुँचा, विक्रम की ग्यारहवीं शती में पुनः वह सीधे विदर्भ लौटा, वाणी-प्रयोग के स्थान पर ब्रह्मानन्द से भी बढ़ कर रसानुभूति की सिद्धि ले कर। जब भोज ने अपने 'शृंगारप्रकाश' की रचना की।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास की प्रमुख उपलब्धियाँ इन एक हजार वर्षों में ही प्रकट हुई हैं। इस इतिहास को ले कर विगत पचास वर्षों में भारतीय विद्वानों ने चिन्तन किया है और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। उनके इस चिन्तन का आधार मूल ग्रन्थ तो रहे ही हैं, इस विषय में पाश्चात्य विद्वानों के दिशा-निर्देश, चिन्तन एवं समीक्षाएँ भी उनका आधार हैं, यही कारण है कि इस विषय के अधिकांश ग्रन्थ भारतीय भाषाओं में न हो कर अंग्रेजी में हैं। एतत्सम्बन्धी इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री अब किसी न किसी रूप में हमारे सामने देखने के लिए सुलभ है। हमारे आदरणीय विद्वानों द्वारा किये गये इस आकलन का अध्ययन करते समय दो अभाव अनुभव होते हैं---१. इन विद्वानों ने भी काव्य-लक्षण के विकास को रस की दृष्टि से ही देखा है। जिससे विकास का सही आकलन होते-होते छूट जाता है। एक विद्वान् ने तो दण्डी के समाधि गुण को काव्य में रस की अवतारणा का मूल उत्स बताया है, जब कि स्थिति यह है कि समाधि गुण के पूर्व नाटच-रस की स्थिति थी और स्वयं दण्डी ने रसवत् अलंकार का निरूपण किया है, और समाधि गुण भी पिछले रसवादी आचार्यों द्वारा समाहित अलंकार से अधिक प्रतिष्ठा नहीं पा सका है। तथा २. काव्यशास्त्र का हजार वर्षों का इतिहास लिखते समय विद्वानों ने उसके विकास की कोई रूपरेखा नहीं निर्धारित की है। वे यही निश्चय किये रहे हैं कि काव्य-लक्षण सदैव विकास के अभिनव उन्मीलन की ओर बढ़ता रहा है, कभी ह्रास या विमार्ग की ओर नहीं। स्पष्ट रूपरेखा के अभाव में ही एक विद्वान् ने दण्डी द्वारा वैदर्भी रीति का उल्लेख एवं प्रतिष्ठा किये जाने का इतिहास बताया है, जब कि सत्य यह है कि दण्डी ने रीति का नाम ही नहीं लिया है, वे वैदर्भ मार्ग की व्याख्या करते है। अतः इन कारणों से काव्य-लक्षण का इतिहास अपनी यथार्थ कहानी इन ग्रन्थों में नहीं कह पाता, कुछ हमारा ऐसा अनुभव है।

मैंने इस ग्रन्थ में भारतीय काव्य-लक्षण के विकास की रूपरेखा निर्धारित करने का प्रयास किया है। और ऐतिहासिक दृष्टि रखते हुए उन सभी काव्य-विधाओं की व्याख्या भी प्रस्तुत की है जो दण्डी के 'काव्यादर्श' में निरूपित हैं। मेरे इस प्रयास की सीमा दण्डी से भोज तक की कालावधि में निहित है। संस्कृत काव्यशास्त्र का अध्ययन करते समय मेरा ध्यान आचार्य दण्डी और उनके काव्यादर्श के ऐतिहासिक

महत्त्व की ओर गया है। यद्यपि दण्डी के काव्यादर्श का रचना-काल संस्कृत-काव्यशास्त्र के अध्ययन में एक उलझी हुई समस्या है, इस पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं, फिर भी उनकी स्थिति काव्यशास्त्र के उद्भव काल में प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, कोई भामह के पूर्व और कोई भामह के पश्चात्। मैंने 'काव्यादर्श' का रचना-काल चौथी शती ईस्वी का मध्य आकलन किया है और उसके तृतीय परिच्छेद––चित्रमार्ग को बाद का प्रक्षिप्त अंश माना है, इस विषय के विवेचन के लिए मैंने ग्रन्थ के अन्त में दो परिशिष्ट दिये हैं। 'काव्यादर्श' के अनुशीलन से मुझे संस्कृत काव्यशास्त्र के उलझे हुए इतिहास में प्रवेश का सुगम मार्ग मिला है।

काव्यशास्त्र की विभिन्न उद्भावनाओं का अत्यन्त रुचिकर इतिहास 'काव्यादर्श' के अध्ययन की परतों को क्रमशः पलटने पर उदय होता दृष्टिगत होता है। इस इतिहास की ऐसी अमिट रेखाएँ मुझे दबी हुई मिली हैं जो प्रायः अब तक या तो अपरिचित थीं और यदि परिचित थीं तो धुंध और उपेक्षित थीं। जैसे––समाज का आदि नेता––कवि, काव्य का पहला लक्षण––सूक्ति, काव्य का आलोचक–भावक, मार्ग और कवि-सम्प्रदाय, दश गुणों का मूल इतिहास उपनिषद् से रामायण-महाभारत तक, दश गुणों और तीन गुणों का मौलिक अन्तर, समाधि-गुण की व्यापकता, महाकाव्य के स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोत, वार्ता काव्य, अलंकार की उद्भावना का मूल––स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति, दीपक अलंकार की प्राथमिकता और उसकी व्यापकता, दश गुणों का नया प्रकारान्तर वक्रोक्ति-सिद्धान्त। इन नवीन तथ्यों के उद्घाटन के साथ उन्मेष––दो में मैंने एक नये विषय का सन्निवेश किया है––भाव की प्रतिष्ठा और भाषा की क्रान्ति, एवं इस विषय को सूक्ति के भाव और भाषा के विकास की परिधि में विस्तार से देखा है। इस निदर्शन से काव्यशास्त्र के इतिहास की नयी और स्पष्ट रूपरेखा हमारे सामने आ जाती है।

मेरा यह ग्रन्थ मेरे शोध-प्रबन्ध 'दण्डी के काव्यादर्श का आलोचनात्मक मूल्यांकन' का परिवर्धित रूप है। उक्त शोध-प्रबन्ध पर इलाहाबाद-विश्वविद्यालय ने मुझे १९६६ ईस्वी में डी० फिल्० उपाधि प्रदान किया है। मैं इस प्रसंग में पण्डित सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग इलाहाबाद-विश्वविद्यालय, का अनुगृहीत हूँ, जो उन्होंने अपनी कृपा और स्नेह का पात्र मुझे समझा एवं विश्वविद्यालय से शोध-कार्य की आज्ञा दिला कर विद्या-श्रम करने का अवसर दिया। मेरे निर्देशक डा० सुरेशचन्द्र जी पांडे थे, जिनकी कृपा और सज्जनता से ही वह गुरुतर कार्य सम्पन्न हुआ है। मैं डा० रामकरण शर्मा, संस्कृत-विशेषाधिकारी, शिक्षा-मंत्रालय भारत सरकार तथा डा० भरतसिंह उपाध्याय का आभारी हूँ, उन्होंने दण्डी के सम्बन्ध में मूल्यवान् सूचनाएँ देने की कृपा की है।

डा० नगेन्द्र, आचार्य तथा अध्यक्ष हिन्दी-विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, का मैं बहुत आभारी हूँ जो उन्होंने अत्यन्त व्यस्त समय में भी मेरे ग्रन्थ के छपे फरमों को अवलोकन करना स्वीकार किया और ग्रन्थ की भूमिका लिखने की कृपा की। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक समीक्षा के प्रतिष्ठाता डा० देवराज उपाध्याय, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग उदयपुर विश्वविद्यालय, के स्नेह का आभार किन शब्दों में स्वीकार करूँ, जो उन्होंने रुचि-पूर्वक मेरे श्रम को देखा और अपना अभिमत व्यक्त किया।

मुझे अपने मित्रों एवं गुरुजनों से भी सदा इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रेरणा तथा उत्साह मिलते रहे हैं, उनकी ऐसी कृपा की अभिलाषा मुझे सदा ही बनी रहेगी। आदरणीय श्री प्रभात शास्त्री जी का योगदान इस शोध-कार्य में यदि न होता तो यह कैसे पूरा होता? उनके अमित स्नेह का उत्तर मेरे पास नहीं है। आदरणीय पत्रकार श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' के आशीर्वाद से मुझे सदा बल मिलता रहा है, उनका मेरे ऊपर जो अनुग्रह है उसे भुलाया नहीं जा सकता। लोक-भारती प्रकाशन के व्यवस्थापकों ने इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित कर पाठकों की उत्सुकता दूर की है, तथा सम्मेलन मुद्रणालय के व्यवस्थापक श्री सन्तराम जी 'विचित्र' ने सुरुचि-पूर्वक इसके मुद्रण को शीघ्र सम्पन्न कराया है, उनके प्रति मेरी कृतज्ञता है।

मैंने यथाशक्ति ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय और विवेचन में अन्विति बनाये रखने की चेष्टा की है। मेरा उद्देश्य कहीं भी किसी की आलोचना करना नहीं रहा है, सत्य की खोज ही लक्ष्य है। इतने लम्बे इतिहास के पर्यवेक्षण में लोगों के विभिन्न विचार हो सकते हैं, मैं अपने निष्पक्ष दृष्टिकोण के प्रति सजग रहा हूँ, तो भी त्रुटियाँ हो सकती हैं, उनके लिए क्षमा चाहता हूँ। और यह ग्रन्थ सुधी पाठकों की सेवा में उपस्थित है——

न दूषणायालमुदाहृतो विधि-
र्न चाभिमानेन किमु प्रतीतये।
कृतात्मनां तत्त्वदृशां च मादृशो
जनोऽभिसन्धिं क इवावभोत्स्यते॥ (भामह)

संगमनी——त्रैमासिक
प्रयाग।
वैशाख १५, २०२५

जयशङ्कर त्रिपाठी

विषय-क्रम

भूमिका——डा० नगेन्द्र (आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग दिल्ली वि० वि०)
अभिमत——डा० देवराज उपाध्याय (अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग उदयपुर वि० वि०)
दृष्टिकोण
सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

उन्मेष——१

प्रस्तावना ३३-४६
दण्डी का 'काव्यादर्श'—युगान्तरकारी रचना ३३
प्रत्न काव्य-परम्परा में दण्डी ३७
पूर्ववर्ती अध्ययन ४०
काव्यादर्श के संस्करण और टीकाएँ ४४
प्रस्तुत अध्ययन का दृष्टिकोण ४६

उन्मेष——२

काव्यशास्त्र की परम्परा एवं दण्डी के 'काव्यादर्श' का प्रतिपाद्य ४७-११६
कवि ४७
लोक-कवि ६१
काव्य का प्रथम लक्षण——सूक्ति, सुभाषित ६५
सूक्ति का विकास——भाव और भाषा ७५
सूक्ति की नयी संज्ञा——अलंकार ८५
भावक——काव्य का आलोचक ८८
युग का अभिनव काव्यशास्त्र——कवि-मार्ग ९३
कवि-मार्ग के आधार पर कवि-सम्प्रदाय १००
'काव्यादर्श' का प्रतिपाद्य १०२
आलंकारिकों का नवोन्मेष——ध्वनि, रस और वक्रोक्ति १०६

उन्मेष——३

वाणी के मार्ग और उनके गुण ११७-१८१
सरस्वती की वन्दना ११८
शास्त्र-प्रयोजन १२२

मार्ग और गुण (काव्य अथवा काव्य के जीवित) १२९
दश गुणों का परिचय—श्लेष १३२
प्रसाद १३२
समता १३३
माधुर्य १३३
सुकुमारता १३६
अर्थव्यक्ति १३७
उदारत्व १३७
ओजस् १३८
कान्ति १३८
समाधि १४०
मार्ग और गुण का उद्गम एवं काव्य में उनकी स्थिति १४१
दण्डी के दश गुणों और रसवादी के तीन गुणों का मौलिक भेद १५४
दश गुण और आचार्य वामन एवं कुन्तक १६३
गुण—रुद्रट और नमिसाधु १६७
भोज के चौबीस गुण १६८
गुणों की काव्यसीमा, सम्मिश्रण और विस्तार—
स्वभावोक्ति अलंकार और गुण १७१
गुणों में अन्तर्हित तीन अलंकार १७२
दण्डी का समाधि गुण १७३
गुणों की एकत्र स्थिति अथवा संसृष्टि १७९

उन्मेष—४

काव्य का शरीर : विधाएँ तथा भाषाएँ १८२-२४०
सामान्य परिचय १८२
महाकाव्य १८८
महाकाव्य के स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोत—
पुराण १९२
इतिहास २०८
धर्मशास्त्र, स्मृति २०९
राजनीति २१०
कामशास्त्र २११

नाटयशास्त्र २१५
काव्यशास्त्र २१६
छन्दःशास्त्र २१७
महाकाव्य में अन्तर्भूत काव्य-विधाएँ २१९
वार्ता काव्य २२०
दण्डीकृत महाकाव्य-लक्षण का वैशिष्टय २२६
कथा, आख्यायिका २२७
गद्य-पद्य की मिश्रित विधा--चम्पू २३२
प्रेक्षार्थ और श्रव्य काव्य २३३
भाषामय काव्य-शरीर (वे भाषाएँ
जिनमें काव्य लिखे जाते थे) २३५

उन्मेष--५

काव्यशास्त्र का प्रयोजन और काव्य-सम्पद् के कारण २४१-२५६
काव्यशास्त्र का प्रयोजन २४१
काव्य-सम्पद् के कारण २५०

उन्मेष--६

अलंकार-निदर्शन २५७-३७२
अलंकार-संज्ञा की प्रियता २५७
अलंकार का लक्षण २६०
अलंकारों की उद्भावना का मूल--स्वभावोक्ति
और वक्रोक्ति २६५
अर्थालंकारों के वर्गीकरण की विभिन्न मान्यताएँ २९९
अलंकारों के आदि प्रयोग और मूल-स्रोत ३००
उपमा, रूपक और दीपक के लक्षण ३०३
दीपक का विस्तार ३०८
अलंकार-उद्भावना में दीपक की प्राथमिकता ३३२
दण्डी के अलंकार-विवेचन के अन्य विशिष्ट प्रसंग ३४९
उपमा ३५२
उत्प्रेक्षा ३५७
आक्षेप ३६०
हेतु ३६१
श्लेष ३६४

रसवत् ३६५
अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा ३६८
समासोक्ति ३६९
पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, परिवृत्ति तथा भाविक ३७१
संसृष्टि ३७१

उन्मेष—७

चित्रमार्ग **३७३-३८७**
परीक्षण ३७३
भेदों का विस्तार—
यमक ३८१
चित्रबन्ध ३८३
प्रहेलिका ३८५

उन्मेष—८

काव्य-दोष **३८८-३९३**
दोषों का सम्भावित वर्गीकरण—व्याकरण के दोष ३९१
छन्दःशास्त्र के दोष ३९१
काव्य-बोद्धा के बोध-पक्ष के दोष ३९१
लोक-व्यवहार और अन्य शास्त्रों से सम्बन्धित दोष ३९२

उन्मेष—९

दण्डी का ऐतिहासिक मूल्य **३९४-३९९**
पाँच प्रकार से महत्त्व—काव्यशास्त्र के
ऐतिहासिक स्रोतों का उद्घाटन ३९५
लोक-प्रियता ३९५
दश गुणों की वक्रोक्ति-सिद्धान्त से साम्यता ३९६
अलंकार-प्रयोगों का सुरक्षित इतिहास ३९९
उत्कृष्ट काव्य-पक्ष ३९९

परिशिष्ट—१

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद का कर्तृत्व **४००-४०८**
विषय-प्रवर्तन का भेद ४००
भाषा-वृत्ति (शैली) का भेद ४०५
एक ही वर्ण्य विषय के स्वरूप में अन्तर ४०६
विधाओं का प्रकारान्तर से प्रस्तुतीकरण ४०७

परिशिष्ट––२

काव्यादर्श का रचना-काल ४०६-४३०

दण्डी और भामह में पूर्ववर्ती कौन ४०९

राजशेखर की उक्ति––दण्डी के तीन प्रबन्ध ४१७

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' ४१९

रात (राज) वर्मा का उल्लेख ४२१

विज्जका और 'कौमुदी-महोत्सव' नाटक ४२२

'सेतुबन्ध' और प्रवरसेन ४२७

दण्डी का वराह-वर्णन ४२९

निष्कर्ष ४३०

परिशिष्ट––३

काव्यशास्त्र का विच्छिन्न अध्याय––काव्यलक्षण ४३१-४३२

अनुक्रमणिका ४३३

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थ

१. अभिनव भारती— अभिनव गुप्त
२. अमर कोष
३. अलंकार-सर्वस्व—रुय्यक (निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, १९३९ ई०)
४. अवन्तिसुन्दरी-कथा—दण्डी, काव्यादर्शकृत् दण्डी से भिन्न (त्रिवेन्द्रम युनिवर्सिटी, १९५४ ई०)
५. अष्टाध्यायी—पाणिनि
६. आदिकाव्य (वाल्मीकि रामायण)
७. आपस्तम्ब धर्म-सूत्र
८. ऋग्वेद
९. ऐतरेय ब्राह्मण
१०. औचित्यविचार-चर्चा—क्षेमेन्द्र (चौखम्भा वाराणसी, १९३३ ई०)
११. कथासरित्सागर
१२. कादम्बरी—बाणभट्ट (चौखम्भा वाराणसी, १९५३ ई०)
१३. कामसूत्र—वात्स्यायन
१४. कारिकावली—विश्वनाथ पंचानन
१५. काव्यप्रकाश—मम्मट (बालबोधिनी व्याख्या, संस्करण १९५० ई०)
१६. काव्यमीमांसा—राजशेखर (केदारनाथ शर्मा की हिन्दी-व्याख्या के साथ, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, १९५४ ई०)
१७. काव्यादर्श—दण्डी (ओ० बोथलिक द्वारा सम्पादित १८९० ई०), (प्रभा टीका, १९३८ ई०), (चौखम्भा वाराणसी का संस्करण १९५८ ई०)
१८. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र (निर्णय सागर प्रेस, १९०१ ई०)
१९. काव्यालंकार—भामह (प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा—कृत हिन्दी-भाष्य-सहित, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् पटना, १९६२ ई०)
२०. काव्यालंकार—रुद्रट (निर्णयसागर प्रेस, १९२८ ई०)
२१. काव्यालंकार-सार-संग्रह—उद्भट् (प्राच्य-विद्या-संशोधन-मंदिर, पूना, १९५२ ई०)

२२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति––वामन (आत्माराम एण्ड सन्स, १९५४ ई०)
२३. किरातार्जुनीय––भारवि
२४. कुमारसम्भव––कालिदास
२५. कुवलयानन्द––अप्पय दीक्षित (निर्णयसागर प्रेस, १९४७ ई०)
२६. कौमुदीमहोत्सव––विज्जका (जननी कार्यालय, इलाहाबाद)
२७. गीता––(भगवान् कृष्ण, व्यास)
२८. चमत्कारचन्द्रिका––विश्वेश्वर कविचन्द्र (अप्रकाशित)
२९. छान्दोग्योपनिषद्
३०. तर्कसंग्रह––अन्नं भट्ट
३१. दशकुमारचरित––दण्डी (काव्यादर्शकृत् दण्डी से भिन्न)
३२. दशरूपक––धनंजय
३३. दुर्गासप्तशती
३४. ध्वन्यालोक––आनन्दवर्धन (चौखम्भा वाराणसी, १९४० ई०)
३५. नाट्यशास्त्र––भरतमुनि
३६. निरुक्त––यास्क
३७. न्यायभाष्य––वात्स्यायन
३८. नैषधीयचरित––श्रीहर्ष
३९. पाणिनीय शिक्षा
४०. पुरुष-सूक्त
४१. प्रतापरुद्र-यशोभूषण––सम्पादक श्री के० पी० त्रिवेदी
४२. बुद्धचरित––अश्वघोष
४३. बृहदारण्यकोपनिषद्
४४. भट्टिकाव्य––भट्टि
४५. भुवनेश्वरी-स्तोत्र
४६. मनुस्मृति
४७. महाभारत––व्यास
४८. महाभाष्य––पतंजलि
४९. मत्स्य पुराण
५०. मालविकाग्निमित्र––कालिदास
५१. मेघदूत––कालिदास
५२. यजुर्वेद
५३. रघुवंश––कालिदास

५४. रसगंगाधर—पण्डितराज जगन्नाथ (निर्णयसागर प्रेस, काव्यमाला-संस्करण, १९३९ ई०)

५५. राजतरंगिणी—कल्हण (पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६० ई०)

५६. लघुवृत्ति (काव्यालंकार-सार-संग्रह की टीका)—प्रतीहारेन्दुराज

५७. लोचन—अभिनवगुप्त (चौखम्भा वाराणसी, १९४० ई०, ध्वन्यालोक के साथ)

५८. वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक (आत्माराम एंड सन्स दिल्ली, विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणि की हिन्दी-व्याख्या के साथ, १९५५ ई०)

५९. वायु पुराण

६०. विक्रमांकदेव चरित—बिल्हण

६१. विक्रमोर्वशीय—कालिदास

६२. विद्धशालभंजिका—राजशेखर

६३. वेणीसंहार—नारायण भट्ट

६४. वैराग्यशतक—भर्तृहरि

६५. व्यक्ति-विवेक—महिम भट्ट (चौखम्भा वाराणसी, १९३६ ई०)

६६. शार्ङ्गधर पद्धति (बाम्बे गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल बुक डिपो, १८८८ ई०)

६७. शिशुपाल वध—माघ

६८. शृंगार तिलक—कालिदास (निर्णय सागर प्रेस, १९२२ ई०)

६९. सदुक्तिकर्णामृत—श्रीधरदास (कलकत्ता, १९६५ ई०)

७०. सरस्वती कण्ठाभरण—भोज (निर्णय सागर प्रेस, १९३४ ई०)

७१. साहित्यदर्पण—विश्वनाथ (निर्णयसागर प्रेस, १९१५ ई०)

७२. साहित्यमीमांसा—(अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावलि, १९३४ ई०)

७३. सिद्धान्त कोमुदी—भट्टोजी दीक्षित (बालमनोरमा टीका-सहित, चौखम्भा वाराणसी, १९५६ ई०)

७४. सुभाषित रत्नकोष—विद्याधर (हर्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९५७ ई०)

७५. सुभाषितावलि—वल्लभदेव (भाण्डारकर प्राच्य-विद्या-संशोधन-मंदिर पूना, १९६१ ई०)

७६. सूक्ति मुक्तावली—भगदत्त जल्हण (ओरियण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा, १९३८ ई०)

७७. सेतुबन्ध—प्रवरसेन (काव्यमाला-संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, १८९५ ई०)

७८. सौन्दरनन्द—अश्वघोष

७९. हर्षचरित—बाण भट्ट

(ख) हिन्दी-ग्रन्थ

८०. अन्धकारयुगीन भारत––डा० काशीप्रसाद जायसवाल (हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा वाराणसी, सं० १९९५ वि०)
८१. कलचुरि नरेश और उनका काल––म० म० वा० वि० मिराशी (मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद्, १९६५ ई०)
८२. कालिदास––म० म० वा० वि० मिराशी (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर बम्बई, १९५६ ई०)
८३. दशकुमारचरित (हिन्दी-अनुवाद)––डा० रांगेय राघव
८४. पालि साहित्य का इतिहास––भरतसिंह उपाध्याय (हि० सा० स०, प्रयाग)
८५. भारतीय अनुशीलन (ओझा अभिनन्दन-ग्रन्थ)––(हि० सा० स० प्रयाग)
८६. भारतीय इतिहास का उन्मीलन––जयचन्द्र विद्यालंकार (हिन्दी भवन, प्रयाग, १९५७ ई०)
८७. भारतीय साहित्य शास्त्र––डा० गणेश त्र्यम्बक देशपांडे (पाप्युलर बुकडिपो, बम्बई, १९६० ई०)
८८. रसमीमांसा––रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० सभा वाराणसी, संवत् २००६ वि०)
८९. माधवानल नाटक––राजकवि केसे (हि० सा० स० प्रयाग, (१९६७ ई०)
९०. रससिद्धान्त––डा० नगेन्द्र (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४ ई०)
९१. वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख––म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी (तारा पब्लिकेशन वाराणसी १९६४ ई०)
९२. संदेश रासक––अब्दुर्रहमान
९३. संस्कृत-साहित्य का इतिहास––प्रो० ए० बी० कीथ (हिन्दी अनुवाद––डा० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९६० ई०)
९४. संस्कृत साहित्य का इतिहास––कन्हैयालाल पोद्दार
९५. संस्कृत साहित्य का इतिहास––बलदेव उपाध्याय
९६. सामान्य भाषा-विज्ञान––डा० बाबूराम सक्सेना (हि० सा० स० प्रयाग, १९६५ ई०)
९७. साहित्य और कला––भगवतशरण उपाध्याय (आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली, १९६० ई०)
९८. साहित्य और साहित्यकार––डा० देवराज उपाध्याय (मंगल प्रकाशन जयपुर, १९६० ई०)

९९. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन––डा० देवराज उपाध्याय (एस० चन्द एण्ड कं० दिल्ली, १९६० ई०)
१००. हिन्दी काव्य-धारा––राहुल सांकृत्यायन (किताब महल, इलाहाबाद)

(ग) अंग्रेजी-ग्रन्थ

१०१. भोजज' श्रृंगार प्रकाश––डा० वेंकटेश राघवन् (सन् १९६३ ई०)
१०२. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स––डा० राजबली पाण्डेय (चौखम्भा वाराणसी, १९६२ ई०)
१०३. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर––अल्ब्रेट वेवर (अंग्रेजी अनुवाद, १८७८ ई०)
१०४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स––म० म० पां० वा० काणे (१९६१ ई०)
१०५. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स वालूम १–२––डा० सु० कु० डे (१९६० ई०)

(घ) सिंहली-ग्रन्थ

१०६. सियवसलकर––शिलामेघ वर्ण (सम्पा० ज्ञानसिंह, सन् १९६४ ई०)

(ङ) हिन्दी-पत्रिकाएँ

नागरी प्रचारिणी पत्रिका (ना० प्र० स० वाराणसी)
सम्मेलन पत्रिका (हि० सा० स० प्रयाग)
आलोचना (राजकमल प्रकाशन)
मरु भारती (बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट, पिलानी)

(च) अंग्रेजी-जर्नल

एनाल्स भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट
जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, ग्रेट ब्रिटेन
इण्डियन एण्टिक्वेरी
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली

●

आचार्य दण्डी

एवं

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन

उन्मेष एक | प्रस्तावना

दण्डी का 'काव्यादर्श'—युगान्तरकारी रचना

संस्कृत काव्यशास्त्र में दण्डी का आगमन तब हुआ जब गुण और मार्ग के स्वरूप के सम्बन्ध में दाक्षिणात्य और पौरस्त्य कवि अथवा काव्य के आलोचक भावक अपनी अलग-अलग मान्यताएँ प्रस्तुत कर रहे थे। इन मान्यताओं पर विदग्ध-गोष्ठियों में चर्चाएँ हुआ करती थीं, कवित्व-ज्ञान की सार्थकता इन विदग्ध-गोष्ठियों के लिए ही थी—'विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते'[1]। दण्डी के सामने काव्य-चर्चा का मुख्य विषय वैदर्भ तथा गौड मार्ग एवं उनके गुणों का स्वरूप था। वैदर्भ की दूसरी संज्ञा दाक्षिणात्य थी, गौडकी पौरस्त्य अथवा अदाक्षिणात्य। गुण दश थे, जो समग्र रूप से, जैसा कि वे दण्डी को इष्ट थे, वैदर्भ-मार्ग में ही पाये जाते थे, गौड-मार्ग के कवियों द्वारा सभी गुणों का प्रयोग नहीं होता था और जिन गुणों का वे प्रयोग करते भी थे, उनमें कुछ का स्वरूप वैदर्भ-अभिमत गुणों से भिन्न था। ऐसी समताओं और विषमताओं का उल्लेख दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में किया है—'दोनों मार्ग ऐसे प्रयोगों की प्रशंसा नहीं करते हैं',[2] 'इसलिए ऐसे अनुप्रास का प्रयोग दाक्षिणात्य नहीं करते हैं',[3] 'समास-बहुल ओज यद्यपि गद्य का जीवन है तो भी अदाक्षिणात्य पद्य में भी ऐसे ओज के प्रयोग के प्रति अत्यन्त अभिरुचि रखते हैं।'[4] इन उद्धरणों से यह पता चलता है कि उस समय गुण और मार्ग को

---

१. काव्यादर्श १।१०५

२. वही, १।६७

एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥

३. वही, १।६०

अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुंजते ॥

४. वही १।८०

ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम् ।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥

लेकर अपनी-अपनी मान्यताओं में काव्य-विदग्ध कितने दत्तचित्त थे। ऐसे काव्य-विदग्धों का आचार्यत्व दण्डी ने किया।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न भी सामने आता है। दण्डी के सामने काव्य के व्याख्यान को लेकर गूढ़ और नयी समस्या क्या थी? जिसे सुलझाकर वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को अस्त कर सदा के लिए उदय हो गये। क्या वह समस्या गुण ही है, अलंकार नहीं? सचमुच वह समस्या गुण के स्वरूप निर्धारण की ही थी, अलंकारों का विवेचन बहुत पुराना पड़ गया था। उसके प्रकारों, प्रयोगों, भेद-विभेदों को लेकर दण्डी के पूर्व एक सीमा तक पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत हो चुके थे, अलंकारों का सम्प्रदायगत लक्षण और विभाजन नहीं था, जैसा कि गुणों के सम्बन्ध में मान्यताओं का विभाग था, अलंकार-विवेचन दक्षिण अथवा पूर्व सभी के लिए पुराना, परिचित एवं निर्विवाद था, वह कवियों के लिए इतना सामान्य हो गया था कि अलंकार-प्रयोगों की नयी-नयी उद्भावनाएँ निःसंशय की जाती थीं, यह दण्डी के उल्लेख से ही स्पष्ट है—'काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहते हैं, उन धर्मों के नये-नये प्रकार आज भी कल्पित किये जाते हैं इसलिए समग्र रूप से उनका व्याख्यान कौन कर सकता है? किन्तु पूर्व के आचार्यों ने उन कल्पना-प्रकारों की मूल मान्यताओं का निर्देश किया है, उन्हीं मूल मान्यताओं को विस्तार से प्रस्तुत करने के लिए मेरा यह परिश्रम है।'[1] इस कथन में **'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते'**, **'पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्'** उल्लेखों से अलंकार-विवेचन की दण्डी से पूर्ववर्तिता साफ प्रकट है। गुणों के प्रसंग में दण्डी ने पूर्वाचार्यों का नाम नहीं लिया है और दाक्षिणात्य-पौरस्त्य सम्प्रदायों का समकालिक रूप में उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि गुणों की मान्यता और निरूपण की समस्या को लेकर ही दण्डी ने अपने समय के एक लम्बे क्षेत्र के, जो गौड़ से विदर्भ तक फैला था, कवियों की रचना-विषयक मान्यताओं का मार्ग-दर्शन किया। और काव्य के सम्बन्ध में गुण जैसे नये सिद्धान्त का प्रतिपादन कर, जो प्रकारान्तर से सौशब्द्य (सुष्ठु शब्दों का प्रयोग) काव्य था, उसे भाव अथवा अर्थ-मूलक अलंकार-सिद्धान्त की तुलना में जबर्दस्त समर्थन प्रदान किया, और जो उस युग के काव्य-विदग्धों का अभिमत था। यह एक अत्यन्त महत्त्व-

---

१. काव्यादर्श २।१-२

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥

पूर्ण बात थी। इसलिए दण्डी की आचार्यरूप में अचल प्रतिष्ठा अपने आप सम्भव हो गयी और उनका ग्रन्थ 'काव्यादर्श' अपने से पूर्व ग्रन्थों को तिरोहित कर काव्यशास्त्र के इतिहास की युगान्तरकारी रचना बन गया। उसे हम काव्यशास्त्र के इतिहास के अनुशीलन की दिशा में आलोक विन्दु समझते हैं।

यह घटना कब घटित हुई होगी ? इस प्रश्न का सम्बन्ध दण्डी के जीवनकाल से भी है। इसलिए अलग से इस पर विस्तृत विचार होगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि काव्य में अलंकार की तुलना में शब्दसौष्ठव प्रस्तुत करनेवाले प्रकारों का प्रयोग, जो गुण के पूर्वरूप थे, विक्रम की तीसरी शताब्दी में आरम्भ हो गया था; उपमा, रूपक, दीपक आदि अलंकारों के स्थान पर शब्दसौष्ठव के ऐसे प्रकारों द्वारा काव्य के अलंकृत होने का उल्लेख विक्रमाब्द २०७ (शक ७२) के रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख में हुआ है।[1] इस काल के लगभग से ही शब्द-काव्य के प्रकार गुणों की स्थापना के प्रति काव्यविदग्धों ने अपने विचारों का उन्नयन आरम्भ किया होगा, जिसका प्रौढ़ निर्वारण दण्डी ने किया। इसमें एक से दो शताब्दी तक का समय लग सकता है।

साथ ही इस घटना का काल अवश्य ही उसके पूर्व होगा, जब काव्य का महत्त्व बहुत ही व्यापक हो गया और भामह के शब्दों में काव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की विचक्षणता का मूल एवं आनन्द और कीर्ति का कारण बना।[2] क्योंकि दण्डी के सामने काव्य केवल विदग्ध-गोष्ठी का आनन्द था, वह सभी शास्त्रों को आक्रान्त कर इस प्रकार जीवन की सभी उपलब्धियों को देनेवाला नहीं था, यहाँ तक कि काव्य से अर्थ-लाभ का संकेत भी दण्डी ने नहीं किया है। विदग्धगोष्ठी के आनन्द के साथ वहाँ श्रेष्ठ काव्य को प्रस्तुत करने के कारण कवि को अपनी विशेष कीर्ति भी सम्भव होती थी।[3] साथ ही काव्य का दूसरा प्रयोजन था—

---

१. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ६४
स्फुट - लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द - समयोदारालंकृत - गद्य - पद्य (काव्यविधान प्रवीणे) न...

२. काव्यालंकार (भामह) १।२
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु-काव्य-निबन्धनम्॥

३. काव्यादर्श १।१०५
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

काव्य के निबन्धन में आदि काल के यशस्वी राजाओं की कीर्ति की सुरक्षा हो जाती थी।[1] राज-चरित का यह काव्य-निबन्धन अर्थ के लोभ से नहीं होता था, जिस लोभ की चर्चा भामह और रुद्रट ने की है।[2] सही इतिहास लिखने के लिए था। दण्डी के सामने सीमित काव्यप्रयोजनों ने भामह के युग में विस्तार प्राप्त किया और कवियों को विदग्ध-गोष्ठियों से हटाकर अर्थलोभ में राजसभा में पहुँचाया, जहाँ वे राजा के झूठे यशोगान के लिए काव्य का दुरुपयोग करने लगे।

अतः भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अर्थमूलक अलंकार-उद्भावना के विरुद्ध सौशब्द्य काव्य की जोरदार भाषा-क्रान्ति का, जो गुण-मार्ग के रूप में परिणमित हुई, ऐतिहासिक अभिलेख-जैसा दण्डी का यह 'काव्यादर्श' है, उसका प्रथम परिच्छेद अभिमत सिद्धान्त के रूप में गुण और मार्ग का विवेचन प्रस्तुत करता है।

बाद के काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने दण्डी के कृतित्व के आकलन में अपनी रुचि कम दिखायी है, इसका कारण यह था कि अलंकार, रस और भाव ने पुनः भाषा-क्रान्ति को आक्रान्त कर लिया, गुणों को अन्य प्रकारों में गतार्थ कर दिया, इसके साथ ही यह बात भी थी कि दण्डी काव्यशास्त्रीय दाक्षिणात्य सम्प्रदाय के प्रतिनिधि आचार्य थे, बाद में काव्यशास्त्रीय विवेचन का जिन्होंने प्रतिनिधित्व किया वे प्रायः औदीच्य और पौरस्त्य थे, दाक्षिणात्य सम्प्रदाय के और विदर्भ की वैदर्भी काव्यपद्धति के तद्देशीय समर्थक आचार्यों ने, जिनमें भोज का नाम विशेष उल्लेखनीय है, दण्डी के सिद्धान्तों और उनकी मान्यताओं के आकलन तथा विशदीकरण में अपनी पूर्ण तत्परता दिखायी है लेकिन यदि भोज-जैसे आचार्य अपनी यह तत्परता भी न दिखाते तो भी क्या दण्डी का महत्त्व काव्यशास्त्र के इतिहास में किसी प्रकार उपेक्षित किया जा सकता था? सच बात तो यह है कि जब तक दण्डी के 'काव्यादर्श' का गहन अनुशीलन और तुलनात्मक विश्लेषण सम्पन्न नहीं कर लिया जाता; देश, काल और काव्यशास्त्र के उद्गम के निष्कर्ष

---

१. काव्यादर्श, १।५
आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥

२. दे०, काव्यालंकार (भामह) १।२
काव्यालंकार (रुद्रट) १।५, ८, १०

पर निरपेक्ष परख नहीं कर ली जाती तब तक काव्य-शास्त्र का इतिहास ही अँधेरे में है। दण्डी के 'काव्यादर्श' के अनुशीलन से काव्य-रचना, काव्य-लक्षण और काव्य-सम्प्रदायों की बनती-बिगड़ती मान्यताओं की कौतूहल-पूर्ण कहानी हमारे सामने आएगी। इस विशाल देश की विभिन्न जन-भाषाओं से अनुप्रेरित होकर, उन-उन भाषाओं की उन-उन विभिन्न काव्यपद्धतियों के वैशिष्ट्य को संचयन करते हुए पौराणिक काव्यकारों के सामने काव्यरूप का जो निदर्शन प्रकट हुआ, उन सब को गुणों की भाषा-कान्ति के साथ अन्वित कर काव्यशास्त्र की स्थापना का पहला प्रशस्त प्रयास 'काव्यादर्श' के रूप में चरितार्थ हुआ। और यह निश्चित है कि उस आदर्श में कोने-किनारे काव्यशास्त्रीय इतिहास की पूर्ववर्ती यात्रा के पद-चिह्न भी लुके-छिपे प्रतिबिम्बित होंगे।

प्रत्न काव्य-परम्परा में दण्डी

'काव्यादर्श' दाक्षिणात्य काव्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि ग्रन्थ रहा है। विक्रम की नवीं शताब्दी के अन्त में कन्नड़ भाषा में राष्ट्रकूट के राजा नृपतुंग अमोघवर्ष (८१५-८७५ ई०) ने इसी आधार पर 'कविराजमार्ग' ग्रन्थ की रचना की। और लगभग इसी समय सिंहली भाषा में लंका के राजा शिला मेघवर्ण ने (सन् ८४६-८६६ ई०) ने 'सिय-वस-लकर' (स्वभाषालंकार) नाम, ग्रन्थ की रचना की, यह ग्रन्थ 'काव्यादर्श' का भाषान्तर है। 'सिय-वस-लकर' का कर्त्ता ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहता है—"दैवी भाषा में अलंकार का जो ग्रन्थ है, सिंहल-जन संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण उसे नहीं पढ़ सकते अतः मैं उसमें से थोड़ा स्वभाषा में कहता हूँ।" और भाषान्तर करने में उसने उन अलंकार-प्रयोगों को छोड़ दिया है जो सिंहलीभाषा में नहीं प्रयुक्त होते थे या न हो सकते थे। 'काव्यादर्श' में गुण और मार्ग का जो विवेचन किया गया है वह दण्डी की अपनी मौलिकता है। अलंकार और उनके बहुसंख्यक भेदों का निरूपण उन्होंने काव्य-गोष्ठियों में चर्चित प्रकारों की पृष्ठभूमि में ही किया, तो भी दण्डी बाद में आलंकारिक आचार्य के रूप में विशेष स्मरण किये जाते हैं। यह काव्य-सम्प्रदाय के बदलते दृष्टिकोण की बात थी। रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु (ग्यारहवीं शताब्दी ई०) ने कारिका-२ की व्याख्या में दण्डी के अलंकार-शास्त्र का उल्लेख किया है—'ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलंकारशास्त्राणि।

---

१. सिय-वसलकर (सिंहली, सम्पा० ज्ञानसिंह, कोलम्बो—१०, सन् १९६४) सर्ग १।३

और उनके पूर्व प्रतीहारेन्दुराज (९५० ई०) ने काव्यालंकार-सार-संग्रह की लघुवृत्ति में उपमा-प्रकरण के अन्तर्गत नाम के साथ दण्डी के मत का निर्देश उपमा-उत्प्रेक्षा के प्रसंग को लेकर किया। ई० ८वीं शताब्दी के अपभ्रंश के जैन कवि स्वयम्भू ने अपने हरिवंश-पुराण की उत्थानिका में लिखा है—'मुझे इन्द्र से व्याकरण, भरत से रस, व्यास से कथा-प्रबन्ध, पिंगल से छन्द, भामह और दण्डी से अलंकार और बाण से घणघणत्कारपूर्ण अक्षराडम्बर प्राप्त हुआ।'[1] इसी प्रकार का उल्लेख उस कवि ने अपने पउमचरिउ (रामायण) में भी किया है—'मैं कुकवि हूँ, क्योंकि मैं ने भरत को नहीं पढ़ा, लक्षण और सभी छन्द न जान सका, पिंगल-प्रस्तार को न समझा और भामह-दण्डी के अलंकार न जाने।'[2] इससे यह स्पष्ट है कि भामह और दण्डी दोनों के अलंकार-विवेचन की दो भिन्न सरणियों के अनुयायी उस समय विद्यमान थे, भामह की अलंकार-विवेचन-पद्धति से, जिसको पिछले औदीच्य आचार्यों से अत्यन्त समर्थन प्राप्त हुआ है, दण्डी का अलंकार-विवेचन भिन्न है, यह भिन्न मार्ग भी उस अत्यन्त समर्थित पद्धति के साथ समादृत रहा है। तरुण वाचस्पति (१२वीं शती ई०) तथा अन्यों ने 'काव्यादर्श' पर टीका लिखकर विद्वद्गोष्ठी में इसकी प्रतिष्ठा का प्रमाण दिया है।

बौद्धों ने रुचि से दण्डी की कृति का अध्ययन किया है। बौद्ध-ग्रन्थों के साथ इसीलिए दण्डी का 'काव्यादर्श' तिब्बत में पहुँचा। और वहाँ १३वीं शती ई० में शोङ-वासी आचार्य दोर्-र्ग्यल् (वज्र ध्वज) ने इसका भोटभाषा में अनुवाद किया।[3] काव्यादर्श के उस भोट-अनुवाद का सम्पादित संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय से १९३९ ई० में छपा है, उसके सम्पादक श्री अनुकूलचन्द्र बनर्जी हैं। १४४२

---

१. हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन) पृ० २४
इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहें वासे वित्थरणु।
पिंगलेण छन्दपय पत्थारु। भम्मह दंडिणिहि अलंकारु।
बाणेण समप्पिउ घणवगउ। ते अक्खर डम्बर-घणघणउ।

२. वही, पृ० २२
बुहयण सयंभु पइं विण्णवइ। महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ॥
वायरणु कयाइ ण जाणीयउ। णउ वित्ति-सुत्त वक्खाणियउ॥
णा णिसुणिउ पंच महायकव्वु। णउ भरहु ण लक्खण छंदु सव्वु।
णउ बुज्झिउ पिंगल-पच्छारु। णउ भामह दंडिय-लंकारु॥

३. इस सम्बन्ध की प्रामाणिक जानकारी मुझे डा० रामकरण शर्मा और डा० लोकेशचन्द्र की चिट्ठियों से हुई है।

ई० में बरमा के बौद्धों के भिक्षुसंघ को वहाँ के तौंगद्विन नामक प्रदेश के स्वामी बौद्ध-उपासक और उसकी धर्मपत्नी ने कुछ महत्त्वपूर्ण दान दिये थे, उस दान में बहुत से ग्रन्थ भी थे, दान की उस स्मृति को सुरक्षित करने के लिए पेगन में अभिलेख अंकित करवाया गया। उस अभिलेख में अन्य वस्तुओं के साथ दान दिये गये ग्रन्थों के भी नाम हैं जिनमें तीन ग्रन्थ दण्डी के टीका-ग्रन्थ हैं (क्रमांक २५६-२५८)। मेबिल बोड ने 'दि पालि लिटरेचर आफ वर्मा' नाम से इनकी विस्तृत सूची तैयार की है।[1] सूची के क्रमांक २०८-२०९ में 'तण्डी', तण्डि-टीका का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ 'तण्डि' शब्द मीमांसा-दर्शन से सम्बद्ध प्रतीत होता है किन्तु इनमें भी तण्डी की पाद-टिप्पणी में मेबिल बोड ने दण्डी के 'काव्यादर्श' का ही नाम स्पष्ट किया है—"the work inscribed is probably दण्डिन्'s काव्यादर्श।"[2]

दण्डी की गुण-स्थापना और अलंकार-निरूपण की अपनी अलग-अलग विशेषता है, जो साहित्य-शास्त्रियों को आकर्षित करती रही है। वैदर्भ काव्य-पद्धति के मध्यदेशीय काव्यरचनाकारों पर दण्डी के आदर्शों का प्रभाव बराबर बना रहा। हिन्दी के रीतिवादी कवि आचार्य केशवदास (संवत् १६१२-१६७४) बुन्देलखण्ड में ओरछा-नरेश के सभाकवि थे। केशवदास ने 'कविप्रिया' नाम से जो अलंकार-ग्रन्थ लिखा है उसमें दण्डी के अलंकार-निरूपण का अनुसरण है। मध्य-भारत के अठारहवीं शताब्दी के हिन्दी के एक अन्य प्राचीन कवि राजकवि केस ने अपने 'माधवानल नाटक' में देवी दुर्गा द्वारा जिन कवियों को वरदान दिये जाने का उल्लेख किया है उनमें पहला नाम दण्डी का है।[3]

ध्वनि की स्थापना के बाद काव्यशास्त्र में गुण और अलंकार महत्त्व के प्रसंग न थे लेकिन दण्डी के सिद्धान्तों का स्मरण इस समय की काव्यशास्त्रीय रचनाओं में

---

१. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ६३८-६४२
२. डा० भरत सिंह उपाध्याय की चिट्ठी के आधार पर यह उल्लेख किया गया है।
३. माधवानल नाटक १।२-३

किते रंक राजा किये देवि दुर्गे!
करे कव्वि दण्डी गनौ कालिदासं।
जयद्देव भारवि भाष्यौ प्रकासं।
निवाजे सबै तू गनाऊ कहाँ लौ।
सुरेसौ नरेसौ निसेसौ जहाँ लौ।।

हुआ है। भोज (ग्यारहवीं शताब्दी ई०) ने गुण तथा अलंकारों के निरूपण में न केवल दण्डी के मतों का उल्लेख किया है वरंच उनकी कारिकाओं को ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है।[1] साहित्यमीमांसाकार (१२वीं शताब्दी ई०) ने अपने रसों के उदाहरण में दण्डी के रसवदलंकार के उदाहरणों को ही ज्यों का त्यों रख लिया है।[2] और इसी काल में 'व्यक्तिविवेक' के व्याख्याकार राजानक रुय्यक ने पौनरुक्त्य स्वरूप की व्याख्या में 'सन्निभ' शब्द के 'सदृश' पर्याय के लिए दण्डी के ग्रन्थ का प्रमाण दिया,[3] यह एक विशेष बात थी। संस्कृत काव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार कोलाचल मल्लिनाथ सूरि (१४वीं शती ई०) काव्यगत वैशिष्ट्यों का जब निदर्शन करते हैं, उनकी दृष्टि में 'काव्यादर्श' की कारिकाएँ भी रहती हैं, वे उन लक्षणों को उद्धृत भी करते हैं। मल्लिनाथ पर दण्डी का यह प्रभाव बहुत स्वाभाविक था क्योंकि वे आज के आन्ध्र-प्रदेश के थे, दण्डी के वैदर्भ कवि-सम्प्रदाय की सीमा उससे लगी हुई थी। प्रायः दक्षिण के काव्यशास्त्रियों के लिए दण्डी लोकप्रिय आचार्य थे।

आनन्दवर्धन के ध्वनि-निरूपण तथा अभिनवगुप्त, मम्मट आदि के रस एवं शब्द-शक्ति के विस्तृत विवेचन और व्यवस्थापन के बाद काव्य में अलंकार का स्थान गौण हो गया, रीति और गुण भी अब बहुत चर्चा के विषय न रह गये, अतः इस स्थिति में गुण, मार्ग, अलंकार का व्याख्यान-ग्रन्थ 'काव्यादर्श' भी काव्यशास्त्र का केवल इतिहास ही रह गया, आदर्श नहीं। और इसी ऐतिहासिक पर्यवेक्षण में 'काव्यादर्श' अपने अनुशीलन का महत्त्व रखता है।

पूर्ववर्ती अध्ययन

वर्तमान काल में पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत भाषा का बड़े आकर्षण और अनुराग से अध्ययन किया है। उन्होंने संस्कृत-वाङ्मय की प्रत्येक धारा का इतिहास लिखा है, ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है और ऐसे विवेचन की नयी दिशा प्रतिष्ठित की है। उसी दिशा पर चल कर भारतीय विद्वानों द्वारा संस्कृत-

---

१. दे० सरस्वतीकण्ठाभरण, परिच्छेद १, ३, ४; गुण एवं अर्थालंकारों का निरूपण।

२. दे० साहित्यमीमांसा पृ० ७०-७१, षष्ठ प्रकरण।

३. दे० व्यक्तिविवेक की व्याख्या, द्वितीय विमर्श, पृ० ३१९
यथा तु दाण्डो ग्रन्थस्तथा सन्निभशब्दः सदृशपर्यायोऽस्ति तदुक्तम्—'इववद्वायथाशब्दाः समाननिभसन्निभाः।

काव्यशास्त्र के इतिहास का भी अब तक पर्याप्त विवेचन हुआ है, इस विवेचन में दण्डी और उनके 'काव्यादर्श' के काव्यशास्त्रीय योगदान और महत्त्व पर भी थोड़ी-बहुत छिटपुट चर्चाएँ जहाँ-तहाँ हुई हैं। ये चर्चाएँ इस शोध-प्रबन्ध के लिए सन्दर्भ रूप में हैं।

ऐसे ग्रन्थों में अल्ब्रेट वेबर (Albrecht waber) की 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' पहली पुस्तक है, मूलरूप में जर्मनी भाषा में इसका पहला संस्करण सन् १८५२ में प्रकाशित हुआ, फिर सन् १८७८ में जान मान एम्० ए० एवं थियोडोर जचारे पीएच्० डी० का किया हुआ उसका अंग्रेजी-अनुवाद प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में ही पहली बार आलोचनात्मक पर्यवेक्षण में भारतीयों के छन्द तथा काव्यशास्त्र की चर्चा करते हुए एक पाश्चात्य विद्वान् ने दण्डी के 'काव्यादर्श' और उसमें वर्णित रीति-सिद्धान्तों की चर्चा की है।[1]

सन् १९२८ में प्रो० ए० बी० कीथ ने विस्तार से संस्कृत साहित्य के इतिहास का आलोचनात्मक विवेचन 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' नाम से लिखा। इस ग्रन्थ में दण्डी के समय और उनके 'काव्यादर्श' के गुण-रीति विवेचन पर अच्छा पर्यवेक्षण है। और कदाचित् पहली बार प्रो० कीथ ने इस स्थापना का प्रयत्न किया है कि आचार्य दण्डी भामह के पूर्ववर्ती हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि दण्डी के नाम से जो 'अवन्तिसुन्दरी कथा' का प्रकाशन किया गया है, उसका कर्तृत्व दण्डी के लिए उचित नहीं है।[2] कीथ की स्थापनाएँ सूक्ष्म और गम्भीर हैं।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने सन् १९३८ में संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास दो भागों में, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नाम से प्रस्तुत किया, यद्यपि इस ग्रन्थ में सूक्ष्म पर्यवेक्षण का अभाव है और अपनी मान्यताओं को रूढ़ि-रूप में ही उपस्थित करने का हठ है तथापि भारतीय दृष्टिकोण से और पुरानी मान्यता के अनुसार संस्कृत में उपलब्ध सामग्री के आधार पर सेठ जी ने विस्तृत परीक्षण और विवेचन किया है। इसमें इस बात को गलत सिद्ध किया गया है कि 'अग्निपुराण' 'काव्यादर्श' के बाद की रचना है और 'अग्निपुराण' के काव्यशास्त्रीय विवेचन

---

१. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (Albrecht waber) : अंग्रेजी-अनुवाद, सन् १८७८, पृष्ठ २१३, २३२

२. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, प्रो० ए० बी० कीथ (भाषान्तरकार-मंगलदेव शास्त्री, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६०) प्राक्कथन पृ० १४-१५, ग्रन्थ-भाग—पृ० ४४४-४५३

में 'काव्यादर्श' ही समाविष्ट है।[1] इस सम्बन्ध में सन् १९३१ में 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में भी एक लेख सेठ जी ने लिखा था और डा० सुशीलकुमार डे तथा महामहोपाध्याय पाडुरंग वामन काणे के इस मत का खण्डन किया था कि 'अग्निपुराण' एक संकलन मात्र है। सेठ जी दण्डी, भामह तथा आनन्दवर्द्धन को 'अग्निपुराण' से ही अनुप्रेरित मानते हैं तथा दण्डी को भामह के बाद स्वीकार करते हैं। दण्डी के समय के विषय में उन्होंने उपलब्ध सामग्री की विस्तार से चर्चा की है।[2] दण्डी के काव्यलक्षण को अधूरा[3] मानते हुए वे रीति और वक्रोक्ति[4] के प्रसंग में दण्डी का विशेष उल्लेख करते हैं।

जहाँ एक ओर दण्डी के काव्यशास्त्रीय अनुशीलन को लेकर भामह से उनके पूर्व अथवा बाद में होने का प्रश्न विवेचन का विषय था, वहाँ दूसरी ओर एक अन्य विचारणीय प्रश्न भी सामने आया, कि क्या 'काव्यादर्श' और 'दशकुमार चरित' दोनों ग्रन्थों के लेखक एक ही आचार्य दण्डी हैं। सन् १९१५ में श्री आगाशे महोदय ने 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' में यह विचार प्रस्तुत किया कि 'काव्यादर्श' एवं 'दशकुमार चरित' दोनों भिन्न-भिन्न लेखकों की कृतयाँ हैं।[5] उन्होंने यही विचार अपने सम्पादित 'दशकुमार चरित' की भूमिका में भी व्यक्त किये हैं।[6] आगे चल कर दण्डी और उनकी कृतियों का अनुशीलन करनेवाले दूसरे विद्वानों ने भी इस प्रश्न को सामने रख कर अपने विचार प्रकट किये हैं।

महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे का सन् १९२३ में 'साहित्यदर्पण' की भूमिका के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र का एक इतिहास प्रकाशित हुआ। बाद में जिसका विस्तार उन्होंने स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स' नाम से किया। इस ग्रन्थ का तृतीय संस्करण सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार की 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स' नाम से दूसरी पुस्तक डा० सुशीलकुमार डे ने सन् १९२३ में लिखी, जिसका तीसरा संस्करण सन् १९६० ई० में प्रकाशित हुआ है। काणे और डे दोनों विद्वानों ने विस्तार और पर्यवेक्षण के साथ दण्डी के समय और उनके 'काव्यादर्श' के विवेच्य विषय एवं दण्डी तथा

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास , प्रथम भाग, पृ० ७४-९८
२. वही, पृ० १३०-१४१
३. वही, द्वितीय भाग, पृ० २४-२५
४. वही, पृ० १४७, १६८
५. इण्डियन एण्टिक्वेरी, मार्च १९१५ ई०, पृ० ६७-६८
६. दशकुमार चरित (सम्पादक—श्री आगाशे) भू० पृ० २५

भामह के पौर्वापर्य पर अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं।[1] लेकिन दोनों ग्रन्थों में निश्चित रूप से कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं है, जिससे दण्डी के समय, भामह से उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती होने के सम्बन्ध में निर्भ्रान्त धारणा बनायी जा सके।

महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी ने सन् १९४५ में एक लेख दण्डी के काल निर्णय को लेकर 'हिस्टारिकल डेट इन दंडिन्ज दशकुमारचरित' नाम से लिखा है और उसमें 'दशकुमारचरित' के अष्टम उच्छ्वास--विश्रुत चरित को लेकर सप्रमाण यह सिद्ध किया कि 'दशकुमारचरित' की रचना किसी प्रकार भी ५५० ई० के बाद की नहीं हो सकती।[2] किन्तु प्रस्तुत लेख 'काव्यादर्श' को अपने समक्ष नहीं रखता।

डा० गणेश-त्र्यम्बक देशपांडे के 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का हिन्दी संस्करण सन् १९६० ई० में निकला है। इसके तीसरे, चौथे, पाँचवें अध्यायों में दण्डी के सम्बन्ध में विशेष रूप से चर्चा आती है, भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' के काव्य-लक्षणों को भामह तथा दण्डी ने काव्यालंकार के रूप में निरूपित किया[3] तथा दण्डी का समाधि गुण काव्यशास्त्र के इतिहास में रस-सिद्धान्त की स्थापना का आरम्भ है[4]—इस ग्रन्थ में दण्डी के सम्बन्ध में ये दो मुख्य आकर्षण हैं।

भोजदेव के 'शृंगारप्रकाश' पर डा० वेंकटेश राघवन् ने विस्तृत अनुशीलन प्रस्तुत किया है। 'शृंगार प्रकाश' नाम से उनका यह अध्ययन सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ, सन् १९६३ में उसका द्वितीय संस्करण निकला है। भोज भी दण्डी के दाक्षिणात्य सम्प्रदाय की सीमा के ही आचार्य हैं और उन्होंने दण्डी की मान्यताओं को अपने साहित्यशास्त्रीय विवेचन में स्वीकार किया है। इस कारण 'शृंगार-प्रकाश' का अध्ययन निश्चय ही दण्डी के सम्बन्ध में भी एक पर्यवेक्षण होना चाहिए, लेखक के इस ग्रन्थ में दण्डी की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं--रीति, अलंकार, रसवद्--आदि की भी आलोचनात्मक चर्चा हुई है। साथ

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स (म० म० पा० वा० काणे, संस्क० १९६१) पृ० ८८-१३०
हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स भाग १, २ (डा० सु० कु० डे, संस्क० १९६०) पृ० ५७-७२, ७५-८८

२. एनाल्स आफ दि भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, वाल्यूम २६, १९४५ ई०, पृ० २०-३१

३. भारतीय साहित्य शास्त्र (हिन्दी, १९६०) पृ० ४१-५१, ५२-७८

४. वही, पृ० १४३-१४५

ही लेखक ने दण्डी के समय और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया है।[1]

इन विस्तृत चर्चाओं और समीक्षाओं के अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय इतिहास एवं 'दशकुमारचरित', 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के प्रसंगों को लेकर कई विद्वानों ने प्रसंगानुकूल दण्डी, उनके समय और कृतित्व की ओर निरीक्षण किया है। इनमें मैक्समूलर, मैकडानल, याकोबी और पिशेल पाश्चात्य विद्वान् हैं। भारतीय विद्वानों में—प्रतापरुद्रयशोभूषण की भूमिका में श्री के० पी० त्रिवेदी ने, 'स्वप्नवासदत्तम्' की भूमिका में श्री गणपति शास्त्री ने, 'कविराजमार्ग' की भूमिका में प्रो० पाठक ने, श्री एम्० टी० नरसिंह आयंगर ने 'जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' (सन् १९०५, पृ० ३२५) के लेख में, डा०ए० संकरन् ने अपनी पुस्तक 'सम आस्पेक्ट्स आफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म इन संस्कृत' में, श्री अनन्तलाल ठाकुर ने सीलोन के रत्नश्रीज्ञान द्वारा रचित दण्डी के 'काव्यादर्श' की टीका 'रत्नश्री' की भूमिका में एवं डा० रांगेय राघव ने 'दशकुमारचरित' के हिन्दी-अनुवाद की भूमिका में दण्डी के समय और कृतित्व पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

'काव्यादर्श' के संस्करण एवं टीकाएँ

'काव्यादर्श' के कई संस्करण और उस पर की गयी टीकाएँ हमारे सम्मुख हैं। इनमें सन् १९३८ में भाण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर पूना से प्रकाशित और पण्डित रंगाचार्य शास्त्री की 'प्रभा' टीका से समन्वित 'काव्यादर्श' का संस्करण इस प्रबन्ध में व्यवहृत हुआ है। जैसा कि पण्डित रंगाचार्य ने अपने निवेदन में कहा है, उन्होंने अपनी इस टीका में पहले की की गयी 'श्रुतानुपालिनी', 'मालिन्यप्रोंछनी' टीकाओं की भी सहायता ली है। 'श्रुतानुपालिनी' टीका के लेखक वादिघंघल और 'मालिन्यप्रोंछनी' के कर्त्ता प्रेमचन्द्र हैं। इस संस्करण का सम्पादन विद्वान् सम्पादक ने 'काव्यादर्श' की पाँच प्रतियों से किया है, वे ये हैं—

१. मद्रास की प्राच्य संशोधन-मंदिर संस्था को सन् १९२५-२६ में प्राप्त ताडपत्र पर लिखी 'काव्यादर्श' की पोथी। इसमें चार परिच्छेद हैं—१. मार्ग-विभाग, २. अर्थालंकार-विभाग ३. यमकप्रहेलिका-प्रकार, ४. गुणदोष-विभाग।

२. दूसरी प्रति है—सन् १८९० में जर्मनी देश में श्री ओ० बोथलिंक द्वारा प्रकाशित 'काव्यादर्श' का संस्करण।

---

१. शृंगार प्रकाश (डा० वें० राघवन्, संस्करण १९६३) पृ० ६७८-६७९

३. सन् १९१० में एम्० रंगाचार्य द्वारा ब्रह्मवादि मुद्रणालय मद्रास में मुद्रित 'काव्यादर्श', इसमें साथ में दो टीकाएँ हैं—(१) तरुणवाचस्पति की टीका, (२) अज्ञातकर्तृक 'हृदयंगमा' टीका।

४. प्रेमचन्द्र की स्वोपज्ञमालिन्यप्रोंछनी टीका से युक्त सन् १८६३ में बंगाल से प्रकाशित 'काव्यादर्श' की प्रति।

५. सन् १८९० में कलकत्ता से जीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित 'काव्यादर्श', जिसमें उनकी की हुई 'पदार्थविबोधिनी' टीका भी है।

'काव्यादर्श' के इन संस्करणों और इन पाँच-छह टीकाओं के अतिरिक्त अन्य संस्करणों और टीकाओं के नाम भी हमारे सामने हैं, जिनमें से कुछ उपलब्ध हैं, उनकी तालिका यह है—

१. म० म० हरिनाथ-कृत 'मार्जन' टीका।

२. कृष्णकिंकर तर्कवागीश की 'काव्यतत्त्वकौमुदी' टीका।

३. जगन्नाथ के पुत्र मल्लिनाथ की लिखी 'वैमल्यविधायिनी' टीका।

४. वी० नारायण ऐयर का किया हुआ अंग्रेजी-अनुवाद।

५. लंकानिवासी रत्नश्रीज्ञान द्वारा रचित 'काव्यलक्षण रत्नश्री' टीका (११वीं शती ई०)। प्राध्यापक श्री अनन्तलाल ठाकुर द्वारा सम्पादित, मिथिला इन्स्टीट्यूट दरभंगा से १९५७ ई० में प्रकाशित।

६. एस्० के० बेलवलकर एम्० ए०, पीएच्० डी० तथा रंगाचार्य बी० रेड्डी द्वारा 'काव्यादर्श' के दूसरे परिच्छेद पर संस्कृत कमेण्ट्री और इंगलिश नोट्स। बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज से सन् १९२० में प्रकाशित।

७. 'काव्यादर्श' प्रथम परिच्छेद मात्र, पी० एन्० पाटनकर एम्० ए० की टीका। दाण्डेकर ब्रदर्स, इन्दौर। सन् १९२१ में प्रकाशित।

८. नृसिंहदेव शास्त्री-कृत 'कुसुमप्रतिमा' टीका। मेहरचन्द-लक्ष्मणदास, लाहौर, से संवत् १९९०—सन् १९३३ में प्रकाशित।

९. ब्रजरत्नदास की लिखी हिन्दी-टीका।

१०. रामचन्द्र मिश्र की 'प्रकाश' नामक संस्कृत-हिन्दी टीका। चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी से संवत् २०१५—सन् १९५८ में प्रकाशित।

श्री रामचन्द्र मिश्र ने चौखम्भा विद्याभवन के संस्करण में नरसिंह, भगीरथ, विजयानन्द और त्रिभुवनाचार्य की लिखी टीकाओं का भी उल्लेख किया है।

इन सभी संस्करणों में भाण्डारकर प्राच्य विद्यामंदिर पूना से प्रकाशित और पण्डित रंगाचार्य शास्त्री की प्रभा-टीका से समन्वित 'काव्यादर्श' का संस्करण

अत्यन्त व्यवस्थित और प्रामाणिक है। पाठ की दृष्टि से श्री ओ० बोथलिंक द्वारा जर्मनी भाषा में किये गये अनुवाद के साथ जर्मनी से प्रकाशित 'काव्यादर्श' का संस्करण भी महत्त्व का है।

प्रस्तुत अध्ययन का दृष्टिकोण

एक तरह से काव्यशास्त्र का आरम्भिक ग्रन्थ होने पर भी, सैद्धान्तिक अन्तिम निर्णय के अभाव में भी (जो बाद के ग्रन्थों में ही सम्भव है), 'काव्यादर्श' का प्राचीन काल में और आज भी पर्याप्त अध्ययन और अनुशीलन हुआ है। काव्यशास्त्र के पंडित बननेवाले के लिए भले ही दण्डी का 'काव्यादर्श' उपयोगी न हो, परन्तु जो काव्यशास्त्र के इतिहास और विकास का सूक्ष्म मनन करना चाहते हैं वे यदि इस 'काव्यादर्श' को छोड़ देंगे तो उनका श्रम ही सार्थक न होगा। काव्यशास्त्र की जन्म-भूमि में पहुँचने के लिए मार्ग की अन्तिम पगडंडी दण्डी के काव्यादर्श से ही हो कर जायगी।

भाव के उद्भावक रससिद्ध कवि वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष के बाद नागरक-गोष्ठियों में भाव की रूढ़ि को तोड़ कर विदग्ध-कवियों ने काव्य को जो नया मोड़ दिया, जिसके फलस्वरूप गुण की स्थापना सामने आयी, 'काव्यादर्श' उस युग के ऐसे विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। काव्य की सौशब्द्य और भावमूलक मान्यताओं को लेकर अलग-अलग काव्य-सम्प्रदायों का उदय हो रहा था। दाक्षिणात्य, पौरस्त्य और औदीच्य काव्य-सम्प्रदायों में इन ऐतिहासिक तथ्यों का अन्वेषण सामने रख कर 'काव्यादर्श' तथा उसकी पूर्वापर परम्परा के परिलेख में संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास-दर्शन का प्रयास यह ग्रन्थ है, केवल काव्यशास्त्रीय व्याख्यान मात्र नहीं। 'काव्यादर्श' की काव्यशास्त्रीय व्याख्या तो बहुत हुई है, अब काव्यशास्त्रीय इतिहास की अनुरंजक और प्रेरणाप्रद, विचार तथा चिन्तन के मर्म को छूनेवाली और तथ्योद्घाटक सामग्री आचार्य दण्डी के अनुशीलन में ढूँढ़ना ही अपना लक्ष्य है।

●

उन्मेष दो | काव्यशास्त्र की परम्परा एवं दण्डी के 'काव्यादर्श' का प्रतिपाद्य

कवि और काव्य संस्कृति-निष्ठ जाग्रत समाज की अत्यन्त परिचित संज्ञाएँ हैं। सदा ही लोक तथा नागरक विदग्धजनों और भाव-रसिकों को कवि के कृतित्व ने आकर्षित किया है। हमें आनेवाला प्रत्येक कवि और उसका काव्य नया ही प्रतीत होता है, इसी प्रकार काव्य के उद्भावित प्रत्येक आदर्श या सिद्धान्त भी नये-से ही लगते हैं—ऐसा है कवि और उसका काव्य-जगत्। किन्तु इसके विपरीत कवि का अस्तित्व, उसका इतिहास अत्यन्त प्राक्तन है, उससे हमारा परिचय अपनी सभ्यता की बुनियाद के साथ होता है। अनेक युगों की परतें पलट कर हम कवि के इस ज्वलन्त इतिहास को देख सकते हैं। इससे काव्य के आदर्शों की परख करने में सहायता मिलेगी।

कवि

ऋग्वेद में 'कवि' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में है। उन अर्थों से मानव के आदि समाज में कवि की महिमा पर प्रकाश पड़ता है। 'कवि' अग्नि है, 'कवि' सूर्य है, 'कवि' सोम है, 'कवि' मेधावी है, अनूचान (वेदज्ञ, वेदमंत्रों का गायक) है और क्रान्तदर्शी है। उपनिषद् युग में फिर वही 'कवि' ब्रह्म बन गया। आजकल हम जिस अर्थ में 'कवि' शब्द का प्रयोग करते हैं, उसकी बहुत कुछ संगति अनूचान अर्थ से बैठती है और थोड़ी-बहुत क्रान्तदर्शी अर्थ से भी। अनूचान से ही मिलते-जुलते अर्थ स्तोता-स्तुतिगायक में भी 'कवि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कदाचित् कवि के सम्मान का अधिकारी अध्वर्यु नहीं हो सकता था, कवि परमार्थतः अनूचान होता था—

> युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
> तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्योइ मनसा देवयन्तः॥
>
> (ऋग्वेद मं० ३ सू० ८ मंत्र ४)

यहाँ सायण ने लिखा है—कवयः क्रान्तदर्शिनोऽध्वर्य्वादयः। और ऐतरेय ब्राह्मण ने उसे यों समझाया है— 'युवा सुवासाः परिवीत आगादित्युत्तमया

परिदधाति प्राणो वै युवा सुवासाः सोऽयं शरीरैः परिवृतः स उ श्रेयान्भवति जायमान इति श्रेयान्छ्रेयान्ह्येष एतद्भवति जायमानस्तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त इति ये वा अनूचानास्ते कवयस्त एवैनं तदुन्नयन्ति।' (ऐ० ब्रा० २/२) अर्थात् यूपस्थ स्थाणु देवता का साक्षात्कार करने की सामर्थ्य अनूचान कवियों में है।

कवि का मेधावी और क्रान्तदर्शी अर्थ तो कई मन्त्रों में किया गया है, और वहाँ वह अग्नि के विशेषण के रूप में भी है। इन सब मंत्रों के अनुशीलन से 'कवि' का 'अग्नि' अर्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। अग्नि को कवि' कहने का कारण शायद यह है—मानव जीवन जब ज्ञान-विज्ञान की ओर अग्रसर हुआ तब सबसे पहले उसने अग्नि की खोज की। अग्नि का प्रथम ज्ञान जब मनुष्य को हुआ होगा, उसे कितनी प्रसन्नता हुई होगी, उसने कितने साज-सम्भार सँभाले होंगे, जीवन की रक्षा में कितनी सुविधाएँ मिली होंगी, मनुष्य की उस प्रसन्नता का अनुमान आज हम नहीं कर सकते। ऋग्वेद के मंत्रों के अनुसार अग्नि के वे खोजी आंगिरस गोत्र के कवि थे, क्योंकि खोज करनेवाले जन-समाज में 'कवि' नाम से अभिहित होते थे इसलिए उनके द्वारा खोजे हुए तत्त्व का नाम भी 'कवि' पड़ गया। और खोजक को 'कवि' नाम शायद इसलिए मिला होगा कि अग्नि को खोजने के बाद उसने उल्लासपूर्ण गान गाया होगा। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'कु' 'कै'[1] आदि धातुएँ शब्द या गान करने के अर्थ में हैं और 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति 'कवृ' धातु से निष्पन्न समझी जाती है।[2] नीचे के दोनों मंत्रों में कवि की वीरता और उसके अग्नि-विद्या-वेत्ता होने की प्रशंसा की गयी है—

अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन्तदुदीयुराविशम्॥
ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता पुनरात आ तस्थुः कवयो महस्पथः।
ते बाहुभ्यां धमितमग्निमश्मनि नकिः षो अस्त्यरणो जहुर्हितम्॥
(ऋ० २।२४।६-७)

अर्थात् असुर गायों को चुरा ले गये थे और उनको मायावेष्टित अपनी गुफाओं में छिपा दिया था। उनकी माया का भेद जाननेवाले (विद्वांसः) आंगिरसों

---

१. सिद्धान्तकौमुदी—'कवृ' वर्णे (३८०), 'कै' शब्दे (९१६), 'कु' शब्दे (१०४२)।

२. काव्यमीमांसा (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), पृ० १५—'कवि' शब्दश्च 'कवृ' वर्णे' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्।

ने जाते-जाते उस गुफा को खोज लिया, वे असुरों की माया को भेदकर जहाँ प्रविष्ट हुए थे, गायों को लेकर फिर वहीं आ गये। फिर वहाँ स्थित होकर उन कवियों ने अपनी बाहुओं से मथकर अग्नि को उत्पन्न किया और उस अग्नि को असुरों के निवास पर्वत की गुफाओं पर फेंक दिया, जिससे वे जल जायें। जलाकर भस्म कर देनेवाला अग्नि पहले वहाँ नहीं था, सामर्थ्यवान् कवियों ने स्वयं उस अग्नि को उत्पन्न कर वहाँ जलाने को फेंक दिया।

इसलिए अन्य मंत्रों में अग्नि को कविक्रतुः अर्थात् कवि की प्रज्ञा अथवा बुद्धि भी कहा गया है—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्॥
(ऋ० १।१।५)

ऋग्वेद के १०।८८ सूक्त में अग्नि की प्राप्ति से हुई प्रसन्नता और सुविधाओं का वर्णन है, यह लोक अन्धकार से निगीर्ण था, अग्नि के प्रकट होने पर यह प्रकाश में आया और यह अग्नि जब देवों का मित्र बन गया तब से उन्होंने पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष, जल और ओषधियों का भरपूर आनन्द प्राप्त करना शुरू किया। इसी के साथ अग्नि की विविध प्रशंसाएँ हैं—'तुम त्रिलोक के ऊपर सूर्य के साथ स्थित हो।' और फिर कहा जाता है—यज्ञ करनेवाले कवियों ने इस सूर्यात्मक अग्नि को उत्पन्न किया—

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम्।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम्॥
(ऋ० १०।८८।१३)

क्योंकि वे ही कवि नाना बुद्धि से अग्नि की रक्षा करते हैं, उन्हीं के द्वारा मनुष्यों के हित के लिए सूर्यरूप इस अग्नि का आविर्भाव होता है, वे धीर कवि ही इस अजर अग्नि को वेदिलक्षण स्थान पर ले आते हैं—

धीरासः पदं कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्।
सिषासन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुमाविरेभ्यो अभवत्सूर्यो नॄन्॥
(ऋ० १।१४६।४)

क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करनेवाले कवि हैं इसलिए अग्नि कवियों की वस्तु अर्थात् कवि है, ऋषि कहता है—हम सर्वदा दीप्तिवान् वैश्वानर कवि अग्नि की मन्त्रों से स्तुति करते हैं जिसने अपनी महिमा से द्यावापृथिवी को घेर रखा है, जो नीचे भी तपता है ऊपर भी तपता है—

वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात्॥
(ऋ० १०।८८।१४)

नीचे के मन्त्रों में अग्नि को कवे ! सम्बोधित किया गया है—

मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे !
अद्यां कृणुहि वीतये ॥
(ऋ० १।१३।२)

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे !
(ऋ० १०।१४०।१)

आंगिरस कवि ने ही पहले अग्नि को जाना, इसलिए ऋषि कहता है—हे अग्नि ! तुम सर्वप्रथम अंगिरा कवि होकर देवों के कर्म को अलंकृत करते हो, विश्व के अनुभव के लिए द्विमाता (दो अरणियों से उत्पन्न) होकर अनेक प्रकार से सर्वत्र सोये हुए हो—

त्वमग्ने प्रथमा अंगिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्।
विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे॥
(ऋ० १।३१।२)

जिसने अग्नि की खोज की होगी वह निश्चय समाज का नेता बन गया होगा। आंगिरस कवि ऐसे ही समाज के अगुआ थे, वे पराक्रमी थे। नीचे के मन्त्र में इन कवियों को मारुत गण की संज्ञा से अभिहित किया गया है, साथ ही ऋषि से कहा जाता है—हे ऋषि ! ये कवि स्वस्थ शरीर, दर्शनीय, चमकते हुए आयुध धारण किये मरुत् हैं, सभी के विधाता हैं, उल्लासपूर्ण वाणी से इनकी स्तुति करो—

य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः।
तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा॥
(ऋ० ५।५२।१३)

ये कवि अग्नि के कर्म के लिए ही चमकते आयुध धारणकर, योद्धा बन कर मरुत् संज्ञा से पुकारे गये—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥
(ऋ० १।३१।१)

यहाँ यह बात भी विचारणीय है, इन्हें कवि क्यों कहा गया ? और जिसने अग्नि की खोज की, उसका ही नाम अग्नि हो जाना चाहिए था या कि अग्नि का नाम ही

कवि पड़ गया? दोनों ही बातें हुई हैं, अग्नि को कवि कहा गया और अग्नि की खोज करने के कारण कवि को अंगिरा (आंगिरस) संज्ञा भी मिली। लेकिन कवि की कवि-रूप में लोकख्याति इतनी थी कि कवि की संज्ञा से ही अग्नि को पुकारा गया, अग्नि की संज्ञा से कवि को नहीं। ऊपर उक्त (ऋ० १।३१।१) मंत्र में यह बात स्पष्ट हो जाती है—'हे अग्नि! तुम पहले अंगिरा नाम के ऋषि हुए।' अर्थात् जिस ऋषि ने अग्नि को जाना उसे अंगिरा कहा गया। ऐतरेय ब्राह्मण (३/३४) में इसका समर्थन होता है—'येंऽगारा आसंस्तेऽअंगिरसोऽभवन्।' लेकिन मंत्र के उत्तरार्द्ध में कहा जाता है कि 'अग्नि! तुम्हारे व्रत में ही कवियों ने चमकते आयुध धारणकर मरुत्संज्ञा प्राप्त की।' अर्थात् अग्नि की खोज करनेवाले ऋषि का परिवार कवि के नाम से जाना जाता था, जब उसनें अग्नि की खोज की तब उसके कवि-कुटुम्बियों ने इस खोज के उल्लास में अपने को महान् समझा, इस अग्नि को मुझसे कोई छीन न ले, इसके हेतु वे हाथ में आयुध लेकर इसकी रक्षा करते रहे। इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंगिरा-संज्ञा अग्नि को जानने के बाद ऋषि को मिली, वह पहले कवि हैं। और कवि इसलिए है कि वह छन्दोमयी वाणी में गाता है। वेद के भी मंत्र छन्दोमयी वाणी में है, फिर उनके द्रष्टा ऋषि कहे जाते हैं, कवि नहीं कहे जाते, ऐसा क्यों है? ऊपर उक्त (ऋ० ५।५२।१३) मंत्र में ऋषि को ही कवि-मरुतों की स्तुति के लिए कहा जाता है। एक जगह देवों के पति इन्द्र ने युद्ध में विजय किया, वहाँ से प्रचुर धन लाकर स्तोता देवों को दिया, मेधावी कवि उसके इन कार्यों का गुणगान यजमान के घर अग्निहोत्र के समय करते हैं—

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति॥
(ऋ० ३।३४।७)

एक अन्य मन्त्र में कवि-पुत्र उशना अपने बल से इन्द्र के बल को और भी तीक्ष्ण करता है, इन्द्र उसके बल से बली होकर द्यावा-पृथिवी को भयभीत कर देता है, उसके घोड़े मन और वायु की गति में तेजी से आगे बढ़ते हैं—

तक्षद्यत्त उशना सहसा सहो वि रोदसी मज्मना बाधते शवः।
आ त्वा वातस्य नृमणो मनोयुज आपूर्यमाण मवहन्नभि श्रवः॥
(ऋ० १।५१।१०)

अन्यत्र कवि उशना ने वृत्र के वध के लिए इन्द्र को तीक्ष्ण वज्र दिया है—

त्वमिन्द्र नर्यो यां अवो नृन्तिष्ठा वातस्य सुयुजो वहिष्ठान्।
यं ते काव्य उशना मन्दिनं दाद्वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम्॥
(ऋ० १।१२१।१२)

इस प्रकार कवियों ने युद्ध में इन्द्र को सहायता दी, उनकी विजय पर उनकी स्तुति के गान गाये। और ऋषि ने उन आयुधधारी कवियों—मारुत-गणों की वन्दना अपनी रमणीय वाणी में की। ये प्रसंग कवि और ऋषियों के पूर्वापर सम्बन्ध से हमें अवगत कराते हैं। वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि बहुत बाद में हुए, मन्त्रों के रचनाकार अथवा स्तुतियों के बनानेवाले कवि ऋषियों के पूर्व समाज में अग्रगण्य थे, वही समाज के नियामक और रक्षक थे, वे न केवल स्वरचित गान करनेवाले कवि थे, वरंच योद्धा भी थे, उन्होंने अग्नि की सर्वप्रथम खोज की, अग्नि की सहायता से चमकते आयुधों का निर्माण किया। रण में वे राजा इन्द्र के सहायक बनते थे। पणि असुरों से गायों की रक्षा करते थे। उन कवियों के कार्यों का गान मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने किया तथा उनकी रचित स्तुतियों को अभ्यस्त कर संकलित किया। वाणी की छन्दोमय प्रथम रचना करनेवाले कवि थे, इसलिए ऋषि ने अपने को मन्त्रकर्त्ता नहीं कहा, कवि के रचित गान को जो अब विस्मृत हो रहा था, ढूँढ़कर और प्रतिभा के बल से संकलित कर अपने को कविरचित मन्त्रों और उनके अर्थों को जाननेवाला —गान करनेवाला मन्त्रद्रष्टा कहा है। निरुक्त में ऋषि परोक्ष अर्थ को देखनेवाला है—'**ऋषिर्दर्शनात्**' (निरुक्त २/११) अर्थात् यः परोक्षं **पश्यति स ऋषिः**। कवि के **अतीत के गान** को अपनी मेधा के बल से स्मरण रखकर **गान करनेवाला**—अर्थ का जाननेवाला ऋषि था। यह बात दूसरी है कि पीछे उन्होंने भी मन्त्रों की रचना की।

कवि की संप्रभुता और समाज में उसकी नियामक बुद्धि का लोहा इसी से जाना जा सकता है कि प्रथम उसने अग्नि-तत्त्व की खोजकर समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया, समाज कवियों की इस बुद्धि से चमत्कृत हुआ और कवियों द्वारा उत्पन्न अग्नि को उन्हीं के नाम पर कवि कहकर पुकारा। इसी प्रकार जिन अन्य दुर्लभ खोजों और कार्यों को कवि ने प्रस्तुत किया उन्हें भी समाज में कवि कहा गया। ऋषि वेदमन्त्रों में कवि और उनके कृतित्व दोनों को कवि-संज्ञा से ही अभिहित करता है।

उस आदि समाज में गायक कवि ने अग्नि के अनन्तर ही सोम देवता की खोज की और उनका रस निचोड़-निचोड़ कर स्वयं पान किया तथा पान कराया। यह कवियों की बुद्धि का चमत्कार था कि यज्ञ-भूमि की पान-गोष्ठी के लिए इतनी उत्तम वस्तु मिल गयी। निचोड़े हुए सोमरस को कलशों में भरे जाने पर जो शब्द होता है, ऋषि उसे सोमदेवता का कविवत् आचरण कहता है। कवियों द्वारा सोमरस दुहे जाने का वर्णन करते हुए ऋषि कहता है—मनीषी और कर्मठ ये कवि शब्द करनेवाले अक्षीण कवि-सोम का रस निचोड़ रहे हैं। यज्ञभूमि में जब

पशु लाये जायेंगे और उन्हीं के साथ स्तुतियाँ गायी जायेंगी तभी यज्ञभूमि की उत्तर वेदी पर इस सोम को भी स्थापित किया जायगा—

अंशुं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितं कविं कवयोऽपसो मनीषिणः।
समी गावो मतयो यन्ति संयत ऋतस्य योना सदने पुनर्भुवः॥
(ऋ० ९।७२।६)

अग्नि की भाँति सोम को भी कवि द्वारा खोजे जाने के कारण कवि नाम से पुकारा गया है। नीचे के मन्त्रों में कवि का अर्थ सोम है—

प्र कविर्देव वीतयेऽव्यो वारेभिरर्षति।
साह्वान्विश्वा आ स्पृधः॥
(ऋ० ९।२०।१)

आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे!
अर्कस्य योनिमासदम्॥
(ऋ० ९।२५।६)

अव्ये पुनानं परि वार ऊर्मिणा हरिं नवन्ते अभि सप्त धेनवः।
अपामुपस्थे अध्यायवः कविमृतस्य योना महिषा अहेषत॥
(ऋ० ९।८६।२५)

इन्दुः पुनानो अतिगाहते मृधो विश्वानि कृण्वन्सुपथानि यज्वने।
गाः कृण्वानो निर्णिजं हर्यतः कविरत्यो न क्रीडन् परि वारमर्षति॥
(ऋ० ९।८६।२६)

परि यत्कविः काव्या भरते शूरो न रथो भुवनानि विश्वा।
देवेषु यशो मर्ताय भूषन्दक्षाय रायः पुरुभूषु नव्यः॥
(ऋ० ९।९४।३)

अग्नि की तरह सोम को भी कविक्रतु (कवि की प्रज्ञा या खोज) कहा गया है—

अरुषो जनयम् गिरः सोमः पवत आयुषक्।
इन्द्रं गच्छन् कविक्रतुः॥
(ऋ० ९।२५।५)

अनुमान है कि उन कवियों ने अग्नि की खोज की प्रेरणा सूर्य की उष्ण रश्मियों से प्राप्त की, और अग्नि का ज्ञान हो जाने पर सूर्य की प्रकृष्ट स्तुति की, इसीलिए सूर्य उनका प्रियतम—कवितम है—

उदीरय कवितमं कवीनामुनत्तैनमभि मध्वा घृतेन।
स नो वसूनि प्रयता हितानि चन्द्राणि देवः सविता सुवाति॥
(ऋ० ५।४२।३)

अर्थात् हे ऋत्विज् ! इस सामने चमकनेवाले, कवियों के कवितम सविता को स्तुतियों से प्रसन्न करो, मधुर सोम तथा घी से इनका तर्पण करो, क्योंकि यह सविता हमारे लिए गो-आदि धन लाभ करा कर आह्लादक हिरण्य प्रदान करता है।

कवि, सूर्य, सोम, अग्नि परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध-से हैं। कहीं-कहीं मन्त्रों में कवि कवि के लिए भी और सूर्य के लिए भी है, कहीं अग्नि और सूर्य के लिए है। नीचे के मन्त्र में सोम को 'कवीनाम् पदवीः' कहा है—

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणाम् स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥
(ऋ० ९।९६।६)

निरुक्त (१४।१३) में इसका अर्थ है—कवीनाम् कवीयमानानाम् आदित्य-रश्मीनाम्। सायण ने इसे कवि के ही अर्थ में लेते हुए कहा है—कवीनाम् क्रान्तप्रज्ञानाम्।

शतपथ ब्राह्मण में कवियों के प्रियतम इस आदित्य (सूर्य) की कवि संज्ञा अभिहित हुई है—

असौ वा आदित्यः कविः।
(शतपथ० ६।७।२।४०)

ऋग्वेद में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जहाँ मित्रावरुण, बृहस्पति जैसों को कवि कहा गया है, वस्तुतः उन आदि कवियों में से ये कुछ नाम हैं, जिनका अभिधान स्तुति के प्रसंग में, यज्ञ में आह्वान करते समय होता है—

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम्॥
(ऋ० १।२।८-९)

अर्थात् क्रतु को बढ़ानेवाले, ऋत को स्पर्श करते हुए मित्र और वरुण हमारे बृहन्त सोम याग को फल के हेतु सुशोभित कर रहे हैं। कवि मित्र और वरुण उपकार के लिए ही उत्पन्न हुए हैं, वे हमारे बल और कर्म को बढ़ाते हैं।

इसी प्रकार ऋ० २।२३ सूक्त में असुरों के हन्ता बृहस्पति की स्तुति का सूक्त है। बृहस्पति के महत्कार्यों की चर्चा करते हुए विविध-भावों से उनकी महिमा का गान इस सूक्त में है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही उन्हें 'कवीनां कविः' (कवियों में श्रेष्ठ कवि अथवा कवियों का नेता) कहा जाता है—

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥१

आगे ऋषि पुनः इसी सूक्त में बृहस्पति को सम्बोधन कर कहता है—हे ब्रह्मणस्पति! प्रजापति ने तुम्हें लोक के सभी प्राणियों से उत्कृष्ट उत्पन्न किया है, तुम्हें सम्पूर्ण सामों का रचयिता कवि उत्पन्न किया है—

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।
स ऋणाचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि॥१७

ऋग्वेद से यह पता चलता है कि कवियों के अस्तित्व की समाप्ति पर अथवा पिछली पीढ़ी में उशना बहुत प्रभावशाली रहे, कवि की महिमा तब अतीत हो चली थी इसीलिए उन्हें कवि नहीं (कवि-पुत्र) काव्य कहा गया है। काव्य उशना के अनेक प्रसंग आये हैं—वह इन्द्र को वृत्र के वध के लिए वज्र देते हैं,[1] इन्द्र उशना की रक्षा करते हैं,[2] उशना जब काव्य-पाठ करते हैं तब सोम की अच्छी पान-गोष्ठी आयोजित की जाती है,[3] यजमान यज्ञ में उशना और इन्द्र का एक साथ अनुगृहीत बनता है,[4] वामदेव ऋषि अपने में सार्वात्म्य ख्यापित करते हुए अपने को इन्द्र, सविता, कक्षीवान्, कुत्स तथा कवि उशना कहते हैं।[5] इससे उनके समय उशना की कवि-ज्येष्ठता प्रमाणित होती है। उशना के बल से बलवान् होकर इन्द्र ने द्यावा पृथिवी को भयभीत कर दिया।[6] असुरों के दमन में उशना इन्द्र के सहायक हैं।[7] युद्ध भी उन प्राक्तन कवियों का धर्म था, उशना के उस धर्म की भी चर्चा हुई है—सोमपान से तृप्त होकर उशना और इन्द्र दोनों चमकता हुआ वज्र लिये मृग असुर को मारने जाते हैं—

आ यः सोमेन जठरमपिप्रतामन्दत मघवा मध्वो अन्धसः।
यदी मृगाय हन्तवे महावधः सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत्॥
(ऋ० ५।३४।२)

---

१. ऋ० १।१२१।१२
२. ऋ० १।१३०।९
३. ऋ० ९।९७।७
४. ऋ० १०।२२।६
५. ऋ० ४।२६।१
६. ऋ० १।५१।१०
७. ऋ० १।८४।५

इन्द्र और उशना दोनों तेज घोड़ों पर चढ़ कर देवता कुत्स के यहाँ आये, फिर एक ही रथ पर तीनों चढ़ कर गये और शुष्ण असुर को मारा—

उशना यत्सहस्यैरयातं गृहमिन्द्र जूजुवानेभिरश्वैः।
वन्वानो अत्र सरथं ययाथ कुत्सेन देवैरवनोर्ह शुष्णम्॥

(ऋ० ५।२९।९)

ऋषियों के पूर्वज—वेदों के रचयिता कवियों की महिमा का प्रतिनिधित्व केवल उशना के नाम से जाना जाता है, कहने के लिए उनका सूक्त भी ऋग्वेद में है परन्तु उनका सम्पूर्ण काव्य सुरक्षित नहीं रह गया, यह मानना पड़ेगा। उशना उस समय हुए जब कवि का प्रभाव नष्ट हो चुका था, बृहस्पति, मित्रावरुण जैसे कवि अतीत हो चुके थे, कवियों की प्रतिष्ठा का स्थान मन्त्रों के गायक तथा चिन्तन-शील ऋषियों और यज्ञ-कर्म में दक्ष ऋत्विजों ने ले लिया था, या तो कवि अब केवल युद्ध करनेवाले राजा के सैनिक रह गये, अथवा समाज का सम्पूर्ण नेतृत्व राजाओं ने ले लिया और कवि प्रभावहीन होकर यत्र-तत्र बिखर गये, वैसे ऋषियों के बढ़ते हुए प्रभाव ने ही कवियों को अस्त कर दिया।

कवियों की इस अस्तवेला के बाद कवि-पुत्र काव्य उशना का उदय हुआ, उशना ने अपने काव्य और प्रतिभा के बल से समाज में तथा इन्द्र के यहाँ वही सम्मान अर्जित किया, जो उसके पूर्वज कवियों को प्राप्त था। ऋषियों की महिमा के बीच इस कवि की यह महिमा अपवाद स्वरूप थी, इसीलिए इसका महत्त्व-पूर्ण उल्लेख हुआ है, अभी बताया गया है कि वामदेव ऋषि ने अपने को कवि उशना कहने में गौरव का अनुभव किया था।[1] वेद महाभारत काल में मंत्र-द्रष्टा ऋषियों की कृति था और उनके कुल में सुरक्षित था, सम्पूर्ण वाङ्मय ऋषियों का ही था लेकिन तब भी उशना के किसी ओजस्वी प्रेरक काव्य का स्मरण उस समय किया जाता था और कवि-रूप में उनके अमोघ कृतित्व के प्रति कृष्ण की निष्ठा थी—

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥

(गीता १०।३७)

पीछे वेदांग-साहित्य में वे कवि पितर, विद्वान् तथा सिद्ध-आप्त पुरुषों के रूप में इतिहास के तत्त्व बन गये। और धीरे-धीरे उपनिषद् ग्रन्थों में उनकी संज्ञा का बोध ब्रह्म के अर्थ में रूढ हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें पितर कहा गया है—

---

१. ऋ० ४।२६।१

ए वै तेन ऋषयः पूर्वे प्रेतास्ते वै कवयः।
(एतरेय ६।२०)

ब्राह्मण और उपनिषद् के ऋषियों ने उन प्राक्तन कवियों का स्मरण आप्त-पुरुष के रूप में किया है—ये वै विद्वांसस्ते कवयः। (शतपथ ७।१।४।४)

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठोपनिषद् ३।१४)

सुश्रुवांसो वै कवयः।
(तैत्ति० ३।२।२३)

किन्तु अधिकांश ने कवि संज्ञा उस ब्रह्म को दी है, जो समस्त जगत् का प्रेरक है, वैसे इस अर्थ में बहुत नवीनता नहीं है, वैदिक ऋषियों ने स्वयं अपने उन कवियों को अपौरुषेय कार्य करनेवाला माना है (जैसे—यह अग्नि यहाँ नहीं था कवियों ने इसे उत्पन्न किया।)[1] वे कवि समाज के नियामक ही नहीं,प्रकृति के तत्त्वान्वेषी थे और प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों तथा उनके गुणों को जानकर जो जिस उपयोग के लिए था उसका वहाँ व्यवहार किया (जैसे अग्नि, सोम के विषय में चर्चाएँ आती हैं) इस ऐतिह्य को यदि हम ध्यान में रखें तो ईशावास्योपनिषद् में ऋषि ने जिस स्थूल देह से रहित कवि-ब्रह्मके साक्षात्कार की इच्छा व्यक्त की है और उसे सनातन से सभी प्राणियों के हेतु प्रकृति के अर्थों का यथायोग्य विभाग-व्यवस्थापक माना है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण—
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ
र्थान् व्यवदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(ईशा० ८)

वह कवि कोई नया नहीं है, वही है जिसकी चर्चा की गयी है, अतीत हो जाने के कारण वह ब्रह्म बन गया है। छन्द के पूर्वार्ध में इतिहस-पुरुष प्रकृति के तत्त्वान्वेषी कवि के कार्य का उल्लेख है। इस छन्द में नासदीय सूक्त के निम्न मन्त्र का अर्थ ही अलौकिक भाव-बोध में प्रस्तुत कर दिया गया है—

---

१. ऋ० २।२४।७

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
(ऋ० १०।१२९।४)

और मंत्र में कवयः इतिहास-पुरुष की ही संज्ञा है।

अस्तु, इतिहास का पुरातन पुरुष कवि उपनिषद् काल में प्रायः विस्मृत हो चला था और अपने कार्यों के लिए ब्रह्म बन गया था। कवि ब्रह्म था और उसका काव्य सृष्टि है—पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।[1] कवि को ब्रह्म मान लेने पर भी उसकी रचना के लिए काव्य संज्ञा ही अपेक्षित हुई, जिस काव्य का प्रयोग वेद में स्तुति और कविता के लिए ही हुआ है।[2]

पर सही बात कुछ और थी। उपनिषद् के लिए कवि ब्रह्म बन गया था किन्तु ऋषियों से पराभूत वह ब्रह्म तो क्या, ब्राह्मण भी नहीं रह गया, उसके अनेक महत्त्वपूर्ण काव्य जो ऋषियों के उपयोग के नहीं थे, उपेक्षित कर दिये गये, राजन्य-वर्ग की संख्या इतनी बढ़ चुकी थी कि युद्ध का काम वे स्वयं सँभालते थे, इन्द्र की भाँति उन्हें कवि-मारुतगणों की आवश्यकता युद्ध के लिए नहीं थी, साथ ही युग ने कुछ नयी करवट ली थी—उपनिषद्काल के अधिकांश राजन्यवर्ग अध्यात्मचेता हो गये थे और उनकी लोकविश्रुत अध्यात्म-सभाएँ हुआ करती थीं, उनकी पारस्परिक श्रेष्ठता राज्य और बल पर नहीं, उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान पर थी,[3] फिर उन्हें काव्य-गायक लड़ाकू कवियों की जरूरत ही क्या थी? उधर ऋषियों ने यज्ञ-समारोहों में ऋत्विज्-प्रस्तोता, उद्गाता-होता—का स्थान भी कवियों के लिए नहीं दिया। इस प्रकार लोक-हित के लिए प्रकृति-अर्थों का अन्वेषण करनेवाले कवियों के वंशज काल की महिमा से उपेक्षित होकर लोक में यत्र-तत्र बिखर गये, जिस किसी भी लोक-जीवन और लोक-भाषा के बीच वे अपने पूर्वजों के काव्य को भाषान्तर कर गाते रहे। यह ऐसी घटना थी जिसने समाज के नेता कवि और उसके प्राणवान् काव्य के महान् युग का अन्त कर दिया।

पूर्व काव्यों का भाषान्तर भी अतीत का विषय हो चुका था। इन्द्र और असुरों

---

१. अथर्व० १०।८।३२

२. ऋ० ८।९७।७; ९।२४।१

३. दे० बृहदारण्यकोपनिषद, अ० २, ३, ६ में, अजातशत्रु—बालाकि, जनक—याज्ञवल्क्य एवं प्रवाहण—श्वेतकेतु के ब्रह्म-विषयक आख्यान।

की लड़ाई का आनन्द—इस इतिहास से, जो इसे नहीं जानते थे उस अनजाने लोक को इससे क्या मिलता ? इस समय दो बातें हुईं। पहली बात यह थी कि कवि का कार्य वंशानुगत ही हो, यह कोई आवश्यक नहीं है, उपनिषद् के ऋषियों ने भी ब्रह्म के चिन्तन में कवित्वमयी रचनाएं की हैं, (यद्यपि राजा अब भी वंशानुगत ही होता था, ऋषि वंशानुगत ही होता था।) दूसरी बात थी, कविता का विषय क्या हो ? शत्रुओं पर विजय का जातीय काव्य और प्रकृति के तत्त्वों के साक्षात्कार का स्तुति काव्य—उन प्राक्तन कवियों ने गाये थे, जो उनकी तेजस्वी आत्मा और पराक्रम के परिचायक थे, जिसमें उनके समाज के नेतृत्व की छाप थी, अब के कवि के लिए वह विषय बहुत दूर का था, उसने लोक-रंजक विषयों को अपने काव्य में गुम्फित किया, उसके समकाल ही नाट्य-प्रयोगों का उदय हो रहा था, जो अपने नाचगान के प्रभाव से राजा इन्द्र को आकर्षित कर चुका था।[1] इन नाट्य-प्रयोगों में भी लोकधर्मी रतिगाथाएँ या ऐसी दूसरी कहानियाँ प्रदर्शित की जाती थीं। कवि ने भी प्रेम की कथाएँ गायीं। एवं दूसरे लोक-रंजक विषयों को लोकवाणी की सूक्तियों में गाना आरम्भ किया। बहुत कुछ अब कवि वंशानुगत नहीं था, जिसमें प्रतिभा थी वह काव्य-रचना कर रहा था, लेकिन लोकवाणी में लिखे इन काव्यों का क्षेत्र लोक-जीवन से आगे नहीं था, नागरक जीवन और राजसभाओं में इसका प्रवेश नहीं था।

कवि का सामाजिक नेतृत्व, प्रतिष्ठा और प्रकृति के तत्त्वों का अन्वेषण, जिनके संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं, आदि समाज की विश्वव्यापी घटना थी। कवि के नेतृत्व-परिवर्तन का युगान्तर भी उसी प्रकार विश्वव्यापी रहा, उसी क्रम में मानवसमाज की शासन-परिषद् में, चाहे वहाँ राजा हो, चाहे गणतंत्र शासन हो, कवि का स्थान विचारक ऋषि ने ले लिया। कवि के वंशजों ने राज्य-अधिकार से च्युत होकर लोक-रंजक विषयों—नाट्य-प्रयोगों और प्रेम-कहानियों का गान आरम्भ किया। ऋग्वेद के आर्यों ने तो कवि को 'ब्रह्म' पद देकर अतीत के कवि-गौरव को आत्मसात् कर लिया किन्तु अन्यत्र कवि की बड़ी उपेक्षा हुई। राज्य-अधिकार से हीन और शक्ति से दुर्बल कवि राजा और समाज के लिए विनोद की सामग्री प्रस्तुत करता था। समाज के नेतृत्व में राजा के बाद दूसरा स्थान ऋषि का था। विचार, मंत्रणा और चिन्तन का समग्र केन्द्र ऋषि ने अपने हाथ में लेकर कवि को तो नीचे गिरा ही दिया, उसने राजा के ऊपर भी अपना अनुशासन स्थापित करने का प्रयास किया और उसके लिए उन दोनों (राजा तथा ऋषि) में एक युग तक संघर्ष होता रहा। यूनान के महान् विचारक प्लेटो (४२७ ई० पू०

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १।११-१३

से ३४७ ई० पू०) के डायलाग्स (Dialogues) में, जिसमें उसने राजा, दार्शनिक राज्य और कवि के सम्बन्ध में तत्कालीन चिन्तन-धाराओं एवं अपने निर्णयों को प्रकट किया है, राज्य तथा समाज से उपेक्षित कल्पनाशील कवि की अस्तित्व-हीनता का पता चलता है। प्लेटो समाज का ऋषि था, उसने राज्य के शासक एवं कवि—दोनों की, अपने सिद्धान्त पर कसौटी और आलोचना की है। उनके निम्न विचार ऊपर के उक्त तथ्यों—आनन्द-विनोद के निर्माता कवि और कवि सम्बन्धी उपेक्षा, का ही समर्थन करते हैं—

"परन्तु आप से कहने में कोई हिचक नहीं कि कविता के नाम पर जितनी अनुकरणात्मक रचनाएँ प्रचलित हैं वे सब की सब श्रोताओं की बुद्धि को चौपट कर देनेवाली हैं।"[१]

"जैसे नगर में जब पाप का अधिकार बढ़ जाता है और पुण्य का तिरस्कार. होता है उसी तरह हमारा कहना है कि अनुकरणशील कवि मनुष्यों के अन्दर एक बुरे तत्त्व की स्थापना करता है, क्योंकि वह बुद्धिहीन तर्कों को प्रश्रय देता है, जिसमें कम और बेस की विवेक बुद्धि नहीं होती। वह एक ही चीज को एक समय बड़ा और दूसरे समय छोटा समझता है। दूसरे शब्दों में जो मूर्तियों का निर्माण करता है और सत्य से बहुत दूर है।'[२]

"दर्शक भी यही सोचता है कि उस व्यक्ति की प्रशंसा करने या उस पर करुणा करने में कोई निन्दा की बात नहीं, जो आकर उससे अपनी अच्छाई का वर्णन करता है, और अपनो विपत्तियों को बढ़ा-चढ़ाकर कहता है। वह सोचता है कि आनन्द तो मिल ही जाता है, तब वह इस आनन्द को और कविता को खो देने की मूर्खता क्यों करे। मेरे ख्याल में बहुत कम लोगों में यह सोचने की बुद्धि होती है कि दूसरों की बुराई से अपने में भी बुराई आ जाने की सम्भावना है।"[३]

"कारण यदि हमने इसके आगे जाकर मधुर कविता को, चाहे वह महाकाव्य हो या गीतिकाव्य, प्रवेश करने की अनुमति दी, तो इसका परिणाम यह होगा कि राज्य में से नियम और बुद्धि का राज्य उठ जायगा। उसका संचालन आनन्द और पीड़ा के आधार पर होने लगेगा।"[४]

---

१. 'साहित्य और साहित्यकार' पुस्तक के निबन्ध 'साहित्य और प्लेटो' में डा० देवराज उपाध्याय द्वारा अनूदित प्लेटो के 'डायलाग्स' से उद्धृत। पृ० २०७
२. 'साहित्य और साहित्यकार, पृ० २१८
३. वही, पृ० २१९
४. वही, पृ० २२१

"जो कुछ हो हम अच्छी तरह जानते हैं कि कविता के सम्बन्ध में हमने जिस तरह विचार किया है उसके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि कविता सत्य का द्योतक है।"[१]

'कविता सत्य का द्योतक है'—यह कथन जैसे बहुत आगे बढ़ आये उस मानवसमाज की धुँधली स्मृति बन कर प्रकट हो रहा है जिसने प्रकृति के सत्य—अग्नि की खोज करनेवाले कवि को देखा था।

कवि का गौरव जब अस्त हो चुका था, उसके सम ाल ही राम-रावण के युद्ध की घटना घटी, राम ने जो विजय प्राप्त की, वह किसी प्रकार असुरों पर इन्द्र की विजय से कम महत्त्व की नहीं थी। लोक-कवियों ने इस विजय को अपने ढंग से अपनी लौकिक वाणी में गाया और इसका आनन्द लिया। इस कहानी को जिस ढंग से लोक-कवियों ने गाया, उससे यह कहानी अभिनय भी की जाती थी, गाकर सुनायी भी जाती थी। वैदिक ऋषि वाल्मीकि को इस लोक-काव्य ने आकर्षित किया, लोक-जीवन के बीच उसके व्यापक प्रचार ने उन्हें लोक-भाषा के महत्त्व की ओर झुकाया, परिणाम-स्वरूप वाल्मीकि ने लोकभाषा में छन्द-रचना का अभ्यास कर राम-कथा का गान लौकिक संस्कृत में किया। वाल्मीकि के मुख से जब पहली बार लोकवाणी में छन्द-गान हुआ तब उन्हें स्वयं इस पर हर्षातिरेक हुआ।[२]

वाल्मीकि का लिखा रामकथा-काव्य बहुत ही समादृत हुआ, उसका मूल कारण विजयी राम का चरित था। इससे दो बातें हुई—लौकिक संस्कृत (लोकवाणी) का प्रवेश नागरक संस्कृति में हुआ और वेद के सूक्तों, उपनिषद् की वल्लियों के स्थान पर काव्य-रचना का सुनना-सुनाना भी श्रेष्ठ माना जाने लगा। कवि और काव्य के इतिहास में यह युगान्तरकारी घटना थी। और अब हुआ लोक-कवि का उदय।

लोक-कवि

वैदिक कवियों से भिन्न लोक-कवियों की परम्परा आदि-कवि वाल्मीकि से आरम्भ होती है, रामायण को आदिकाव्य कहा जाता है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

---

१. साहित्य और सहित्यकार, पृ० २२३

२. वाल्मीकि रामायण बाल० २।१६-१८, ३१

लेकिन राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा के 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' अध्याय में आदि कवि महामुनि उशना को माना है। यद्यपि उन्होंने अपनी कल्पित कहानी इस प्रकार से दी है कि उशना और वाल्मीकि दोनों एक दण्ड के ही आगे-पीछे लौकिक संस्कृत के छन्द का गान करते हैं, पहला गान उशना ने किया इससे वही कवि-संज्ञा के आदि प्रतिष्ठापक हुए। उशना सरस्वतीपुत्र काव्यपुरुष (शिशु) को अकेला पड़ा देखकर वात्सल्य से उठा कर अपने आश्रम में ले गये थे और उसने उन्हें छन्दोमय वाणी की प्रेरणा दी थी।[1] सरस्वती ने लौटने पर जब पुत्र को न देखा तब वाल्मीकि ने उशना द्वारा ले जाने का पता उनको दिया, सरस्वती ने प्रसन्न होकर वाल्मीकि को छन्दोबद्ध रचना का वरदान दिया।[2] इससे स्पष्ट होता है कि राजशेखर ने परम्परा से उशना को आदिकवि के रूप में सुना था, अथवा उन्हें कोई प्रमाण कहीं प्राप्त था इसीलिए वाल्मीकि की क्रौंचसहचरी-वध—घटना के पूर्व उशना को आदिकवि कहने के लिए उक्त प्रसंग की कल्पना की और अपना अभीष्ट मन्तव्य प्रकट किया, संभव है कि राजशेखर के ये महामुनि उशना वेद में इन्द्र के सहायक उशना ही हों—वही उशना हों, कृष्ण ने गीता में जिनका नाम लिया है—

तत्पूर्वकमध्येतृणां च सुमेधस्त्वमादिदेश। ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा। कवि-शब्दश्च 'कवृ' वर्णे इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्। (काव्यमीमांसा अ० ३)

---

१. काव्य-मीमांसा. पृ० १५

तावच्च कुशान् समिधश्च समाहर्तुं निःसृतो महामुनिरुशनाः परिवृत्ते पूषण्युष्मोपप्लुतं तमद्राक्षीत्। कस्यायमनाथो बाल इति चिन्तयन्स्वमाश्रमपदमनैषीत्। क्षणमाश्वस्तश्च सारस्वतेयस्तस्मैं छन्दस्वतीं वाचं समचारयत्। अकस्माद्विस्मापयन्स चाभ्युवाच—

या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥

२. वही, पृ० १६

सापि स्वस्तिमता चेतसा प्राचेतसायापि महर्षये निभृतं सच्छन्दांसि वचांसि प्रायच्छत्। अनुप्रेषितश्च स तया निषादनिहतसहचरीकं क्रौंचयुवानं करुणक्रेङ्कारगिरा क्रन्दन्तमुदीक्ष्य शोकवान् श्लोकमुज्जगाद—

मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

संस्कृत ने शीघ्र ही लोक-भाषा से देवभाषा का पद ग्रहण कर लिया। जब वह लोकभाषा थी, उसमें काव्य लिखनेवाले लोक-कवियों (भाषा-कवियों) का नाम हमारे सामने नहीं है, केवल वाल्मीकि हमारे सामने हैं सम्भवतः जिनका आदिकाव्य ही बहुत अंश में संस्कृत को देवभाषा बनाने का कारण हुआ हो। लेकिन आदिकाव्य रामायण जिस रूप में आज उपलब्ध है, प्रबन्ध का उसका वह रूप तो निश्चित ही परिवर्धित है और परिवर्तित भी। और भाषा के विषय में भी हमें यही सन्देह होता है कि आदिकाव्य की मूलभाषा को देवभाषा का रूप दे दिया गया होगा। दंडी ने संस्कृत को महर्षियों की देवभाषा कहा है, उसके बाद लोकभाषा में पहले प्राकृत का नाम लिया और प्राकृत के तीन भेद बताये हैं—तद्भव (संस्कृत से उत्पन्न, उसका बिगड़ा रूप), तत्सम (संस्कृत के समान, उससे मिलता-जुलता) देशी (ठेठ प्राकृत)।[1] अर्थात् दंडी के सामने देव-संस्कृत और लोक-संस्कृत (तत्सम प्राकृत) भाषाओं का उदाहरण था।

उपनिषद् काल के बाद ज्ञान और शास्त्र के अनुशीलन की, विषय विभाग से अलग-अलग परम्पराएँ चल पड़ीं—दर्शन, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण आदि। पर काव्य-रचनाकार कवियों का एक भिन्न सम्प्रदाय रहा, कवि और उनके काव्य को शास्त्र-चिन्तन की कोटि में नहीं लिया गया। उनका छन्दःशास्त्र तो वेदांग था, इसलिए बाद में भी छन्दों के विवेचन की परम्परा बनी रही, पर काव्य-शास्त्र के विवेचन का आरम्भ बहुत बाद में हुआ और उसकी शास्त्र संज्ञा तो नाट्य को पंचमवेद और शास्त्र मानने के बाद हुई। इससे यह ज्ञात होता है कि कवि लोक-जीवन से ही अधिक सम्बद्ध रहे, वाल्मीकि और व्यास के बाद कालिदास ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने दैवी संस्कृत में कवि रूप में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की। व्यास के जयकाव्य की काव्यरूप में नहीं, पंचमवेद —सभी ज्ञान-राशियों के एकत्र समुच्चय के रूप में ही प्रतिष्ठा हुई है। अतः वाल्मीकि के बाद कालिदास ही कवि रूप में हमारे सामने हैं। इतनी अवधि में कितने ही वाणी के सिद्ध लोक-कवियों ने अपनी रचना से लोक जीवन को आप्यायित किया होगा पर काव्य के शास्त्र न होने से उनकी रचनाएँ सुरक्षित न हो सकीं। वह युग, शास्त्रों का युग था, देवभाषा संस्कृत में शास्त्रों का चिन्तन हो रहा था, ऋषि और विद्या-पारंगत स्नातक शास्त्रों के अनुशीलन में अपना समय देते थे, दूसरी ओर लोक भाषा

---

१. काव्यादर्श १।३३

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः॥

के प्रवीण लोककवि काव्य और नाटक की रचनाओं से लोकजीवन को तृप्त कर रहे थे। उन्हीं लोक-कवियों से कालिदास आदि को पुनः संस्कृत भाषा में काव्य-रचना का विषय मिला। कालिदास का 'रघुवंश' महाकाव्य लोक-कवियों की 'राजावली' (राजवंशावली) परम्परा का काव्य है, जिसे बाद में आचार्यों ने अनेक नायकोंवाला महाकाव्य कहा है। कालिदास स्वयं इसे राजवंशावली कहते हैं—

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। १।९

दंडी ने ऐसी राजवंशावली की ओर लक्ष्य करके ही कहा है—

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति।। १।५

लोक-कवियों की ऐसी राजावलियों की परम्परा बहुत प्राचीन और सनातन है। राजाओं की प्रशस्ति में ऐसी राजावलियों की रचना सदा होती रही है, जिनका महत्त्व केवल यश के लिए था।[1] और उन राजावलियों का आरम्भ भी युधिष्ठिर से होता था। कालिदास ने पौराणिक राजवली को काव्य का रूप दिया। रघुवंश में वे पहले इक्ष्वाकु का नाम लेते हैं, फिर दिलीप से अपना वर्णन आरम्भ करते हैं। ऐसी ही राजवंशावली की परम्परा में इतिहास और काव्य की समन्वित रचना कल्हण ने 'राजतरंगिणी' लिखी और युधिष्ठिर के काल से उसका आरम्भ किया। बिल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरित' के प्रथम सर्ग में राजवंशावली गाने की इसी प्रवृत्ति को चरितार्थ किया है। जैसे भरत ने नाट्य को लोकवृत्तानुकरण और उत्तमाधम-मध्यम नरों का कर्मसंश्रय कहा है,[2] वैसे ही काव्य की प्रेरणा भी लोक-कवियों से संस्कृत-कवियों को मिली—यह एक सिद्ध बात है। उनकी काव्यशैलियों को परिष्कृत करके काव्य-शास्त्र का अभिनव रूप सामने आया और जब शास्त्रीय कोटि में ले आकर उसका परिमार्जन और विश्लेषण हुआ तो लोक-कवियों के उस काव्य और दैवी संस्कृत के इन काव्यों में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ता गया। इतने पर भी लोक-कवियों के सूक्ति-काव्य की परम्परा समाप्त नहीं हुई, संस्कृत काव्यशास्त्र के गहन निरूपण के साथ सूक्तियों की रचना और उनकी प्रशंसा करनेवाले चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक होते रहे हैं। यहाँ एक बात और भी

---

१. देखिए, सम्मेलन पत्रिका भाग ४९ अंक २ और भाग ५० अंक ४ के 'राजावली विषयक लेख।

२. नाट्यशास्त्र १।१०९

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्म-संश्रयम्।।

बड़े महत्त्व की है कि लोक-कवियों के नाट्य और काव्य का शास्त्रीय निरूपण होने से उनके मूल रूप में बहुत अन्तर आ गया लेकिन लोक-कवियों के कथा-काव्य के प्रबंध और शैली का संस्कृतवाले बहुत अंश तक अनुकरण करते रहे हैं। गुणाढ्य की पैशाची भाषा में लिखी बृहत्कथा, (जो अब मूल रूप में उपलब्ध नहीं है) संस्कृत के कथाकारों की शैली को बहुत प्रभावित करती है।

लोक-काव्य के उस रूप और उसकी मान्यता के विषय में हमें किसी ग्रन्थ का प्रमाण प्राप्त नहीं है। पर उसकी विशेषताओं का उल्लेख बराबर किया गया है, जिसके आधार पर काव्य की आरम्भिक मान्यताओं का विश्लेषण हो सकता है। राजशेखर (८८०–९२० ई०) की 'काव्यमीमांसा'—बहुत अंशों में काव्य की उन्हीं मान्यताओं के आधार पर लिखा गया काव्यशास्त्र है, यह ग्रन्थ आलंकारिक काव्यशास्त्रों से सर्वथा भिन्न है और इसमें हम काव्य के मूल और सहज रूप की खोज कर सकते हैं। लोक-भाषा प्राकृत की प्रथम रचना प्रवरसेन का सेतुबन्ध प्रबन्ध-काव्य भी अपनी शैली और सूक्ति की विशेषताओं से लोक-काव्य की प्रवृत्तियों का प्रमाण देता है। एवं इसी प्रकार अन्य प्राकृत कवियों की रचनाएँ भी लोक-काव्य की प्रकृति का परिचय देती हैं।

काव्य का प्रथम लक्षण—सूक्ति, सुभाषित

दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत और उसके काव्य की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए लिखा है—

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादियन्मयम्॥
(काव्यादर्श १।३४)

यह 'सेतुबन्ध' प्राकृत भाषा में लिखा प्रवरसेन कवि का प्रबन्ध काव्य है। प्रवरसेन के जीवन और समय के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। दण्डी ने उनके सेतुबन्ध काव्य को सूक्तिरत्नों का सागर कहा है अर्थात् लोक में काव्य की प्रकृष्टता उसकी तीखी और मार्मिक सूक्तियों से सिद्ध होती थी, सूक्तियाँ वाणी का रत्न हैं और ऐसे रत्नों का सागर वह प्रबन्ध था, जिसे दण्डी ने विना प्रसंग के अपने काव्यादर्श में स्मरण किया। यह एक विशेष बात थी, क्योंकि दण्डी दो ही कवि-कृतियों का नामोल्लेख 'काव्यादर्श' में करते हैं—'सेतुबन्ध' काव्य का और 'बृहत्कथा' का। काव्य महाराष्ट्री प्राकृत का है और कथा भूतभाषा की कृति है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि लोकभाषा की कवि-कृतियाँ ही संस्कृत-कवियों की रचना का मूल प्रेरक थीं।

वेदमंत्रों के विषय-गत समूह को सूक्त कहते हैं ; सूक्ति कहने से हमारा ध्यान सूक्त की ओर भी जाता है किन्तु इस सूक्ति-संज्ञा की प्रतिष्ठा लोक-कवियों द्वारा हुई है और इस संज्ञा के लिए सूक्ति के स्थान पर सूक्त प्रयोग भी मिलता है।[१]

सूक्ति का समान्य अर्थ है—सु-उक्ति – सुन्दर या सौष्ठव-पूर्ण कथन। सामान्य लोकवाणी से विचित्र, प्रभावकारी विशेष कथन को ही आरम्भ में सूक्ति कहा गया होगा, लेकिन इस 'सूक्ति' शब्द का बोध आगे चलकर कवि-वाणी के पर्याय में होने लगा। इस अर्थ में उक्ति और सूक्ति दोनों शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। यह 'सूक्ति' शब्द मात्र ही काव्य की पहली परिभाषा है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त (३२०-३७८ ई०) काव्य एवं संगीत विद्या में अत्यन्त रुचि रखनेवाला था। उसके प्रयाग के अभिलेख (३५० ई०) में प्रशंसा-पूर्वक उसे सूक्त मार्ग का (सूक्ति काव्य की रचना करनेवाला) कवि कहा गया है—"सूक्त मार्ग की जिसकी सुभाषित रचनाएँ पठनीय हैं और जिसका काव्य भी अपनी अच्छी सूक्तियों के कारण अन्य कवियों के कल्पना-विभव को उखाड़ देनेवाला है। कौन-सा गुण है जो उसमें नहीं है। एक मात्र वही विद्वानों का आदर-स्थान है।"[२] इससे प्रकट होता है कि चौथी शताब्दी ई० में सूक्ति की रचना के प्रति राजाओं का कितना आकर्षण हो गया था, सूक्तिकार होना सम्राट् के लिए गौरव की बात थी। समुद्रगुप्त के समकाल वाकाटक-सम्राटों ने भी सूक्तिरचना में अभिरुचि ली है, 'गाथासप्तशती' में प्रवरसेन और सर्वसेन के नाम से प्राकृत-गाथाएँ संगृहीत हैं, ये नाम वाकाटक राजवंश के ही हैं। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में काव्यविद्या के अठारह अधिकरणों का उल्लेख किया है और उसमें उक्तिगर्भ के 'औक्तिक' अधिकरण का नाम लिया है,[३] इस उल्लेख से काव्य के पर्याय में सूक्ति या उक्ति के अभिधान का संकेत मिलता है। अन्यत्र सूक्ति को कान से पिया जानेवाला अमृत,[४] कर्णरूपी शुक्ति का लेह्य

---

१. कवीनां महतां सूक्तैः।
जीवित इव कण्ठगते सूक्ते दुःखासिका कवेस्तावत्।—अमृतदत्त

२. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७३
(अध्येयः) सूक्तमार्ग्गः कवि-मति-विभवोत्सारणं चापि काव्यम्।
को नु स्याद्यो (ऽ)स्य न स्याद्गुणमति (वि) दुषां ध्यानपात्रं य एकः ॥८

३. तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः।
(काव्यमीमांसा, पृ० १)

४. विक्रमांकदेवचरित १।२९, कर्णामृतं सूक्तिरसम्।

मधु कहा गया है।[1] यह सूक्ति की प्रकृष्टता का व्याख्यान है। एक दूसरे स्थान पर इसी व्याख्यान के अनुरूप राजशेखर ने सरस्वती को 'सूक्तिधेनु' कहा है—

या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती॥

(काव्यमीमांसा अ० ३)

अर्थात् कवियों की सरस्वती सूक्तिधेनु है, कवि-जन सरस्वती-रूपी गाय से सूक्ति दुहा करते हैं, सूक्ति अर्थात् काव्य। साधक कवि ने भी भुवनेश्वरी-स्तोत्र में सरस्वती से थिरकती हुई सूक्तियों की कामना की है।[2]

पुनः राजशेखर ने सूक्ति अथवा काव्य के अर्थ में सुभाषित शब्द का भी प्रयोग किया है—

अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाकमामनन्ति।
तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः।[3]

भर्तृहरि ने आलोचकों के मात्सर्यग्रस्त और राजाओं के दम्भी हो जाने से सुभाषित (काव्य) के नष्ट होने की आशंका व्यक्त की है।[4]

इस प्रकार वैदिक कवियों की काव्य-परम्परा जो ऋषियों से ध्वस्त होकर लोक-भाषा के माध्यम से पुनः विकसित हुई, आरम्भ में सूक्ति अथवा सुभाषितों के रचनाकार के रूप में प्रसिद्धि पाकर आगे आयी, उन कवियों की रचनाओं को काव्य बहुत बाद में कहा गया। लेकिन 'कवि' शब्द उन्हें 'ऋषि' शब्द की तुलना में वैदिक कवि-परम्परा से मिला था, वैदिक कवियों की महिमा यद्यपि तिरोहित हो चुकी थी तथापि उनके सजातीय महिमा-हीन होकर भी कवि नाम से पुकारे जाते रहे, वाल्मीकि को भी काव्य-रचना करने पर ऋषि के अतिरिक्त कवि संज्ञा से पुकारा

---

१. सुभाषितरत्न-कोष—स्थेयासुः श्रुतिसूक्तिलेह्यमधवस्तावत्सतां सूक्तयः।

२. भुवनेश्वरी स्तोत्र, ५

मातर्देहभृतामहो धृतिमयी नादैकरेखामयी,
सा त्वं प्राणमयी हुताशनमयी बिन्दुप्रतिष्ठामयी।
तेन त्वां भुवनेश्वरीं विजयिनीं ध्यायामि जायां विभो-
स्त्वत्कारुण्य-विकाशिपुण्यमतयः खेलन्तु मे सूक्तयः॥

३. काव्यमीमांसा, पृ० ५२

४. वैराग्यशतक २

बोद्धारो मत्सरग्रस्ता प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंग सुभाषितम्॥

गया। वाल्मीकि का काव्य उनके ऋषि होने से और कथा-प्रबन्ध के नायक राम के कारण लोक और नागरक दोनों क्षेत्रों में सम्मानित होने लगा। किन्तु हीन-महिमा दूसरे कवि और उनकी रचनाएँ लोकभाषा और उनके अनुरागियों से आगे न जा सकीं। जब संस्कृत-वाणी दर्शन, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त, ज्योतिष, व्याकरण, अर्थशास्त्र आदि के विवेचन में प्रवृत्त हो गयी तब पुनः प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा, देशी भाषा के कवियों की भावपूर्ण और उक्ति-वैचित्र्य-भरी रचनाओं को शास्त्र में रुचि न रखनेवाले सहृदयों का अनुराग मिलने लगा। इन कवियों की 'कवि' संज्ञा वैदिक परम्परा का 'कवि' शब्द ही था पर उनका काव्य सूक्ति या सुभाषित कहा जाता रहा।

यह सूक्ति या सुभाषित शब्द हीन अर्थ में भी है, जहाँ संस्कृत में मस्तिष्क को चकरा देनेवाले दर्शन, व्याकरण, दण्डनीति आदि के विवेचनापूर्ण ग्रन्थ लिखे जा रहे थे, वहाँ उनकी तुलना में लोक-कवियों की यह वाणी जो क्षणिक कौतूहल पैदा करती थी अथवा बिना प्रयास के अर्थ-बोध द्वारा हृदय को छू लेती थी, जिसमें कोई विवेचन नहीं था, तत्त्वों की छानबीन नहीं थी, परन्तु तो भी जो हृदय के लिए आकर्षक बन जाती थी, उसे लाचार होकर शास्त्रकारों ने 'सूक्ति' कह कर थोड़ी प्रशंसा दे दी। (अर्थात् यह कोई शास्त्र नहीं है, केवल हृदय को अच्छा लगनेवाला रोचक कथन मात्र है।) किन्तु यह थोड़ी प्रशंसा आगे चलकर बहुत ऊँचे उठ गयी, यद्यपि तब इसका नामान्तर हो गया।

कवि और उसकी रचना सूक्ति की ओर आकृष्ट होकर सूक्तियों अथवा सुभाषितों के संकलन की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है और वह १४वीं-१५वीं शताब्दी तक चलती रही है। कवि से काव्य नहीं, सूक्ति सुनने का आग्रह मिलता है, जिससे काव्य की पूर्व संज्ञा इस सूक्ति के ऐतिह्य पर हमें और भी दृढ़ता होती है। काव्य-मीमांसा में काव्य-परीक्षा की चर्चा में एक कवि की निज की व्यथा का उल्लेख है —"भाई! आप कौन हैं? कवि हूँ बन्धु! तो मित्र! कोई अभिनव सूक्ति सुनाइए। इस समय तो मैंने काव्य की चर्चा ही छोड़ दी है। यह क्यों? सुनिए तो, इस युग में कविता के दोष-गुण के तत्त्वों को जो भलीभाँति कह सके और स्वयं सत्कवि हो, ऐसा भावक (आलोचक) ही नहीं है, यदि संयोग से कोई है भी तो वह मात्सर्य-रहित नहीं है, (फिर आप ही बताइए सूक्ति का पाठ किसके सामने करूँ।)"[1] यहाँ बहुत स्पष्ट है कि कवि से उसका काव्य सुनना ही प्राश्निक को इष्ट

---

१. काव्यमीमांसा पृ० ३३, कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे! पठ्यतां त्यक्तस्व काव्य-कथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्।

है पर वह सूक्ति पढ़ने का आग्रह करता है, इसी प्रकार काव्यश्रमज्ञ (भावक, आलोचक) को सूक्तियों से आह्लादित होने की बात कही गयी है[1] और उस सूक्ति के आह्लाद के प्रकार हैं—शब्दों की गुम्फन-विधि—रीति की पहचान करता है, रसामृत का निर्भर पान करता है, तात्पर्यमुद्रा (लक्षणा, ध्वनि) के भाव-बोध को चुन-चुन कर अलग करता है। और ये सारे प्रकार काव्य की विवेचना के हैं, पर काव्य से आह्लादित होने की बात न कहकर सूक्तियों से आह्लादित होने की बात कही जाती है। अर्थात् सूक्ति और काव्य परस्पर पर्याय हैं, अथवा काव्य की परिभाषा सूक्ति है। यहाँ इस स्थल पर सूक्ति का प्रयोग 'मल्लाः प्रविशन्ति' की तरह लक्षणापरक भी माना जा सकता है।

काव्य का रस तो निर्भर चित्त से पान के लिए होता था किन्तु काव्य की परीक्षा में उसकी सूक्तियाँ ही अपने भावों, विचारों और भंग्यभणिति के लिए कसौटी पर कसी जाती थीं। बिल्हण (११ वीं–१२ वीं शती ई०) के समय तक रस-सिद्धान्त ने काव्यशास्त्र को भलीभाँति आक्रान्त कर लिया था, किन्तु कविता रस की सत्ता से युक्त होकर भी अपनी सूक्तियों के लिए ही आलोचकों का आकर्षण-केन्द्र थी। बिल्हण ने अपनी कविता में रस और सूक्ति दोनों की समान स्थिति का अलग-अलग उल्लेख करते हुए भी विदग्धजनों की विचारशाणोपल-पट्टिका पर कसौटी के हेतु अपने सूक्तिरत्नों के ही प्रस्तुत किये जाने की बात कही है।[2] यह कथन दण्डी के 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' की याद करा देता है। यही नहीं, बिल्हण ने

यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं, स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्म्मत्सरः॥

१. काव्यमीमांसा पृ० ३४

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥

२. विक्रमांकदेवचरित १।१७, १९

कथासु ये लब्धरसाः कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु॥
उल्लेख-लीला-घटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानम्।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु॥

कानों को अमृत की तरह तृप्त कर देनेवाले 'सूक्तिरस' की बात कह कर सूक्ति-विषयक मान्यता को बहुत ऊँचे उठा दिया है और काव्यशास्त्र के आचार्यों की उपेक्षा कर कवि-जगत् में सूक्तियों की तात्कालिक व्याप्त मान्यता की ओर संकेत किया है।[1]

काव्य में सूक्तियों का कर्णामुत रस काव्यरस से भिन्न एक अलग ही आकर्षण था, प्रतिभावान् कवि अपनी भंगिभणिति और सूक्ति-रस के निबन्धन में एकाग्र होकर काव्यरस के औचित्य-अनौचित्य की चिन्ता नहीं करते थे। ऐसे कवियों पर खीझ कर आनन्दवर्धन ने लिखा है—"अलंकार कहाँ रसाभिव्यक्ति का कारण बनता है, उसका एक नियम है, उसे भंग कर अलंकार की जो योजना की जाती है वह नियमतः रसभंग का कारण बनती है, इस प्रकार के उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों में बहुत दिखायी पड़ते हैं लेकिन रसभंग के ऐसे निदर्शन मैंने अलग-अलग करके नहीं दिखाये, वह इसलिए कि अपनी हजार सूक्तियों से चमकनेवाले उन महान् कवियों का दोष निकालना अपना ही दूषण हो जाता है।"[2] यहाँ आनन्दवर्धन ने 'सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां' कह कर यह बात स्पष्ट कर दी है कि कवि अपनी अनोखी सूक्तियों से विदग्ध-गोष्ठियों में और पुनः लोक में चमक उठते थे। इस प्रकार यह निश्चित है कि ध्वनि और रस की भाँति कभी सूक्ति ही काव्य की कसौटी थी। तथा काव्य में ध्वनि एवं रस की स्थापना के बाद भी कवि-जगत् में उसके सद्गुम्फन की प्रवृत्ति कम नहीं हुई।

आनन्दवर्धन के बाद कुन्तक भी सूक्ति के चमत्कार से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने सरस्वती को कवि के मुख-चन्द्ररूपी रंग-मन्दिर में सूक्ति-विलासों का अभिनय करनेवाली नर्तकी कहा है।[3] कवि और काव्य की प्रशंसा में अनेक ने

---

१. विक्रमांकदेवचरित, १।२९

> कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।
> निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥

२. ध्वन्यालोक २।१९

स एवमुपनिबध्यमानोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्त-प्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभंगहेतुः सम्पद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्।

३. वक्रोक्तिजीवित १।१

> वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
> देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम् ॥

कवि की सूक्ति की, काव्य के स्थान पर केवल सूक्ति की प्रशंसा का अभिधान किया है, ऐसे अनेक उदाहरण सुभाषित-संग्रहों में भरे पड़े हैं।[1]

सूक्ति के सामान्य अर्थ से यदि हम उसकी व्याख्या की ओर बढ़ें तो यही कहेंगे कि शब्द और अर्थ की चमत्कारिक योजना ही सूक्ति है—सुष्ठु-उक्ति। चमत्कार के लिए अर्थ की विलक्षण योजना चाहिए और विलक्षण अर्थ-बोध के लिए प्रसंगा-

---

१. दे०, सुभाषितरत्न-कोष, शार्ङ्गधर-पद्धति और सूक्तिमुक्तावली के काव्य-प्रशंसा-प्रकरण। कुछ उदाहरण ये हैं—

कथमिह मनुष्यजन्मा संप्रविशति सदसि विबुधगणितायाम्।
येन न सुभाषितामृतमाह्लादि निपीतमातृप्तेः॥

—चाणक्य

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

—बाण

पातुं कर्णरसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मतां
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरो यद्यस्ति ते कौतुकं
तद्भ्रातः! शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः॥

—शंकरवर्मा

वक्तार एव कवयः सूक्तानि महार्घतां नयन्त्यन्ये।
प्रभवः पयोधिरुपचितिरीश्वरभवनेषु रत्नानाम्॥

—वल्लभदेव

अवसरपठितं सर्वं सुभाषित्वं प्रयात्यसूक्तमपि।
क्षुधिकदशनमपि नितरां भोक्तुः सम्पद्यते स्वादु॥
सन्त्येव सूक्तिरसिका बहवो मनुष्याः
स्वर्गौकसो नवसुधारसनिर्वृताश्च।
तौ दुर्लभौ कविवचः स्खलितस्य सोढा।
मर्त्येषु, सागरगरस्य च यः सुरेषु॥

—उत्प्रेक्षावल्लभ

केषांचिद् वाचि शुकवदपरेषां हृदि मूकवत्।
कस्याप्याहृदयाद्वक्त्रे वल्गु वल्गन्ति सूक्तयः॥

—अचितदेव

नुकूल विलक्षण शब्द-चयन। विलक्षण शब्द से विलक्षण अर्थबोध होता है—यह ही कवि की विलक्षण उक्ति, सूक्ति अथवा सुभाषित है। काव्य के मूललक्षण इसी 'सूक्ति' का पल्लवन करके स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा अलंकारों का विश्लेषण आरम्भ हुआ, 'सूक्तिरस' की हृदयहारिता की खोज करते-करते आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व का विवेचन प्राप्त किया। दण्डी ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति द्विप्रकार का कहा है,[1] भामह ने भी कहा है कि यह सारी अतिशयोक्ति वक्रोक्ति ही है, इसी से अर्थ में रमणीयता आती है, कवि को इसकी योजना में प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इसके बिना किसी अलंकार का प्रस्तुतीकरण संभव न होगा।[2] दण्डी ने काव्य की कोई परिभाषा नहीं दी है, इसलिए उनकी बात तो छोड़ दी जाती है, पर भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक केवल एक दो को छोड़कर सभी आचार्य काव्य की परिभाषा करते समय काव्य के अपने इष्टस्वरूप को भूल जाते हैं, सभी को सूक्ति के स्वरूप-शब्द-अर्थ के व्याख्यान से ही काव्य का लक्षण समझाना पड़ता है, संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में यह एक विशेष बात देखने को मिलती है। भामह ने अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को ही काव्य नहीं कहा है, वे शब्द और

साध्वीव भारती भाति सूक्तिसद्व्रतचारिणी।
ग्राम्यार्थवस्तुसंस्पर्शबहिरंगा महाकवेः॥

—प्रभाकरनन्द

कवीनां महतां सूक्तैर्गूढान्तरसूचिभिः।
विध्यमानश्रुतेर्माभूद्दुर्जनस्य कथं व्यथा॥

—अमृतदत्त

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्॥

--अज्ञात

१. काव्यादर्श २।२६३

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

२. काव्यालंकार (भामह) २।८५

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

अर्थ के समन्वित रूप को भी काव्य कहते हैं,[1] यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि कुछ आचार्य संज्ञा और क्रिया की व्युत्पत्ति से उत्पन्न शोभा को ही अलंकार कहते हैं, रूपक आदि अर्थालंकारों को बाह्य मानते हैं, इसलिए सौशब्द्य ही काव्य है, अर्थ-सौन्दर्य में वैसा चमत्कार नहीं होता। लेकिन हमें तो दोनों ही इष्ट हैं।[2] रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले वामन ने भी गुण और अलंकार से संस्कृत शब्द और अर्थ में ही काव्य की स्थिति स्वीकार की है।[3] रुद्रट ने शब्द-अर्थ को ही काव्य कहा है,[4] वैसे आगे जा कर जब वे चेत करते हैं तब काव्य में रस के लिए महान् प्रयत्न का निदेश देना भी नहीं भूलते।[5] आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है पर यह आत्मा कवि के साक्षात्कार का विषय कैसे बने, उसके लिए उन्होंने बड़ी सावधानी से शब्द-अर्थ की ओर कवि का ध्यान मोड़ा है, उस कवि का, जो महाकवि होने की अभिलाषा रखता है,—वह प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ विरल होता है और उसकी अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य रखनेवाला शब्द भी कोई होता है, महाकवि के लिए वे दोनों शब्द-अर्थ प्रयत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हैं।[6] विलक्षण बात यह भी है कि उनका यह प्रतीयमान वस्तुतत्त्व शब्द-अर्थ से सर्वथा भिन्न है, रमणी के

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।१६

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।

२. काव्यालंकार (भामह) १।१४-१५

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकार—भेदादिष्टं द्वयं तु नः॥

३. काव्यलंकार सूत्रवृत्ति १।१।१

काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।

४. काव्यालंकार (रुद्रट) २।१

ननु शब्दार्थौ काव्यं शब्दस्तत्रार्थवानने कविधः।

५. काव्यालंकार (रुद्रट) १२।२

तस्मात्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

६. ध्वन्यालोक १।८

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति-सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।

शरीर से भिन्न उसके लावण्य की भाँति।[१] पर उसकी प्राप्ति का मार्ग शब्द-अर्थ ही है। इसी प्रकार कुन्तक ने केवल वक्रोक्ति को काव्य नहीं कहा है, उनके मत में काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक—कवि के वक्र-व्यापार से युक्त निबन्धन में सुगठित—एक साथ मिले हुए शब्द-अर्थ ही काव्य हैं।[२] मम्मट ने भी काव्य का मूल-लक्षण शब्द-अर्थ में ही सीमित रखा है,[३] पुनः शब्दशक्ति का विस्तार करते हुए व्यंग्य और रस की काव्य में सर्वोपरि स्थापना की है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य माना है।[४] विचित्र बात यह है कि काव्य का मूल लक्षण शब्द-अर्थ में सीमित कर इन आचार्यों ने जब काव्य के व्याख्यान में भीतरी पैठ की तो रस-तत्त्व की शरण लेने लगे और शब्द-शक्ति के माध्यम से दोनों का तारतम्य बनाये रखने का प्रयत्न किया। यह अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है, नाटक से भावरस को उधार ले कर किस प्रकार सूक्ति-रस की स्थिति काव्य में अस्वीकार की गयी और रस के प्रपञ्चभूत—भाव, हाव, नायक, नायिका, दूती आदि महाकाव्य की सीमा में प्रविष्ट हो गये।[५] ध्वनि की आत्मा भी रस बन गया,[६] सूक्ति-काव्य के विकास में यह एक विलक्षण परिवर्तन हुआ। इस अव्यवस्थित समन्वय का खोखलापन हमें रुद्रट के काव्यालंकार से भलीभाँति समझ में

---

१. ध्वन्यालोक १।४

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

२. वक्रोक्तिजीवित १।७

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

३. काव्यप्रकाश १।४

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

४. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

(रसगंगाधर)

५. देखिए, काव्यालंकार (रुद्रट) अध्याय १२-१६

६. ध्वन्यालोक २।१९

यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति।

ध्वन्या० २।५

यः पुनरंगी रसो भावो वा सर्वाकारमलंकार्यः स ध्वनेरात्मेति।

आ जाता है, जिसे पुनः आचार्य मम्मट ने शब्दशक्ति के व्यवस्थित व्याख्यान में सँभाल कर शास्त्रीय बना दिया है, उन्हें इसके लिए ध्वन्यालोक की पृष्ठभूमि प्राप्त थी। सूक्ति-काव्य के सहज विकास और व्युत्पत्ति की ठीक चर्चा केवल दो ग्रन्थों में हुई---राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' और कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' में। लेकिन ध्वनि और रस के सम्प्रदायमानी आचार्यों ने इन दोनों को काव्य-शास्त्र की मान्य परम्परा में न प्रतिष्ठित होने दिया।

सूक्ति का विकास---भाव और भाषा

सूक्ति से काव्य-चिन्तन का आरम्भ होकर किस प्रकार वह एक ओर भाव बन कर रस और अलंकार में पर्यवसित हुआ---और दूसरी ओर भाषा बन कर वक्रोक्ति में चमत्कृत हुआ----संस्कृत काव्यशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास इसी भाव और भाषा की कहानी है। भाव भाषा की उपेक्षा करता रहा है, भाषा संघर्ष के साथ भाव को आवृत करती रही है, इस प्रसंग को थोड़ा विस्तार से प्रस्तुत किया जाता है।

यह सम्मत सिद्धान्त है कि कविता का जन्म भाव से हुआ। गीता के अनुसार सात्त्विक, राजस, तामस---गुण-युक्त तीन भावों से सारा जगत् मोहित है।[१] अतः जगत् की प्रवृत्ति-प्रेरणाओं के मूल में भाव सदा वर्तमान रहता है। भरत ने कविता अथवा नाटक में सहृदयों को अनुरंजित करनेवाले भाव को कवि के अन्तर्गत भाव का भावक कहा है।[२] अर्थात् भाव की दो अवस्थाएँ हुईं---(१) कवि का भाव और (२) काव्य का भाव। भरत ने इस प्रश्न को भी उठाया है---"भाव की व्युत्पत्ति किस प्रकार से स्वीकार की जानी चाहिए? क्या जो होते हैं वे भाव हैं? अथवा जो भावित या व्याप्त करते हैं वे भाव हैं---भवन्ति इति, भावयन्ति इति वा।"[३] किन्तु उन्हें दूसरा अर्थ ही अधिक इष्ट है---अर्थात् भावित करनेवाले

---

१. गीता ७।१३

त्रिभिगुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

२. नाट्यशास्त्र ७।२

वागंगमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते॥

३. नाट्यशास्त्र, अ० ७ का आरम्भ

भावा इति कस्मात्? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः?

तत्त्व को भाव कहते हैं। "भावयन्ति इति भावाः' में धातु का करण अर्थ में प्रयोग हुआ है, जिससे भावित बनता है, भावित का अर्थ है—वासित करना। लोक में भी यह व्यवहार होता है कि इस गन्ध या रस से समस्त वातावरण भावित हो गया, और वह व्याप्ति के अर्थ में है।"[१] स्पष्ट है कि यहाँ भरत ने काव्य या नाटक में सहृदय द्वारा आस्वादित होनेवाले भाव की व्याख्या की है, लेकिन उसका भी मूल कवि का भाव है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—"कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते।"

कवि के इस भाव का मूल ही अलंकार-उद्भावना की व्युत्पत्ति है। यह ही काव्य-रचना की मूल प्रेरणा है। कवि का अन्तर्गत यह भाव रस की मीमांसा में स्थायी संचारी, विभाव, अनुभाव सभी का मूल कारण है, वैसे अलंकार उद्भावना में भी वह ही मूल कारण है। एक ही नदी की भिन्न धाराएं हैं और वह एक नदी सूक्ति है। आचार्यों ने कवि के इस मूल भाव को मन का संवेग, हृदय का विकार, मूर्त तथा गोचर रूपों का बिंब ग्रहण करनेवाला, उत्तेजना या उद्वेग की स्थिति, स्मृति एवं कल्पना द्वारा उद्बुद्ध मनोदशा आदि कहा है।[२] पाश्चात्य विचारकों ने भाव को लेकर विस्तृत एवं अनेकधा व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस विषय पर बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय साहित्य-चिन्तकों की दृष्टि में रस के साधारणीकरण का समस्त व्यापार ही भाव को लेकर केन्द्रीभूत है। हमारा मूल प्रयोजन यहाँ अलंकार-उद्भावना में स्थित मनोभाव से है। यद्यपि

---

१. नाट्यशास्त्र अ० ७
भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धमहोऽनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।

२. रसमीमांसा, पृ० १६४
भाव मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है वह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीर-वेगों से भिन्न है।
रस-सिद्धान्त, पृ० २१९
बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिल कर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।
रस-मीमांसा पृ० १६७
जब तक भावों से सीधा लगाव रखनेवाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक रूप खड़ा नहीं हो सकता। काव्य में बिंब-ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिंब-ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है।

भाव की समग्र स्थिति रस या भाव के काव्य में ही स्वीकार की गयी है लेकिन आनन्दवर्धन ने अन्यत्र भी जहाँ रस या भाव नहीं हैं, अलंकार मात्र ही है, काव्य के किसी भी भेद में भाव की अनिवार्य विद्यमानता का उल्लेख किया है। उन्हें यह स्पष्टीकरण वहाँ देना पड़ा है जहाँ उन्होंने ध्वनि और वस्तु—अलंकार व्यंग्य के अतिरिक्त चित्रकाव्य—शब्दचित्र (दुष्कर यमक आदि) और वाच्य चित्र (उत्प्रेक्षा आदि) के भेद का उपक्रम किया है। उनके चित्रकाव्य की स्वीकृति दिये जाने पर ध्वनिवादी की ओर से यह आक्षेप है—"ध्वनि के अनन्तर चित्र नाम का यह कौन काव्य है? जिसमें प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श नहीं है। प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का ही होता है। यह पहले दिखाया जा चुका है। इसलिए जहाँ वस्तु, अलंकार अथवा अन्य व्यंग्य प्रकार न हों वह चित्र काव्य का विषय है यदि ऐसा कहते हैं तो जिस काव्य में रस आदि व्यंग्य विषय रूप से वर्तमान नहीं होते उसकी तो काव्य-प्रकारता ही नहीं सम्भव होती। क्योंकि बिना वस्तु-वर्णन के काव्य का स्वरूप ही नहीं खड़ा होता। और जगत् में स्थित समस्त वस्तु अन्त में विभाव रूप से किसी न किसी रस या भाव का अंगत्व अवश्य प्राप्त करती है। रस आदि चित्त की वृत्ति विशेष ही तो हैं और कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो किसी चित्तवृत्ति-विशेष को पैदा नहीं करत। और वस्तु यदि चित्तवृत्ति विशेष को पैदा करने में कारण न हो, तो वह कवि का विषय ही नहीं बन सकती। लेकिन (वस्तु के साथ रस भाव का यह सम्बन्ध होने पर भी) कवि का विषय चित्र-काव्य के रूप में निरूपित किया जा रहा है (जिसमें वस्तु, अलंकार अथवा अन्य किसी व्यंग्य-प्रकार का संस्पर्श नहीं होगा।)"[1] इस आक्षेप को स्वीकार करते हुए उत्तर दिया जाता है—"यह सच है कि ऐसा कोई काव्य-

---

रस-सिद्धान्त, पृ० २२० (से उद्धृत)

मानसिक दृष्टि से वह उत्तेजना या उद्वेग की स्थिति है जिससे प्रबल अनुभूति और सामान्यतः एक निश्चित प्रकार के व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति रहती है। (जेम्स ड्रेवर)। विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतंत्र प्रत्ययों द्वारा उद्‌बुद्ध मनोदशा ही भाव है जिसके दो प्रधान गुण हैं—अनुभूति और प्रयत्न।—(डा० मैक्डूगल)

१. ध्वन्यालोक ३.४१-४२ की वृत्ति

अथ किमिदं चित्रं नाम? यत्र न प्रतीयमानार्थ-संस्पर्शः। प्रतीयमानो हि अर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स

प्रकार नहीं हो सकता जहाँ रस, भाव की प्रतीति न हो। किन्तु जब कवि रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित शब्दालंकार या अर्थालंकार का निबन्धन करता है तब उस विवक्षा की अपेक्षा रखते हुए अर्थ की रस, भाव आदि से शून्यता स्वीकार की जाती है। काव्य में शब्दों का अर्थ विवक्षा के ही अधीन होता है। काव्य के ऐसे स्थलों में अर्थ के सामर्थ्य से कवि की विवक्षा के अभाव में भी रस, भाव आदि की होनेवाली अत्यन्त दुर्बल प्रतीति होती है। अतः इस प्रकार से भी ऐसे काव्यों का नीरसत्व स्वीकार कर उनका चित्रकाव्य-भेद स्वीकार किया जाता है। (किन्तु चित्र-काव्य का यह अर्थ नहीं हुआ कि उसमें भाव का संस्पर्श बिल्कुल नहीं होता।)"[1] इस कथन में आनन्दवर्धन ने जहाँ यह कहा कि भाव का संस्पर्श काव्य में सर्वत्र अनिवार्य है चाहे वह व्यंग्य काव्य हो, चाहे चित्रकाव्य हो, वहाँ उन्होंने यह अत्यन्त पते की बात कही है कि भाव का आधार वस्तु है, वस्तु ही चित्तवृत्ति विशेष (भाव) को पैदा करती है, और वस्तु के बिना काव्य का निबन्धन सम्भव नहीं है। लेकिन वस्तु जहाँ चित्तवृत्ति विशेष के उत्पन्न होने में कारण है उसके पहले वह बुद्धि-वृत्ति विशेष के उत्पन्न होने में भी कारण अवश्य होगी। अर्थात् बुद्धि-वृत्ति विशेष —विचार की स्थिति, चित्तवृत्ति विशेष-भाव के पूर्व अथवा साथ वर्तमान रहती है। काव्य का आधार या अनुप्रेरक भाव के होने पर भी भाव के पूर्व वस्तुगत निरीक्षण को हमारा विचार भी प्रभावित करता है। भाव और विचार का यह समन्वय ही काव्य के आविर्भाव की सही दिशा है। पाणिनीय शिक्षा में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि मुख से अर्थवान् वाणी के प्रकट होने में बुद्धि

काव्य-प्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तु-संस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः, न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

१. ध्वन्यालोक, ३।४१-४२ की वृत्ति

अत्रोच्यते—सत्यं न तादृक्काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किं तु यदा रसभावादि-विवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।

(विचार) और मन (भाव) दोनों की समान अपेक्षा रहती है, उनका कहना है कि "आत्मा बुद्धि से अर्थों का चयन कर बोलने की इच्छा से मन को नियुक्त करती है, मन शरीर के अग्नि पर जोर डालता है, अग्नि शरीरस्थित हवा को प्रेरित करता है, हवा हृदय में चक्कर काटती हुई स्वर के रूप में फूट पड़ती है।"[1] अर्थवान् वाणी की यह आधार-स्थिति सूक्तिमयी काव्यवाणी में ज्यों-की-त्यों नहीं रहेगी, इसका कोई कारण नहीं है और न ऐसा कहा जा सकता है।

भाव और विचार एक ही वस्तु-दर्शन के दो पक्ष हैं तथा यह वस्तु-दर्शन काव्य का शाश्वत रूप है। स्थान और युगभेद के अनुसार उसकी संज्ञाएँ नयी हो सकती हैं किन्तु वस्तु-दर्शन की उक्त परिभाषा की एकसूत्रता सर्वत्र एक समान देखने को मिलती है। आधुनिक युग के एक आलोचक डाक्टर रांगेय राघव ने उक्त 'वस्तु-दर्शन' को ही, मानव का यथार्थ-सत्य कह कर साहित्य को भाव तथा विचार का समन्वय स्वीकार किया है—"साहित्य-रचना का उद्देश्य है मानव के यथार्थ सत्य में छिपे आत्मा के सौन्दर्य को खोजकर भाव के माध्यम से, विचार से समन्वय करके प्रस्तुत करना। . . .सापेक्ष मानव ही बाह्य मर्यादा को अपनी सदिच्छा से मानव-मात्र में निवासित समान भावभूमि पर परखता और उसे साहित्य में प्रकट करता है।"[2] यहाँ मानव का यथार्थ सत्य विचार का आधार है और उसमें "छिपे आत्मा के सौन्दर्य" स्पष्ट ही भाव का पक्ष है।

एक दूसरे आलोचक डाक्टर देवराज उपाध्याय ने भाव और विचार के इस समन्वय को भाव के प्रति भाषा का विद्रोह स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "कविता में दो ही चीजें होती हैं—भाषा और भाव। प्रारम्भ में तो कविता भावाक्रान्त रही होगी, भावों की ही गोद में पली होगी, पर जिस तरह बालक शैशवावस्था के अतीत होते ही अपने माता-पिता से स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगता है, इतना ही नहीं अपनी स्वतन्त्रता में बाधा होते देख कर उसके अन्दर कहीं न कहीं विद्रोह के भाव भी जमने लगते हैं, कभी उग्र रूप से, कभी मृदु रूप से उसी तरह संस्कृत-साहित्य शास्त्र में कवियों के द्वारा इस तरह की उक्तियों को पढ़कर मेरी

---

१. पाणिनीय-शिक्षा ६, ७

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्।

२. आलोचना, नवम्बर १९५५ ई०, में डा० रांगेय राघव का लेख 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य और जनहित', पृ० ४५

कल्पना होती है कि हो न हो कविता भाव-भार के विरुद्ध प्रोटेस्ट कर रही थी, भले ही वह खुल कर न करती हो, दबी साँस से ही करती हो, . . और आज तो भाषा और भावों के बीच बाकायदा युद्ध की घोषणा हो चुकी है। भाषा भावों को काव्य-क्षेत्र से मार भगाने की चेष्टा कर रही है।"[१] आगे उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि श्रेष्ठ या क्रान्तिकारी कवि वही है जो भाषा का नया प्रयोग करता है।[२]

संस्कृत-कविता का इतिहास देखने से भी यह बात सही मालूम पड़ती है, क्योंकि भारवि और माघ ने अपने भाषा-प्रयोग के कारण ही अपने ही युग में कालिदास और प्रवरसेन की कीर्ति को अतिक्रान्त कर लिया है, बाण की विशेषता भी यद्यपि उनके भाव और वस्तुदर्शन के चित्रण में है तथापि उनकी कीर्ति का विस्तार नहीं खड़ा हो सकता था यदि उनमें भाषा-प्रयोग का वैचित्र्य न होता। संस्कृत में भाषा-प्रयोग के वैचित्र्य की जो यह क्रान्तिकारी परम्परा चली उसने कविराज जैसे श्लेषकवियों को तो काल की धारा में बहने से बचा लिया किन्तु कितने भाव-कवि और उनकी रचनाएँ काल-कवलित हो गयीं जिनकी रचनाओं का ऐतिह्य मात्र सूक्ति-ग्रन्थों में सुरक्षित अब भी देखने को मिल जाता है।

डाक्टर देवराज उपाध्याय के अभिमत को थोड़े से परिवर्तन के साथ इस प्रकार स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती—कि कविता में भाव के साथ भाषा-प्रयोग की नित-नूतन उद्भावनाएँ ही संस्कृत-काव्यशास्त्र का समग्र इतिहास है। लेकिन यदि उनके कथन को ज्यों का त्यों मान लिया जाय तो भी उस कथन की परिधि में संस्कृत का काव्यशास्त्र समाहित हो जाता है। हमारे विचार में डा० उपाध्याय का कथन अपने में बहुत स्पष्ट और यथार्थ है।

संस्कृत में भाषा और भाव के इस वैमत्य को शब्द और अर्थ के रूप में लिया गया है। भामह ने सौशब्द्य काव्य के प्रतिष्ठापक शब्दालंकार वादी और अर्थ-व्युत्पत्ति को महत्त्व देनेवाले (अर्थालंकारवादी) सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, उनके सामने एक सम्प्रदाय था जो सुबन्त-तिङन्त शब्दों के व्युत्पत्ति-प्रयोग (सौशब्द्य) को ही काव्य का जीवन स्वीकार करता था।[३] राजशेखर ने भी काव्यपाक की

---

१. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन में 'कविता एक दृष्टि' शीर्षक लेख, पृ० २०-२१

२. वही, पृ० २३

३. काव्यालंकार (भामह) १।१४-१५

रूपकादिरलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्॥

व्याख्या करते हुए उक्त दोनों सम्प्रदायों के मतों का उल्लेख विस्तार से किया है, जिससे पता चलता है कि सौशब्द्य काव्य तो अपने स्थान पर रहा है लेकिन अर्थ-व्युत्पत्ति का काव्य अपने को भाषा-प्रयोग से आवृत्त कर नये रूप (शब्द, अर्थ और सूक्ति का रस) के अनुगुण निबन्धन अर्थात् ध्वनि के रूप, में प्रकट कर रहा था। राजशेखर की व्याख्या का मुख्य अंश इस प्रकार है—"निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्य-प्रयोग में परिपक्वता आती है। आचार्यों का प्रश्न है कि यह परिपक्वता क्या है? मंगल का उत्तर है—निरन्तर अभ्यास का परिणाम। आचार्यों का प्रश्न है—यह परिणाम क्या है? मंगल का उत्तर है—सुबन्त-तिङन्त शब्दों का कानों को प्रिय व्युत्पत्ति-प्रयोग। मंगल की यह व्याख्या तो शब्दों के सुष्ठु प्रयोग (सौशब्द्य) में काव्य की स्वीकृति है। आचार्यों का कहना है—काव्य-पाक का अर्थ है, पदों के प्रयोग में निःसंदिग्धता।...वामन का मत है कि एक बार प्रयोग किये गये पद को पुनः परिवर्तन की आवश्यकता न होना ही पाक है।"[1] इतने मत उस काव्य-परंपरा के थे जो भाषा-प्रयोग से अनुप्राणित थीं।

लेकिन राजशेखर के समकाल ही ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय हो चुका था। काव्य-पाक-सम्बन्धी मतों में ध्वनि की प्राथमिक मान्यताओं का संकेत मिलता है। काव्य-पाक के सम्बन्ध में अन्य मत है—"शब्द, अर्थ और सूक्ति का रस के अनुगुण निबन्धन ही पाक है।"[2] अनुगुण निबन्धन यद्यपि भाषा-प्रयोग का वैचित्र्य ही है तथापि उस प्रयोग के केन्द्र और परिधि की सीमा में भावानुप्राणित किसी अन्य प्रयोग (ध्वनि) की सत्ता स्वीकार की जा रही थी, क्योंकि आगे वे उद्धृत करते हैं—"समर्थ कवि और उसके उचित शब्द-अर्थ के प्रयोग एवं रस की अवतारणा के

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४८

सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। "कः पुनरयं पाकः?" इत्याचार्याः। "परिणामः" इति मंगलः। "कः पुनरयं परिणामः?" इत्याचार्याः।" सुपां तिङां च श्रवः (प्रि?) या व्युत्पत्तिः" इति मंगलः। सौशब्द्यमेतत्।" "पदनिवेशनिष्कम्पता पाक" इत्याचार्याः।....पदानां परि....वृत्तिवैमुख्यं पाकः" इति वामनीयाः।

२. वही, पृ० ४९

तस्माद्रसोचित-शब्दार्थ-सूक्ति-निबन्धनः पाकः।

रहते हुए भी जिसके बिना वाणी मधु नहीं बरसाती, वह है—काव्य का जीवित या काव्य-पाक; सम्भवतः ध्वनि-अर्थ की प्रतिष्ठा।"[१]

इसकी पुष्टि राजशेखर के काव्य-पाक के द्विधा विभाजन से होती है—"पहला, जहाँ शब्दों के परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती है, वह शब्द-पाकवाला काव्य है और दूसरा है वह—सहृदयों में प्रसिद्धि प्राप्त, उनके प्रयोग और आलोचना का अंग अर्थ-विषयक काव्य-पाक।"[२] राजशेखर के इस 'सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध' को ध्वन्यालोक के "योऽर्थः सहृदयश्लाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः"[३] इस कथन से मिलाया जाना चाहिए।

कविता के क्षेत्र में भाषा-प्रयोग के प्रति कवि की अभिरुचि भाव (अर्थ) के विरुद्ध क्रान्ति की द्योतक है। आचार्यों ने भी काव्य की स्थापना में उत्तरोत्तर भाषा-प्रयोग के वैलक्षण्य की ही व्याख्या की है। हाँ, इसको भाव और भाषा के युद्ध के रूप में यदि प्रस्तुत किया जाय तो स्पष्ट रूप से यह देखने में आता है कि दो बार भाषा ने भाव को सर्वथा तिरस्कृत कर एक मात्र अपने प्रयोग-वैलक्षण्य में ही कविता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है, भाषा की यह प्रतिष्ठा एक बार दण्डी के (और उनकी ही पद्धति में वामन के) गुणों में और दूसरी बार कुन्तक की वक्रोक्ति में अवतरित हुई। दण्डी के गुण भावमूलक अलंकार-प्रकार के विरुद्ध और कुन्तक की वक्रोक्ति भावाभिव्यक्ति ध्वनि के विरुद्ध क्रान्ति की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार गुण और वक्रोक्ति तो विशुद्ध भाषा-प्रयोग के काव्यसिद्धान्त हैं लेकिन अलंकार और ध्वनि भी भाषा-प्रकारों की व्याख्या पर ही आधारित हैं, अन्तर केवल इतना है कि यहाँ ये भाषा-प्रकार साधन हैं, भाव और रस उनका साध्य है। अलंकारों में भी उत्तरोत्तर भाषा-प्रयोग ही एक दूसरे से उनके भेदान्तर का कारण बना है। इस प्रकार अलंकार और ध्वनि में तथा विशुद्ध भाषा-प्रयोग—गुण और वक्रोक्ति में सर्वत्र भाषा का वैलक्षण्य ही कविता के निर्वचन का नया इतिहास बनता गया है। ध्वनिकार का यह कथन कि—"काव्य की वह व्यंग्यता

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४९

तदुक्तम्—"सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवतु वाङ्-मधु॥"

२. वही, पृ० ५०

'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहारांगमसौ' इति यायावरीयः।

३. ध्वन्यालोक १।२

और उसके बोध की सामर्थ्य रखनेवाला शब्द कोई होता है। महाकवि को प्रयत्न-पूर्वक इस शब्द-अर्थ की खोज करनी चाहिए।"[1] भाषा-प्रयोग में ही काव्य की प्रतिष्ठा की स्वीकृति है और यह कथन अर्थ और शब्द (भाव और भाषा) को सम-प्रधान प्रस्तुत करता है।

काव्य-शास्त्र में भाव और भाषा के प्रतीयमान प्रयोग का, जो परस्पर एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी रहे हैं, मूलतः आदि से लेकर उनकी प्रतिस्पर्द्धा का सामान्य विभाजन इस तरह देखा जा सकता है—

१. भाव—काव्य की जन्म-भूमि अथवा उसकी उद्भावना का मूल।
२. काव्य की पहली प्रतिष्ठा, भाव और भाषा-प्रयोग की समप्रधानता—सूक्ति
३. भाव का उदय—रस, नाट्यरस।
४. भाषा की पहली क्रान्ति—सौशब्द्य काव्य (यमक, अनुप्रास, श्लेष)।
५. सूक्ति को अन्तर्भूत कर भाव का उदय—अलंकारों की उद्भावना।
६. भाषा की दूसरी क्रान्ति—गुण और मार्ग।
७. गुण तथा सौशब्द्य को अन्तर्भूत कर भाव का उदय—ध्वनि की प्रतिष्ठा।
८. भाषा की तीसरी क्रान्ति—वक्रोक्ति-सिद्धान्त का उन्मीलन।

भिन्न-भिन्न कालों में भाव के उदय और भाषा की क्रान्ति ने अपने उन-उन सिद्धान्तों में काव्य का जीवन स्वीकार करनेवाले कवियों के उतने ही सम्प्रदाय प्रतिष्ठित कर दिये थे, जिनकी चर्चा काव्य-गोष्ठियों में राजशेखर के समय तक होती रही, उस चर्चा के आधार पर काव्यमीमांसा में काव्य-कवियों के आठ भेद बताये गये हैं, जिसकी तुलना बहुत-कुछ उक्त सामान्य-विभाजन के साथ की जा सकती है—

काव्य-कवियों के आठ भेद—[2]

रचना कवि :	स्वभावोक्ति		काव्य की प्रथम प्रतिष्ठा भाव और भाषा की समप्रधानता काल के काव्य-सिद्धान्तानुयायी।
शब्द कवि :	(तीन प्रकार नाम-कवि आख्यात कवि, नामाख्यात कवि)	सूक्ति (२)	

---

१. ध्वन्यालोक १।८

२. काव्यमीमांसा, पृ० ४१-४७

अर्थ कवि :

अलंकार-कवि : काव्य में भाव का उदय (५), अलंकार की उद्भावना में निष्ठ कवि।

उक्ति-कवि : भाषा की तीसरी क्रान्ति—वक्रोक्ति के उन्मीलन में निष्ठ कवि।

रस-कवि : भाव का उदय (३), रस और नाट्यरस को काव्य का जीवित माननेवाले कवि।

मार्ग कवि : भाषा की दूसरी क्रान्ति—गुण-मार्ग के अनुयायी।

शास्त्रार्थ कवि :

भाव के उदय और इन भाषा-क्रान्तियों को युग–विशेष की काव्य–प्रतिष्ठा के विशिष्ट अभिनिवेशों के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। सूक्ति के बाद रस के रूप में भाव का उदय हुआ अथवा अलंकारों की उद्भावना के पश्चात् गुण के रूप में भाषा की क्रान्ति हुई—इसका अर्थ यह नहीं है कि सूक्ति के पहले रस की सत्ता का अथवा अलंकार के पूर्व गुण की चर्चा का अभाव था। या ध्वनि के पूर्व वक्रोक्ति की सत्ता नहीं थी। हाँ, अलंकारों के बाद गुण, और ध्वनि के बाद वक्रोक्ति की काव्य-सिद्धान्त के रूप में सही प्रतिष्ठा की गयी।

ऊपर के सामान्य विभाजन में क्रमांक ४,६ और ८ के काव्य–सिद्धान्तों को छोड़ कर जिनमें भाषा-प्रयोग ही विधेय है, भाव-मूलक काव्य-सिद्धान्तों—विशेषतः अलंकार और ध्वनि में भी उनके प्रपंच का विस्तार तथा उनका अस्तित्व भाषा-प्रयोग पर ही निर्भर है, यद्यपि उनका विधेय भाषा-प्रयोग न होकर वस्तु-दर्शन और मनोवासनाएँ हैं। इस विभाजन में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार काव्य के भाव-पक्ष का निर्धारण भी उत्तरोत्तर भाषा-प्रयोग का मुखापेक्षी होता गया है। और उसे उसकी पूर्ववर्ती भाव-कोटियों—भाव तथा रस की एक सूत्रता में स्थापित करने के लिए उसमें सन्निविष्ट भाषा-प्रयोग को उसका साधन अर्थात् काव्य का गौण पक्ष स्वीकार करना पड़ता है।

सौशब्द्य (यमक, अनुप्रास), गुण और वक्रोक्ति में काव्य की प्रतिष्ठा भाषा अथवा उसके शब्द के प्रयोग में स्थापित हुई है। रस, अलंकार और ध्वनि भाव-मूलक काव्य-प्रतिष्ठा के सिद्धान्त हैं। सूक्ति काव्य की वह आदि प्रतिष्ठा है जिसमें भाव और भाषा दोनों की एक समान प्रधानता रही है। भाव क्योंकि वस्तु-दर्शन है अतः भाव-मूलक सभी काव्य-सिद्धान्त अपनी एकरूपता प्रकट करते हैं। भाषा क्योंकि प्रयोग-विज्ञान है अतः भाषा-प्रयोग-मूलक काव्य के सभी सिद्धान्त एक दूसरे से सर्वथा नवीनता रखते हैं। भाव-मूलक काव्य-सिद्धान्त का चरम

विकास ध्वनि है। रस, अलंकार एवं भाव-मूलक अन्य सभी काव्य-प्रवृत्तियों का अन्तर्भाव इस ध्वनि में हो जाता है, लेकिन सभी भाषों-प्रयोगों का ऐसा अन्तर्भाव भाषा-प्रयोग के चरम विकास वक्रोक्ति में सम्भव नहीं है। सौशब्द्य काव्य-यमक और अनुप्रास को अन्य काव्य-सिद्धान्तों की भाँति व्यापकता और स्थायित्व दोनों प्राप्त हुए, किन्तु प्रधानता नहीं स्वीकार की गयी। अनुप्रास को दण्डी ने माधुर्य गुण का अंग स्वीकार किया है, यमक काव्य के चित्रमार्ग के रूप में व्याख्यात हुआ। कुन्तक ने गुणों को काव्य-मार्ग के रूप में वक्रोक्ति से अलग प्रतिष्ठित किया है।[१] और अनुप्रास को यद्यपि वर्णविन्यास-वक्रता में अन्तर्भूत किया है,[२] तथापि यमक की ऐसी अन्तर्भाविता उन्हें अच्छी नहीं लगी है, उसे वर्ण-विन्यास-वक्रता में अन्तर्भूत करते हुए यमक नाम से ही वे उसका अभिधान करते हैं—'**यमकं नाम कोऽप्यस्याः प्रकारः परिदृश्यते।**'[३] अतः भाषा-प्रयोगों की अपनी अलग-अलग नवीनता कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' से स्वतः सिद्ध है। और यह भी प्रकट है कि भाषाप्रयोग-मूलक काव्य-सिद्धान्त अपने में मौलिक, नवीन और अत्यन्त स्पष्ट हैं। यह वैशिष्ट्य भावमूलक काव्य-सिद्धान्त के चरम विकास ध्वनि में भी हमें लक्षित नहीं होता, जब कि ध्वनिकार ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हैं और रस को ध्वनि की आत्मा,[४] इससे अनुभव और चिन्तन में अनवस्था आ जाती है।

सूक्ति की नयी संज्ञा—अलंकार

सूक्ति के अच्छे प्रयोग काव्य की संज्ञा से अभिहित किये जाते थे परन्तु नाटक के संवादों में ऐसे काव्यों का जब प्रयोग किया गया तब उन्हें भी नाट्य के अन्य अलंकरण-संज्ञाओं के अनुकरण में अलंकार संज्ञा प्राप्त हो गयी। भरत ने नाट्यशास्त्र में रस के उपकारक धर्म में काव्यालंकार के अतिरिक्त आहार्य, संवाद, क्रिया, स्वर आदि अन्य अलंकारों का भी वर्णन किया है, उनको देखते हुए काव्यालंकार की भी बात समझ में आ जाती है। अलंकार अर्थात्—शोभाधायक धर्म, चमत्कार में वृद्धि लानेवाला धर्म। नाट्य में चमत्कार से अभिप्राय रस-चमत्कार से था—

---

१. वक्रोक्ति जीवित १।२३-५८
२. वही, २।१-५
३. वही, २।७
४. देखिए, ध्वन्यालोक २।५ और २।१९ की वृत्ति

अलंकारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया नाट्यरसाश्रयाः।
यौवने ह्यधिका स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजाः॥[१]

और वह अलंकार भी विशेष रूप से स्त्रियों के सात्त्विक भावों, हावों एवं विलासों के लीलापूर्ण अभिनय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[२] काव्य के संवाद के सम्बन्ध में भी अभिनयात्मक अलंकारों का निर्देश है।[३] इसी प्रकार वाद्य और गीत के सम्बन्ध में भी रसाभिव्यक्ति-हेतुक चमत्कारिक क्रियाओं को अलंकार कहा है।[४] और यह 'अलंकार'–शब्द मूल रूप से स्त्री के अंगों में धारण किया जानेवाला अलंकार ही है,[५] जो अपने अर्थबल से विविध चमत्कारी अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। नेपथ्यालंकार आदि के प्रयोग की बात तो सामान्य ही है।

इसी प्रकार काव्य के भाव-बोध में चमत्कार लानेवाली अर्थ-योजना को भी अलंकार संज्ञा दी गई। नाट्य-शास्त्र में नाटक के संवादों में सहज चमत्कार लानेवाले केवल उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक चार अलंकारों का वर्णन है।

---

१. नाट्यशास्त्र २४।४

२. वही, २४।१४, २५

वागंगालंकारैः श्लिष्टैः प्रीतिप्रयोजितैर्मधुरैः।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः॥
रूपयौवनलावण्य - रूपभोगोपबृंहितैः।
अलंकरणमङ्गानां यत् सा शोभेति भण्यते॥

३. वही, २४।४९-५१

काव्यवस्तुषु निर्दिष्टा द्वादशाभिनयात्मकाः॥
आलापश्च प्रलापश्च विलापोऽन्यस्तथैव च।
अनुलापोऽथ संल्लापो ह्यपलापस्तथैव च॥
सन्देशश्चातिर्देशश्च निर्देशश्च तथैव च।
व्यपदेशोपदेशौ च ह्यपदेशस्तथैव च॥

४. वही, २९।१९, २४

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वर्णालंकार - लक्षणम्।
आरोही चावरोही च स्थायिसंचारिणौ तथा॥
एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो गानयोगतः।
एतान् समाश्रितान् सम्यगलंकारान्निबोधत॥

५. वही, २९।७४

स्थाने चालंकारं कुर्यान्न ह्युरसि कांचिका बध्येत।

अलंकार अर्थ की भंगिमा है। और काव्य या सूक्ति का समस्त चमत्कार अथवा आनन्द इसी अर्थ-भंगिमा से उत्पन्न होता है। जब अलंकार के रूप में इस अर्थ-भंगिमा के अनुसन्धान की दिशा निर्धारित हो गयी तब काव्य की शास्त्रीय चर्चा में इन अलंकारों के प्रति अबाध जिज्ञासा फूट पड़ी। न तो अर्थ-भंगिमा का अन्त हो सकता था और न अलंकारों की संख्या निर्धारित क जा सकती थी। इसीलिए दण्डी ने कहा—आज भी अलंकार–प्रकारों की नयी-नयी उद्भावनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, भला कौन इन अलंकारों का समग्र रूप से निर्वचन कर सकता है।[1]

और जैसे भरत ने नाट्य के सभी विषयों की चमत्कारी-क्रियाओं को अलंकार संज्ञा दी, वैसे ही दण्डी ने भी कहा—'जो अन्य सभी सन्ध्यंग, वृत्यंग, लक्षण आदि अन्य शास्त्रों में निरूपित हैं, हमें वे अलंकार रूप से ही मान्य हैं।'[2] 'इन अलंकारों का प्रकार वाणी के वर्णन से बाहर है, काव्य के अभ्यास से ही इनका विस्तार और उनकी व्याख्या की जा सकती है।'[3]

अलंकार शब्द की लोकप्रियता बहुत ऊँचे उठ गयी, उसी के नाम पर काव्य-शास्त्र के आचार्यों को आलंकारिक कहा जाने लगा, जिन्होंने काव्य में अलंकार को सर्वोपरि धर्म नहीं स्वीकार किया—रीति, ध्वनि, रस तथा वक्रोक्ति के प्रतिष्ठापकों को भी आलंकारिक कहा जाता है। अलंकार-संज्ञा की लोकप्रियता इसी से जानी जा सकती है कि उसने अपने से पूर्व के सौशब्द्य काव्य को तो सर्वथा अपने नाम में अन्तर्भुक्त कर ही लिया, बाद के गुण-काव्य को भी जब उसका उदय हुआ, विशिष्ट अलंकार कह कर अपने नाम की व्यापकता प्रकट की।[4] मूलतः अलंकार कवियों को रस, भाव तथा अर्थ-भंगिमा—इन तीनों भूमियों में

---

१. काव्यादर्श २।१

२. वही, २।३६७

यच्च संध्यंगवृत्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥

३. वही, २।३६८

वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना-
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान्।

४. वही, २।३

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते॥

इष्ट था, दण्डी और भामह ने रसवत्, प्रेय आदि अलंकारों का निरूपण कर उस प्रवृत्ति और यथार्थ की स्थिति को सामने रखा है। आनन्दवर्धन ने भी व्यंग्य (रस, भाव) के आंशिक अनुगम के साथ अलंकारों को परम चमत्कारकारी स्वीकार किया है।[२] और विस्तार के साथ इनके चमत्कार-प्रकारों को समझाया है।

अलंकार संज्ञा की इस लोकप्रियता से भाषा-क्रान्ति की प्रतिष्ठित संज्ञाओं का अस्तित्व क्रमशः लोप होता गया, किन्तु काव्य की मूल संज्ञा सूक्ति और सुभाषितों की चर्चा भंग न हुई। काव्य-शास्त्र का समस्त विस्तार कम या अधिक, जो भी रहा हो कभी सूक्तियों के पर्यालोचन में ही निहित था, यद्यपि इसका कोई प्रबल प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं है, क्योंकि यह रस-विवेचन के पहले का इतिहास है, बाद में तो सूक्तियों के वे अनेक प्रकार अन्य विधाओं में परिवर्तित अथवा प्रतिष्ठित हो गये। इतने पर भी विदग्धों की गोष्ठी में सामान्यतया काव्य की कसौटी के लिए सूक्ति-सिद्धान्त ही प्रस्तुत किये जाते रहे। वैसे भी आनन्दवर्धन, क्षेमेन्द्र, कुन्तक सभी ने सूक्ति की प्रशंसा काव्य के प्रसंग में की है। सूक्तियों की प्रशंसा में यत्र-तत्र जो कुछ कहा गया है और राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में सूक्तियों के पर्यालोचक भावकों का जो वर्गीकरण किया है उससे सूक्ति-काव्य के सिद्धान्त और विशिष्टता के अस्तित्व का पता न केवल चलता है, काव्यशास्त्र की मूल आलोचना किस रूप में आरम्भ हुई, इसका इतिहास भी सामने आता है। यद्यपि इन भावकों का उल्लेख राजशेखर ने ही किया है तथापि वे सूक्ति-काव्य के भावक हैं अतः उनका अस्तित्व रस, अलंकार आदि काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों से पूर्व का है, यह मानना पड़ता है।

भावक—काव्य का आलोचक

कवि और काव्य-रचना—मेधा के विशिष्ट कौशल के रूप में आरम्भ से ही आदृत रहे हैं। काव्य के तत्त्व को समझनेवाले, काव्य की उत्कृष्टता और अपकृष्टता का विवेक करनेवाले, काव्य की उक्त विशिष्टता के कारण समाज के विशिष्ट पुरुष—सत्पुरुष हुआ करते थे। यह मान्यता काव्यशास्त्र की परम्परा के आरम्भ से पूर्व की है, उससे भी पूर्व की है जब काव्य में रस विशिष्ट-तत्त्व निश्चित हुआ

---

२. ध्वन्यालोक ३।३६

वाच्यालंकारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥

और काव्य के मर्मज्ञ सहृदय कहे जाने लगे। कालिदास ने अपने काव्य का परीक्षण-अधिकार सन्त को दिया है।[1]

काव्य-मीमांसा के अनुसार सन्त ने ही उशना की छन्दोबद्ध वाणी सुन कर उन्हें कवि संज्ञा प्रदान की, तभी से लोक में छन्द रचना करनेवाले कवि कह कर पुकारे जाने लगे।[2] एक प्राकृत कवि का कहना है कि सज्जनों की उपस्थिति में ही काव्य-कथा—काव्य के सुनने-सुनाने का आनन्द आता है।[3] (क्योंकि वे काव्य की सही पहचान करते और सत्-काव्य को सराहते हैं।)

ऐसा अनुमान है कि सत्पुरुष काव्य के अर्थ की सचाई, उक्ति की उत्कृष्टता मात्र की पहचान करते थे। लेकिन जैसे-जेसे काव्य में रस और तात्पर्य, अलंकार और गुण उसकी उत्कृष्टता के माप-दंड माने जाने लगे, काव्य की उत्कृष्टता की पहचान सरल काम नहीं रह गया, केवल यह कह देने मात्र से छुट्टी नहीं मिल सकती थी—उक्ति बड़ी अनूठी है, असत् भावों का समावेश यहाँ नहीं किया गया है। जब काव्य के मापदण्ड सहज थे तब उसका मापयिता भी सन्त था। जब मापदण्ड अनेक तत्त्वों से आश्लिष्ट हो गया, अर्थतत्त्व, भावतत्त्व एवं गुणदोषों की परस्पर तुलना और उनकी कम अधिक की अनुपात-भावना काव्य की उत्कृष्टता की खोज में आवश्यक हुई तब काव्य का परीक्षक भावयिता—भावक बन गया, वह काव्य के सभी गुण-दोषों के आकलन के पश्चात् काव्य की कसौटी निश्चित करता था। राजशेखर ने भावक की प्रतिभा के सम्बन्ध में यही संकेत किया है।

भावयित्री प्रतिभा भावक की उपकारक—उसके काव्य-परीक्षण में सहायक होती है। वह प्रतिभा कवि के श्रम और अभिप्राय की उत्कृष्टता की खोज करती है। भावक की यह प्रतिभा यदि न हो तो कवि का काव्यवृक्ष ही निष्फल हो

---

१. रघुवंश १।१०

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यतेह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥

२. काव्य-मीमांसा पृ० १५

ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते।
तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा॥

३. ध्वन्यालोक २।२७ का उदाहरण

चन्दमऊएहिँ णिसा णलिनी कमलेहिँ कुसुमगुच्छेहिँ लआ।
हंसेहिँ सरअसोहा कव्वकहा सज्जणेहिँ करइ गरुई॥

जाय।[१] भावक काव्य की उत्कृष्टता की खोज कर गोष्ठियों में उसकी चर्चा कर कवि के श्रम को सफल बनाता था।

इस भावयित्री प्रतिभा का अपना एक विशिष्ट स्थान साहित्य-विद्या में है। राजशेखर ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं—१. कारयित्री—जो कवि की काव्य-रचना में समर्थ होती है। २. भावयित्री—जो भावक के काव्य-परीक्षण में सहायक बनती है।

कवि के साथ भावक का होना बहुत जरूरी था। कालिदास ने जो कहा है—'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः', इसका यह अर्थ नहीं है कि मेरे इस काव्य को सदसत् का विवेक रखनेवाले सन्त जन सुनने-परीक्षण करने के योग्य हैं, वरंच सही अर्थ यह है कि सन्त जन उसे सुनने और परीक्षण करने की कृपा करें। कालिदास का यह सिद्धान्त वचन नहीं, प्रार्थना की वाणी है, मल्लिनाथ ने इस छन्द की टीका में कवि की सही मनोवृत्ति की पहचान कर के ही लिखा है—'सम्प्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते।' राजशेखर ने भावक के बिना कवि की इसी दयनीय स्थिति की ओर लक्ष्य कर कहा है—कवि का रचनावृक्ष बिना फूला-फला ही रह जायगा यदि भावक अपनी प्रतिभा से उसे सींचेगा नहीं। भावक की परीक्षा के बाद ही तो काव्य की महिमा का प्रचार होता था, यदि काव्य ने भावक को सन्तुष्ट न किया तो उसकी चर्चा लोक में, गोष्ठी और सभाओं में करने ही कौन जायगा? काव्य लोक के लिए है केवल कवि के लिए नहीं। और लोक में उसे उपस्थित करनेवाला भावक है। राजशेखर ने इस प्रसंग में कुछ अत्यन्त सटीक बातें कही हैं—उस कवि की काव्य-रचना पर आश्चर्य है जिस कवि के स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य या आचार्य कोई भी उसके काव्य के भावक (आलोचक) न हुए अर्थात् उसका काव्य उनके बीच चर्चा का विषय न बना। तो फिर उस कवि के काव्य से क्या लाभ, उसके हृदय मात्र में जिस काव्य की स्थिति है? जिस काव्य के रचना-गुणों को भावक अपनी चर्चाओं से दशों दिशाओं में नहीं फैला देते हैं।[२]

---

१. काव्य-मीमांसा, पृ० ३१

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात्।

२. वही, पृ० ३४

स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति हि चित्रं किं तद्यन्न भावकः॥

जैसा कि आज कल कहा जाता है—असफल कवि आलोचक बन जाता है, ऐसी ही कुछ स्थिति उस समय भी थी। काव्य-मीमांसा में यह आया है कि जो भावक भी है और कवि भी वह प्रायः कुकाव्य की रचना नहीं कर सकता किन्तु उसे आचार्य कालिदास ने नहीं स्वीकार किया है,[1] भावकत्व और कवित्व दोनों अलग कार्य-क्षेत्र हैं। यदि कोई भावक भी हो और कवि भी हो तो उसके लिए क्या कहना है? लेकिन ऐसी प्रतिभा आश्चर्य से देखी जाती थी।[2] विदग्ध-गोष्ठियों में दोनों गुणों से सम्पन्न ऐसी प्रतिभाओं का ही बोलबाला रहता था। ये विदग्धगोष्ठियाँ नागरक-जनों के परस्पर विनोद तथा काव्य, कला, संगीत एवं अन्य ज्ञान-चर्चाओं के आदान-प्रदान के लिए होती थीं। उन्हें समाज भी कहते थे।'[3] भावकत्व और कवित्व प्रतिभाद्वय से युक्त व्यक्ति के बाद विदग्धगोष्ठी उसके लिए थी जो थिरकती हुई सूक्तियों की काव्य-रचना करता था। जिसमें कवित्व शक्ति अच्छी नहीं थी प्रायः उसे भावक होने का अधिकारी भी नहीं माना जाता था, इसलिए ऐसी स्थिति में कृश-कवित्व प्रतिभा के व्यक्ति अवसर पड़ने पर झेंप जाया करते थे। उन्होंने इसका बड़ा सटीक समाधान निकाला, अपने को काव्य की व्युत्पत्ति और काव्यपाक के ज्ञान से समृद्ध कर विदग्धगोष्ठी में जिस कवि को चाहा उसकी कविता को अनेक काव्यगुणों से सम्पन्न बता कर बहुत ऊँचे उठा दिया, और जिस कवि से ईर्ष्या की, दोषों की छान-बीन करते-करते उसकी कविता के तार-तार कर दिये। इस प्रकार असफल कवि ने सफल आलोचक बन कर अपनी प्रतिष्ठा बहुत ऊँचे उठा ली। कवि के सम्मान के लिए उसका समर्थक भावक होना बहुत आवश्यक हो गया, भावक कवियों को बनाते और बिगाड़ते थे। राजशेखर का कथन है कि पुस्तक के पन्नों पर लिखे काव्य-प्रबन्ध तो घर-घर में विद्यमान हैं

काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

१. काव्यमीमांसा, पृ० ३१

२. वही, पृ० ३२

कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां।
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति॥

३. कामसूत्र, १।४।१४, १५, २०

घटानिबन्धनम्, गोष्ठीसमवायः, समापानकम्, उद्यानगमनम्, समस्याः क्रीडाश्च प्रवर्तयेत्॥ पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः॥ तत्र चैषां काव्यसमस्या कलासमस्या वा।

लेकिन उनमें से दो-ही-तीन आलोचक के मनः रूपी शिलापट्ट पर उट्टंकित हो पाये हैं।[१] तभी तो कालिदास ने आलोचक से अपने काव्य के परीक्षा-हेतु प्रार्थना की थी।

काव्य-शास्त्र का पल्लवन और विकास उस युग में ये असफल कवि सफल भावक बनने के लिए करते रहे हैं, सहजप्रतिभा-सम्पन्न कवियों के लिए भला काव्य के आदर्शों और काव्यालंकारों के जानने की जरूरत ही क्या थी, यह तो कृश-कवित्व-जनों के लिए था कि कुछ कविता करना सीख कर नागरक-गोष्ठी में बैठने के अधिकारी बन जायें। अथवा कवि-मार्ग और अलंकारों के पारदर्शी बन कर दूसरों के काव्य में गुण-दोषों की छान-बीन करें, तथा इस छान-बीन के द्वारा विदग्ध-गोष्ठी में काव्यकर्ता कवियों को मनमानी उठा-गिरा कर ज्ञानलवदुर्विदग्धता का आनन्द लें। दण्डी ने काव्यादर्श का कवि-मार्ग ऐसी ही स्थिति में ऐसे भावक-जनों के लिए ही लिखा है।[२]

किन्तु भावक काव्य की नयी-नयी विशिष्टताओं तथा उसके दोषों की खोज करते रहते थे, जिससे वे काव्य की परख में उनका यथाप्रसंग प्रयोग कर सकें। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य में दोषों की खोज कर गोष्ठी में कवि को उखाड़ने की प्रवृत्ति भावकों में प्रायः रहा करती थी। तभी कवि ने खेद-पूर्वक कहा है—'समर्थ ज्ञान-सम्पन्न भावक का अभाव है जो भलीभाँति दोष-गुण का विचार कर सके, स्वयं भी सत्कवि हो। यदि है तो मनस्वी नहीं है, अपने मात्सर्य के कारण काव्य की अच्छी परख नहीं करता, अच्छे काव्य को भी बुरा बना देता है।'[३]

राजशेखर ने भावक को चार प्रकार का कहा है—अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी,

---

१. काव्य-मीमांसा, पृ० ३४

सन्ति पुस्तक-विन्यस्ताः काव्यबन्धाः गृहे-गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनःशिलापट्ट-निकुट्टिताः।

२. काव्यादर्श १।१०५

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

३. काव्य-मीमांसा, पृ० ३३

यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं, स्वयं सत्कविः।
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

मत्सरी, तत्त्वाभिनिवेशी। अरोचकी, जिन्हें कोई रचना जँचती ही नहीं थी। सतृणाभ्यवहारी, नये आलोचक होते थे जो जिस किसी रचना पर जिस प्रकार से प्रभावित हुए, कुछ न कुछ कह बैठते थे। मत्सरी, जो गुणों से आँख मूँद कर दोषों का ही विवरण देते थे। केवल तत्त्वाभिनिवेशी भावक, जो हजार में एक होते थे, काव्य की सही समीक्षा करते थे, और वे ऐसे कवियों को, जो सही आलोचक के अभाव में हृदय से अत्यन्त दुखी रहते थे, बड़े पुण्यों से प्राप्त होते थे—पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यताम्।[1]

युग का अभिनव काव्यशास्त्र—कविमार्ग

ऊपर भावक के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह विदग्धगोष्ठी का इतिहास था। विदग्धगोष्ठियाँ एक तरह से काव्य की पाठशाला थीं, काव्य के सम्बन्ध में जो नयी खोज या मान्यताएँ स्थिर की जातीं, उनका प्रयोग तथा समीक्षण इन गोष्ठियों में कवि और भावक किया करते थे। काव्यमीमांसा से यह पता चल जाता है कि राजशेखर के युग में काव्य-सिद्धान्त की सभी बातें गोष्ठियों में चर्चा का विषय थीं। राजशेखर ने ही पहली बार कवि और भावक की इन गोष्ठियों की ओर ध्यान दिया और उनके महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की विस्तार से चर्चा कर काव्य-जगत् के इस इतिहास को विस्मृत नहीं होने दिया। इन काव्य-गोष्ठियों का उल्लेख वात्स्यायन के काम-सूत्र में आया है,[2] काम-सूत्र का रचना-काल विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है। इस प्रकार छह सौ वर्षों तक लगातार ये काव्य-गोष्ठियाँ भारतीय नागरकों के विनोद तथा ज्ञान-चर्चा का विषय रहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत्-काल के अन्त में जब आत्म-विद्या की गोष्ठियाँ शिथिल पड़ने लगीं तब इन विदग्ध-गोष्ठियों का उदय हुआ। बहुत काल तक काव्य की इन विदग्ध-गोष्ठियों को भी उपनिषद् या औपनिषदिक गोष्ठी कहा जाता रहा। राजशेखर के अनुसार कुचमार ने 'औपनिषदिक' नाम से उक्त गोष्ठी की काव्य-विद्या का विवेचन किया था। पर कदाचित् कलाओं की चर्चा उस गोष्ठी में प्रमुख रहती थी, क्योंकि राजशेखर स्वयं लिखते हैं—

उपविद्यास्तु चतुःषष्टिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः।
स आजीवः काव्यस्य। तमौपनिषदिके वक्ष्यामः।[3]

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ३४
२. कामसूत्र १।४।१४, १५
३. काव्यमीमांसा, पृ० १२

बाणभट्ट के समय में ये गोष्ठियाँ अपने चरम विकास पर थीं, काव्य-प्रहेलिकाओं की, जो बहुत ही गूढ़ होती थीं, प्रायः रचना की जाती थी।[1] काव्य के सिद्धान्तों का जब शास्त्रीय निरूपण प्रौढ़ता की ओर अग्रसर हुआ और साहित्य-विद्या को भी आन्वीक्षकी (आत्मविद्या), त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति के बाद पाँचवीं विद्या स्वीकार किया गया[2] तब इन काव्य-गोष्ठियों का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया और इनका महत्त्व केवल भावकों द्वारा कवि के गुण-दोष का अन्य सभा-गोष्ठियों में प्रचार-प्रसार मात्र रह गया। अब राजाओं द्वारा ही विशाल काव्य-सभाओं का आयोजन होने लगा था।[3] नागरक-स्तर पर काव्य-चर्चा मन्द पड़ गयी थी।

इस प्रकार इन विदग्धगोष्ठियों और उनके सन्त, भावकों का इतिहास दण्डी से पूर्व का है लेकिन उनका उल्लेख दण्डी के परवर्ती राजशेखर ने ही बहुत बाद में किया। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में सम्पूर्ण रूप से काव्य की पाठ-शाला—इन विदग्धगोष्ठियों की शिक्षा-दीक्षा का ही सर्वेक्षण किया है, इस पाठ-शाला में सूक्ति-काव्य से लेकर रस-काव्य तक की चर्चाओं के पाठ हैं। और यह ग्रन्थ भारतीय काव्य-शास्त्र का अपने ढंग का एक सही और आकर्षक इतिहास है जो आचार्यों के सिद्धान्त-ग्रन्थों की श्रेणी में नहीं आता। दण्डी ने जब अपना ग्रन्थ लिखा तब विदग्धगोष्ठी में भावकों की सत्ता का आरम्भ हो रहा था। कवि भावकों की महिमा से आक्रान्त तो नहीं थे लेकिन असफल कवियों में भावक बन कर काव्य-परीक्षक बनने की अभिलाषा प्रबल हो रही थी जिससे वे काव्य-पाठ में सफल न हों तो दूसरों के काव्यों के गुण-दोष-विवेचन में ही अपनी प्रतिभा की तेजी दिखा सकें—**कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।**[4] इस प्रकार दण्डी के सामने बाणभट्ट से बहुत पूर्व की ये काव्य-गोष्ठियाँ थीं। उन गोष्ठियों में, किस क्रम से काव्य-शास्त्र के विवेचन का नूतन आरम्भ हुआ, यह दण्डी के 'काव्यादर्श' प्रथम परिच्छेद से स्पष्ट हो जाता है।

जैसा कि पहले दिखाया गया है—सूक्ति, रस, सौशब्द्य काव्य, अलंकार और मार्गों के गुण—काव्यचिन्तन के अध्यायों का यही क्रम है। मार्गों के गुण काव्यचिन्तन

---

१. कादम्बरी—कथामुख पृ० २०-२१
२. काव्य-मीमांसा, पृ० १०
'पंचमी साहित्य विद्या' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।
३. देखिए, काव्य-मीमांसा, पृ० १३२
४. काव्यादर्श १।१०५

में भाषा की दूसरी क्रान्ति हैं और काव्य में भाषा की क्रान्ति का व्याख्यान ही काव्य-शास्त्र का अभिनव आरम्भ है, विशेषतः मार्ग और उनके गुण का व्याख्यान। 'काव्यादर्श' के अभिमत प्रथम परिच्छेद में हमें मार्ग और गुण का विवेचन मिलता है।

भाषा के प्रयोग में भौगोलिक प्रभाव बहुत काम करता है। इंग्लैण्ड में अंग्रेजी का जो उच्चारण है, अमेरिका की अंग्रेजी का उच्चारण उससे भिन्न है। यह तो दूर की बात है, हिन्दी के क्षेत्र में बिहार वाले हिन्दी का जो उच्चारण करते हैं, प्रयाग के हिन्दी-उच्चारण से वह भिन्न है। यही क्यों सभी हिन्दी-भाषी प्रदेश—उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और बिहार—परस्पर हिन्दी के भिन्न उच्चारण रखते हैं। हिन्दी के गढ़ उत्तर प्रदेश में भी पश्चिमी और पूर्वी उत्तर प्रदेश के उच्चारण परस्पर अलग हैं, प्रयाग का उनसे भी अलग है। साधारणतया उच्चारण की यह भिन्नता साहित्य के पद-स्वरूप तथा वाक्य-संघटना पर भी छायी रहती है, आज बिहार के कुछ प्रसिद्ध गद्यलेखक जिस प्रकार की, अर्थ की तेजी से आक्रान्त, अर्थों की प्रतीति प्रकरणगत-ध्वनि में अन्तर्हित कर चंचल नदी-सी इठलाती हिन्दी का प्रयोग करते हैं, प्रयाग और दिल्ली की हिन्दी उनकी अपेक्षा प्रसन्न और गम्भीर पदोंवाली होती है, वाराणसी वाले भी बहुत कुछ बिहार की-सी हिन्दी का प्रयोग कर लेते हैं। हिन्दी गद्य में पद-संघटना की यह भिन्नता प्रदेश-गत अच्छी तरह से देखी जा सकती है, विशेषकर ऐसी मौलिक रचनाओं में जो आंचलिक उपन्यास हों अथवा मानवसमाज की कथा, इतिवृत और विश्लेषण की मौलिक उद्भावनाओं से सम्बन्धित हों। हिन्दी काव्य-जगत् यद्यपि अंग्रेजी की रचनाशैली से बहुत प्रभावित रहा है, इसलिए अपेक्षाकृत पद-संघटनों की यह भिन्नता उसमें कम आ पायी है तो भी मौलिक कवियों में वह बहुत स्पष्ट हैं, जैसे—'निराला' और रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्यों की पद-संघटना में वही भेद है जो प्रयाग-दिल्ली के गद्य-लेखकों तथा बिहार के गद्य-लेखकों की पद-संघटना में है।

यही स्थिति आचार्य दण्डी के समय में भी थी। भाषा अथवा भाषा की पद-संघटना में भूगोल-गत स्थिति के अनुसार विभिन्नता अनिवार्य थी।[१] वामन ने भी कहा है कि विदर्भ आदि देशों में देखे जाने से रीतियों की उन-उन देशों के नाम पर संज्ञा की गयी है।[२] जब किसी समय सर्व प्रथम विदर्भ की काव्यगोष्ठी में गौड देश

---

१. मिलाइए, काव्यमीमांसा, पृ० १२४

देशविशेषवशेन च भाषाश्रयणं दृश्यते।

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।२।१०

विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।

का कोई कवि पहुंचा होगा और उसने अपनी कविता का पाठ किया होगा तब सुनने वालों को यह समझ में आया होगा—यह वही काव्य नहीं है, जो हमारे विदर्भवाले लिखते हैं, दोनों में भेद है। विदर्भ का काव्य दूसरा है, गौड के काव्य का रूप कुछ और है। यह स्पष्टता तब अधिक समझ में आयी होगी जब एक ही अर्थ को विदर्भ और गौड के कवियों ने अपनी-अपनी भिन्न संघटना में प्रस्तुत किया होगा। संस्कृत भाषा एक थी, उसमें व्यक्त किया जानेवाला काव्य अर्थ भी एक ही था, पर कहने का भाषा-प्रकार दो था, उन कवियों की अपनी-अपनी यह विशेषता काव्यगोष्ठी के आकर्षण का केन्द्र बन गयी। यही नहीं, पुनः आगे जब श्रोताओं ने तनिक अधिक ध्यान से समीक्षण किया तब उन्हें समझ में आया कि दशार्ण तथा मालवा के कवियों के भाषा-प्रयोगों के प्रकार भी परस्पर भिन्न हैं। यह भिन्नता प्रत्येक भौगोलिक स्थानों की अपनी-अपनी है। और भाषा के एक होने पर भी भूगोल भाषा की प्रवृत्ति को बदल देता है, भाषा की यह भिन्नता प्रकृत कवि की रचना में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुखर हो उठती है। अतः काव्यगत-संघटना की यह भिन्नता गोष्ठी के विज्ञजनों के सम्मुख कवियों के भिन्न-भिन्न मार्गों का बोधक बन गयी और मार्गों के इस निदर्शन-परीक्षण को ही लेकर गोष्ठियों में काव्य के शास्त्रीय विवेचन का श्रीगणेश हुआ।

दण्डी ने काव्यादर्श के आरम्भ में ही कवि-मार्ग की इस भिन्नता की ओर निर्देश कर अपने काव्य-लक्षण का आरम्भ किया है—

> **अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः।**
> **वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुःक्रियाविधिम्॥**
> **अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।**
> **तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥**
> **(काव्यादर्श १।९,४०)**

'काव्य-प्रेमियों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रख कर विद्वानों ने भाषा के विविध मार्गों की काव्य-क्रिया की विधियों को शास्त्रीय परिभाषा से निबद्ध किया है। वाणी के अनेक मार्ग हैं और उनमें कुछ न कुछ परस्पर सूक्ष्म भेद हैं, किन्तु उनमें वैदर्भ तथा गौड मार्ग का अन्तर अत्यन्त प्रकट है, उनका विवेचन किया जाता है।' मार्गों के भेद का आधार उनके गुण थे। गुण अर्थात् भाषा-प्रयोग।

दण्डी-कृत कविमार्ग का विवेचन मार्ग के मूल इतिहास को स्पर्श करता है। उन्होंने कहा है कि क्या अन्धे व्यक्ति को भी रूप-भेद की व्याख्या करने का अधिकार है उसी प्रकार शास्त्र को न जाननेवाला गुण-दोषों का विभाग कैसे

करेगा।[1] अर्थात् कवि की भाषा में रूपभेद की व्याख्या ही पहला काव्यशास्त्र है। वे फिर कहते हैं—पुन : यह सम्पूर्ण वाङमय संस्कृत, प्राकृत, अपभंश तथा देशी—इन भाषाओं के भेद से चार प्रकार का है। संस्कृत महर्षियों की भाषा है, उसी से उत्पन्न अथवा उसी के समकक्ष, प्राकृत होती है, प्राकृत के कई भेद हैं—शौरसेनी, गौडी, लाटी। आभीर की भाषाओं को काव्य में अपभ्रंश कहा जाता है। संस्कृत-प्राकृत के अतिरिक्त शास्त्रीय दष्टि से सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं। संस्कृत-काव्यों की क्रिया-विधि कुछ है, अपभ्रंश की कुछ और। कथा सभी भाषाओं में लिखी जाती है। भूतभाषा में अद्‌भुत 'बृहत्कथा' लिखी गयी है। भाषा के ये अनेक रूप काव्य के शरीर हैं किन्तु इसके साथ ही एक ही भाषा (वाणी) के प्रयोग-प्रकार (मार्ग) भी अनेक हैं, और उनमें परस्पर कुछ न कुछ भेद अवश्य है।[2] अर्थात् भाषा के भेद से काव्यों का आकलन करने के बाद एक-एक भाषा के प्रयोग-प्रकार की सरणि में भी काव्यों की कसौटी आरम्भ की गयी। और कवि-मार्ग का यह विवेचन नया काव्य-शास्त्र है। जिनमें वैदर्भ और गौड इन दो मार्गों का विश्लेषण पहले हुआ। बाद में आचार्य वामन ने कवि-मार्ग को रीति कह कर इसका विस्तार किया, और इसे काव्य का जीवन कहा। उनके समय पांचाल प्रदेश के कवियों का अपना नया कवि-मार्ग भी प्रस्फुटित हो चुका था, जिसे उन्होंने पांचाली रीति कहा है तथा वैदर्भ, गौड मार्गों से उसमें भिन्नता लक्षित की है।

भिन्न प्रदेशों की अपनी काव्य-गोष्ठियों एवं कवि-मार्ग की वैशिष्ट्य चर्चाओं ने आगे चल कर काव्य के सम्बन्ध में भूगोलगत इस मार्ग-भिन्नता को भुला दिया। और काव्य के सामान्य धर्म की भाँति इसका ग्रहण तथा विवेचन किया जाने लगा। एक कवि वैदर्भ और गौड दोनों मार्ग की रचनाओं के लिए अपने को कुशल बनाने का प्रयास करता था। पर ऐसा केवल गोष्ठियों में काव्य-प्रदर्शन तक ही सीमित था। कुछ विशेष कारणों से मध्यदेशीय कवियों का वैदर्भ मार्ग बहुत प्रशस्त माना जाता रहा,कालिदास ने जब इस मार्ग में अपनी रचना की तब उसकी इतनी प्रसिद्धि रही या नहीं, लेकिन बाद में कवियों का यह प्रिय मार्ग रहा, कश्मीर में जिसका जन्म और शिक्षा हुई वह बिल्हण, दक्षिण भारत के कल्याणनगर में पहुँचकर वैदर्भ मार्ग में ही 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य लिखता है, कश्मीर के अन्य कवि भी—कल्हण, मंखक, जल्हण वैदर्भ मार्ग के ही कवि हैं।

काव्य के मार्ग को नाट्य में वृत्ति कहा गया है। यद्यपि वहाँ वृत्तियों की उत्पत्ति

---

१. काव्यादर्श १।८

२. वही १।३३-४०

को पौराणिक आख्यान की शैली पर निरूपित किया जाता है तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर नाट्य-वृत्तियों की भिन्नता भी स्पष्टतः भूगोलगत और समाज-गत प्रतीत होती है। ठीक काव्य-मार्ग की तरह। भरत के नाट्यशास्त्र के पूर्व नाट्य-प्रयोग प्रायः नृत्य और गीत प्रधान होते थे, अतः नृत्य ही नाट्य का मुख्य आकर्षण होता था। प्रदेश-प्रदेश की अपनी अलग-अलग नृत्य-पद्धति थी, नृत्य की उसी पद्धति से ही एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश के नाट्य-प्रयोगों का अन्तर जाना जाता था, क्योंकि काव्य और संवाद का जो नया तत्त्व नाट्य में आया वह कवि-कृत था और उसकी प्रधानता नाट्य-प्रयोगों में बाद में स्थापति हुई। इस प्रकार नृत्य की पद्धति नाट्य-मार्ग (या वृत्ति) बन गई, और उसका नामकरण उसके प्रयोगकर्ता की संज्ञा पर किया गया। नाटक की भारती वृत्ति काव्य के वैदर्भ मार्ग के समान है। यह किस प्रदेश की थी यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता, लेकिन भरतों (भरत) ने इसका प्रयोग किया। अतः उनके प्रशंसनीय नाम से इसकी भारती संज्ञा हुई।[१] नाट्य की यह वृत्ति संवाद-प्रधान थी। अर्थात् कविकृतित्व ही इसमें मुख्य था। इसमें स्त्री-पात्र नहीं होते थे और संस्कृत भाषा के प्रयोग से अनुमान किया जाता है कि भाषा और काव्य के प्रयोग में बढ़े-चढ़े मालव वैदर्भों की नाट्यवृत्ति ही भारती थी। नाट्यप्रयोक्ता भरतों को अधिक सुगम और प्रिय होने के कारण इसे 'भारती' नाम मिला। रूपक के 'नाटक' भेद में इसका प्रयोग अधिक होता है। जो नाट्य-प्रयोग सत्त्वगुण प्रधान होता था, न्याय तथा चरित से युक्त होता था, जिसमें शोक को शमन करने की क्षमता होती थी, हर्ष तथा उत्साह से उत्कट ऐसे नाट्य-प्रयोग की वृत्ति को 'सात्वती' कहते थे।[२] इसको सात्वती नाम सात्वतों (वैष्णवों) की नृत्य-पद्धति होने के कारण मिला है। सात्वत धर्म उत्तर वैदिक काल में वैष्णवों की एक शाखा था, इस धर्म को ही कृष्ण और उनके अनुयायी यादवों ने स्वीकार किया, जिसके कारण वे सात्वत कहे गये। वैष्णवभक्ति में नृत्यगान द्वारा भगवान् को रिझाने की परम्परा बहुत प्राचीन है। सात्वतों का नृत्यगान अपना एक वैशिष्ट्य रखता था। 'कैशिकी' वृत्ति निश्चित रूप से दक्षिणभारत की थी, उसका लक्षण

---

१. नाट्यशास्त्र २२।२५

या वाक् प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्य-युक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

२. वही, २२।३८

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

है—कोमल और आकर्षक नेपथ्य-विधान, स्त्री-पात्रों की बहुलता, अनेक नृत्य तथा गीतों का आयोजन, तथा ऐसे प्रयोगों के बीच काम-चेष्टाओं का उद्दीपन और विस्तार।[1] इसको यह नामकरण (संभवतः दक्षिण भारत के) क्रथ-कैशिक प्रदेश या कैशिक जाति का नाट्य-प्रयोग होने के कारण मिला है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती, सात्वती, आरभटी का ही प्रयोग पहले अभीष्ट था किन्तु ब्रह्मा के आग्रह से कैशिकी वृत्ति को भी प्रयोग में लिया गया और उसी वृत्ति के नाट्य-प्रयोग के लिए ब्रह्मा ने अप्सराओं की उत्पत्ति की। क्योंकि यह वृत्ति नाट्य-पुरुषों द्वारा नहीं प्रयुक्त हो सकती थी—अशक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते। नीलकण्ठ—शंकर के नृत्य में इस वृत्ति का प्रथम दर्शन हुआ।[2]

इसी प्रकार 'आरभटी' वृत्ति का नामकरण भी, आरभट जाति से सम्बद्ध है, इस नाट्यवृत्ति के प्रयोग की विशेषताएँ थीं—मार-काट, इन्द्रजाल, गिरना, उड़ना, लंघन करना, ऊपर उछलते हुए उद्धत नृत्य, संवाद से ले कर नृत्य तक सभी व्यापारों में औद्धत्य और विद्रव।[3] भरतने इसे आरभट-प्राय गुण कह कर इसके प्रयोक्ता आरभट जाति की ओर ही संकेत किया है। बाण ने भी उक्त विशेषताओं से युक्त आरभट नटों का वर्णन किया है—चटुलशिख नर्तना-रंभारभटीनटाः।[4] और यह नृत्य अपनी इन विशेषताओं के कारण शिव के ताण्डव से मेल रखता है। आरभट जाति के ये लोग राजस्थान के दक्षिणी भाग में कच्छ से ले कर आधुनिक बिलोचिस्तान तक रहते थे। ऐसा अनुमान है कि यह नृत्य अनार्य जातियों का था और आरभट भी अनार्य जाति थी। आज भी जंगल तथा पहाड़ों में बसनेवाली कुछ अनार्य जातियों के नृत्य में यही विशेषताएँ पायी जाती हैं। उत्तर-प्रदेश में मिरजापुर जिले के आदिवासियों का 'कयमा' नृत्य प्रायः आरभटी नृत्य है।

---

१. नाट्यशास्त्र २२।४७

या श्लक्ष्ण-नेपथ्यविशेष-चित्रा स्त्री-संयुक्ता या बहु नृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति।

२. देखिए, नाट्यशास्त्र १।४३-५०

३. नाट्यशास्त्र २२।५६-५७

आरभट-प्रायगुणा तथैव बहुवचन-कपटी च।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया।
प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

४. हर्षचरित, उच्छ्वास २

इन चारों नाट्य-वृत्तियों के सम्बन्ध में उक्त विवरण से मिलता-जुलता कथन राजशेखर ने भी किया है। उनके अनुसार पूर्व-देशों—अंग, वंग, सुह्म, ब्रह्मपुंड्र—में भारती वृत्ति का प्रयोग होता था। शूरसेन, पांचाल से लेकर कश्मीर तक सात्वती नाट्यवृत्ति प्रयुक्त होती थी और उसी को कुटिल गति से युक्त होने पर आरभटी कहते थे। अवन्ती देश में पांचाल तथा दक्षिण देशों की मध्यवृत्तियों का अनुसरण होता था, अतः यहाँ सात्वती और कैशिकी दोनों वृत्तियाँ पायी जाती थीं। अवन्ती देश के अन्तर्गत अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, अर्बुद तथा भृगुकच्छ की गिनती की गयी है। दक्षिण देश—मलय, मेकल, केरल, पाल, मंजर, महाराष्ट्र, गंग और कलिंग—में कैशिकी वृत्ति ही प्रयोग में लायी जाती थी। राजशेखर ने भारती को नृत्तवाद्यादियुक्त, सात्वती को ईषद् नृत्य-गीत-वाद्य-विलासादि-युक्त तथा कैशिकी को विचित्र नृत्त-गीत-विलासादि-युक्त कहा है। सम्भवतः राजशेखर के काल में आरभटी वृत्ति का प्रयोग कम हो गया था। इसीलिए उन्होंने उसे कुटिल गतिवाली सात्वती कह दिया है।[1]

अभिनय की इन वृत्तियों का विभिन्न प्रदेशों से संकलन कर नाट्य-प्रयोग के आदर्श के रूप में उनका एकत्र आकलन करना ही प्रथम नाट्यशास्त्र रहा होगा।

इस प्रकार मार्ग और वृत्ति दोनों क्रमशः काव्य तथा नाट्य-विद्या के आकर्षक अध्याय हैं। भिन्न मार्गों एवं भिन्न वृत्तियों के कवियों और नटों के परस्पर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में आने-जाने, अपने काव्य-पाठ और नाट्य प्रयोग का निदर्शन करने से इनकी विशेषताओं के अध्ययन की प्रवृत्ति काव्य तथा नाट्य में जिज्ञासा रखनेवालों को हुई होगी। नाट्य-वृत्तियों का महत्त्व तो नाट्य में संवाद और रस के साम्राज्य के कारण समाप्त-सा ही हो गया लेकिन कविमार्ग का काव्यशास्त्र में आगे भी विकास और महत्त्व बना रहा है। वामन ने मार्ग (रीति) को काव्य का जीवित कहा था यद्यपि वह स्वीकार नहीं हुआ तथापि उस कथन में व्यक्त सत्यता आचार्यों को प्रभावित करती रही है क्योंकि शताब्दियों के बाद काव्य में ध्वनि तथा रस के प्रतिष्ठापक आचार्य को इस कवि-मार्ग को संघटना कह कर विस्तार से समझाने की आवश्यकता पड़ी—गुण, विषय, प्रबन्ध, औचित्य सभी इस कविमार्ग (संघटना) की लपेट में आ गये हैं।[2]

कवि-मार्ग के आधार पर कवि-सम्प्रदाय

दण्डी ने कहा है कि वाणी के अनेक मार्ग हैं और उनमें परस्पर कुछ

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० १८-२१ २. ध्वन्यालोक ३।२-९

न कुछ सूक्ष्म भेद अवश्य हैं किन्तु प्रस्फुट भेद वैदर्भ और गौड इन दो मार्गों का ही देखने में आता है।[1] इन दो मार्गों की ख्याति का प्रभाव यह हुआ कि विदर्भ तथा गौड़ देशों के आसपास छोटे-छोटे भूमिखण्डों में सूक्ष्मभेद रखनेवाले जो अन्य कवि-मार्ग थे वे इन्हीं दो कवि-मार्गों में अन्तर्हित हो गये। कवि-मार्ग कवि-सम्प्रदाय का द्योतक बन गया, तब उसे वैदर्भ-गौड नामों में अव्याप्ति प्रतीत होने लगी क्योंकि धीरे-धीरे विदर्भ के कवि-मार्ग में दक्षिण प्रदेशों के सभी कवियों ने काव्य-रचना आरम्भ कर दी और गौड-मार्ग में पूर्वी प्रदेशों के कवियों ने। इसलिए इनको विदर्भ तथा गौड देश विशेष के नामों से न पुकार कर दक्षिण तथा पूर्व प्रदेश की सामूहिक संज्ञा में बदल दिया गया। वैदर्भ को दाक्षिणात्य तथा गौड को पौरस्त्य कवि सम्प्रदाय के नाम से दण्डी ने अभिहित किया है।[2] पौरस्त्य सम्प्रदाय को अदाक्षि-क्षिणात्य सम्प्रदाय भी कहा है।[3] अदाक्षिणात्य कहने का अर्थ यह भी हो सकता है कि दाक्षिणात्य के अतिरिक्त अन्य काव्य-पद्धतियों के जो कवि-सम्प्रदाय हैं वे सभी। दण्डी का यह लक्ष्य सही था, बाद में वामन ने पौरस्त्य-गौड से भिन्न पांचाल काव्य पद्धति—पांचाली रीति का उल्लेख अपने काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में किया।[4] दण्डी के शब्दों में यह औदीच्य कवि-सम्प्रदाय कहा जाता। वामन ने इसकी जो व्याख्या दी है उसमें गौडी से ही इसके भेद को स्पष्ट किया है—ओज और कान्ति गुणों के अभाव से सुकुमार (अनुल्बणपद) तथा माधुर्य (कान्ति-विहीन, विच्छाय) से युक्त रीति पांचाली होती है।[5] इससे स्पष्ट है कि पौरस्त्य काव्य-पद्धति का अभाव ही पांचाल कवि-मार्ग था। इस प्रकार अदाक्षिणात्य प्रयोग अन्य सभी कवि-मार्गों की ओर संकेत रहा।

---

१. काव्यादर्श १।४०

२. वही, १।५०, ६०

३. वही, १।८०

ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥

४. का० सूत्रवृत्ति, १।२।१३

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली।

५. का० सूत्रवृत्ति, १।२।१३

ओजःकान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च। तथा च श्लोकः—
अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पांचालीं कवयो विदुः॥

इन कवि-सम्प्रदायों में दाक्षिणात्य कवि-सम्प्रदाय का सम्मान कवि-गोष्ठियों तथा राज-सभाओं में अपेक्षाकृत अधिक होता था। वैदर्भ काव्य-पद्धति के गुणों के कारण दाक्षिणात्य कवि अपने काव्य-पाठ से श्रोता को अधिक प्रभावित करते हैं। भर्तृहरि ने विभव-सम्पन्न राजा के लिए दाक्षिणात्य कवियों को भी उसके विलास का एक अंग बताया है—यदि पृष्ठभाग में चामर डुलानेवाली रमणी युवतियों के कंकण लीला के साथ खनक रहे हों, आगे जय-गीत गाये जा रहे हों तथा पार्श्वभाग में दाक्षिणात्य सरस कवि अपनी कविता का पाठ करने बैठे हों तो ऐसी सम्पन्नता होने पर ही संसार के विषय आस्वाद के लिए लम्पट बनो, नहीं तो निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करो।[१]

दण्डी को दाक्षिणात्य कवि-मार्ग ही इष्ट था, उन्होंने उसकी विशेषताओं तथा मान्यताओं की ही व्याख्या 'काव्यादर्श' में की है।

बाणभट्ट ने भी 'हर्षचरित' के आरम्भ में उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य तथा गौड कवि-मार्ग की विशेषताओं की ओर संकेत किया है—उदीच्य कवियों का गद्य-बन्ध श्लेष-प्रधान होता है, प्रतीच्य कवि अर्थ-मात्र पर ध्यान देते हैं, दाक्षिणात्यों की विशेषता उनकी उत्प्रेक्षा है तथा पौरस्त्य गौडों में अक्षराडम्बर गद्य-बन्ध पसन्द किया जाता है।[२]

'काव्यादर्श' का प्रतिपाद्य

काव्य-चिन्तन में अलंकार-उद्भावना के विस्तार और सहृदयों में उसकी बढ़ती लोकप्रियता के प्रति जब भाषा ने गुण के रूप में अपनी दूसरी क्रान्ति की, उस समय काव्य के व्याख्याकार के रूप में दण्डी ने काव्य-जगत् में प्रवेश किया। दण्डी के सामने मार्ग और उनके गुणों का स्थान काव्य-चर्चा में प्रथम था। काव्य-सम्बन्धी निर्धारण में बड़ी अभिरुचि से गुणों का लेखा-जोखा किया जाता था।

---

१. वैराग्यशतक, ६२

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः
पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम्।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं
नो चेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ॥

२. हर्षचरित, १।७

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥

दण्डी ने महाकाव्य का जो लक्षण किया है उसमें रस, भाव, अलंकार की स्थिति तो स्वीकार की गयी है लेकिन गुणों का कोई उल्लेख नहीं हुआ है।[१] इससे स्पष्ट है कि गुणों का यह निर्धारण सूक्ति-काव्य-गोष्ठियों का नया प्रयोग है एवं महाकाव्य की सत्ता के प्रकट होने के बाद की घटना है। गुणों का विवेचन ही अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से दण्डी की नवीनता किंवा मौलिकता थी।

दण्डी ने केवल शास्त्रीय चिन्तन के व्यसन से आत्म-तृप्ति के हेतु 'काव्यादर्श' की रचना नहीं की थी। वह उनके उस युग की आवश्यकता थी जो युग कवि और काव्यगोष्ठियों के प्रति सामाजिकों में एक विचित्र आकर्षण पैदा कर रहा था। वाणी की परमसिद्धि काव्य-रचना में मानी जाती थी। विदग्धगोष्ठियों में काव्य-चर्चा का इतना बाहुल्य था कि बिना कवि हुए अथवा बिना काव्य-विषयक पांडित्य के उनमें भाग लेना अपनी दुर्बलता प्रकट करना था, अतः काव्य-सम्बन्धी कौशल का अनुग्रह वाणी-विदग्धों को सरस्वती से अभीष्ट था।[२] काव्य-रचना की सिद्धि मिल जाने पर विदग्धगोष्ठियों में डट कर नोक-झोंक करने का आनन्द आता था और उसी के साथ चारों ओर इस काव्य-प्रतिभा की कीर्ति का प्रसार होता था।[३] काव्य-विद्या के इस प्रसार के कारण काव्य के रचना-प्रकारों के नये-नये सिद्धान्त जहाँ-तहाँ स्थिर किये जा रहे थे वे सिद्धान्त अब अलंकार के स्थान पर वाणी के मार्ग अथवा कवि-मार्ग थे, इस मार्ग-विवेचन और काव्य-व्युत्पत्ति में काव्य-मर्मज्ञों की नयी अभिरुचि थी।[४] कवि मार्ग की अनेक छिटपुट मान्यताएँ इतने बड़े देश में रही होंगी। दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत और गौडमार्ग का नाम लिया है इसलिए कम से कम गौड देश से महाराष्ट्र तक तो इन कवि मार्गों का विस्तार था ही।

दूसरी एक अन्य जो उल्लेखनीय बात है—वह यह है कि दण्डी ने संस्कृत भाषा के किसी काव्य का प्रशंसा के साथ उल्लेख नहीं किया है, उन्होंने महाराष्ट्री

---

१. देखिए, काव्यादर्श १।१२-१९

२. वही, १।१०४

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

३. वही, १।१०५

श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

४. वही, १।९

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रिया-विधिम्॥

प्राकृत के 'सेतुबन्ध' काव्य का नाम एक वैशिष्ट्य के साथ लिया है कि वह सूक्ति-रत्नों का सागर है और पैशाची भूतभाषा की 'बृहत्कथा' को अद्भुत अर्थोंवाली कहा है। ऐसा तो नहीं था कि उनके सामने संस्कृत भाषा की काव्य या कथा की रचनाएं न रही हों, रही होंगी, उन्होंने कथा और आख्यायिका के भेद बिना किसी लक्ष्य के नहीं किये हैं और महाकाव्य की व्याख्या केवल 'सेतुबन्ध' को देख कर नहीं की है। यहाँ दण्डी के ऐसे उल्लेख के दो ही अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि सेतुबन्ध और बृहत्कथा जैसी कवि-कृतियाँ महर्षियों की दैवीवाग् संस्कृत में नहीं थीं, दूसरा अभिप्राय यह है कि प्राकृत और भूतभाषा में भी इतनी उत्तम कोटि की रचनाएँ उन-उन भाषाओं के कवि कर रहे थे, अतः कवि की काव्य-रचना की यह प्रकृष्ट प्रवृत्ति केवल वैदग्ध्य-प्रदर्शन का आयोजन ही नहीं, लोक की स्वस्थ-प्रवृत्ति की प्रेरणा थी। दण्डी के इस कथन में—'**अतः प्रजानां व्युत्पत्तमभिसंधाय सूरयः, वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रिया-विधम्**।।' 'प्रजानाम्' से काव्य-मर्मज्ञों का लक्ष्य न होकर सामान्य लोक-जन का लक्ष्य प्रतीत होता है। उन्होंने भाषा-भेद से काव्य का उल्लेख करते हुए संस्कृत के अतिरिक्त महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी, लाटी—प्राकृतों, अपभ्रंश तथा मिश्रभाषाओं का न केवल नाम लिया है वरंच प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के रचना-प्रकारों की विशेषताएँ भी स्पष्ट की हैं।

'काव्यादर्श' के तीन भाग हैं—कवि मार्ग का विवेचन, अलंकारों का निदर्शन और चित्रमार्ग का परिचय। दोषों की व्याख्या सभी का परिशिष्ट है। उनकी इन उपलब्धियों में नाट्य-रचना का समावेश नहीं है। नाट्य को 'प्रेक्षार्थम्' काव्य की संज्ञा देते हुए लास्य, छलित, शम्पा आदि को इस भेद के अन्तर्गत माना है और अन्य को श्रव्य कह कर प्रेक्षार्थ और श्रव्य—काव्य के ये दो भेद भी किये हैं। नाट्य के सन्ध्यंगों और वृत्त्यंगों को, जो वस्तुतः नाट्य के प्रबन्ध में कथावस्तु के वैचित्र्य थे, अलंकार रूप में स्वीकार किया है। अतः नाट्य रचनाओं और नाट्य के शास्त्रीय विवेचन से पूरा परिचय दण्डी का था लेकिन काव्य की विधा से उसकी अलग स्वीकृति लोक में थी, दण्डी भी प्रेक्षार्थ कह कर उसे काव्य नहीं स्वीकार करना चाहते थे, दण्डी का लक्ष्य तो वह रचना थी, जिसका उपयोग विदग्ध-गोष्ठियों में सुनाने और कसौटी पर परखने लिए था, यह था कवि का काव्य, जिसका व्याख्यान उक्त प्रकारों में दण्डी ने किया।

कवि-मार्ग, अलंकार और चित्र-मार्ग में महत्त्वपूर्ण अध्याय कविमार्ग का है। कविमार्ग वस्तुतः कवियों की विभाजक रेखा है। काव्य के शास्त्रीय विवेचन का नया सूत्रपात कविमार्ग से हो रहा था। दण्डी के सामने व्युत्पत्ति की दृष्टि से वाणी के विचित्र मार्गों की अनेक क्रियाविधियों (रचना-प्रकारों) के व्याख्यान विद्यमान

थे और प्रत्येक कवि के अपने अलग-अलग क्रिया-मार्ग थे, जिनका निरूपण सम्भव नहीं हो सकता था, वैदर्भ और गौड दो ही मार्ग अपने अत्यन्त भिन्न स्वरूप के कारण स्पष्ट थे।[१] इन मार्गों के प्राण थे दश गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति और समाधि। इनमें दण्डी ने समाधि गुण को काव्य का सर्वस्व कहा है और बताया है कि कवियों का समस्तवर्ग इस गुण का संयोजन अपने काव्य में करता है।[२] काव्यादर्श की समाप्ति के बाद कवियों को काव्य-साधना के हेतु जो उपदेश वस्तुतः देना चाहिए था, दण्डी ने वह समस्त उपदेश कवि-मार्ग के प्रथम परिच्छेद की समाप्ति पर ही कर दिया है और यह आश्वासन दिया है कि कृश-कवित्व होने पर भी इस प्रकार श्रम और अभ्यास से सरस्वती की उपासना किये जाने पर विदग्धगोष्ठी की काव्य-रचना की क्षमता आ सकती है। और इस तरह दण्डी ने जैसे ग्रन्थ का उपसंहार-सा कर दिया हैं, अतः मार्ग-विवेचन काव्यादर्श का अभीष्ट अध्याय है, संभवतः दण्डी ने काव्यादर्शके रूप में पहले केवल मार्ग का विवेचन लिखा रहा होगा। यह काव्य की मुख्य प्रवृत्ति थी अतः इन सार्ग और गुणों का विशेष विस्तार पुनः वामन ने रीति और शब्द-अर्थ-गत गुण के द्विधा विभाग में किया।

द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का निदर्शन है। ये सभी अर्थालंकार हैं। इनकी संख्या ४० है। दण्डी ने इन्हें साधारण अलंकारवर्ग कहा है। मार्ग विवेचन के समय अनुप्रास और यमक अलंकारों का वर्णन इनसे अलग है। कहने को तो अलंकारों की उक्त संख्या ४० है पर दण्डी ने इनके भेदों का विस्तार बहुत किया है।

इन्हीं अलंकारों और इनके भेदों के माध्यम से सूक्तियों—सूक्तिकाव्यों के चमत्कार-प्रकारों का बहुत कुछ निर्वचन हो गया है। दण्डी ने इन अलंकारों के दो वर्ग किये हैं—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति।

तृतीय परच्छेद में काव्य के चित्रमार्ग का परिचय है। इसके तीन भाग हैं, यमक, चित्रबन्ध तथा प्रहेलिका। यमक में एक पाद से चतुष्पाद, श्लोकाभ्यास

---

१. काव्यादर्श, १।१०१

इतिमार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।

२. वही, १।१००

तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति॥

तथा अन्य विचित्र यमकों के उदाहरण हैं। इसी प्रकार चित्रबन्ध में दुष्कर चित्रालंकारों का परिचय है, ऐसा चित्रालंकार जिसमें केवल एक वर्ण का ही प्रयोग है। फिर प्रहेलिकाओं के भेद और उदाहरण बताये गये हैं। अन्त में दश काव्य-दोषों का व्याख्यान है। वैसे गुणों और अलंकारों के व्याख्यान के अवसर पर भी उनके दोषों का निदर्शन किया गया है। 'काव्यादर्श' में लक्षण और उदाहरण सभी कारिका के रूप में ही हैं। कविमार्ग (प्रथमपरिच्छेद) की कारिकाओं की संख्या १०५ है, अलंकार-वर्णन (द्वितीय परिच्छेद) ३६८ कारिकाओं में है तथा १८७ कारिकाओं में चित्रमार्ग (तृतीय परिच्छेद) है। कारिकाओं की कुल संख्या ६६० है। केवल प्रथम-द्वितीय परिच्छेद की कारिकाओं की संख्या ४७३ है।

दण्डी की यह सम्पूर्ण काव्योपलब्धि दाक्षिणात्य कवि-मार्ग या काव्य-सम्प्रदाय की अभिमत उपलब्धि थी। वैदर्भ कविमार्ग और उसके दश गुण ही दाक्षिणात्यों की काव्यक्रिया के प्राण थे। प्रथमपरिच्छेद में दाक्षिणात्य तथा अदाक्षिणात्य संज्ञाओं के प्रयोग के द्वारा उन्होंने दाक्षिणात्य की ओर अपने अभिमत का संकेत किया है—

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुंजते॥[1]

इनकी इन काव्योपलब्धियों का अनुगमन वैदर्भ दाक्षिणात्य-सम्प्रदाय के आचार्य काव्य में ध्वनि और रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा स्थापित हो जाने के बाद भी करते रहे, भोज (११वीं शताब्दी ई०) तथा विश्वेश्वर कविचन्द्र (१५ वी शताब्दी ई०) जो आनन्दवर्धन और मम्मट के बाद हुए हैं, इनके ऊपर दण्डी के काव्यादर्श का पर्याप्त प्रभाव है। इनके ग्रन्थों—'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'चमत्कारचन्द्रिका' (अप्रकाशित) में गुण तथा अलंकारों का निरूपण दण्डी से अनुप्रेरित पर है। दूसरी ओर औदीच्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने दण्डी तथा अन्य दाक्षिणात्य आचार्यों की काव्य-मान्यताओं को उपेक्षित किया है।

आलंकारिकों का नवोन्मेष—ध्वनि, रस और वक्रोक्ति

काव्य के सौन्दर्य और उक्ति-चमत्कार को लेकर निरन्तर अनुसन्धान होता रहा। दण्डी के पश्चात् काव्य के चमत्कार का नवोन्मेष करनेवाले आलंकारिकों की अत्यन्त प्रशस्त परम्परा भट्टि (छठीं शताब्दी ई०) से लेकर मम्मट (११ वीं उत्तरार्ध शती ई०) तक चलती रही है। इस परम्परा में भट्टि, भामह, वामन,

---

१. काव्यादर्श १।६०

उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, भोजराज तथा मम्मट के काव्य-शास्त्रीय चिन्तन अपनी नवीन मान्यताओं के लिए हमें चमत्कृत करते हैं। इनमें से रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट कश्मीर में ९ वीं से ११ वीं शताब्दी ई० की अवधि में हुए। यह समय साहित्य-विद्या के चरमोत्कर्ष का था। उक्त नाम प्रमुख आचार्यों के हैं, इनके अतिरिक्त भी कितने आचार्य हैं जिन्होंने अपनी नवीन मान्यताओं से काव्यशास्त्र के इतिहास को चमत्कृत किया है।

इस लम्बी परम्परा में भाव और भाषा के परस्पर संघर्ष के तीन विशेष मोड़ हैं—(१) रुद्रट के 'काव्यालंकार' से काव्य की मान्यताएँ भरत के नाट्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त से अभिभूत होने लगीं। (२) आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में रसात्मक अर्थबोध को लेकर ध्वनि के रूप में काव्य-चमत्कार के सर्वोपरि तत्त्व की प्रतिष्ठा की। (३) कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में अलंकार, ध्वनि, रस आदि काव्य-चमत्कारों को भाषा-गत प्रयोग की सीमा में देखा और ध्वनि के विरोध में उक्ति-गत अथवा कवि के रचना-गत प्रकारों को लेकर वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की। इनमें कुन्तक का कार्य अनेकांश में कवि के लिए था तथा ध्वनि और रस के विवेचन काव्य-बोध के अंग थे, उनका लाभ काव्य-बोद्धा को अधिक था, जो काव्य में चमत्कार की अनुभूति से तृप्त होते थे।

ध्वनि और रस की सिद्धान्त-परम्परा के दो विशिष्ट आचार्य हैं आनन्दवर्धन (९वीं उत्तरार्ध शती ई०) और अभिनव गुप्त (१० वीं उत्तरार्ध शती ई०)। इन्होंने अपनी ध्वनि तथा रस की मान्यताओं में अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति—समस्त काव्य-चिन्तनों को अन्तर्भूत बताया। आनन्दवर्धन के सिद्धान्त उनके 'ध्वन्यालोक' में हैं, और अभिनवगुप्त के अभिमत 'ध्वन्यालोक' की टीका 'लोचन' तथा 'नाट्यशास्त्र' की टीका 'अभिनव भारती' में हैं। इन दोनों आचार्यों के काव्य-चिन्तनों ने जो नया काम किया वह यह था कि अब तक काव्यशास्त्रीय और नाट्यशास्त्रीय तत्त्व-चिन्तन जो अलग-अलग होते थे, वे दोनों एक हो गये, नाट्य तथा काव्य दोनों प्रकार के प्रबन्धों में रस की अपेक्षा थी और रस के मूल में ध्वनि का चमत्कार पहले से विद्यमान होता था। ध्वनि का क्षेत्र एक मात्रा या वर्ण से ले कर सम्पूर्ण प्रबन्ध तक व्याप्त था। प्रबन्ध-गत संघटना और रस के औचित्य का निरूपण करते हुए आनन्दवर्धन ने काव्य से अधिक नाटय का नाम लिया है।[1]

---

१. देखिए, ध्वन्यालोक ३।७-१४

आनन्दवर्धन ने यद्यपि यह कहा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि का प्रकाशन काव्य-तत्त्वज्ञों ने बहुत पूर्व किया था लेकिन अन्यों ने उसकी स्थिति काव्य में न स्वीकार की, कुछ ने लक्षणा में उसका अन्तर्भाव माना और अन्य तो अब भी उसे एक अलीक चिन्तन मानते हैं अतः सहृदयमनों की प्रीति के लिए जो उस ध्वनि को जानने के लिए उत्सुक हैं, हम उस ध्वनि का व्याख्यान करते हैं[1] तथापि उन्होंने पूर्व प्रकाशित ध्वनि का व्याख्यान मात्र नहीं किया है उसके स्वरूप और विषय को भी व्याप्त कर दिया है। ध्वन्यालोक—द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका में अविवक्षित वाच्यध्वनि के अर्थान्तिरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य जो दो प्रकार बताये गये हैं और तृतीय उद्योत में व्यंजक मुख से अविवक्षित वाच्य की पदवाक्य-प्रकाशता का जो निर्देश किया गया है, ध्वनि का मूलस्वरूप मात्र यही है। उन्होंने रस को ध्वनि की आत्मा[2] कह कर नाट्यशास्त्र की सीमा में प्रवेश किया। इसका कारण भी था—ध्वनि के लिए बहुत विशिष्ट सामग्री नाट्यशास्त्र से ही आनन्दवर्धन को मिली है। नाट्यशास्त्र के २४ वें तथा २९ वें अध्यायों में स्त्रियों के वागङ्गसत्त्वज अलंकारों और वर्णगीत-अलंकारों की अत्यन्त विस्तार से जो व्याख्या की गयी है, उनमें वाणी के काव्यात्मक ध्वनि-स्वरूप के अनेक संकेत हैं। उनसे यह पता चलता है कि ध्वनि का क्षेत्र न केवल वर्ण, पद, वाक्य आदि में ही है वरंच मुखमुद्रा, अंगचेष्टा, सात्त्विक अभिनय आदि में भी वह व्याप्त है।[3] लेकिन अब इस सिद्धान्त का प्रतिपादन, कि रस ध्वनि का सर्वस्व है उसी ध्वनि का जो ध्वनि काव्य की आत्मा है, विचारणीय था। पर आनन्दवर्धन ने ध्वनि के सार्वभौम साम्राज्य के लिए उसका सर्वस्व रस में प्रतिष्ठापित कर दिया और उन्हें

---

१. ध्वन्यालोक, १।१

काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

२. वही, २।१९

यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति।

३. नाट्यशास्त्र, २४।८

वागंगमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥

इस प्रकार यह कहने का बल मिला कि काव्य में ऐसा कोई अर्थ है ही नहीं, जिसका किसी न किसी प्रकार रस और भाव से संस्पर्श न हो।[1] जहाँ रस-भाव है वहाँ ध्वनि है अर्थात् भावोक्ति और रसोक्ति ही काव्य का सर्वस्व है। भरत ने भी नट्यशास्त्र में यही कहा था—न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।[2] नाट्य और उसके अभिनय के लिए तो यह उपयुक्त था, परन्तु काव्य में ऐसा कहना सर्वथा संगत नहीं है। इस मान्यता की स्थापना से स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति की अर्थ-भंगिमा नीचे पड़ गयी क्योंकि काव्य में उनके ऊपर भी रसोक्ति है। जिन्होंने ध्वनि को अलीक तत्त्व कहा है, उनकी यह एक शिकायत थी कि यह ध्वनि व्युत्पन्नवचनों से रहित एवं वक्रोक्ति से शून्य भला कौन-सा तत्व है।[3] आनन्दवर्धन ने इसे स्वीकार कर वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति के रूप में ग्रहण किया और कहा कि अतिशयोक्ति का विषयौचित्य के साथ सन्निवेश होने पर अवश्य ही काव्योत्कर्ष प्राप्त होगा।[4] दोनों ने अपना पक्ष अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया, जो ध्वनि को वक्रोक्ति शून्य देखते थे उन्हें काव्य का सूक्तिगत रचना प्रकार इष्ट था और आनन्दवर्धन को अर्थ-बोधगत काव्य का उत्कर्ष। यह हमें तब और भी स्पष्ट हो जाता है, जब कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवित' देखते हैं। ध्वनि को अलीक कहनेवालों तथा वक्रोक्ति में काव्य-सौष्ठव के प्रतिष्ठापकों का सच्चा प्रतिनिधित्व कुन्तक (११ वीं पूर्वार्ध शती ई०) ने किया।

आनन्दवर्धन के पूर्व और उनके बाद भी जिन आचार्यों ने ध्वनि-तत्त्व का प्रत्याख्यान किया, उनके प्रत्याख्यान-सिद्धान्त के दो ही मुख्य मार्ग थे—(१) रस की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि की आवश्यकता नहीं है, वह अन्य व्यापार से सम्भव है। (२) ध्वनि काव्य का कोई चमत्कारकारी स्वरूप नहीं है। काव्य-उक्ति का चमत्कार अन्य वृत्ति या प्रयोग में ही है। रस की अभिव्यक्ति के लिए जिन्होंने

---

१. ध्वन्यालोक ३।४२

यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन।

२. नाट्यशास्त्र ६।३१

३. ध्वन्यालोक १।१ की वृत्ति

व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्,
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडः।—मनोरथ

४. ध्वन्यालोक, ३।३६ की वृत्ति

अन्य व्यापारों की कल्पना की, उनसे तो काव्य-प्रयोगों की चिन्तन-दशा में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि वे भी कवि के लिए रस को ही साध्य सिद्ध करते हैं। ऐसे आचार्यों में 'हृदयदर्पण' के लेखक भट्टनायक (९वीं उत्तरार्ध शती ई०) का भावकत्व-सिद्धान्त, 'दशरूपककार' धनंजय (१०वीं उत्तरार्ध शती ई०) की तात्पर्यशक्ति और 'व्यक्तिविवेक' के रचनाकार महिम भट्ट (११वीं शती ई०) का अनुमितिवाद केवल काव्य के अर्थबोध या भाव-भोग के प्रकार की मीमांसा हैं। तथा शब्दों के प्रयोग पक्ष को अपने सिद्धान्तों से उन्मीलित करनेवाले 'अभिधा-वृत्ति मातृका' के लेखक मुकुल भट्ट (९वीं उत्तरार्ध शती ई०) और प्रतिहारेन्दु राज (१० वीं शती ई०) जो क्रमशः शब्द की अभिधा शक्ति तथा अलंकार-प्रकारों में ध्वनि के प्रपंच को अन्तर्भुक्त करते हैं, उनका यह सिद्धान्त उक्ति-विशेष में ही काव्य की स्वीकृति है जो वास्तव में वक्रोक्ति है। प्रायः दोनों प्रकार के ध्वनि-विरोधी आचार्यों ने शब्द की अभिधा शक्ति को ही अपने चिन्तन में प्रमुखता दी है। 'इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य-शरीर' कहनेवाले दण्डी की परम्परा को हम यथावत् यहाँ अटूट देखते हैं और इष्ट अर्थ से युक्त काव्य-शरीर (वाङमय) का दण्डीकृत स्वभावोक्ति—वक्रोक्ति द्विधा विभाजन ही तब सत्य प्रकट हुआ जब कुन्तक ने अभिधा के ही आधार पर समस्त काव्य-प्रयोगों को 'वक्रोक्ति' में आत्मसात् कर लिया। कुन्तक ने काव्य के अर्थबोध को प्रधानता न देकर काव्य के शब्द-प्रयोग को सामने रखा। उनका काव्य—आह्लादित करनेवाली कवि की वक्र-उक्तियों के निबन्धन में स्थित समन्वित शब्द-अर्थ है।[1] और आनन्दवर्धन का (ध्वनि) काव्य कवि के प्रयुक्त, किन्तु गुणीभूत शब्द-अर्थों से सहृदय के बोध में अभिव्यक्त कोई नया अर्थ है।[2]

वक्रोक्ति की मीमांसा से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही अभीष्ट काव्य में कुन्तक को रचना-भंगिमा के चमत्कार का प्रकार इष्ट था और आनन्दवर्धन को उस चमत्कार-प्रकार को ध्वनि की सरणि से नंगा कर उसके भीतर महमहाते अर्थबोध का भाव-बोध। दोनों ही काव्य के दो पक्ष थे, एक कवि का पक्ष था और दूसरा

---

१. वक्रोक्तिर्जीवित १।७

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापरशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

२. ध्वन्यालोक १।१३

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरति सूरिभिः कथितः॥

सहृदय काव्य-पाठक या आलोचक भावक का था। यह शुभ लक्षण नहीं हुआ जो कवि के पक्ष-वक्रोक्ति-मीमांसा की आचार्यों ने उपेक्षा कर दी। केवल भावभोग के पीछे लालायित होकर ध्वनि की भी नहीं, रसभाव के तात्पर्य की स्थापना में शताब्दियाँ गँवा दीं। इसका बड़ा कुप्रभाव पड़ा, कवि केवल नाट्य रस के पीछे दौड़ते रहे, रससिद्ध कवि होना अभिमान की बात थी। पर काव्य के प्रकार का वक्रोक्तिसौष्ठव कैसे लाया जाय, इसकी ओर उनका ध्यान न गया। अतः काव्य का सूक्ति-चमत्कारकारी प्रभाव समाप्त होने लगा और ठीक आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त एवं मम्मट के अनन्तर ही। इसका अनुभव क्षेमेन्द्र (११ वीं उत्तरार्ध शती) को हुआ किन्तु सही समाधान के स्थान पर उन्होंने औचित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह औचित्य सिद्धान्त उन्हीं ध्वनिरसवादी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षण था, आनन्दवर्धन ने प्रबन्धगत ध्वनि के निदर्शन में कहा है—अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का अन्य दूसरा कारण नहीं है, लोक एवं भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार काव्य में प्रसिद्ध औचित्य का निबन्धन तो रस का अन्तिम सत्य रहस्य है।[1] किन्तु यह औचित्य केवल रस के लिए ही नहीं, उन सभी वस्तु निबन्धनों के लिए आवश्यक था जो गुण, अलंकार या वक्रोक्ति द्वारा प्रस्तुत किये जाते। अतः रस-अभिनिवेशी कवि द्वारा काव्य में जो एकांगिता आ रही थी और काव्य के अन्तिम सत्य त व (ध्वनि-रस) की स्थापना के विपरीत भी कवियों की नयी पीढ़ी में उत्कृष्ट सूक्ति-चमत्कारी काव्य-सर्जन के दर्शन नहीं ही हो रहे थे उसकी परिष्कृति इस औचित्य से नहीं सम्भव थी। क्षेमेन्द्र ने ध्वनि-रस और वक्रोक्ति—दोनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त अपने एक नये सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास किया, कवियों की काव्य-रचना सम्बन्धी समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया। दण्डी के युग में काव्य-प्रयोग और काव्य-सिद्धान्त एक ही विदग्धगोष्ठियों से जन्म लेते थे, मम्मट-क्षेमेन्द्र के युग में उसमें अन्तर आ गया था—प्रयोग किसी अन्य क्षेत्र में होते थे, सिद्धान्त-पाठशालाएँ कहीं और थीं। तो भी क्षेमेन्द्र ने बहुत कुछ वक्रोक्ति एवं ध्वनि-रस की समन्विति को प्रतिष्ठापित करते हुए काव्य में औचित्य-सम्बन्धी अपने नियम प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने कहा है—यह औचित्य रस का जीवित है।[2] अब इस परम्परा पर ध्यान दीजिए—काव्य का जीवित ध्वनि, ध्वनि का जीवित रस

---

१. ध्वन्यालोक ३।१४ की वृत्ति

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

२. औचित्यविचार-चर्चा ५

और रस का जीवित औचित्य। अर्थात् खोज पर खोज बढ़ती गयी, और इन तीनों में से कोई भी काव्य का जीवित नहीं था। यदि काव्य के सही जीवित की पहचान ध्वनि ही होती तो संशय में पड़ कर रस और औचित्य भी जीवित के जीवित न बनते। क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल-व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशिष एवं काव्य के अन्य अंगों में औचित्य जीवित को व्याप्त बताया है।[1] इनमें रस, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव प्रतिभा को छोड़कर शेष सभी वक्रोक्ति एवं कुछ स्वभावोक्ति के ही प्रयोगौचित्य की व्याख्या हैं। और क्षेमेन्द्र का यह सम्पूर्ण व्याख्यान प्रकारान्तर से कुन्तक की वक्रोक्ति का ही परिशिष्ट है, परन्तु आनन्दवर्धन अपने ध्वनि-रस के साथ काव्य-जगत् पर इस प्रकार छाये थे कि अब काव्य-चर्चा बिना रस के हो ही नहीं सकती थी।

और ध्वनि के साथ नाट्यशास्त्र का यह रस आनन्दवर्धन को आक्रान्त किये था। रस मूल रूप में केवल नाट्य का ही प्रतिपाद्य था, रंगमंच के अभिनय और व्यापार में ही रस की सहज स्थिति थी, नाट्य में कोई न कोई कहानी होती थी, कहानी में भाव होता था, अथवा नृत्य-गीत भी किसी भाव को लेकर होते थे, वहाँ इन भावों को अभिनय व्यापार से अभिव्यक्त किया जाता था और वह अभिव्यक्ति रस हो जाती थी।[2] सूक्ति-काव्यों में यह स्थिति सम्भव नहीं थी। प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य में जहाँ एक लम्बी कहानी होती थी, रस की इस अभिव्यक्ति का अवसर था, महाकाव्यों के प्रबन्ध में कथावस्तु की संपूर्ण संघटना नाटकीय विन्यास से होती थी। कथोपकथन, संवाद के प्रसंग भी आते थे, 'रघुवंश' के दूसरे-पाँचवें सर्ग तथा 'कुमार सम्भव' के पाँचवें सर्ग को देखकर यह अनुभव होता है कि ये कथाएँ नाट्य का विषय बन चुकी हैं, कालिदास ने नाट्य में गुम्फित कथा को

---

१. औचित्य विचार-चर्चा ८-१०

२. नाट्यशास्त्र ६।३३-३५

भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥
नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥
नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यंजनं भाव्यते यथा।
एवं भा वा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥

ज्यों का त्यों उतार दिया है। उक्त सर्ग अलग-अलग एक-अंकी नाटक हैं। अतः नाट्य के कथा-विन्यास से प्रभावित महाकाव्यों में रस की स्थापना तो संगत थी, क्योंकि कथा ही बहुत-कुछ रस का जीवित है, पर रस को काव्य का परम तत्त्व मान कर सूक्तिकाव्यों में भी उसकी प्रतिष्ठा खोजने का प्रयास आनन्दवर्धन का केवल पक्षपात था। आनन्दवर्धन द्विविधात्मक स्थिति में थे—सूक्तिकाव्यों का जो चमत्कार गोष्ठियों में बिजली की तरह कौंध कर हृदय को आक्रान्त कर लेता था, उसको वे अस्वीकार नहीं कर सकते थे, ऐसी सूक्तियों की रचना करके उनके सामने ही समर्थ कवि महान् सम्मान के भाजन बन रहे थे, पर दूसरी ओर काव्य की आत्मा ध्वनि और ध्वनि की आत्मा रस था, रसभाव के संस्पर्श के बिना काव्य-वस्तु का कोई निबन्धन उनको स्वीकार नहीं था। रस के लिए प्रबन्ध (कथा या इतिवृत्त) की अनिवार्यता भी वे स्वीकार करते थे। अब जैसे-तैसे सूक्ति-काव्यों में उन्हें रस का अभिनिवेश प्रमाणित कर देना था। सूक्तियाँ प्रबन्ध नहीं थीं, उनका रूप मुक्तक का था। तब आनन्दवर्धन ने मुक्तक काव्यों में भी प्रबन्ध की सत्ता सद्-भावित की और उदाहरण में अमरुक कवि के शृंगार-रसवर्षी एक-एक मुक्तक को एक-एक प्रबन्ध कहा।[१] यह हुई मुक्तक में रस की प्रतिस्थापना। किन्तु प्रयोग और अनुभव में जो बात है वह यह है कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भावों के संयोग से रस-निष्पत्ति की जो व्याख्या की जाती है उसका सही अवसर केवल अभिनय में है। महाकाव्य अथवा कथा, आख्यायिका के कथा-प्रबन्धों में उसका कथा-रस अतीत या भविष्य के जिस भावलोक में हमें भुला देता है, उस कथारस की कोटि उक्त अभिनय रस से भिन्न है। और काव्य के पाठ या श्रवण में, यहाँ काव्य से हमारा लक्ष्य सूक्ति या मुक्तक काव्यों से है, चमत्कार या आनन्द की जो भी स्थिति है वह पदों की रचना-वक्रता में निहित है। अर्थात् वक्रोक्ति में है।

इस प्रकार नाट्य के शास्त्रीय विवेचन में आये रस और भाव ने ध्वनि के मार्ग से सम्पूर्ण काव्यशास्त्र—अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति—लक्षणा, व्यंजना को अपने में अभिभूत कर लेने का एक कानूनी सहारा लिया, जिसमें तर्क की संगति तो थी पर सच्चाई का और सहजता का अभाव था। इस स्थिति ने काव्य के सहज प्रवाह को विकृत कर दिया और काव्य-जीवन प्रपंच में पड़ गया। यद्यपि

---

१. ध्वन्यालोक ३.७

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते, यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।

इसका आरम्भ रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में किया, उनके काव्यालंकार के अध्याय १२ से १६ तक रस, भाव, शृंगार रस और उसके अंग—नायक, नायिका, दूती आदि का समस्त विवेचन नाट्यशास्त्र का अनुकरण था तथा उनका रस-सम्मिश्र प्रबन्ध-रचना का उपदेश भी नाट्य-प्रबन्ध से अनुप्रेरित था,[1] तथापि इस मान्यता को स्वीकृति तब मिली जब आनन्दवर्धन ने संघटना और रसौचित्य के प्रसंग में नाट्य-प्रबन्ध के साथ ही काव्य-प्रबंध का विवेचन कर दोनों को एक-सा सिद्ध किया।[2]

कुछ विद्वानों का मत है कि काव्यशास्त्र का आविर्भाव ही नाट्यशास्त्र से हुआ है, नाट्यशास्त्र की मान्यताएँ ही प्रकारान्तर से काव्यशास्त्र में स्वीकार की गयी हैं। डाक्टर गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे जी लिखते हैं—

"नाट्यशास्त्र के कितने ही लक्षण मूलसंज्ञा लेकर ही उत्तरकालीन अलंकार-ग्रन्थों में अलंकार के नाम से आये हैं। अलंकार का रूप धारण करने में कतिपय लक्षणों के नाम परिवर्तित हुए।...इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र की प्राचीन संज्ञाओं का भी इससे अन्वय लगता है। क्रियाकल्प-काव्यलक्षण-काव्यालंकार-साहित्य ऐसी शास्त्र की संज्ञाओं की परम्परा है। नाट्यकृति के लिए क्रिया शब्द तो प्राचीन ही है। 'अर्थ-क्रियोपेत' यह नाट्यकाव्य का भरत-कृत लक्षण है। अर्थात् क्रिया शब्द यहाँ अभिप्राय का वाचक है।...और साहित्य है रस-दृष्टि से शब्दार्थों के परस्पर साहचर्य की खोज का उपक्रम।...इस प्रकार अलंकार-ग्रन्थों के प्रमाणों से ही यह स्पष्ट होता है कि काव्य-चर्चा पहले-पहल नाट्य के आश्रय से होती थी।"[3]

किन्तु यह कथन चिन्त्य है और उक्त काव्य तथा नाट्य के सिद्धान्तों की विषमता का प्रश्न उठता है। काव्य पहले सूक्ति था, फिर सूक्ति के भावों ने अलंकार-उद्भावना का रूप लिया और तब उसके समानान्तर भाषा ने कवि-मार्ग के रूप में गुणों की अवतारणा की। 'क्रिया' शब्द 'नाट्यकृति' के लिए रूढ नहीं है। उसका अर्थ केवल रचना है, इसी अर्थ में कालिदास ने उसका प्रयोग किया है—**शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य।**[4] **वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं**

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १६।१

जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धमर्थिकाममोक्षाणाम्।
सम्यक्तानभिदध्याद — रससंमिश्रान्प्रबन्धेषु॥

२. देखिए, ध्वन्यालोक ३।५-१४

३. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ७४-७५

४. विक्रमोर्वशीय, १।२

बहुमानः।[१] कालिदास के इस क्रिया-शब्द की रचना-अर्थ-परक संपुष्टि दण्डी के इस प्रयोग से हो जाती है जहाँ क्रिया-शब्द का रचना के अतिरिक्त दूसरा अर्थ होगा ही नहीं—**वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रिया-विधिम्।**[२] क्रिया विधि अर्थात् रचना के नियम। 'अर्थक्रियोपेत्' लक्षण का स्वरूप है न कि नाट्य के लिए रूढ शब्द। अलंकार से आलंकारिक और काव्यालंकार संज्ञाएँ बनी और यह अलंकार संज्ञा नाट्य से ही काव्य के क्षेत्र में आयी, लेकिन जैसा कि पीछे चलकर अलंकारों को नाट्य के रस-भाव के अनुकूल और प्रतिकूल प्रस्तुत करने की मीमांसा की गयी है, उससे स्पष्ट है कि 'अलंकार' संज्ञा मात्र नाट्य से आयी, काव्य के क्षेत्र में सूक्ति-वक्रोक्ति की सरणि में पुनः उसका स्वतन्त्र विकास हुआ। रस-दृष्टि से शब्दार्थों के परस्पर साहचर्य की खोज में 'साहित्य' की संज्ञा होना भी बहुत उपयुक्त निर्धारण नहीं लगता। शब्द-अर्थ का परस्पर साहचर्य रस की दृष्टि से नहीं, सूक्ति और वक्रोक्ति की दृष्टि से होता था, जहाँ शब्द-अर्थ का परस्पर सहयोग विलक्षण चमत्कार का जनक बन जाता था। राजशेखर ने इसी अर्थ में साहित्य विद्या की व्याख्या की है—**शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।**[३] इसी से मिलता-जुलता कथन भामह का है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।**[४]

देशपांडे जी के कथन से सहमत होने के लिए प्रबल आधार नहीं दिखायी पड़ता। भला, 'अलंकार' ग्रन्थों से यह कहाँ प्रमाणित है कि प्रथम काव्यचर्चा नाट्य के आश्रय से हुई । जो कुछ भी स्वतन्त्र काव्य-चर्चा (अलंकार, रीति, गुण) तब तक हुई थी उसे नाट्य के संवादों में उपयोगी समझ कर नाट्यशास्त्र में उसका संकलन कर लिया गया, यह तो दूसरी बात हुई। हाँ, अलंकार संज्ञा मात्र यद्यपि नाट्य से गृहीत हुई किन्तु काव्य-क्षेत्र में ही उसका स्वतन्त्र विस्तार हुआ है। पहले कहा गया है कि राजशेखर की काव्यमीमांसा में यह कितना स्पष्ट है—सूक्ति काव्य, सन्त और भावक ही काव्य-चर्चा के प्रथम अध्याय हैं, अलंकार संज्ञा प्राप्त होने के पूर्व सूक्तियों के विविध प्रकार सूक्ति रूप में ही निरूपित किये जाते रहे। प्रदेश विशेष के भाषा-प्रयोग ने काव्यगोष्ठियों में काव्य का मार्ग-गत भेद उपस्थित किया और काव्य-चर्चा का एक नवीन अध्याय आया—कवि-मार्ग एवं उनके गुण। अतः काव्य-चर्चा की संज्ञाओं की पूर्वापर परम्परा जैसा कि "सूक्ति का विकास—

---

१. मालविकाग्निमित्र, १।१

२. काव्यादर्श, १।९

३. काव्यमीमांसा, पृ० २

४. काव्यालंकार (भामह) १।१६

भाव का उदय और भाषा की क्रान्ति'' के प्रसंग में पीछे स्पष्ट किया गया है, वही इतिहास-सम्मत प्रतीत होता है।

काव्यशास्त्र की इतनी दूर की यात्रा के बाद, 'काव्यादर्श' की मान्यताओं ने भी कहीं ध्वनि, कहीं अलंकारध्वनि, कहीं रस और कहीं वक्रोक्ति में अपने को रूपान्तरित कर लिया है परन्तु 'काव्यशास्त्र' के इतिहास के अनुशीलन में दण्डी का महत्त्व सर्वथा अक्षुण्ण है। मान्यताएँ कितनी आगे बढ़ आयीं, इस संबंध में कवि-मार्ग की विवेचना के उपरान्त दण्डी के इस कथन को—

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेनमनुगच्छति॥[1]

आनन्दवर्धन के इस कथन से मिलाया जाना चाहिए—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः।[2]

कभी समग्र कवि-समाज जिस मार्ग (रीति) और उसके गुण का अनुसरण कर रहा था, वे रीतियाँ अब असमर्थ कवियों का लक्षण थीं। परन्तु सही बात तो यह है कि आनन्दवर्धन द्वारा अविवक्षितवाच्य की पदवाक्य-प्रकाशता[3] की खोज दण्डी के मार्ग (रीति)—गुणों का ही नया रूपान्तर था।



१. काव्यादर्श, १।१००
२. ध्वन्यालोक, ३।४६
३. वही, ३।१

उन्मेष तीन | वाणी के मार्ग और उनके गुण

'काव्यादर्श' का प्रथम परिच्छेद बड़े महत्त्व का है, उसमें ऐसी सामग्री प्राप्त होती होती है जिससे काव्य और काव्यशास्त्र की मूलभूत उपलब्धियों का उन्मीलन होता है। और इस दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में यह प्रथम परिच्छेद बे-जोड़ रचना है।

इस परिच्छेद के पाँच भाग हैं--१. शास्त्र-प्रयोजन, २. काव्य के स्वरूप, ३. काव्य की भाषाएँ, ४. मार्ग और गुण, ५. काव्य-सम्पत्ति के कारण। इनमें मार्ग और गुण के विवेचन का ही अधिक विस्तार है। परिच्छेद में कुल १०५ कारिकाएँ हैं। ९ कारिकाओं में शास्त्र-प्रयोजन, २२ में काव्य-शरीर, ८ में विविध भाषाओं में काव्य-रचना के निर्देश, ६३ में गुण और मार्ग तथा ३ में काव्य-सम्पद् के कारणों का वर्णन है।

दण्डी ने जब अपना 'काव्यादर्श' लिखा तब अलंकारों की उद्भावना के विपरीत मार्गों के गुण-प्रयोग काव्य-चर्चा के प्रमुख आकर्षण थे। मार्ग और उनके गुणों के सम्यक् ज्ञान एवं प्रयोग में दक्षता प्राप्त कर कवि या भावक काव्य-विद्या में निष्णात समझा जाता था। इसीलिए मार्ग और गुण का निरूपण पूरा करते हुए काव्य-सम्पद् के कारणों को बता कर दण्डी ने 'काव्यादर्श' का उपसंहार या समाप्ति-सी कर दी है और यह प्रथम परिच्छेद अपने में स्वयं एक पूर्ण काव्य-शास्त्र है।

दण्डी का प्रत्येक विवेचन काव्यशास्त्र की मान्यताओं के मूल उद्गम, आधार और स्वरूप से सम्बद्ध है। काव्यशास्त्र के विकसित होते हुए इतिहास को समझने में दण्डी का अनुशीलन हमें सहायता करता है। 'काव्यादर्श' उस समय के कुछ बाद की रचना है जब काव्य-चर्चा नागरक-समाजों का आनन्द और विलास थी और अब वह विदग्ध-गोष्ठियों या विद्वद्गोष्ठियों में प्रतिष्ठित होने लगी थी। अतः दण्डी का विवेचन प्रयोग भी है, सिद्धान्त भी है। परवर्ती आचार्य-पीठों के काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी निदर्शन सर्वांशतः सिद्धान्त ही है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' के आरम्भ में जो यह कहा है कि 'पूर्व के शास्त्रों का संकलन कर और प्रयोगों की परख कर

अपने ज्ञान के अनुसार हम काव्य के लक्षण का व्याख्यान करने जा रहे हैं।'[१]—यह कथन का आचार मात्र नहीं है, 'काव्यादर्श' लिखने की सही स्थिति थी। अपने सामने प्रस्तुत सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का आकलन करते हुए दण्डी ने काव्यचर्चा का शास्त्रीय उन्मीलन किया।

तत्कालीन काव्यगोष्ठियों के नागरक-समाज की अभीष्ट देवता—

'सरस्वती' की वन्दना

से इस ग्रन्थ का आरम्भ होता है—

चतुर्मुखमुखाम्भोज - वनहंसवधूर्मम।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती॥[२]

ब्रह्मा के मुख-रूपी कमल-वन में विहार करनेवाली हंस (वेद) की वधू शुभ्र-अलंकरण-वाली सरस्वती मेरे अन्तःकरण (रूपी मानस सर) में सदा विहार करे।

यह वन्दना उस युग का संकेत है जब सरस्वती के प्रसाद से काव्य-सम्पत्ति तथा काव्य-क्रिया की शक्ति कवियों को प्राप्त होती थी। सरस्वती की इस पूजा की चर्चा वात्स्यायन के कामसूत्र में इसी सन्दर्भ में है—

पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।[३]

सरस्वती के भवन में नागरक जनों के समाज (गोष्ठी) का आयोजन होता था और उस समाज में काव्य एवं कला की चर्चाएँ होती थीं—

तत्र चैषां काव्य-समस्या कला-समस्या वा।[४]

सरस्वती की यह पूजा और उनके आयतन में काव्य-कला का चिन्तन नागरकों को वैदिक-यज्ञों की परम्परा से प्राप्त हुआ। वाणी के माध्यम से होनेवाले विलास और आनन्द की अधिष्ठात्री यह सरस्वती हैं। वाणी के भेद और उसके प्रयोजन की बातें वेद में स्पष्ट हैं।

वाणी के तीन प्रकार ऋग्वेद में कहे गये हैं—

इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः
बर्हिः सीदन्त्वस्त्रिधः। (ऋ० १।१३।९)

एक दूसरी ऋचा में मही के स्थान पर भारती का उल्लेख है—

---

१. काव्यादर्श १।२
२. वही, १।१
३. कामसूत्र, १।४।१५
४. वही, १।४।२०

शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इला सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥
(ऋ० १।१४२।९)

अर्थात् पवित्र, चमकने वाले मरुत् देवों में निवास करने वाली, जो होम कार्य को निष्पन्न बनाती हैं—वे यज्ञ में पूजनीय भारती (द्यु स्थान-वाणी), इला (पृथिवी-स्थान-वाणी) और महती सरस्वती (जलस्थान-वाणी) तीनों वाग् देवता यहाँ आसन पर विराजमान हों। यजुर्वेद में इन तीनों वाणियों को अलग-अलग देवों से सम्बद्ध कर इनके भिन्न प्रयोगों तथा तत्त्वों की ओर संकेत किया गया है—

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं सरस्वती सह रुद्रैर्नऽआवीत्।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त॥
(यजु० २९।८)

अर्थात् भारती नाम की वाणी आदित्यों के साथ हमारे यज्ञ की कामना करे, सरस्वती रुद्रों के साथ हमारे यज्ञ की रक्षा करे और भली-भाँति अभ्यसित इडा वाणी वसुओं (अग्नि) के साथ प्रीतियुक्त हो। ये देवियाँ हमारे यज्ञ को आदित्य आदि अमृत देवों में स्थापित करें।

इस प्रकार सरस्वती का सम्बन्ध रुद्रों—मरुद् गणों अर्थात् वायु से है। वाणी में आदित्य (द्यु-स्थान का प्रतीक आकाश), अग्नि और वायु तीनों तत्त्वों का संयोग रहता है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि 'जब आत्मा मन को बोलने की इच्छा से नियुक्त करती है तब मन शरीर की अग्नि पर जोर डालता है, अग्नि शरीर-स्थित हवा को प्रेरित करता है। हवा हृदय में चक्कर काटती हुई मन्द स्वर उत्पन्न करती है और वह स्वर बाहर के आकाश में आकर अत्यन्त स्फुट ध्वनि के साथ प्रकट होता है।[1] वायु स्वर-लहरी का उत्पादक अर्थात् वाणी के प्रकट होने की भूमिका है। स्वर वायु में उत्पन्न होने पर चारों दिशाओं में गतिमान् हो जाता है क्योंकि वायु की गति चारों दिशाओं में अबाध है। वायु चतुर्मुखी है। कदाचित् सरस्वती नाम की यजुर्वेद की वाणी का गान करने के कारण पुराण-पुरुष ब्रह्मा को चतुर्मुख कहा गया, अथवा यह हो सकता है कि ब्रह्मा वायु का ही रूपक हो। ऋग्वेद की वाणी अग्नि से संयुक्त है और वह इडा है, सामवेद की वाणी भारती है और वह आदित्य से संयुक्त है। वायु-संयुक्त सरस्वती नाम की

---

१. पाणिनीय शिक्षा ६-७

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्।

वाणी यजुर्वेद की है। वाणी के ये तीन प्रयोग-प्रकार परवर्ती साहित्य में वाणी के पर्याय बन गये हैं।[1] पर उनमें ब्रह्मा—मरुद्गण से युक्त सरस्वती ने ही वाणी की मुख्य देवता का रूप धारण किया। इसका मुख्य कारण मरुतों का यजुर्वेद से सम्बद्ध होना है। यजुर्वेद यज्ञ-कर्मकाण्ड का विधान करता है, यज्ञ ही समाज के उत्सव थे। अतः समाज के विद्वत्-उत्सवों की अधिष्ठात्री सदा सरस्वती बनी रहीं। कामसूत्र के समाजों का सरस्वती के आयतन में आयोजित होना यही रहस्य रखता है।

ब्रह्मा का रूपक यद्यपि वायु में आरोपित किया गया है, लेकिन वह था कोई इतिहासातीत पुरुष। उसी प्रकार जैसे इन्द्र हैं। इन्द्र देवों के प्रतिनिधि थे, वह साध्य ऋषियों का था।[2] वेद और ब्राह्मण काल के बीच इसकी सत्ता का उदय हुआ, क्योंकि ऋग्वेद में सूर्य और उषा का जो वर्णन है[3] वह सर्व प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में ब्रह्मा और सरस्वती के रूपक में वर्णित हुआ।[4] वहीं से शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में सरस्वती कहीं ब्रह्मा की पुत्री के रूप में, कहीं पत्नी के रूप में वर्णित की गयी हैं। किन्तु वास्तविक अर्थ तो यही है कि मरुद्गण—ब्रह्मा द्वारा प्रयोग की गयी वाणी सरस्वती है। कामसूत्र के नागरकों की समाज-सरस्वती पुराणों से कम, वैदिक यज्ञों से अधिक सम्बद्ध है। उन्होंने केवल ब्रह्मा और सरस्वती के रूपक मात्र को ब्राह्मण या पुराण से लिया होगा, शेष प्रयोजन—सरस्वती से काव्यचर्चा की शक्ति प्राप्त करना, सरस्वती के आयतन में वाणी की उपासना तथा मानस में सरस्वती का विहार, तत्कालीन नागरक-समाजों की सरस्वती-विषयक-प्रवृत्ति का द्योतक है। काव्यादर्श की पहली कारिका में ब्राह्मण या पुराण की सरस्वती का निदर्शन है तथा प्रथम परिच्छेद की अन्तिम दो कारिकाओं में सरस्वती की उस उपासना की ओर संकेत है जो उस समय समाजों में काव्य-चर्चा के लिए अभीष्ट थी—

---

१. अमरकोश १।६।१

ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।
व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः॥

२. पुरुषसूक्त १६

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।

३. ऋ०, १०।६१।५-७

४. ऐतरेय ब्राह्मण ३।३३

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥[४]

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।[५]

दण्डी की सरस्वती कवियों के लिए अभीष्ट काव्य-सम्पद् देनेवाली अधिष्ठात्री देवी हैं—यह धारणा कवि और काव्य-चर्चा के प्रारंभिक युग का संकेत है। काव्य-रचना की शक्ति—अभीष्ट देवता के रूप में सरस्वती की यह उपासना कवि ने जब आरम्भ की, या सरस्वती के आयतन में जब नागरक-समाजों की गोष्ठियाँ होती थीं उस समय भी वैदिक यज्ञ करनेवाले सोमपायी ब्राह्मण के, वेद-पाठ से निष्कलमष एवं यज्ञ के पुरोडाश खाने से पवित्र अधर में, शास्त्र-स्मृतियों के अनुशीलन से मुखरित मुख में तथा सोम-पान से कसैले उदर में ही सरस्वती का मुख्य निवास था।[१] सरस्वती वाणी और वाङमय के विधान के लिए यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता थीं। कवियों ने उनको यज्ञभूमि के साथ विदग्ध-गोष्ठियों में भी प्रतिष्ठित किया। इस युग में कवि सरस्वती का था। लेकिन जब काव्यचर्चा का उत्कर्ष काल आया तब सरस्वती कवि की हो गयीं। अभिनव गुप्त (१० वीं उत्तरार्ध शती ई०) ने कवि और काव्य-मर्मज्ञ सहृदय को सरस्वती के तत्त्व की संज्ञा दी है।[२] और उनके अनुयायी आचार्य मम्मट (११ वीं उत्तरार्ध शती ई०) तो और भी आगे बढ़े, उन्होंने कवि-वाङमय-निर्मिति को ब्रह्मनिर्मिति से विलक्षण सृष्टि ही स्वीकार किया, निश्चय ही सोम पीने से कसैले उदर यज्ञ-कर्ता बाणभट्ट के पूर्वजों से उनके कवि की भारती अलग थीं।[३] दण्डी द्वारा 'सरस्वती' पद का प्रयोग

---

४. काव्यादर्श १।१०४

५. वही, १।१०५

१. कादम्बरी (मंगलाचरण)

उवास यस्य श्रुतिशान्तकल्मषे सदा पुरोडाश-पवित्रिताधरे।
सरस्वती सोमकषायितोदरे समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरे मुखे॥

२. लोचन, १

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च।
क्रमात् - प्रख्योपाख्या-प्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥

३. काव्यप्रकाश, १।१

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

वाणी की एक रूढ़ परिभाषा की ओर संकेत है, उनके सामने नागरक समाज की सरस्वती का चित्र था। पिछले युग में वे नागरक तथा उनका समाज दोनों छिन्न-भिन्न हो गये। सरस्वती की मान्यता में भी अन्तर आया। मम्मट की 'भारती' उसी बदलती हुई मान्यता का प्रतिफल है। भोज (१०१८–१०५६ ई०) ने ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य—इन चार आस्पदोंवाली वाग्देवी को नमस्कार किया है।[१] विश्वनाथ (१४ वीं शती ई०) ने शरद् आभावाली वाग्देवी से अर्थों के व्यक्त करने की प्रार्थना की है।[२] सरस्वती-आयतन में वाणी का विनोद और मानस में सरस्वती का विलास—दण्डी के युग की विशेषताएँ थीं। परवर्ती काल में सरस्वती का विलास नहीं, कर्मठ स्वरूप सामने आया—अर्थों की अभिव्यक्ति, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य का विवेक तथा विलक्षण निर्मिति रखनेवाली कवि-भारती की सर्वोत्कर्ष से स्थिति। 'सरस्वती' पद का प्रयोग भी आचार्यों ने कदाचित् किया।

शास्त्र-प्रयोजन

पूर्व शास्त्र का समन्वय कर और प्रयोगों को उनसे मिलाकर काव्य-लक्षण के विशद व्याख्यान की आवश्यकता क्यों हुई? इसे समझाते हुए दण्डी ने भाषा और काव्य-रचना के तात्कालिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

यद्यपि ऐसा विशद व्याख्यान या शास्त्र-रचना आचार्य का अपना ज्ञान-विलास है, आत्म-तृप्ति की एक सरणि है तथापि लोक में उसकी उपयोगिता क्या हो सकती है? आचार्य इस ओर भी अपनी दृष्टि रखता है। दण्डी ने इस सम्बन्ध में चार बातें कहीं हैं—

(क) लोक-व्यवहार वाणी के अनुग्रह पर ही निर्भर है, यह वाणी चाहे वैयाकरणों द्वारा अनुशिष्ट (संस्कृत-प्राकृत) भाषाएँ हों अथवा इनसे भिन्न (अपभ्रंश, देशी) भाषाएँ हों। यह जगत् जब से पैदा हुआ तब से लेकर आज तक

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १।१

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे।

२. साहित्यदर्पण १।१

शरददिन्दुरुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु॥

यदि यह शब्द नाम की ज्योति न प्रकाशित होती रहती तो यह तीनों लोक (देव, मनुष्य तथा इतर जातियाँ) गहरे अन्धकार में डूब जाते।[1]

(ख) आदिकाल के जो राजा थे उनका यशोबिम्ब वाङमय-रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर आज उन राजाओं के विनष्ट हो जाने पर भी स्वयं नहीं नष्ट होता। (वाङमय से प्राप्त अमरता का यह आश्चर्य) देखो![2]

(ग) भली प्रकार प्रयुक्त की गयी वाणी को विद्वानों ने कामनाओं को दुहनेवाली गाय कहा है और यदि वाणी गलत ढंग से प्रयुक्त की गयी तो वह ही अपने प्रयोग करनेवाले का बैल-पन प्रकट करती है। इसलिए काव्य में अल्प मात्र दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, सुन्दर भी शरीर एक श्वेतकुष्ठ मात्र से सौभाग्यहीन हो जाता है। लेकिन जो व्यक्ति इस विषय के शास्त्र को जाननेवाला नहीं है वह गुण-दोष का विभाग कैसे करेगा? रूपों के भेद बताने में क्या अन्धे व्यक्ति को अधिकार है? इसीलिए जिज्ञासुओं की इस जानकारी को लक्ष्य कर विद्वानों ने विचित्र मार्गोंवाली वाणी की रचना-विधि को शास्त्र-रूप में निबद्ध किया है।[3]

चौथी बात उन्होंने परिच्छेद के अन्त में कही है—

---

१. काव्यादर्श १।३-४

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥
इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥

२. वही, १।५

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङमयम्।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति॥

३. वही, १।६-९

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।
गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु॥
अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥

(घ) कीर्ति चाहनेवालों को निरलस होकर सतत सरस्वती की उपासना श्रमपूर्वक करनी चाहिए। कवित्व-शक्ति दुर्बल होने पर भी काव्यशास्त्र में श्रम करनेवाले कवि (व्यक्ति) विदग्धगोष्ठी का आनन्द उठाने में समर्थ हो सकते हैं।[1]

इन चारों बातों में भाषा और उसके सम्यक् प्रयोग की महिमा ही दण्डी ने अधिक कही है। (क) और (ग) में इसी का विस्तार है, यद्यपि उनका लक्ष्य काव्य और उसमें भाषा का सम्यक् प्रयोग ही है—'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन', तो भी इस काव्य-सम्बन्धी लक्ष्य को उन्होंने भाषा-प्रयोग के साथ अन्वित करके ही कहा है। इसका अर्थ यह है कि काव्य और उसके मार्गों का अनुसन्धान तब तक स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं हुआ था, कवियों के विचित्र मार्गों की वाणी का प्रयोग-शास्त्र वैयाकरणों के पदवाक्य-प्रयोग की देखा-देखी आवश्यक समझा गया। व्याकरण में जैसे शब्द का सम्यक् प्रयोग ही उसकी सार्थकता थी, काव्य में भी क्रिया-विधि का निर्दोष होना काव्य का सौष्ठव था।

दण्डी ने अनुशिष्ट संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषाओं के साथ शेष-अपभ्रंश, देशी भाषाओं को भी काव्य-व्यवहार में स्वीकार किया है, उनकी यह स्वीकृति पतंजलि के महाभाष्य से अग्रिम भाषाओं की विकास स्थिति है क्योंकि महाभाष्यकार अपभ्रंश के प्रयोग को अनुचित बताते हैं।[2] किन्तु दूसरी ओर महाभाष्य के साथ शब्द-ज्ञान की आवश्यकता और उसकी विराट् महिमा का जो वातावरण शास्त्रकारों को आक्रान्त कर रहा था, काव्यलक्षण लिखनेवाले दण्डी भी उससे आक्रन्त थे। उन्हें लोक में काव्य-प्रयोजन की आवश्यकता स्पष्ट करनी थी लेकिन वे बात कुछ दूसरी करते हैं—'लोक-यात्रा वाणी का प्रसाद है, सम्यक् प्रयुक्त वाणी कामदुधा गाय है।' यह व्याकरण की चर्चा का विषय था। दण्डी ने उसी चर्चा के समकक्ष काव्यलक्षण की चर्चा और उसके सुष्ठु प्रयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन आरम्भ किया। और दोनों चर्चाओं का एक-दूसरे

---

१. काव्यादर्श १।१०५

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलुकीर्तिमीप्सुभिः।
कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

२. महाभाष्य १।१।१

यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव हि शब्द-ज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः। एवं तर्हि सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः।

के समानान्तर निदर्शन भी किया—'दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति', 'गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।'

उक्त क, ख, ग तीन प्रयोजनों में से वाणी के विचित्र मार्ग और काव्य को यदि हटा दिया जाय तो सम्पूर्ण कथन केवल भाषा और शब्द की महिमा का आख्यान है। दण्डी का शास्त्र-प्रयोजन आरम्भ होता है—वाणी के अनुग्रह से ही लोक का व्यवहार चलता है।[1] और अन्त होता है—अतः प्रजाजनों की व्युत्पत्ति को लक्ष्य कर विद्वानों ने वाणी की क्रियाविधि का शास्त्रीय निबन्धन किया, वाणी जो विचित्र मार्गोंवाली है, और यही मार्ग काव्य-पद्धति के सूत्र हैं। अर्थात् दण्डी के पूर्व काव्य के मार्ग भाषा-शास्त्र के ही विषय थे। दण्डी ने उनमें काव्य लक्षण का व्याख्यान किया।

अन्य दो प्रयोजनों—(ख) और (घ) से काव्य की महिमा पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है—अतीत के राजाओं का यह यश इस काव्य में सुरक्षित है तथा समाज की विदग्ध-गोष्ठियों में अपने रचित काव्य सुना कर आनन्द एवं यश दोनों की उपलब्धि होती है। यह दूसरा प्रयोजन तृतीय परिच्छेद के अन्त में और आकर्षक ढंग से आता है—इस प्रकार गुण-दोष के मार्गों से परिचित होकर वाणी को अपनी वशवर्ती बनाकर उन्मद कटाक्षोंवाली रमणी द्वारा स्वयं आलिंगित किया गया भाग्यवान् युवा पुरुष-जैसा वह कवि उन्मुक्त आनन्द उठाता है तथा कीर्ति भी प्राप्त करता है।[2]

दण्डी का यह काव्य-प्रयोजन बहुत संक्षिप्त है, इससे यह भली-भाँति निश्चित हो जाता है कि 'कामसूत्र' में नागरकों के समाज की जिस काव्य-चर्चा का उल्लेख है, दण्डी के सामने काव्य की वही उपयोगिता थी—गोष्ठी का आनन्द और अच्छी रचना के लिए साधुवाद। राजाओं के यश के सुरक्षित होने की बात तो उन्होंने

---

१. दण्डी का यह कथन शिष्ट लोक की सामान्य मान्यता थी: भर्तृहरि ने इसी को प्रकारान्तर से और बल दे कर कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
(वाक्यपदीय १।१२३)

१. काव्यादर्श ३।१८७

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभिर्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्॥

रामायण, महाभारत तथा राजविरुदावली जैसे तत्कालिक अन्य प्रबन्धों को देखकर लिख दी है।

दण्डी के पश्चात् काव्य के प्रयोजनों का बहुत विस्तार हुआ, इन प्रयोजनों के देखने से काव्य-चर्चा के शास्त्रीय विकास तथा उसकी अधिकाधिक लोकप्रियता का पता चलता है—

(१) भामह ने कहा है—सत्काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कला की साधना में प्रवीणता, आनन्द एवं यश प्रदान करती है।[1]

अर्थात् वात्स्यायन और दण्डी के युग में काम और कला दो ही प्रयोजन काव्य से सम्बद्ध थे; अब धर्म, अर्थ, मोक्ष भी काव्य की सीमा में आ गये। भामह ने तो यह भी कहा कि जो कवि नहीं है उसका शास्त्रज्ञान निष्फल है—**अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्**। राजशेखर ने काव्य की इस बढ़ती हुई सीमा को लक्ष्य किया और कहा—'पंचमी साहित्य विद्या' और वह विद्या भी आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति—चारों विद्याओं का निचोड़ है।[2]

(२) वामन ने काव्य को प्रीति-आधायक समस्त दृष्ट-प्रयोजनों तथा कीर्ति-आधायक समस्त अदृष्ट प्रयोजनों का मूल माना है।[3] दण्डी ने काव्य द्वारा जिस यश की प्राप्ति बतायी है वह यश है—कवि को प्रत्यक्ष जीवन में काव्य की उत्कृष्टता के कारण मिलनेवाली श्लाघा। विदग्ध-गोष्ठियों में उसकी और उसके काव्य की जोरदार चर्चा। किन्तु पिछले आचार्यों ने कवि की मृत्यु के बाद भी उसके विशद यश तथा स्वर्ग-प्राप्ति का उल्लेख किया है।

(३) वामन के उक्त सूत्र का विस्तृत उन्मीलन रुद्रट के काव्यालंकार में हुआ। रुद्रट ने काव्यालंकार के प्रथम अध्याय की ११ कारिकाओं में काव्य-प्रयोजन का विस्तार से वर्णन किया है।[4] जिनमें तीन अन्यतम प्रयोजन हैं और वे केवल भावुकता-वश नहीं कहे गये हैं वरंच तात्कालिक व्यवहार की भी सूचना देते हैं—

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।२

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु-काव्य-निबन्धनम्॥

२. काव्यमीमांसा, पृ० १०

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।१।५

काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थं प्रीति-कीर्ति-हेतुत्वात्।

४. देखिए, काव्यालंकार (रुद्रट) १।४-१३, २१, २२

(क) राजाओं से उनका चरित-काव्य लिखकर धन की प्राप्ति। रुद्रट कहते हैं, कवियों को अर्थ से संतुष्ट करनेवाले राजा देवता हैं शेष केवल राजा।[1] (ख) देवों की काव्य-स्तुति लिख कर अनर्थ और रोग की शान्ति। रुद्रट के अनुसार कितनों ने दुर्गा की स्तुति का काव्य लिखकर घोर विपत्ति को पार किया, दूसरे रोग से छूटे और अन्यों ने अच्छा अभीष्ट पाया।[2] (ग) राजसभा में कवि की अपरिहार्य स्थिति। काव्य-प्रयोजन का यह अन्तिम विस्तार था जिसमें कवि राजा का समकक्ष बन गया। रुद्रट, कल्हण और बिल्हण की इस सम्बन्ध में कही गयी उक्तियाँ कवि के स्वाभिमान को बहुत ऊँचे उठाती हैं। उनका कहना है—राजाओं के बनाये हुए देव-मंदिर नष्ट हो गये, उन राजाओं का नाम भला किस माध्यम से शेष रहता ? यदि उनकी यश-गाथा का काव्य लिखनेवाले कवि न होते।[3] जिन महान् विक्रमशाली राजाओं के भुजा-वन-रूपी वृक्षों की छाया सेवन कर समुद्र की करधनी पहने यह पृथिवी निर्भय बनी रही, वे राजा भी जिसके अनुग्रह के बिना स्मरण नहीं किये जाते, प्रकृष्ट कृति की महानता उस कवि-कर्म को हम प्रणाम करते हैं।[4] जिन राजाओं के मित्र कवीश्वर न हुए, उनका यश ही लुप्त हो जाता है, पृथिवी पर कितने राजा नहीं हुए, उनका नाम भी कोई नहीं जानता। लंकापति रावण का यश जो नष्ट हो गया और राम लोक के प्रीति-

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १।१०

आसाद्यते स्म सद्यः स्तुतिभिर्येभ्योऽभिवांछितम् कविभिः।
अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये॥

२. वही, १।९

नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम्॥

३. वही, १।५

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथा हि कालेन।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम्॥

४. राजतरंगिणी, १।४६

भुजवनतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
स्मृतमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे॥

पात्र हो गये, वह सब आदिकवि वाल्मीकि और उनकी काव्य-रचना का प्रभाव है।[१]

राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी राजा और कवि के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की प्रशस्ति गायी गयी है।[२] 'शृंगारतिलक' के अनुसार पूर्ण भाग्य होने पर कवि का जन्म और उससे हीन भाग्य होने पर भूमिपति (राजा) का जन्म मिलता है।[३]

(४) जहाँ कवि और काव्य की महिमा इतने ऊँचे उठी वहीं इसके दुरुपयोग की बातें भी सामने आयीं। राजाओं ने विपुल धन दे कर अपने नाम से कवियों द्वारा काव्य लिखवाये। यह काव्य का नष्ट प्रयोजन था। ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास में हैं जिनकी चर्चा आकर ग्रन्थों में नहीं हुई है। लेकिन मम्मट ने इस प्रसंग में सम्राट् हर्ष और धावक कवि का नाम लिया है—'श्रीहर्षदिर्धावकादीनामिव धनम्।'[४] इस वृत्ति की व्याख्या में कहा गया है—'धावक नामा कविः श्री हर्षनृपनाम्ना रत्नावली—नाम्नीं नाटिकां कृत्वा बहुधनं लब्धवान् इति प्रसिद्धिरित्युद्योतादौ स्पष्टम्।'[५]

(५) लोक-व्यवहार भी काव्य का एक प्रयोजन बना। धर्म और मोक्ष जब काव्य के विषय बन गये तब स्वभावतः नीति एवं व्यवहार की भाव-प्रवण उक्तियाँ भी कवियों द्वारा लिखी गयीं, और उनका व्यवहार लोक में धर्म तथा नीति के प्रमाण वाक्य के रूप में हुआ। मम्मट का 'व्यवहारविदे' प्रयोजन का विस्तार

---

१. विक्रमांकदेवचरित १।२६-२७

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पाश्व कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्॥
लंकापतेः सङ्कुचितं यशो यद् यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः॥

२. काव्यमीमांसा

ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण, राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धिम्।
राज्ञासमोस्ति न कवेः परमोपकारी, राज्ञां न चास्ति कविना सदृशः सहायः॥

३. शृंगारतिलक ५

ये ये खंजनमेकमेव कमले पश्यन्ति दैवात् क्वचित्,
ते सर्वे कवयो भवन्ति सुतरां विख्यातभूमीभुजः।

४. काव्यप्रकाश १।२

५. उक्त की बालबोधिनी टीका।

इसी अर्थ में समझा जाना चाहिए, इसी आधार पर काव्य आगे चल कर समाज की नीति तथा संस्कृति का प्रेरक भी बना।

दण्डी के संक्षिप्त काव्य-प्रयोजन और इन विस्तृत काव्य-प्रयोजनों का अन्तर काव्यचर्चा के उद्गम तथा विस्तार की लम्बी दूरी है।

मार्ग और गुण (काव्य अथवा काव्य के जीवित)

दण्डी ने मार्ग की कोई परिभाषा नहीं की है। उनके सामने 'मार्ग' एक सामान्य संज्ञा थी, प्रदेश विशेष के कवियों की काव्य-रचना-सम्बन्धी शब्द-विधा को 'वाणी के मार्ग' नाम से अभिहित किया जाता था। उसी को बाद में काव्य-पद्धति और रीति कहा गया। दण्डी के मत में गुण, वैदर्भ मार्ग के प्राण थे। अर्थात् गुणों से मार्ग का अभिज्ञान होता है और कवि-मार्ग की रचना की प्राणवत्ता से गुण का बोध। इस प्रकार मार्ग और गुण की संज्ञाओं का मूल रहस्य सामने आता है—वैदर्भ तथा गौड मार्ग की संज्ञाओं के पहले प्रत्येक गुण ही अलग-अलग मार्ग थे, श्लेष मार्ग, प्रसाद मार्ग, ओज मार्ग आदि। हो सकता है, श्लेष काव्य या प्रसाद काव्य आदि संज्ञाएँ रही हों। बाद में जब काव्य-चर्चा का विस्तार हुआ, काव्य के ये गुण या प्रकार समष्टि में एक भौगोलिक सीमा के कवियों की विशेषता हो गये। तब काव्य-चर्चा की सिद्धान्त-सरणि में इन छोटे-छोटे मार्गों की संज्ञा समाप्त कर मार्ग की संज्ञा भूगोल के आधार पर कर दी गयी। इसी अर्थ में ये छोटे-छोटे मार्ग (गुण) बड़े मार्ग (वैदर्भ मार्ग) के प्राण हैं।

दण्डी ने इसी व्यवस्था को देखते हुए काव्य को बड़ी सीमा में लिया है जिसमें काव्य-शरीर, भाषा, अलंकार, मार्ग, गुण सभी सन्निविष्ट हैं, उन्होंने आरम्भ में जो कहा—'यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्'[1] उसका मूल तात्पर्य इसी बड़ी सीमा से है। किन्तु इनमें केवल काव्य-शरीर तथा अलंकार को परिभाषा में दे कर नयी दिशा की ओर संकेत किया है—"अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः, वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।"[2] पुनः, कारिका से मार्गों के निदर्शन का उपक्रम करके भी पहले काव्यशरीर और भाषा को समझा कर कवि-मार्ग और गुणों का विवेचन हुआ है तथा उनके बाद काव्य-शोभाकर अलंकारों का। इस प्रकार यहाँ तीन पक्ष हैं—(१) काव्य का शरीर (२) स्वयं काव्य अथवा काव्य का जीवित तथा (३) उसके शरीर के शोभाधायक अलंकार।

---

१. काव्यादर्श १.२

२. वही, १.९

दूसरे पक्ष का प्रकट अभिधान काव्यादर्श में नहीं हुआ है, लेकिन यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि काव्य अथवा काव्यजीवित से उनका लक्ष्य मार्ग और गुणों से है।

यदि हम दण्डी के तात्पर्य को स्फुट करने का प्रयास करें तो इस प्रकार का अन्वय करना होगा—उनके काव्य का शरीर है, 'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली'[1]—इष्ट अर्थ से अन्वित पदावली। आगे वे कहते हैं—"इति वैदर्भ-मार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृता"[2]—ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। अब इन दोनों परिभाषाओं को मिलाकर दण्डी का काव्यलक्षण पूरा होता है—अर्थात् 'इष्ट अर्थ से अन्वित पदावली में मार्ग के प्राणभूत गुणों की अभिव्यक्ति काव्य है, अलंकार उस काव्य के शोभाधायक धर्म हैं। दण्डी ने अप्रत्यक्ष रूप से गुण को ही काव्य का सर्वस्व या जीवित स्वीकार किया है।

भरत ने नाटक में उसके इतिवृत्त (कहानी) को नाट्य का शरीर माना है।[3] और वह कहानी रस के उद्भावक भाव के अर्थ से व्याप्त होती है, जैसे सूखा काठ अग्नि से।[4] नाट्य में अर्थ ने कहानी को व्याप्त कर उसे नाट्य का शरीर बनाया। काव्य में स्थिति उससे भिन्न है। यहाँ अर्थ पदावली में व्याप्त होता है और पदावली काव्य का शरीर है। उस पदावली का विस्तार पद-वाक्य से लेकर गद्य, पद्य, महाकाव्य, आख्यायिका, कथा तक है। भरत और दण्डी के नाट्य एवं काव्य के शरीर-सम्बन्धी इस निरूपण से नाट्य और काव्य के चमत्कार (जीवितभूत-तत्व) का सही निर्देश हो जाता है—कहानी का अर्थ रस बन कर प्रस्तुत होता है और पदावली का अर्थ पद (शब्द)-प्रयोग के वैचित्र्य में परिणत हो जाता है। वह वैचित्र्य ही मार्गों का गुण है।

वस्तुतः मार्ग दण्डी के युग में काव्य का पर्याय रहा है। समुद्रगुप्त के प्रयाग के अभिलेख में 'अध्येयः सूक्तमार्गः'[5] का अर्थ 'पठनीय सूक्त काव्य' ही किया

---

१. काव्यादर्श १।१०

२. वही, १।४२

३. नाट्यशास्त्र

इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।

४. नाट्यशास्त्र ७।७

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्तं तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

५. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७३

जायगा। जब हम मार्ग को काव्य का पर्याय मान लेते हैं तब दण्डी का अभिमत स्पष्ट हो जाता है—काव्य के शरीर और अलंकारों का निदर्शन किया गया है,[1] और वह काव्य मार्ग है जिसकी क्रियाविधि का शास्त्रीय निबन्धन विद्वान् कर चुके हैं।[2] दण्डी ने मार्ग के इस विवेचन की ओर आग्रहपूर्वक तीन बार उनका ध्यान आकर्षित किया है जो काव्य-लक्षण के जिज्ञासु हैं। एक निर्देश तो आरंभ में ही है जो ऊपर कहा गया है। दूसरी बार शरीर का विस्तार बताने के बाद वे मार्ग का भेदों के साथ विवेचन आरंभ करते हैं—वाणी के मार्ग अनेक हैं।[3] मार्ग और गुणों का विवेचन समाप्त करने के बाद भी वे संतुष्ट नहीं हैं और अपने इस इष्ट विवेचन की असमाप्ति ही घोषित करते हैं—इस प्रकार ये दो मार्ग (वैदर्भ, गौड) अपने स्वरूप के स्पष्ट होने से भिन्न-भिन्न हैं, इसके अनेक भेद जो प्रत्येक कवियों के अपने हैं, नहीं कहे जा सकते।[4]

दण्डी के मार्ग और गुण के विवेचन की संक्षिप्त रूपरेखा यह कही जा सकती है—

(क) भाषा के प्रयोग-कर्ता जनों की व्युत्पत्ति को लक्ष्य कर वाणी के विचित्र मार्गों की रचना-विधि का शास्त्रीय निबन्धन विद्वानों ने किया है।

वाणी के अनेक मार्ग हैं और जिनमें परस्पर व्यवहार-गम्य, प्रयोग-लक्ष्य भेद हैं।

(ख) उनमें वैदर्भ तथा गौडीय मार्ग का भेद बहुत स्पष्ट है। इसलिए इन दोनों का ही वर्णन किया जाता है।

(ग) श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति, तथा समाधि ये दश गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं। वैदर्भ का नाम दाक्षिणात्य भी है।

(घ) किन्तु गौड मार्ग में इन दशों गुणों का विपर्यय देखा जाता है—कुछ का बिलकुल अभाव है, कुछ का अंशतः ग्रहण और कुछ का ग्रहण। गौड मार्ग को पौरस्त्य काव्य-पद्धति भी कहते हैं। वहाँ ये गुण पौरस्त्यों को जिस प्रकार से इष्ट अथवा अवांछित हैं, उसका उल्लेख गुणों के विवेचन के साथ है। मुख्य रूप से

---

१. काव्यादर्श १।१०

तैः शरीरं च काव्यानाम् अलंकाराश्च दर्शिताः।

२. वही, १।९ ३. वही, १।४०

४. वही, १।१०१

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥

वैदर्भ मार्ग का विश्लेषण दण्डी को इष्ट है, उसके विपर्यय लक्षित कर उन्होंने गौड मार्ग को भी स्पष्ट कर दिया है। गौड काव्य-पद्धति के अनुगामी श्लेष, प्रसाद, समता तथा सुकुमारता गुणों को आदर नहीं देते। माधुर्य और कान्ति गुण उन्हें इष्ट हैं लेकिन क्रमशः वर्णावृत्ति-अनुप्रास एवं अत्युक्ति रूप में विवक्षित अर्थ के साथ। अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज तथा समाधि गुणों के प्रति वे वैदर्भों के समान ही रुचि रखते हैं।

(ङ) वैदर्भ और गौड के भी अपने उपभेद हैं, जो उनके अनुगामी प्रत्येक कवियों के अपने हो सकते हैं। ईख, दूध, गुड़, शर्करा--सभी के स्वाद में जो मधुरता है उसे एक समान नहीं कहा जा सकता, एक दूसरे की मधुरता में परस्पर महान् अन्तर है, इसी प्रकार विविध कवि-मार्गों की शोभा एवं चमत्कार के भेद को भी जानना चाहिए। अर्थात् माधुर्य-माधुर्य में और चमत्कार-चमत्कार में भी अन्तर है जो कहा नहीं जा सकता।

दश गुणों का परिचय

काव्यादर्श का अभिमत विवेचन मार्ग और गुण है। अतः इन दश गुणों को थोड़ा विस्तार से प्रस्तुत किया जा रहा है जो वस्तुतः इष्ट-अर्थ की पदावली के प्रयोग-पक्ष का सैद्धान्तिक निदर्शन है।

श्लेष—जब पदावली बीच-बीच में महाप्राण अक्षरों और संयुक्त वर्णों से युक्त होती है तब उसमें श्लेष गुण होता है।[1] श्लेष का अर्थ है—रचना में शैथिल्य का अभाव और पूर्ण बन्ध। इसका उदाहरण है—

मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति।[2]

किन्तु गौडमार्ग के कवि इस प्रकार की पदावली पसन्द नहीं करते, वे अनुप्रासयुक्त, अल्पप्राण तथा असंयुक्त अक्षरों का प्रयोग ही अच्छा मानते हैं।[3] उक्त उदाहरण में कहे गये अर्थ को वे इस प्रकार कहेंगे—

मालतीमाला लोलालिकलिला।[4]

प्रसाद—प्रसिद्ध अर्थवाले पदों के प्रयोग से वाणी जहाँ अनायास ही अर्थ का बोध करा देती है वहाँ प्रसाद गुण होता है।[5] जैसे इस पदावली में—

इन्दोरिन्दीवरद्युति। लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।[6]

---

१. काव्यादर्श, १।४४ २. वही, १।४४
३. वही, १।४३ ४. वही, १।४३
५. वही, १।४५ ६. वही, १।४५

गौड मार्ग के कवियों को प्रसाद गुण बहुत अपेक्षित नहीं है। वे अनतिप्रसिद्ध, निहतार्थदोषयुक्त तथा अर्थ के लिए व्युत्पत्ति की अपेक्षा रखनेवाले पद-पदार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं।[१] उक्त उदाहरण को वे इस प्रकार कहेंगे—

अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षांको वलक्षगुः।[२]

समता—आदि से अन्त तक एक समान पद-संघटना को समता कहते हैं। वर्णों का बन्ध तीन प्रकार का होता है—मृदु (ट-वर्ग-रहित, असंयुक्त), विकट (ट-वर्ग-युक्त, संयुक्त-अक्षर) तथा उभयात्मक (विकट एवं मृदु दोनों वर्णों से युक्त)। जिस पद-बन्ध से रचना का आरम्भ किया जाय उसी से उसकी समाप्ति भी हो, यही समता गुण है।[३] तीन प्रकार के बन्धों के ये तीन उदाहरण हैं—

(१) कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः।[४]

(२) उच्छलच्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भः कणोक्षितः।[५]

(३) चन्दन-प्रणयोद्गन्धिमन्दो मलयमारुतः।[६]

पौरस्त्य गौडों को यह समता गुण भी—जिस बन्ध से रचना का आरम्भ हो उसी से उसकी समाप्ति भी की जाय—पसन्द नहीं है। उन्हें अत्युक्तिरूप अर्थालंकार और वर्णानुप्रास का उत्कर्ष ही पदावली में इष्ट है, रचना में आदि-अन्त के बन्ध-वैषम्य की चिन्ता वे नहीं करते।[७] गौडों के लिए समता-रहित किन्तु अनुप्रास-युक्त यह रचना प्रिय है—

स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामामुखानिलैः॥[८]

माधुर्य—गुण की व्याख्या दंडी ने विस्तार से की है। उनका कहना है कि जहाँ वाक्य में रसवत्ता हो वहाँ माधुर्य गुण होता है। यह रसवत्ता वाणी और अर्थ दोनों में होती है। रस की इस स्थिति का लक्षण यह है कि माधुर्यगुण-युक्त रचना को पढ़ कर या सुन कर सहृदय-जन आनन्दातिरेक में अपने को भूल जाते हैं। मूल कारिका है—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥[९]

यहाँ 'रसवद्' और 'रसस्थितिः' पदों में रस का उल्लेख उस रस-संज्ञा के लिए नहीं

---

१. काव्यादर्श, १।४६
२. वही, १।४६
३. वही, १।४७
४. वही, १।४८
५. वही, १।४८
६. वही, १।४९
७. वही, १।५०
८. वही, १।४९
९. वही, १।५१

है, जिसकी व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने नाट्य या काव्य के लिए नौ प्रकारों में की है। यहाँ 'रस' एक सामान्य कथन है, वाणी में रसवद् प्रकार का होना अर्थात् कान को मधुर लगनेवाले संगीतमय पदों का प्रयोग। वस्तु में रस की स्थिति, अर्थात्-काव्य के अर्थ या कथा में आनन्ददायी प्रकरण का सन्निवेश।

वैदर्भ और गौड दोनों काव्यपद्धतियों के अनुयायी इस गुण को काव्य में स्वीकार करते हैं। लेकिन वाणी में मधुरता की स्थिति कैसे संभव होती है इस विषय में दोनों के मत भिन्न हैं।

वैदर्भों का कहना है कि जिस किसी भी (कण्ठ, तालु आदि) श्रुति को समान-अनुभूत होनेवाले अथवा उसी रूप, अनुप्रास-युक्त अव्यवहित पद का किया गया प्रयोग रस-स्थिति का कारण होता है। अर्थात् श्रुत्यनुप्रास के पदों में रस की स्थिति होती है। दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास का नाम नहीं लिया है, किन्तु वह व्याख्या से स्पष्ट होता है, उनकी उक्त व्याख्या का मूल यह है—

यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपं हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥[1]

किन्तु दण्डी के अनुयायी भोजराज ने स्पष्ट रूप से श्रुत्यनुप्रास को वैदर्भ काव्य-पद्धति का राजा कहा है—

प्रायेण श्रुत्यनुप्रासः तेष्वनुप्रासनायकः।
सनाथैव हि वैदर्भी भाति तेन विचित्रता॥[2]

श्रुत्यनुप्रास के साथ ही साथ पदों के बन्ध में परुषाक्षर पदावली न हो तथा संयुक्त-व्यंजन, विसर्ग आदि के सर्वथा अभाव से शिथिलता भी न आने पाये, तभी वाक्य में माधुर्य गुण की स्थिति होगी। इसलिए यद्यपि—

स्मरः खरः खलः कान्तः कामः कोपश्च नः कृशः।
च्युतो मानाधिको रागो मोहो जातोऽसवो गताः॥[3]

इस पद्य के तृतीय-चतुर्थ चरण में श्रुत्यनुप्रास है तथापि पूर्वार्ध में विसर्गों के बाहुल्य से बन्ध-पारुष्य और उत्तरार्ध में संयुक्ताक्षर के अभाव से शैथिल्य दोष आ गया है और यह पद्य माधुर्य की दृष्टि से वैदर्भों को इष्ट नहीं है। माधुर्य गुण के लिए उनका अभिमत पद्य यह है—

---

१. काव्यादर्श १।५२
२. सरस्वतीकण्ठाभरण २।७२
३. काव्यादर्श १।५९

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्॥[१]

वैदर्भों के अभिमत माधुर्य का उत्कृष्ट प्रयोग कालिदास की रचना में पाया जाता है। उक्त श्लोक, जिसे दण्डी ने वैदर्भ-अभिमत माधुर्य के उदाहरण में दिया है, माधुर्य का बहुत सही रूप प्रस्तुत नहीं करता, कालिदास का यह श्लोक इसका सही उदाहरण माना जा सकता है—

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनस्सिषेवे॥[२]

यहाँ पूर्वार्ध में त-स्-त, ष-र, क-ह-क, म्-प, न्-ध, उतरार्ध में ल-न्-त, न-त, प-व भिन्न, किन्तु एक स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों का प्रयोग श्रुत्यनुप्रास से, हिमालय के निर्झरों के जलकणों तथा वृक्षों के पुष्प-सौरभ को लेकर बहनेवाले वायुद्वारा घाम में संतप्त दिलीप की सेवा—रूप इष्ट अर्थ के माधुर्य को प्रत्यक्ष कर देता है।

गौड काव्य-पद्धति के अनुगामी श्रुतिगोचर उक्त श्रुत्यनुप्रास-विधान को वाणी में रसवत् स्थिति का उत्पादक नहीं मानते। उनको माधुर्य-विधान के लिए प्रत्यक्ष रूप से वर्णों की आवृत्ति का अनुप्रास इष्ट होता है, वह दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है—(१) छन्द के प्रत्येक चरणों में की जानेवाली आवृत्ति, जैसे—

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तबकविभ्रमे।
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म सन्दधात्यलिनः श्रियम्॥[३]

प्रस्तुत छन्द के प्रत्येक चरण—चन्द्र, कुन्द, इन्द्र, सन्द—में नकार-दकार की आवृत्ति हुई है। (२) पदों में की जानेवाली आवृत्ति, जैसे—

चारुचन्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे।
मन्मनो मन्मथाक्रांतं निर्दयं हन्तुमुद्यतम्॥[४]

यहाँ रु-रु, म्बं-म्ब, मन्म-मन्म, दयं- द्य की पदगत एक बार आवृत्ति की गयी है।

इस प्रकार यहाँ माधुर्य गुण के प्रसंग से दण्डी ने अनुप्रास के विधा-प्रयोग का परिचय दिया है और उसे इस गुण के प्रस्तुतीकरण में सहायक कहा है—(१) श्रुति की समानता से अनुभूत बन्धयुक्त एवं संयुक्त वर्णों के कारण शैथिल्यरहित (२) केवल वर्णमात्र की आवृत्ति, जिसमें बन्धपारुष्य एवं शैथिल्य की उपेक्षा नहीं की

---

१. काव्यदर्श १।५३
२. रघुवंश २।१३
३. काव्यादर्श १।५६
४. वही, १।५७

जाती। प्रथम प्रकार वैदर्भों को इष्ट है और द्वितीय प्रकार का प्रयोग गौड काव्य-पद्धति के कवि करते हैं।

कुछ लोग वर्ण के समुदाय मात्र में दिखायी पड़नेवाली आवृत्ति को भी, जिसे यमक अलंकार कहते हैं, माधुर्य गुण की रचना का उपकारक मानते हैं, लेकिन दण्डी ने उसका प्रत्याख्यान किया है और कहा है कि यमक में वर्ण-समुदाय मात्र की आवृत्ति के कारण आवृत्ति ही प्रधान हो उठती है, वर्णगत मधुरता विरस हो जाती है अतः माधुर्य के प्रसंग में यमक की चर्चा अनुपयोगी है।[1]

माधुर्य गुण के प्रसंग में अनुप्रास की व्युत्पत्ति---वाणी में रस की स्थिति का पक्ष हुआ। रस की स्थिति का दूसरा पक्ष वस्तु अर्थात् अर्थ में है। दण्डी का कहना है कि प्रायः सभी अलंकार (जिनको उन्होंने आगे बताया है), अर्थ में रस का उत्कर्ष करते हैं लेकिन काव्य में अग्राम्यता बनाये रखने से रस का अधिक उज्ज्वल निषेक होता है। ग्राम्यता का अर्थ है---फूहड़ शब्दों का प्रयोग जो अश्लील और असभ्य अर्थों के लिए प्रसिद्ध हों। ऐसे शब्द का प्रयोग जो फूहड़ अर्थ उपस्थित करें, जैसे भार्या के सम्बोधन में कन्ये![2] शब्द का प्रयोग। ऐसे शब्दों का प्रयोग, जिनका अव्यवहित श्रवण नये पद के रूप में अश्लील (असभ्य) अर्थ का वाचक बन जाय, जैसे **या भवतः प्रिया**[3] यहाँ 'याभवतः' से अश्लील अर्थ का बोध होता है। इन सब का अभाव ही अ-ग्राम्यता है।

यह अग्राम्यता वैदर्भ और गौड दोनों के लिए इष्ट है और दोनों इसकी प्रशंसा करते हैं।

अग्राम्यता माधुर्य रस के लिए अनिवार्य है, इसके बिना उसकी स्थिति नहीं हो सकती। आगे द्वितीय परिच्छेद के रसवदलंकार-प्रकरण में इस बात को ही पुनः दण्डी ने दृढ़ता के साथ दुहराया है---

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।[4]

सुकुमारता---गुण उस रचना में होता है जिसमें परुष अक्षरों का प्रायः अभाव हो।[5] 'प्रायः' कहने का अभिप्राय यह है कि संयुक्त या परुष अक्षर सर्वथा ही न रहें, यह मन्तव्य नहीं है। ऐसा होने पर और रचना के एकान्ततः कोमल हो जाने पर पद-

---

१. काव्यादर्श १।६१
२. वही, १।६३
३. वही, १।६६
४. वही, २।२९२
५. वही, १।६९

बन्ध में शैथिल्य आ जायगा, और शैथिल्य काव्य को हीन बना देता है। सुकुमारता का उदाहरण है—

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि।[1]

गौड कवियों को यह गुण कविता में इप्सित नहीं है, ओजोगुण विशिष्ट अक्षराडम्बर की रचना ही उन्हें पसन्द है। वे दीप्त-संयुक्त-परुष-अक्षरों से युक्त पद को ही, जो कष्ट-पूर्वक उच्चारण किया जाता है, काव्य में प्रयुक्त करते हैं, जैसे—

न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणादिति।[2]

अर्थव्यक्ति—रचना में पदों का ऐसा सम्यक् प्रयोग, जिनके कारण अध्याहार आदि कष्ट-कल्पना के बिना ही अनायास अर्थ का बोध हो जाता है, अर्थव्यक्ति नामक गुण है।[3]

पदों का यह सम्यक् प्रयोग, जिसमें अर्थ के लिए नेयत्व, अध्याहार की कष्ट-कल्पना नहीं करनी पड़ती, वैदर्भ और गौड दोनों मार्गों के कवि स्वीकार करते हैं।

इसका उदाहरण है—

हरिणोद्धृता।
भूः खुरक्षुण्ण-नागासृग्लोहितादुदधेरिति ॥[4]

यदि यहीं केवल इतना कहा जाय—

मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः।[5]

तब अर्थव्यक्ति गुण का अभाव हो जायगा, क्योंकि अर्थ को पूरा करने के लिए 'उरगासृजः' का अध्याहार करना पड़ेगा।

उदारत्व—जहाँ वाक्य द्वारा वर्णनीय वस्तु के किसी विशेष उत्कर्ष की अभिव्यक्ति हो, वहाँ उदार गुण होता है।[6] दण्डी ने इस गुण से काव्य-पद्धति के सनाथ होने की बात कही है। इससे प्रकट होता है कि इस गुण के शब्दार्थ से युक्त काव्य-रचना का बाहुल्य रहता था। इसका उदाहरण है—

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत्।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥[7]

---

१. काव्यादर्श १।७०
२. वही, १।७२
३. वही, १।७३
४. वही, १।७३
५. वही, १।७४
६. वही, १।७६
७. वही, १।७७

यहाँ राजा के एक बार दान देने से अर्थीजन सदा के लिए अयाचक वन गये। इससे राजा के त्याग की महानता प्रकट होती है।

दण्डी ने उदार गुण की इससे मिलती-जुलती दूसरी परिभाषा भी दी है, जो उनकी दृष्टि में अन्य आलंकारिकों एवं कवियों को इष्ट रही होगी—विशेष के उत्कर्ष को बतानेवाले श्लाघ्य विशेषणों का प्रयोग जिस रचना में हो, वह उदार गुण की रचना है।[1]

ओजस्—बहुलता से समस्त पदों का प्रयोग ओजोगुण है। यह ओज गद्यकाव्य का जीवित—प्राणभूत जीवनी शक्ति है।[2] आख्यायिका आदि गद्य-काव्यों में इसका प्रयोग गुरु-लघु वर्णों के परस्पर बहुल-अल्प-समान मिश्रण से उल्बण-अनुल्बण अनेक प्रकार से देखा जाता है। उल्बण का अर्थ है—गुरु तथा संयुक्त वर्णों का विकट पद-बन्ध और अनुल्बण है—जिसमें लघु वर्णों की प्रचुरता हो। वस्तुतः इस गुण की उपयोगिता उक्त प्रकार से गद्य काव्य में ही है और इस विषय में वैदर्भ-गौड दोनों कवि-सम्प्रदायों का एकमत है।

लेकिन गौड (अदाक्षिणात्य) पद्य-रचना में भी इस ओजोगुण का बड़ा अवलम्ब लेते हैं, क्योंकि उन्हें अनुप्रास, समास आदि से आकीर्ण विकट पदबन्ध की रचना ही प्रिय होती है, जैसे—

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा ।
पीनस्तनस्थितातात्र-कम्रवस्त्रेव वारुणी ॥[3]

वैदर्भों को ओजोगुण से विशिष्ट होने पर भी उच्चारण तथा अर्थ के सम्बन्ध में हृदय को आकुल न करनेवाली रचना ही मान्य है, उक्त पद्य को वे इस रूप में निबद्ध करना चाहेंगे—

पयोधरतटोत्संग—लग्नसन्ध्यातपांशुका ।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति ॥ (१।८४)

काव्य-रचना का ऐसा रूप जिसमें समास कम हों, जिससे उच्चारण और अर्थ-बोध में कठिनाई न हो। किन्तु संयुक्ताक्षर रहेंगे, नहीं तो बन्धशैथिल्य दोष आ जायगा।

कान्ति—पदों का ऐसा अर्थ-विधान, जो लोक-प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग न करे और स्फुट चमत्कार से अबोध से लेकर विदग्धजन तक को चमत्कृत करे, कान्ति गुण है। यह गुण वार्ता-काव्य में और वस्तुवर्णन में भी देखा जाता है।[4] वैसे इसका सम्बन्ध लोक-व्यवहार से है।

---

१. काव्यादर्श १।७९ २. वही, १।८०
३. वही, १।८२ ४. वही, १।८५

इसके स्वरूप के सम्बन्ध में वैदर्भ और गौड एकमत नहीं हैं। उक्त परिभाषा वैदर्भों को इष्ट है। गौड कवि लोक-प्रसिद्ध अर्थ का त्याग न करना अच्छा नहीं समझते, उनके मन में लोकप्रसिद्धि को अत्यन्त क्रान्त कर कल्पनापूर्वक वार्ता एवं वर्णना में प्रस्तुत किया गया अर्थ अर्थात् अत्युक्ति ही कान्ति गुण है।

वैदर्भों का उदाहरण है—

(वार्ता)

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।
सम्भावयति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः॥[1]

(वर्णना)

अनयोरनवद्यांगि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे॥[2]

दोनों उदाहरणों में अर्थ लौकिक-सम्भावना की सीमा नहीं लाँघता—(१) घर वही है जिन्हें आप जैसे तपोधन अपनी चरण-धूलि से कृतार्थ करते हैं। (२) सुन्दरि! तुम्हारे बढ़ते हुए स्तनों के लिए बाहुलताओं के बीच स्थान नहीं रह गया है। प्रायः इन अर्थों को प्रत्येक सामान्य या विदग्ध जन सम्भावित स्वीकार करेगा।

गौड कवि उक्त अर्थों को इस प्रकार अत्युक्ति के साथ कहना पसन्द करते हैं—

(वार्ता)

देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्यप्रभृति नो गृहम्।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेष - किल्बिषम्॥[3]

अर्थात् आपकी चरणधूलि से पवित्र मेरा घर अब देव-मन्दिर की तरह सब के लिए आराध्य है। घर को देव-मन्दिर कह देना—यह अत्युक्ति कथन है।

(वर्णना)

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा।
इदमेवंविधं भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम्॥[4]

अर्थात् सुन्दरि! तुम्हारे स्तन इतने अधिक बढ़ेंगे, ब्रह्मा ने इसका ध्यान न करके

---

१. काव्यादर्श १।८६
२. वही, १।८७
३. वही, १।९०
४. वही, १।९१

ही छोटा आकाश बनाया। स्तनों का आकाश में न समाना—यह कथन अत्युक्ति को भी हास्यास्पद कर देता है, किन्तु गौड कवि ऐसी उक्तियों के ही चमत्कार से सन्तुष्ट होते हैं।

समाधि—लोक-व्यवहार को पालन करनेवाला कवि जब पदों में किसी अप्रस्तुत के धर्म का प्रस्तुत के अर्थ में व्यवहार (आरोप) करता है तब ऐसी रचना समाधि गुण की होती है।[1]

यहाँ प्रस्तुत के अर्थ में अप्रस्तुत के धर्म का यह व्यवहार गौणवृत्ति से इष्ट होता है, मुख्यवृत्ति से नहीं। मुख्यवृत्ति से व्यवहार होने पर ग्राम्यदोष आ जाता है और चमत्कार नहीं रह जाता। निष्ठ्यूत, उद्गीर्ण, वान्त आदि ऐसे ही शब्द हैं जो गौणवृत्ति से समाधि-गुण में चमत्कार-जनक बन जाते हैं।[2]

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।[3]

यहाँ कुमुद और कमल में नेत्रक्रिया के तादात्म्य से निमीलन्ति एवं उन्मिषन्ति पदों का प्रयोग है।

निष्ठ्यूत आदि शब्दों के प्रयोग का, जिसमें वे गौणवृत्ति से अत्यन्त चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं, उदाहरण इस प्रकार है—

पद्मान्यर्कांशु—निष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः॥[4]

अर्थात् कमल सूर्य की किरणों से निष्ठ्यूत अग्नि के स्फुलिंगों को पान कर पुनः मुख से लाल पराग उगलते हुए उसी को वमन-सा कर रहे हैं। यहाँ निष्ठ्यूत, वमन्ति शब्द गौणवृत्ति से अर्थ की उपस्थिति करने के कारण अर्थ में अत्यन्त शोभाधायक बन गये हैं।

इसी से मिलता-जुलता समाधि का एक दूसरा रूप भी दण्डी ने प्रस्तुत किया है—अप्रस्तुत के अनेक धर्मों का जहाँ एक साथ प्रस्तुत के धर्मों में निगरण हो जाय वहाँ भी समाधि गुण होता है। जैसे—

गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपंक्तयः।
अचलाधित्यकोत्संगमिमाः समधिशेरते॥[5]

यहाँ मेघ-पंक्तियों में गर्भिणी के धर्मों—गौरवक्लम, स्तनन, सखी की गोद में शयन—का पूर्ण रूप से निगरण प्रस्तुत किया गया है, मेघ-पंक्तियाँ (जल के)

---

१. काव्यादर्श १।९३ २: वही, १।९५
३. वही, १।९४ ४: वही, १।९६
५. वही, १।९८

गुरु गर्भ-भार को वहन करती हुई थक गयी हैं और क्लान्तिसूचक स्तनन (शब्द) करती हुई पर्वत की अधित्यका की गोद में लेटी हैं। समाधिगुण को लक्ष्य कर दण्डी का यह श्रेष्ठ उदाहरण है।

यह समाधि गुण न केवल वैदर्भ और गौड दोनों मार्ग के कवियों को स्वीकार है वरंच दण्डी का कहना तो यह है कि यह गुण काव्य का सर्वस्व (काव्य के सभी चमत्कारों का मूल) है। आज पूरा कवि-समाज अपनी काव्य-रचना में समाधि गुण की उद्भावना और संयोजना के लिए ही प्रयत्नशील रहता है।

मार्ग और गुण का उद्गम एवं काव्य में उनकी स्थिति

दण्डी ने उक्त गुणों का विवेचन वैदर्भ मार्ग के वैशिष्ट्य के रूप में किया है। गौड मार्ग गुणों को समग्र रूप में न स्वीकार कर प्रायः उनके विपर्यय स्वरूप और कुछ के अंशतः रूप को ग्रहण करता है। इन गुणों की कोई परिभाषा दण्डी ने नहीं दी है। ये दश गुण वैदर्भ के प्राण हैं—इस कथन से केवल इस ओर संकेत किया गया है कि काव्य-मार्ग या काव्य-पद्धतियों की पहचान उनके विशेष गुणों से की जाती थीं, आगे दूसरे परिच्छेद में इन गुणों को उन्होंने काव्य-शोभाकर (वाचाम्) अलंकारों से भिन्न असाधारण अलंक्रिया की संज्ञा दी है जिससे मार्ग काव्य का पूर्व के साधारण काव्य से भेद स्फुट होता है।[1]

अर्थात् गुण मार्ग के अलंकार हैं—विशिष्ट काव्य (मार्ग) की विशिष्ट अलंक्रिया। इसके पूर्व के भाव-युक्त साधारण काव्य के साधारण अलंकार-वर्ग उपमा आदि दूसरे हैं।

भरत ने इनको काव्य का गुण कहा है—'काव्यस्य गुणा दशैते।'[2] काव्य का गुण कहने से इस बात का समर्थन होता है कि मार्ग-संज्ञा काव्य का पर्याय थी। नाट्यशास्त्र के काव्य के गुणों की परिभाषा दण्डी के मार्ग के गुणों के लक्षण से भिन्न है। समाधि-गुण के लक्षण में तो भरत ने स्पष्ट ही उपमा का नाम लेकर उसमें अर्थ-चमत्कार को अत्यन्त स्फुट करने का प्रयास किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि भाषा-क्रान्ति के परिणाम—गुणों के विरुद्ध भाव-अर्थ का काव्य-चमत्कार जागरूक हो रहा था और उत्कर्ष-प्राप्त गुणों को आक्रान्त कर रहा था। अतः यह

---

१. काव्यादर्श २।३

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥

२. नाट्यशास्त्र १७।९६

भी प्रकट है कि लक्षण के विषय में नाट्यशास्त्र का समाधि गुण काव्यादर्श के समाधिगुण की अपेक्षा परवर्ती है। दण्डी का 'सम्यगाधीयते' कह कर साध्यवसाना लक्षणा की ओर इंगित था तथा 'समाधि गुण' को यथाशक्ति शब्द-चमत्कार की परिधि में रखने का निर्वाह था।[१] नाट्यशास्त्र के गुणों का लक्षणकार जिस मार्ग की ओर उन्मुख हुआ था उस सरणि पर वामन तक गुणों के चमत्कार का शब्द और अर्थ में विभाजन हो गया। वामन ने प्रत्येक गुणों की शब्द-गत और अर्थ-गत अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं। अर्थगुण समाधि को उन्होंने अर्थ-विषयक कवि की विशेष प्रतिभा कहा है जो दो प्रकार से प्रवृत्त होती है—अर्थ का मौलिक अनुसंधान कर तथा दूसरे के काव्य की छाया से अर्थ की भावना ग्रहण कर।[२] यह परिभाषा दण्डी के समाधि-गुण से नितान्त भिन्न हो गयी है और दोनों में कोई तारतम्य नहीं है। गुण की परिभाषाओं में इतने उलट-फेर का एकमात्र कारण भाषा-काव्य के प्रति पुनः अर्थ (भाव) काव्य की प्रतिक्रिया थी। यह प्रतिक्रिया आगे वामन से लेकर कुन्तक तक काव्य की परिभाषा में शब्द-अर्थ के युगपद् सन्निवेश का कारण बनी है।

उक्त दशगुणों में—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, ओज—ये सात तो स्पष्ट ही अक्षर और पद के चमत्कार पर आश्रित हैं। शेष तीन गुणों—उदारत्व, कान्ति तथा समाधि—का चमत्कार अर्थगत मान कर भी उनकी परिभाषाओं में पद-प्रयोग की विशिष्टता पर बल दिया गया है—(१) जिस वाक्य के कहने पर किसी उत्कर्षवान् गुण-धर्म की प्रतीति हो।[३] (२) लौकिक

---

१. नाट्यशास्त्र १७।१०१

उपमास्त्विर्या दृष्टानां (?) अर्थानां यत्नतस्तथा।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते॥

काव्यादर्श १।९३

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥

२. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ३।२।६-७

अर्थदृष्टिः समाधिः॥
अर्थो द्विविधः, अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च॥

३. काव्यादर्श १।७६

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयम्।

अर्थ को अतिक्रमण न करने के कारण जिसका पद-प्रयोग अपने अनायास अर्थबोध से अज्ञों से विद्वानों तक को मनोहर हो।[१] (३) लोक-व्यवहार के अनुरोध से अन्य का धर्म अन्य में जिस वाक्य में भली-भाँति स्थापित कर दिया जाय।[२] इस प्रकार ये दश गुण काव्य में शब्दगत सौष्ठव से उसके अर्थबोध में भी सहायक होते हैं। उक्तियों का जो अर्थ पदों से प्रकट होता है, यदि अर्थ की गहनता या मृदुता के अनुकूल अक्षर-विन्यास कर पद-संघटना की गयी तो उस अर्थ, भाव या रस की समवेत अनुभूति अक्षरों की संघटना से ही प्रस्फुट होने लगती है, जिसे अर्थ-व्याख्यान में कदापि व्यक्त नहीं किया जा सकता, यह संघटना काव्य-पाठ और काव्य-बोध––दोनों को, उनके मध्य में स्थित दीपक की भाँति प्रकाशित करती है। अनूदित काव्य से मूल काव्य की यही विशेषता होती है। इसलिए भी ये गुण सचमुच साधारण अलङ्क्रिया हैं, दण्डी के कथन में पक्षपात नहीं है।

गुणों का मूल शब्द-चमत्कार में है। शब्द चमत्कार से ही वे मार्ग के अभिज्ञान हैं। अलंकारों से इनकी दिशा अलग है। गुण द्वारा मार्ग के अभिज्ञान का स्पष्टार्थ है––वाक्य-रचना या छन्द-रचना में ऐसे अक्षरों, सुबन्त-तिङन्त पदों तथा समासों का प्रयोग करना जिनसे रचना (संघटना)––बन्ध में शैथिल्य न आने पाये एवं रचना के अर्थ के अनुरूप उनमें अक्षरों के समवेत उच्चारण से एक उल्बणत्व की प्रतीति पाठक या श्रोता को हो। पदों और अक्षरों के ऐसे प्रयोग भूगोलगत सीमाओं के अनुसार बदल जाते हैं इसीलिए दण्डी को गौड मार्ग में वैदर्भ मार्ग का विपर्यय दिखायी पड़ा, जो मार्ग के एक-एक गुण में है, जैसे––श्लेष गुण में वैदर्भ कवि जहाँ महाप्राण अक्षर तथा संयुक्त वर्णों का सन्निवेश अच्छा मानते हैं, वहाँ गौड कवियों को अल्पप्राण अक्षर एवं असंयुक्त वर्णों की शिथिल पद-संघटना ही प्रिय होती है। गुण उक्तियों के शब्द-प्रयोग का तथा अलंकार अर्थ-स्वरूप का पक्ष था, दोनों अपनी-अपनी सरणि से काव्य को अलंकृत करते थे। इस प्रकार दोनों की कभी एकता नहीं रही, विदग्धगोष्ठियों में भी दोनों अपनी भिन्न-भिन्न भूमियों से प्रभावित हुए हैं। जैसा कि उन्मेष दो में स्पष्ट किया गया है कि गुणों की उद्भावना ही अलंकारों के विरोध में है, इसलिए यह प्रश्न नहीं उठता कि गुण और अलंकार

---

१. काव्यादर्श १।८५

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।

२. वही, १।९३

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥

दोनों कभी काव्य-लक्षणों के चिन्तन में अवश्य एक रहे होंगे? और तब उनके अन्तर को स्पष्ट कर किसने उनका अलग-अलग विवेचन किया, इस प्रश्न का समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न भी अनावश्यक है। और डा० वेंकटेश राघवन् जी का यह कहना कि 'गुण एवं अलंकार का अन्तर सर्व प्रथम दण्डी के काव्यादर्श में उल्लिखित हुआ।'[१] काव्य शास्त्र के इतिहास के किसी यथार्थ तथ्य का प्रकाशक नहीं है।

दण्डी के निरूपित गुण अपनी पूर्ण प्रकृति और अन्तिम विकासावस्था के हैं। इनकी दश संख्या बहुत काट-छाँट के बाद निश्चित हुई होगी। दश गुणों के पूर्व ये कभी अनेक संख्या में पद और वाक्य के विशेषण-वैशिष्ट्य के रूप में पुकारे जाते रहे हैं। उपनिषद्, महाभारत और आदिकाव्य रामायण में इनकी अनेक संज्ञाओं का निर्देश है और उन संज्ञाओं के वैशिष्ट्य से विलसित अनेक प्रयोग उक्त आर्ष ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। किन्तु गुणों के अत्यन्त निकट की संज्ञा (जो गुण के विकास की मध्य अवस्था की सूचक है)—काव्य के 'शब्द-समय' (शब्द-सिद्धान्त) का उल्लेख पहली बार रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (शकाब्द ७२, १५० ई०) में हुआ। इस 'शब्द-समय' में स्फुट, लघु, मधुर, चित्र तथा कान्त संज्ञाओं द्वारा गद्य-पद्य काव्य के अलंकृत होने का निर्देश किया गया है।[२] यहाँ मधुर और कान्त नामों में माधुर्य एवं कान्ति गुण का पर्याय अत्यन्त स्पष्ट है। दण्डी ने कान्ति के लिए कान्ति[३] (गुण) और कान्त[४] (वाक्य) दोनों नामों का प्रयोग किया है इसलिए कान्त शब्द-समय से कान्ति गुण में कोई अन्तर न रहा होगा, यह एक निश्चय से कहा

---

१. शृंगारप्रकाश (डा० वेंकटेश राघवन्) पृ० २९२

The begining of same sort of differentation between Guna and Alaenkara is first scen in Dandins Kāvyādarśa.

२. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ६४

स्फुट — लघु — मधुर — चित्र—कान्त — शब्दसमयोदारालंकृत—गद्य-पद्य—(काव्य—विधान-प्रवीणे) न, प्रमाणमानोन्मान—स्वर — गति—वर्ण्ण—सारसत्वादिभिः।

३. काव्यादर्श १।४१

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः-कान्ति-समाधयः।

४. वही १।८५, ८८

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
इति संभाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥

जा सकता है। शेष नामों में 'स्फुट' अर्थव्यक्ति या प्रसाद के लक्षण के निकट है, 'चित्र' ओज का समानधर्मा हो सकता है। 'लघु' श्लेष के लक्षण का एक भाग है।

काव्य के ये शब्द-समय अथवा मार्ग के ये गुण अपने यथार्थ स्वरूप के आविर्भाव के पूर्व वाक्य या वचन और गान के वैशिष्ट्य के प्रकारों तथा अनेक रूपों में ऋचा-पाठ, काव्यात्मक संवाद एवं कथा-वाङमय में नाम और प्रयोग दोनों तरह से व्यवहृत होते रहे हैं। इनका आरम्भिक अभिज्ञान अक्षरों और पदों के उच्चारण-प्रयत्न की एकता से उत्पन्न ध्वनि-साम्य (अनुप्रास) में तथा मृदु-अल्पप्राण अक्षरों के बहुल प्रयोग से उत्पन्न श्लक्ष्णप्राय श्रवणगोचरता में प्रकट हुआ। उच्चारण-जन्य प्रभाव को लेकर एक उच्चारण की दूसरे उच्चारण से की जानेवाली तुलना में इनकी विभिन्न संज्ञाएँ की जाने लगीं। इस प्रकार गुणों का इतिहास बहुत पुराना है, जो उक्ति के अर्थ-सौष्ठव—अलंकारों से भिन्न शब्द-सौष्ठव की खोज में विकसित होता रहा है। ऋचा-गान की मृदुता और कठोरता को लेकर शब्द-सौष्ठव की ऐसी विशेषताओं का आकलन सब से पुराना समझा जाना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रसंग की चर्चा मिलती है, उसमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के ऋचा-गान को मृदु, श्लक्ष्ण, बलवद् तथा अपध्वान्त (भ्रष्ट) संज्ञाएँ दी गयी हैं। इन संज्ञाओं को मधुर, सुकुमार, ओज गुणों तथा ग्राम्यता का मूल कह सकते हैं—

> **विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य, मृदु श्लक्ष्णं वायोः, श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौंचं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य, तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत्।**[1]

अर्थात् साम के 'विनर्दि' संज्ञक गान का वरण करता हूँ, वह पशुओं के लिए हित-कर है और अग्नि का उद्गीथ है। प्रजापति का गान (उद्गीथ) अनिरुक्त है अर्थात् उसकी किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती। सोम का निरुक्त है। वायु का मृदु और श्लक्ष्ण (सरलता से उच्चारण किये जाने योग्य सुकुमार) है। इन्द्र का श्लक्ष्ण और बलवान् (ओजस्वी) है। बृहस्पति का क्रौंच पक्षी के शब्द के समान है। वरुण का गान अपध्वान्त है। इनमें वरुण के उद्गीथ (गान) को त्याग कर शेष सब के गान की उपासना करे।

महाभारत में अच्छे वक्ता के लिए वचन-सम्पन्न तथा वाक्यविशारद संज्ञाओं का विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। और स्थान-स्थान पर वाणी और वाक्य की उन विशेषताओं को भी इंगित किया गया है जिनके कारण वक्ता में वचन-

---

१. छान्दोग्योपनिषद् २।२२।१

सम्पन्न[1] या वाक्यविशारद विशेषण की यथार्थता प्रत्यक्ष होती है। वे विशेषताएँ—एक तो वाणी के उच्चारण की होती थीं, जो वक्ता की जन्मजात उपलब्धि रहती थीं, जैसे कृष्ण के लिए 'मेघ-स्वन'[2] और द्रोण के वचन के लिए 'महामेघनिभस्वन'[3] विशेषणों का प्रयोग। दूसरी विशेषताएँ वाक्य-गठन एवं पद-प्रयोग की होती थीं, जो वक्ता की भाषा-सम्बन्धी विज्ञता का परिचायक थीं, विशेषतः राजनीतिक, कूटनीतिक वक्ता के लिए ये बहुत आवश्यक थीं, वाक्यों का शक्तिमान् प्रयोग प्रतिपक्षी को सहमत करने में समर्थ होता था। वाक्य-गठन और पद-प्रयोग सम्बन्धी ऐसी विशेषताएँ इन्हीं श्लेष, ओज, माधुर्य आदि गुणों की पूर्व परम्परा में थीं। महाभारत के पात्रों में कृष्ण से बढ़ कर शक्तिमान् वक्ता कदाचित् दूसरा नहीं है। वे सन्धिदूत बन कर कौरव-सभा में गये थे, लेकिन वहाँ सफलता न मिल सकी। तब उन्होंने सुयोधन के प्रबल सहायक महारथी कर्ण को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। कर्ण से कृष्ण ने जैसी बातचीत की, जैसे वाक्यों का प्रयोग किया, उसका वर्णन संजय धृतराष्ट्र से करता है—

आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च॥
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत![4]

इस कथन में वाक्यों को आनुपूर्वी, तीक्ष्ण, मृदु तथा हृदयग्राही होना कहा गया है। आनुपूर्व्य को श्लेष का, मृदु को माधुर्य का तथा हृदयग्राही को कान्त गुण का पर्याय समझना चाहिए। तीक्ष्ण भी वाणी का एक विशेष गुण है जिसका प्रयोग केवल राजनीतिक पृष्ठभूमि या ठेठ लोकव्यवहार में ही उपयुक्त होता था, काव्य में इस गुण की उपयोगिता नहीं थी। तीक्ष्ण गुण की वाणी के प्रयोग से श्रोता

---

१. महाभारत, आदि पर्व १।८

एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग् यथावल्लौमहर्षणिः।
वाक्यं वचनसम्पन्नस्तेषां च चरिताश्रयम्॥

२. महा० उद्योग पर्व १४०।३

उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाब्रवीत्।

३. महा० आदि पर्व १३४।६

ततो रंगांगणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत्।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम्॥

४. महा० उद्योग पर्व १४०-।४-५

तिलमिला उठता था, और अपने हृदय के उन उद्गारों को जिन्हें वह छिपाये रखना चाहता था, विवश होकर प्रत्युत्तर में प्रकट कर देता था। महाभारत में वक्ता की वाणी को प्रायः तीक्ष्ण गुण से युक्त बताया गया है। तीक्ष्ण वाक्यों की प्रतियोगी मृदु या मधुर वाक्यों की वाणी थी, चतुर वक्ता तीक्ष्ण के उत्तर में सदैव मधुर वाक्यों की वाणी का प्रयोग करता था। सभा में दूसरे को अपमानित करने के लिए एक साथ मृदु और तीक्ष्ण वाक्यों का प्रयोग प्रगल्भ वक्ता करते थे।[1] सुयोधन द्वारा प्रार्थना किये जाने पर जब शल्य ने न केवल कर्ण का सारथी होना अस्वीकार किया (यद्यपि पांडवों के हित में मन से वे ऐसा करना चाहते ही थे) वरंच नाराज होकर अपने देश लौट जाने को तैयार हो गये। तब वह उनके प्रति मधुर वाक्य का ही प्रयोग करता है। यहाँ मधुर वाक्य को सर्वार्थ-साधक कहा गया है—

प्रणयाद् बहुमानाच्च तं निगृह्य सुतस्तव।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साम्ना सर्वार्थसाधकम्॥[2]

जैसा कि दण्डी ने लिखा है—'मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।'[3] मधुर गुण का वैसा ही प्रयोग आह्लादकारी और रसपर्यवसायी रूप में महाभारत में भी किया गया है। गंगा ने जब शान्तनु की पत्नी होना स्वीकार किया तब उन्होंने मृदु (मधुर) एवं वल्गु गुणों से युक्त वाणी में अपनी स्वीकृति दी है, आनन्द बरसाती स्मितयुक्त वाणी में कहा है—महीपाल! मैं तुम्हारी आज्ञाकारिणी महिषी बनूंगी। यहाँ मृदु और वल्गु दोनों मिलती-जुलती संज्ञाएँ हैं, जो माधुर्य गुण के निकट हैं—

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च।
वसूनां समयं स्मृत्वाथाभ्यगच्छदनिन्दिता॥
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा॥[4]

मेघनिभस्वन वचन यद्यपि वक्ता का जन्मजात गुण होता था तथापि उसे

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व ११४।१

विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदु तीक्ष्णेन भारत!
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिंदम्!

२. महा० कर्ण पर्व ३२।५३

३. काव्यादर्श १।५१

४. महा० आदि पर्व ९८।१-२

पद-प्रयोगों से भी वैसा बनाया जाता रहा होगा और तब उसमें निश्चित ही ओजोगुण-पदों के प्रयोग होते रहे होंगे।

'आनुपूर्व्येण वाक्यानि' का तात्पर्य उन सभी गुणों के समन्वय से है जिससे वाक्य के उद्देश्य और विधेय की स्फुट अभिव्यक्ति हो जाय। इस समन्वय में श्लेष, प्रसाद, अर्थव्यक्ति तथा उदार गुणों की विशेषताएँ आ सकती हैं।

महाभारत को देवों और मनुष्यों के प्रयोग-सिद्धान्त में स्वीकृत शुभ शब्दों से अलंकृत बताया गया है।[1] इसलिए वह विद्वानों को प्रिय है। समय (सिद्धान्त)—स्वीकृत शुभ शब्दों का तात्पर्य महाभारत के इन गुण-विशिष्ट प्रयोगों से ही है। महाभारत के **'शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः'** इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अतीत काल में वाणी के व्यवहार-सम्बन्धी सिद्धान्त भिन्न-भिन्न जातियों में अपनी अलग-अलग विशेषताएँ रखते थे। वक्ता लौमहर्षणि की दृष्टि में महाभारत का शब्द-विन्यास (गुण-अन्विति) देव और मनुष्य दोनों के वाणी-प्रयोग के सिद्धान्तों से युक्त था।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में विस्तार के साथ भिन्न-भिन्न जातियों अथवा वर्गों के वाक्य-प्रयोगों की विशेषताएँ उद्धृत की हैं और उन विशेषताओं में पद-सम्बन्धी व्युत्पत्तियों तथा गुणों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में आर्ष, आर्षीक आर्षिपुत्रक, वैबुध (दैव), वैद्याधर, गान्धर्व, योगिनीमत, भौजंगम तथा वैष्णव वाक्यों के लक्षण बताये गये हैं।[2] राजशेखर के सामने वैष्णव वाक्य को छोड़कर, जिसे उन्होंने मानुष वाक्य भी कहा है, शेष वाक्यों का प्रत्यक्ष उदाहरण तो निश्चित रूप से नहीं रहा होगा लेकिन परम्परानुश्रुत लक्षणों को उन्होंने दे दिया है। हमें इसी पृष्ठभूमि में इन्हें देखना भी चाहिए और अतीत की इसी सरणि में वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

महाभारत में देव तथा मनुष्य की वाणी के समय (गुण)—अन्वित शब्दों का उल्लेख यथास्थिति का संकेत है। राजशेखर के उक्त वाक्यों में आर्ष-वाक्य प्रसाद तथा अर्थव्यक्ति गुण से युक्त होता था, इन दोनों गुणों का कथन यहाँ प्रकारान्तर से हुआ है—प्रसाद अर्थात् नामविभक्ति से युक्त वाक्य, अर्थव्यक्ति—अर्थात् अर्थ का प्रत्यक्ष निर्देश—

---

१. महाभारत आदि पर्व १।२८

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥

२. काव्यमीमांसा (अध्याय ७) पृ० ७०-७५

यत्किंचिन्मात्रसंयुक्तं युक्तं नामविभक्तिभिः।
प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचः स्मृतम्॥[1]

ऋषि-युग के पश्चात् काव्य-चर्चा के युग में 'नामविभक्तिभिः युक्तम्' की संज्ञा प्रसाद तथा 'प्रत्यक्षाभिहितार्थम्' की संज्ञा अर्थव्यक्ति हो गयी। आर्षीक वाक्य भी छोटे-छोटे वाक्यों (अर्थात् प्रसाद गुण) से युक्त होते थे—'न चापि सुमहद्वाक्यमृषीकाणां वचस्तु तत्।'[2] गुणों का प्रत्यक्ष उल्लेख देव तथा सर्प वाक्यों के लक्षणों में है। देव-वाक्य का लक्षण है—

समासव्यास-सन्दृब्धं शृंगाराद्भुतसम्भृतम्।
सानुप्रासमुदारं च वचः स्यादमृताशिनाम्॥[3]

इस लक्षण में उदार गुण का नाम तो लिया ही गया है, समास-व्यास-संदृब्ध वचन वैदर्भ-गौड का अनुमत ओजोगुण है। शृंगार तथा अद्भुत रसों से पूर्ण अनुप्रास-युक्त वाक्य स्पष्ट रूप से दण्डी का माधुर्य तथा कान्ति गुण है। इसी प्रकार गुणों के स्पष्ट उल्लेख के साथ भौजंगम वाक्य का लक्षण किया गया है—

प्रसन्नमधुरोदात्त—समासव्यासभागवत्।
अनोजस्विपदप्रायं वचो भवति भोगिनाम्॥[4]

यहाँ भी प्रसन्न, मधुर तथा उदात्त से क्रमशः प्रसाद, माधुर्य और उदार गुणों का ही ग्रहण है। 'समास-व्यास-भागवत्' पहले की भाँति वैदर्भ-गौड का ओजोगुण है। 'अनोजस्विपदप्रायम्' की संगति दण्डी के 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते' से, अर्थात् सुकुमारता गुण से है।

वैष्णव या मानुष वचन का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने कहा है—वह वैदर्भी, गौडी, या पांचाली रीतियों से तीन प्रकार का है और पुनः इन रीति-वाक्यों को काकु अनेक प्रकार का बना देता है।[5] अर्थात् रीतियाँ गुणयुक्त होती थीं, और ये गुण मनुष्यों के अतिरिक्त उनसे पूर्व ही अन्य जातियों की भाषाओं में वाणी-सौष्ठव

---

१. काव्यमीमांसा पृ० ७१

२. वही, पृ० ७१

३. वही, पृ० ७२

४. वही, पृ० ७४

५. वही, पृ० ७५

वासुदेवस्य वचो वैष्णवं तन्मानुषमिति व्यपदिशन्ति। तच्च त्रिधा रीतित्रय-भेदेन।.....रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति।

के प्रतिमान थे। राजशेखर की काव्य-मीमांसा की यह सूचना, यद्यपि उसका रचनाकाल १० वीं शती ई० का आरम्भ है, गुणों की प्रत्न-परम्परा के इतिहास के रूप में उल्लिखित हुई है। काव्य-चर्चा के स्वतत्र-चिन्तन के पहले अनेक जातियों और वर्गों की भाषाओं में वाक्यों का सौष्ठव गुणों के अभिज्ञान में निहित था। संस्कृत भाषा अथवा लौकिक संस्कृत के अतिरिक्त भारत में जिन भाषाओं का प्रयोग होता था, अथवा यों कहें कि भारत के मध्यवर्ती आर्यों के अतिरिक्त अन्य जातियों की अपनी वाणी के जो प्रतिमान-प्रयोग थे, उनमें गुणों की संप्रभुता ही वाणी-सौष्ठव का आधार थी। वाणी में गुणों का यह सन्निवेश उसके उच्चारण में ध्वनि, नाद की एक अद्भुत रमणीयता, श्रवणजन्य मनोहारिता तथा अर्थ की स्फुट अभिव्यक्ति का कारण बन जाता है। शब्द-योजना की विदग्धता ही गुण थे, शब्दों की व्युत्पत्ति थी—अक्षर, अक्षरों के उच्चारण सम्बन्धी आभ्यन्तर-बाह्य प्रयत्न, कण्ठ-तालु-मूर्धा-आदि का संचालन और उच्चारणान्तर संवार-नाद-घोष-महाप्राण ध्वनियाँ। और गुण के लिए ही वाणी में शब्द की व्युत्पत्तियों का एक लावण्योत्पादक नियमन होता था। अर्थात् गुणों के प्रयोग में व्याकरण शास्त्र की उक्त व्युत्पत्तियों की ज्ञानापेक्षा एवं उपादेयता थी। यह बात रामायण के एक प्रसंग से स्पष्ट हो जाती है। वानर हनुमान् सुग्रीव के दूत बन कर वन-पथ पर आते तेजस्वी आर्य-वीर राम-लक्ष्मण से मिलने गये। उनके मिलने का उद्देश्य था—यदि वे वीर बालि के भेजे हुए हों तो उसे जान कर सुग्रीव को संकेत कर देना चाहिए, और यदि ये स्वतः विचर रहे हों तो ऐसे तेजस्वी वीरों को अपने पक्ष में करने के लिए सुग्रीव की ओर से दूतत्व किया जाय। हनुमान् ने उनके पास पहुँच कर, जैसा कि कूटि-नीतिक व्यक्ति को उचित है, अत्यन्त गुण-सम्भृत वाणी में अपनी बातें प्रस्तुत कीं। गुणशालिनी वाणी में हनुमान् के वाक्यों का श्रवणजन्य तथा बोधजन्य राम पर क्या प्रभाव पड़ा, वाल्मीकि ने इसे विस्तार से स्पष्ट किया है, उससे गुण-संयुक्त वाणी की महिमा का आकलन होता है। हनुमान् की विनीत तथा सार-युक्त वाणी को सुन कर राम प्रसन्न हुए, कहनेवाले की प्रतिभा से चमत्कृत हुए और लक्ष्मण से कहा—तुम इस वाक्यज्ञ को मधुर वाक्यों से उत्तर दो। जिस सुन्दर भाषा और अभिव्यक्ति में इन्होंने अपनी बातें कहीं हैं, निश्चय ही ऋग्वेद की शिक्षा, यजुर्वेद के अभ्यास तथा सामवेद के पूर्ण ज्ञान के बिना ऐसी भाषा कोई बोल नहीं सकता। समूचे व्याकरण-शास्त्र का स्वाध्याय इन्होंने अनेकधा किया होगा, क्योंकि कोई भी अपशब्द (ग्राम्य-प्रयोग) इस संवाद में नहीं आया। हृदयस्थित इनके जो वाक्य कण्ठ से फूट कर बाहर मध्यम स्वर में प्रकट हुए हैं वे अविस्तर, असन्दिग्ध, अविलम्बित और अव्यथ हैं। इस चित्रमयी वाणी से, जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति

शब्दों के उच्चारण के समकाल ही हृदय, कण्ठ एवं शिर की भंगिमा से होती जा रही है, तलवार खींच कर मारने के लिए उद्यत किस शत्रु का भी चित्त न प्रसन्न होगा ?[1]

यहाँ हनुमान् के वाक्यों की जो विशेषताएँ राम ने लक्ष्मण से बतायी हैं, यदि उनके अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो उनका तारतम्य इन मार्ग-गुणों के लक्षण से हो जाता है---अविस्तर वाक्य श्लेष गुण के, असन्दिग्ध वाक्य अर्थव्यक्ति के, अविलम्बित वाक्य समता के और अव्यथ वाक्य माधुर्य एवं कान्ति गुण के निकट है। स्वयं वाल्मीकि ने उक्त संवाद के प्रसंग में हनुमान् द्वारा श्लक्ष्ण, सुमनोज्ञ और मृदु वाक्यों के बोले जाने का उल्लेख किया है।[2] श्लक्ष्ण का वैशिष्ट्य श्लेष-युक्त माधुर्य तथा सुकुमार गुणों के ही निकट है, श्लक्ष्ण वाणी उसे कहते हैं जो सरलता से उच्चारण-योग्य, बन्ध-पूर्ण एवं कोमल हो। सुमनोज्ञ तथा मृदु वाक्य क्रमशः कान्ति और माधुर्य गुण के लक्षणों में अन्तर्हित होते हैं। दूतों द्वारा श्लक्ष्ण एवं मृदुवाणी बोले जाने की एक परम्परा थी, शुम्भ का दूत सुग्रीव भी हिमाचल-स्थित देवी से अपने दैत्यराट् का सन्देश श्लक्ष्ण और मधुर वाणी में कहता है।[3]

हनुमान् ने जिस वाणी का प्रयोग किया, वह हमारे सामने नहीं है, किन्तु कवि वाल्मीकि ने उसका जो अनुवाद अपने प्रबन्ध में प्रस्तुत किया उसे पढ़ कर भी हनुमान् की उक्त गुण-विशिष्ट वाणी का ही आनन्द आता है। राजशेखर के आर्ष-वाक्य के लक्षण---नाम-विभक्तियों का प्रयोग और अर्थ का प्रत्यक्ष अभिधान---के साथ श्लेष-बन्ध (संयुक्तवर्ण और महाप्राण अक्षरों के निवेश) तथा अल्प समास से

---

१. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड ३।३१, ३३

अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम् ।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम् ॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥

२. वा० रा०, किष्किन्धा काण्ड ३।३, ५

ततश्च हनुमान् वाचा श्लक्ष्णया सुमनोज्ञया।
विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च॥
उवाच कामतो वाक्यं मृदु सत्यपराक्रमौ॥

३. दुर्गासप्तशती ५।१०४

स तत्र गत्वा यत्रास्ते शैलोद्देशेऽतिशोभने।
सा देवी तां ततः प्राह श्लक्ष्णं मधुरया गिरा॥

हनुमान् की वह वाणी पूर्ण है, जिसके कारण उक्त वर्णन में राम-लक्ष्मण के तेजस्वी-स्वरूप की अभिव्यक्ति-सी फूटी पड़ती है। नाम-विभक्ति, प्रत्यक्ष-अर्थाभिधान, श्लेष और अल्प समास (वैदर्भ-अनुमत ओज) का यहाँ एकत्र उदाहरण देखिए—

सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ।
शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ॥
श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ वृषभश्रेष्ठविक्रमौ।
हस्तिहस्तोपमभुजौ द्युतिमन्तौ नरर्षभौ॥[1]

प्रत्यक्ष अर्थ-अभिधान को यदि हम अर्थव्यक्ति गुण मान लें तो अर्थव्यक्ति, श्लेष और ओज के अतिरिक्त नाम-विभक्ति का प्रयोग उक्त श्लोकों को अधिक उल्बणता प्रदान कर रहा है। इसी प्रकार—

पम्पातीररुहान् वृक्षान् वीक्षमाणौ समन्ततः।
इमां नदीं शुभजलां शोभयन्तौ तरस्विनौ॥
धैर्यवन्तौ सुवर्णाभौ युवां चीरवाससौ।
निःश्वसन्तौ वरभुजौ पीडयन्ताविमाः प्रजाः॥[2]

इन श्लोकों में वीक्षमाणौ, शोभयन्तौ, निःश्वसन्तौ, पीडयन्तौ—इन कृदन्त-क्रियापदों में ही समाप्त वाक्य, जिनमें अनुप्रास भी अपने आप आ गया है, अर्थ की एक विशेष चमत्कृति उत्पन्न करता है। राजशेखर के अनुसार यह कृदभिहिताख्यात वाक्य है।[3] क्रियाओं के अन्य विशेष प्रयोग भी अर्थ-बोध की सुस्पष्टता और वाणी के उच्चारण को मंजुलता प्रदान करते हैं एवं गुणों के वैशिष्ट्य को उपकृत करते हैं। क्रियाओं के ऐसे प्रयोग दीपक अलंकार की उद्भावना के भी मौलिक पक्ष हैं।

रामायण तथा महाभारत में क्रिया-प्रकार के अनेक प्रयोगों के रमणीक उदाहरण विद्यमान हैं। और वे कविकृत-प्रयत्न के परिणाम नहीं हैं वरंच उनकी स्थिति प्रकृतिजात है। महाभारत का यह आवृत्ताख्यात-प्रयुक्त श्लोक देखिए—

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि॥[4]

---

१. वा० रा०, किष्किन्धा०, ३।९-१०
२. वा० रा० किष्किन्धा०, ३।७-८
३. काव्यमीमांसा, पृ० ६०
४. महा० आदि पर्व १।२६

इसमें क्रिया की आवृत्ति तो है ही, साथ ही दूसरी विशेषता भी वर्तमान है—आवृत्ति एक ही कर्ता, उसी वचन और पुरुष में तथा तीनों कालों में प्रयुक्त होकर प्रस्तुत अर्थ को अधिक तीव्रता प्रदान करती है। क्रिया-प्रयोग को गुण के वैशिष्ट्य के रूप में ग्रहण किये जाने की परम्परा कवि-सम्प्रदाय में सदा बनी रही है। भोज ने नाम-विभक्ति तथा क्रिया-पदों के व्युत्पत्ति-युक्त प्रयोग को अलग से सुशब्दता नाम का शब्दगुण ही कहा है।[1] और यह उदाहरण दिया है—

तस्याजीवनिरस्तु मातरवमा जीवस्य मा जीवतो
भूयाद्वाऽजननिः किमम्ब जनुषा जन्तोर्वृथा जन्मनः।
यस्त्वामेव न वन्दते न यजते नोपैति नालोकते
नोपस्तौति न मन्यते न मनुते नाध्येति न ध्यायति॥

गुणों की उद्भावना में यही सहयोग संज्ञा (सुबन्त पद) और उनकी विभक्तियों का है। राजशेखर ने उद्भट के मत में अभिधा-व्यापार के तीन वाक्य-प्रकारों का उल्लेख किया है—१. वैभक्त वाक्य (जिसमें प्रत्येक पद में विभक्तियाँ लगी हों।) २. शाक्त वाक्य (जिसमें समास के कारण विभक्तियाँ लुप्त हो गई हों।) ३. शक्ति-विभक्तिमय वाक्य (जिसमें उक्त दोनों विशेषताएँ हों।) इनमें प्रथम दो वाक्य-प्रकार क्रमशः प्रसाद और ओज गुण की विशेषताएँ हैं।[2] इस प्रकार वाक्य-प्रयोग के रमणीयता-प्रकारों ने भी गुणों को उनका स्वरूप प्रदान करने में सहायता की है। वाक्य, पद, अक्षर तथा उनके उच्चारण-प्रयत्न में उत्पन्न विभिन्न नाद, ध्वनि आदि के द्वारा सुशब्दता और अर्थबोध की सुकुमारता को लेकर काव्य-गोष्ठियों में शब्द-सौष्ठव का जो विकास हुआ, वही क्रमशः गिरनारवाले शिलालेख के शब्द-समय और दण्डी के दश गुणों के रूप में मार्ग-काव्य का लक्षण बन गया।

इन गुणों में श्लेष, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, प्रसाद, समता तथा कान्त ऊपर उल्लिखित शब्द-सौष्ठव के विभिन्न प्रकारों के समाहार से बने हैं। इनमें भी श्लेष, समता, सुकुमारता गुणों का स्वरूप उच्चारण-जन्य प्रयत्नभेद को लेकर वर्ण-विशेष के सन्निवेश का निश्चित परिणाम है। यह बात तो दण्डी के लक्षण से भी स्पष्ट

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १।७२
व्युत्पत्तिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता।
२. काव्यमीमांसा, पृ० ५५

है।[1] हम इनके स्वरूप के विस्तार में अच्छे वाक्य तथा श्रवण-प्रिय वर्णों के उन वैशिष्ट्यों को देख सकते हैं जो वास्तव में गुणों का विभक्त अंश थे और काव्य में गुणों के निश्चय के पूर्व सामान्य प्रयोग में भी वाणी की विशिष्टता व्यक्त करते थे, एवं उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में उक्त अर्थ में ही जिनको अनेक संज्ञाएँ प्रदान की गयी हैं। उन अनेक संज्ञाओं को गुणों की सीमा में निम्न प्रकार से देखा जा सकता है, इससे गुणों की विकास-अवस्था भी स्पष्ट होती है—

श्लेष—आनुपूर्व्य, अविस्तर, श्लक्ष्ण, स्फुट।

माधुर्य—अपभ्रष्ट-हीनता, अग्राम्यता, अनुप्रास, काकु, अव्यथ, मनोज्ञ।

ओजस्—समास-बहुल पद (शाक्त वाक्य), आख्यात-प्रयोग।

सुकुमारता—श्लक्ष्ण, विभक्तिमय पद (वैभक्त वाक्य), अनोजस्वि, अव्यथ।

प्रसाद—विभक्तिमय पद, अविस्तर, प्रत्यक्षाभिहितार्थ।

समता—मृदु, अविलम्बित।

कान्त—हृदयग्राहित्व, वल्गु, उक्ति।

अर्थव्यक्ति गुण का लक्षण एकान्त है। उसका वैशिष्ट्य—अर्थ का अनेयत्व धर्म उसके उद्गम तथा विकास में एक समान बना रहा। इसी एकरूपता के कारण वह दोनों मार्गों को एक समान स्वीकार है क्योंकि अर्थ के नेयत्व धर्म की प्रशंसा वैदर्भ और गौड दोनों नहीं करते।[2]

दण्डी के दश गुणों और रसवादी के तीन गुणों का मौलिक भेद

दण्डी के दश गुणों की परम्परा का मूल क्या था, यह ऊपर स्पष्ट किया गया है। उनके उत्तरवर्ती औदीच्य आचार्यों ने काव्य में तीन गुणों को ही मान्यता दी है। और उनमें वरिष्ठ आचार्य मम्मट ने, दण्डी के नहीं उनकी परम्परा के पोषक—

---

१. काव्यादर्श १।४३, ४७, ६९

शिल्ष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। (श्लेष)
समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः॥ (समता)
अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते। (सुकुमारता)

२. वही, १।७५

नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि।
न हि प्रतीतिः सुभगा शब्दन्यायविलङ्घिनी॥

वामन के दश शब्द गुणों और दश अर्थ गुणों का अन्तर्भाव अपने तीन गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद), दोषाभावों, दोषों, अर्थदृष्टि और वैचित्र्य प्रकारों में कर दिया है।[१] यह घटना काव्य में रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा स्वीकार किये जाने के बाद की है। इस व्यवस्था का काव्य-चर्चा में बहुत आदर हुआ और जब दण्डी और वामन के रास्ते पर चलकर भोज ने शब्द-अर्थ गुणों के चौबीस-चौबीस भेद किये तो उस स्थापना को तथ्यपूर्ण अथवा मूल्यवान् नहीं समझा गया।

रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के बाद उसके तीन गुणों को मान्यता देना एक अलग विषय था, जो रसाभिव्यक्ति के चिन्तन से प्रेरित था किन्तु इन तीन गुणों की सीमा में शब्द-अर्थ के दश गुणों को अन्तर्भुक्त करने का प्रयास काव्य-चर्चा के इतिहास में असमीक्षित घटना थी। यह इसलिए कि तीन गुणों और दश गुणों की उद्भावना की मूल-भूमियाँ ही भिन्न-भिन्न हैं। दश गुण सौशब्द्य काव्य के (वह वैदर्भ हो या गौड) प्राण हैं, स्वतः अपने में समग्र काव्य-सिद्धान्त हैं, काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में मार्ग और गुणों का विस्तृत विवेचन, जिसमें तत्कालीन काव्य-सम्प्रदायों के उनसे सम्बन्धित भिन्न दृष्टिकोणों की भी चर्चा है, इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। तीन गुण अंगी रस के धर्म, उनकी अन्तःसत्ता के प्रकाश हैं, इन गुणों की रस से कोई अलग सत्ता नहीं है, ये रस का अवलम्बन करके ही काव्य में चमत्कृत होते हैं।[२] इन तीन गुणों का सम्बन्ध मन की भावाभिभूत तीन दशाओं से है—१. द्रवीभूत होना (द्रुति, माधुर्य गुण), २. विस्तार होना (विचेष्टा, ओजोगुण), ३. विकास होना (समर्पकत्व, प्रसाद गुण)। और ये क्रमशः तीन-तीन रसों के साथ सम्बद्ध हैं—शृंगार-करुण-शान्त में माधुर्य गुण, वीर-रौद्र-बीभत्स में ओजोगुण और हास्य-अद्भुत-भयानक में प्रसाद गुण की स्थिति होती है, इनमें विकास या समर्पकत्व अवस्था जिस प्रकार मनोदशा की समरस स्थिति है उसी प्रकार प्रसाद गुण सभी रसों की अभिव्यक्ति करता है। रस के आश्रित इन तीन गुणों के विपरीत वैदर्भ मार्ग के दश गुण सर्वथा शब्दाश्रित हैं, वे अपने में ही पूर्ण सौशब्द्य काव्य

---

१. काव्यप्रकाश ८। सू० ९६

२. ध्वन्यालोक २।६

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥

काव्यप्रकाश ८। सू० ८७

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

हैं। अर्थ (भाव) की खोज करनेवाले परवर्ती आचार्य भामह ने सुबन्त-तिङन्त शब्दों की व्युत्पति (जो दश गुणों की उद्भावना का मूल है) के आश्रित होने के कारण ही सौशब्द्य काव्य को बहुत प्रतिष्ठा नहीं दी है।[1] इस प्रकार दश गुण और तीन गुण की परम्परा ही परस्पर भिन्न है। अतः उक्त तीन गुणों में वैदर्भ मार्ग के दश गुणों का अन्तर्भाव करना उचित नहीं प्रतीत होता।

शब्द-प्रयोग-प्रकार के आश्रित दश गुणों की स्थिति रस के व्यंजक धर्म तीन गुणों से भिन्न है, इस तथ्य की स्वीकृति का स्पष्ट संकेत आनन्दवर्धन के संघटना और गुण के पार्थक्य-विवेचन में भी मिलता है। उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बताये हैं—समास-रहित, मध्यम समास से युक्त, लम्बे समस्त पदों से पूर्ण।[2] ये प्रकार आनन्दवर्धन के नहीं किसी दूसरे आचार्य के उपस्थापित हैं, जिनसे सहमत होने और न होने—दोनों अवस्थाओं में उनके लिए द्विविधा की स्थिति पैदा हो गयी है। सहमत न होने पर रस की अभिव्यक्ति में विद्यमान कारण-स्वरूप संघटना को कौन सी संज्ञा दी जायगी। उसे गुण कहना उन्हें इष्ट नहीं है, और अगर वे उक्त प्रकारों को स्वीकार कर लेते हैं तो संघटना शब्दाश्रित हो जाती है और संघटना है रसों को अभिव्यक्त करनेवाला तत्त्व। ऐसी स्थिति में आचार्य के ध्वनि-सिद्धान्त का व्यभिचार उपस्थित हो जाता है, जब शब्दाश्रित संघटना (अर्थात् सौशब्द्य काव्य) रसों की अभिव्यक्ति का हेतु बनती है। इसलिए उन्होंने कहा कि संघटना का यह भेद कुछ लोगों ने किया है हम तो इस परिभाषा का अनुवाद कर संघटना का यह लक्षण प्रस्तुत करना चाहते हैं—माधुर्य आदि गुणों के आश्रित हो कर जो रसों को अभिव्यक्त करती है, वह संघटना है।[3] फिर उन्होंने

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।१४

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्॥

२. ध्वन्यालोक ३।५

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता॥

३. वही, ३।६

तां केवलमनूद्येदमुच्यते—
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा—
रसान्।

समास लक्षण वाली इस संघटना की रसानुकूल योजना की बातें बतायी हैं। अर्थात् शब्दाश्रित संघटना में रस-व्यंजना की खोज की है।

वस्तुतः संघटना दश गुणों का ही एकदेशीय व्याख्यान है। समास बहुल रचना ओजोगुण है[१] जिसे गौड पसन्द करते हैं—यह हुई दीर्घसमासा संघटना। अनाकुल (सुखोच्चारण) समस्त पदों का ओज वैदर्भों को प्रिय है[२]—यह है मध्यम समासवाली संघटना। समास-रहित पदों की रचना, जो असमासा संघटना है, प्रायः प्रसाद, सुकुमारता, उदारत्व गुणों का वैशिष्ट्य है। संघटना के प्रयोग के सम्बन्ध में वक्ता, रस और विषय (काव्य-भेद) के औचित्य का निर्देश आनन्दवर्धन ने किया है, जिस औचित्य से उसके अन्य भेद भी संभव होते हैं।[३] उक्त औचित्य का नियमन दश गुणों को लेकर भी हुआ है—कान्त गुण वार्ता काव्य और प्रशंसा-वचनों में पाया जाता है।[४]

'माधुर्य आदि गुणों के आश्रित स्थित होकर रसों को अभिव्यक्त करती है।' संघटना का यह लक्षण स्वयं अपने में एक प्रश्न बन जाता है। क्योंकि गुण रस का अवलम्बन करनेवाले धर्म हैं और रस की अभिव्यक्ति में हेतु हैं, तब उनके ही आश्रित तथा रस की ही व्यंजना करनेवाली यह संघटना कौन-सी नयी विधा हुई? दो विकल्प सामने आते हैं—क्या संघटना और गुण दोनों काव्य के एक तत्त्व हैं? अथवा दोनों की अलग-अलग सत्ता है? यदि दोनों एक तत्व हैं तो रस के गुण और संघटना को मिला कर आपाततः जो भिन्न विधा सामने आती है वह दण्डी का दश गुण है। अगर दोनों की अलग-अलग सत्ता है, जो कि आनन्द-

---

१. काव्यादर्श १।८०

ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।

२. वही, १।८३

अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा।

३. ध्वन्यालोक ३।६, ७

तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥

४. काव्यादर्श १।८५

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते॥

वर्धन को इष्ट है, तब यह प्रश्न आता है कि संघटना गुण के आश्रित है अथवा गुण संघटना के आश्रित हैं?[१]

उनका मत है कि गुण न तो संघटना हैं और संघटना के आश्रित हैं, गुणों का शब्द-धर्म उपचारतः स्वीकार किया जा सकता है, जैसे शौर्य आत्मा का धर्म होता है लेकिन उसकी स्थिति शरीर में देखी जाती है। वाक्य, पद तथा वर्ण तक में व्यंजना शक्ति के विद्यमान होने के कारण रस के सम्बन्ध में शब्दों की कोई नियत संघटना नहीं स्थापित की जा सकती। रौद्र आदि रसों का ओजोगुण असमासा संघटना में भी देखा जाता है।[२] ओजोगुण की व्याख्या के अवसर पर उन्होंने उसके लक्षण के दो भाग किये हैं—"ओजोगुण को व्यक्त करनेवाला शब्द लम्बे समासों की रचना से अलंकृत वाक्य है।"[३] तथा "उसे व्यक्त करनेवाला अर्थ लम्बे समस्त पदों की रचना से रहित प्रसन्न (श्लक्ष्ण) शब्दों से अभिहित होता है।"[४] और ओज का यह द्विधा विभाजन दण्डी के गौडानुमत एवं वैदर्भानुमत ओज के द्विप्रकार से कोई अन्तर नहीं रखता।[५] अर्थात् निष्कर्ष यह है कि संघटना तीन गुणों से भिन्न विधा है, वह रस में कोई नियत स्थिति नहीं रखती, गुण रस के नियत धर्म हैं, अगर गुणों को संघटना के आश्रित मान लिया जाता है तो वे भी अनियत विषय हो जाते हैं, जो मान्य नहीं हैं। प्रसाद गुण सभी संघटनाओं में व्याप्त है। ऐसी स्थिति में जबकि गुण और संघटना के पृथक्करण का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, गुण से भिन्न और गुण-रूप संघटना के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई नियम व्यवस्था होनी चाहिए।[६] और वह नियम-व्यवस्था है—वक्ता, वाच्य (अर्थ) के विधेय

---

१. ध्वन्यालोक ३।६ की वृत्ति।

अत्र च विकल्प्यं गुणानां संघटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणा इति।

२. ध्वन्यालोक, ३।६ की वृत्ति

३. ध्वन्यालोक २।९ की वृत्ति

तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमास—रचनालंकृतं वाक्यम्।

४. वही—

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः।

५. दे० काव्यादर्श १।८० और ८३

६. ध्वन्यालोक ३।५ की वृत्ति

तस्मादन्ये गुणा अन्या च संघटना। न च संघटनामाश्रिता गुणा इत्येकं—

(रस, रसाभास, अभिनेय, उत्तम प्रकृतिसम्पन्न नायक आदि) और विषय (काव्य के मुक्तक, प्रबन्ध आदि भेद) के औचित्य का ध्यान। औचित्य का यह नियमन दश गुणों में भी पाया जाता है, प्रायः सभी गुणों के वैदर्भानुमत एवं गौड-सम्मत अपने-अपने स्वरूप हैं, कान्त गुण तो विशेषरूप से वार्ता काव्य एवं प्रशंसा-वचनों में व्यवहृत होता है। सच बात यह है कि गुण और संघटना का पृथक्करण जो संभव नहीं हुआ है, वह दोनों की प्रयोग-विधा का दश गुणों का ही प्रकारान्तर होने का संकेत है और दश गुण स्वतंत्र रूप से अपना विषय, क्षेत्र और स्वरूप रखते हैं। संघटना के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने जो प्रश्न उठाये हैं, वही प्रश्न रस को सामने रखने पर दश गुणों के सम्बन्ध में भी उठ सकते हैं, इसलिए संघटना की समस्त व्याख्या दण्डी और वामन के गुणों का ही प्रकारान्तर है। संघटना की व्याख्या अलग से करने की आवश्यकता नहीं थी यदि सौशब्द्य काव्य से अनुप्रेरित दण्डी के गुणों को आनन्दवर्धन ने मान्यता दे दी होती।

ध्वनिकार ने रस-व्यक्ति के हेतु गुणों का जो मूल लक्षण किया है उनमें केवल ओज को छोड़ कर शेष माधुर्य और प्रसाद में शब्द-प्रयोग की व्याख्या न होकर भावाभिभूत होनेवाली मनोदशा का ही विभाजन है––

१. विप्रलम्भ शृंगार और करुण में जिससे मन उत्तरोत्तर विशेष रूप से आर्द्रता (तरलता) प्राप्त करता है वहाँ माधुर्य गुण होता है।[१]

२. काव्य के सभी रसों के प्रति बोध-व्यापार का समर्पकत्व धर्म प्रसाद गुण है, जो सभी रचनाओं में सर्व साधारण-रूप से अपनी स्थिति रखता है।[२]

यह आर्द्रता और समर्पकत्व रस की भोग (अभिव्यक्ति) दशा का ही आकलन है। ओज के मूल लक्षण में उन्होंने शब्दार्थ के आश्रय का अवश्य उल्लेख किया है––

३. काव्य में स्थित रौद्र आदि रस अनुभूति में अपनी दीप्ति (उज्ज्वलता)

दर्शनम्। अथवा संघटना रूपा एव गुणाः।.....तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च संघटनाया अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते।

१. ध्वन्यालोक २।८

शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।।

२. वही, २।१०

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः।।

से लक्षित होते हैं, उस दीप्ति को व्यक्त करनेवाले शब्द-अर्थ के आश्रित ओजोगुण की स्थिति होती है।[१]

लेकिन इन मूल लक्षणों की व्याख्या के अवसर पर आनन्दवर्धन को शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का उल्लेख करना पड़ा है। उन्होंने शब्दों का श्रव्यत्व माधुर्य और ओज दोनों में समान रूप से स्वीकार किया है।[२] लोचनकार ने भी ओज के 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति०' उदाहरण में श्रव्यत्व और असमस्तत्व की स्थिति मानी है।[३] और यह श्रव्यत्व दण्डी के माधुर्यगुण में उल्लिखित श्रुत्यनुप्रास की परम्परा का ही उत्कर्ष है, जिसमें श्रुत्यनुप्रास से युक्त सानुप्रास अव्यवहित पदप्रयोग को रसावह माना गया है।[४]

आनन्दवर्धन ने गुण और संघटना का विवेचन किया था, मम्मट ने उसे ही गुण के लक्षण और गुण के व्यंजकत्व के रूप में प्रस्तुत किया। संघटना और गुण के व्यंजकत्व में समास, रचना एवं वर्ण के प्रयोगों की जो व्यवस्था बतायी गयी है वह मूलतः दश गुणों की स्वतंत्र और उदात्त विधा है। मम्मट ने वामन के शब्द-अर्थ के बीस गुणों को जिस प्रकार अन्तर्भुक्त किया है वह तो सम्भव है लेकिन दण्डी

---

१. ध्वन्यालोक २।९

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम्॥

२. वही, २।७ की वृत्ति

तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।

३. ध्वन्यालोक २।७ की लोचनटीका—'यो यः शस्त्रं' इत्यत्र हि श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः।

पूरा उदाहरण है—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा॥
यो यस्तत्कर्मसाक्षी मयि चरति रणे यश्च यश्च प्रतीपः।
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

४. काव्यादर्श १।५२

यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥

के दश गुणों का अस्तित्व उनसे भिन्न है, उनको अन्य प्रकारों में अथवा रस-धर्म--गुणों की सीमा में अन्तर्हित नहीं किया जा सकता। दण्डी के श्लेष, समता, सुकुमारता गुणों में शब्द-प्रयोग का जो सूक्ष्म अन्तर है उसे माधुर्य या प्रसाद में यदि अन्तर्भुक्त किया जाता है और इस सूक्ष्म चिन्तन को आदर नहीं दिया जाता तो असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अनेक भेदों एवं मात्रा, वर्ण, पद, वाक्य की व्यंजकता की स्वीकृति को भी आदर नहीं मिलना चाहिए।

अस्तु। रस--धर्म को दृष्टि में रख कर रस--अभिभूत मनोदशा का त्रिधा विभाजन--तीन गुणों की स्वीकृति अपने स्थान पर समीचीन है। किन्तु उसमें सौशब्द्य काव्य के दश गुणों की अन्तर्भुक्ति संभव नहीं है क्योंकि इनकी उद्भावना का मूल उनसे स्वतंत्र है। और केवल समास को लेकर संघटना का विवेचन अथवा तीन गुणों की वर्ण-समास-रचना-मूलक व्यंजकता की व्याख्या से काव्य-चिन्तन में इनकी पूर्ति नहीं होती।

दश गुणों से भिन्न-भूमि में तीन गुणों की उद्भावना का उल्लेख प्रथम औदीच्य आचार्य भामह के गुण-विषयक विवेचन में पाया जाता है। वहाँ भामह ने सौशब्द्य काव्य की श्रेष्ठता के प्रति आक्षेप और अर्थ (भाव) काव्य के प्रति आदर का समर्थन किया है--"कुछ विद्वान् मानते हैं कि वैदर्भ काव्य की एक अन्य विधा है और वही श्रेष्ठ है, अर्थ-युक्त भी दूसरा काव्य नहीं अच्छा है। किन्तु काव्य का ऐसा पार्थक्य कि यह गौड है, यह वैदर्भ है, क्या सम्भव हो सकता है? पर हाँ, परम्परा की लीक पीटनेवाले बुद्धिहीन ऐसा कह दें तो कोई आश्चर्य नहीं।"[1] आगे उन्होंने वैदर्भ काव्य को कानों को मधुर लगनेवाला कोमल गेय काव्य कहा है और गौड-काव्य को अर्थवान्--"अर्थ की गम्भीरता तथा वक्रोक्ति से शून्य, प्रसन्न (स्फुट), ऋजु (सरल) और कोमल, गान के योग्य अतः कानों को मधुर लगनेवाला वैदर्भ काव्य सच्चे काव्य से भिन्न है। तथा अलंकार-युक्त ग्राम्यता से रहित, अर्थवान्, न्याय-संगत, जटिलता से मुक्त गौडीय काव्य अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है, यदि वैदर्भ काव्य

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।३१-३२

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यते सुधियो परे।
तदेव किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥

भी ऐसा हो तो वह भी उत्कृष्ट है, अन्यथा नहीं।"[१] यहाँ गेय काव्य का अर्थ सौशब्द्य काव्य से है, जिसे विदर्भ देशवाले अच्छा समझते थे और उनके उस काव्य के ही दश गुण हैं जिनका विवेचन दण्डी ने किया है। भामह को यह सम्मत नहीं था, वे अर्थ (भाव)-युक्त काव्य को, जो गौडों को प्रिय था और जिसकी ही परम्परा पांचालों से औदीच्यों में आयी, अपेक्षाकृत उत्कृष्ट समझते थे। इसलिए उन्होंने अर्थ (भाव)-सम्मत माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुणों का विवेचन किया है, सौशब्द्य (गेय) काव्य की उपेक्षा के साथ उसके दश गुणों को भी आदर नहीं दिया है, न सिद्धान्ततः स्वीकार किया है। उन्होंने भाविक अलंकार को, जिसमें भूत और भविष्य के वस्तु अर्थ को प्रत्यक्ष के समान दिखाया जाता है, प्रबन्ध-विषय का गुण कहा है। इससे भी गुण की उद्भावना में उनके अर्थ (भाव)—विषयक दृष्टिकोण की भलीभाँति पुष्टि हो जाती है।[२] उनके परवर्ती औदीच्य आचार्यों में अर्थ (भाव)-मूलक तीन गुणों की उद्भावना का विवेचन और आदर होता रहा तथा रस की प्रतिष्ठा के साथ वे रस के धर्म स्वीकार कर लिये गये। औदीच्य आचार्यों की इस मान्यता के विपरीत भी कवियों में सौशब्द्य काव्य के दश गुणों और परवर्ती काल में उनकी प्रतीक वैदर्भ-रीति (मार्ग) का आदर बना रहा। दश गुणों के काव्य को ही लक्ष्य कर, जिसे भामह ने गेय कहा है, 'भुवनेश्वरीस्तोत्र' में वीणा के साथ तरंगित स्वरवाली सारस्वत काव्य-वाणी के लिए प्रार्थना की गयी है।[३] वहीं अन्यत्र देवी के करुणा-कटाक्ष से मुख-कमल में वाणी के विभ्रमों का

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।३४-३५

अपुष्टार्थमवक्रोवितं प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।।

२. वही, ३।५३

भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः।।

३. भुवनेश्वरी-स्तोत्र १३

वीणासंगितरंगितस्वर-चमत्कारोऽपि सारोज्झितो
येन स्यादिह देहि मे तदभितः संचारि सारस्वतम्।।

सौरभ उदय होता है—"सौरभ्यं परमभ्युदेति वदनाम्भोजे गिरां विभ्रमैः।"[1] यहाँ 'गिरां विभ्रमैः' प्रयोग 'वाचाम् अलंकाराः' की तरह है। भामह की दृष्टि में उपेक्षित गेय काव्य—वैदर्भ के प्राणभूत गुण ही विभ्रम हैं। विभ्रम का सामान्य अर्थ शृंगार और भाव से उत्पन्न स्त्रियों की क्रियाएँ (चेष्टाएँ) हैं,[2] इस 'क्रिया' का साम्य दण्डी के 'वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्' से करना चाहिए। विभ्रम का अर्थ अलंकार भी है।[3] 'गिरां विभ्रमैः' अर्थात् वाणी की विशिष्ट अलंक्रियाओं (गुणों) से।

दश गुण और आचार्य वामन एवं कुन्तक

तीन गुणों की मान्यता के प्रति अर्थवादियों (रसवादियों) के प्रबल आग्रह के रहते हुए भी वैदर्भ मार्ग के दश गुणों ने उन औदीच्य आचार्यों को प्रभावित किया है जो काव्य-चर्चा के क्षेत्र में अर्थवाद (रस) के विरुद्ध अपना मौलिक चिन्तन लेकर उपस्थित हुए हैं। एक हैं रीतिवादी वामन (८वीं उत्तरार्ध शती ई०) और दूसरे हैं वक्रोक्तिवादी कुन्तक (११वीं पूर्वार्घ शती ई०)

वामन ने दण्डी के गुणों को नये सिरे से निरूपित करने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास कवि-मार्ग में अभिनव तथा अधिक व्यवहृत गुणों का अनुसन्धान था। उन्होंने गुणों को मार्ग का प्राण न स्वीकार कर पद-बन्ध का वैशिष्ट्य माना।[4]

---

१. भुवनेश्वरी-स्तोत्र २४

तस्य त्वत्करुणाकटाक्षकणिका—संक्रान्तिमात्रादपि
स्वान्ते शान्तिमुपैति दीर्घजडता जाग्रद्विकाराग्रणीः
तस्मादाशुजगत्त्रयाद्भुत—रसाद्वैत—प्रतीतिप्रदं
सौरभ्यं परमभ्युदेति वदनाम्भोजे गिरां विभ्रमैः॥

२. अमरकोष १।७।३१-३२

स्त्रीणां विलास-विव्वोक विभ्रमा ललितं तथा।
हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृंगारभावजाः॥

३. अमरकोष ३।३।१४२

चेष्टालंकारे भ्रान्तौ च विभ्रमः।

४. काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति ३।१।४—ओजः प्रसाद-श्लेष-समता-समाधि-माधुर्य—सौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्ति-कान्तयो बन्धगुणाः।

और मार्ग को रीति कह कर उसे काव्य की आत्मा कहा।[1] इस प्रकार वामन के विवेचन में गुणों का स्थान स्वयं गौण हो गया। रीतियों की विशेषता उन्होंने भी प्रदेशगत न स्वीकार की, जो स्वाभाविक है, सिद्धान्त में नियन्त्रित कर दी।[2] वामन की मौलिकता से तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता, दण्डीकृत दश गुणों की संज्ञा में शब्द-अर्थ-गत द्विधा विभाग से बीस गुणों का विवेचन उपेक्षित होकर भी सौशब्द्य काव्य की प्रतिष्ठा का नया समारम्भ था। परन्तु वामन जैसे समर्थ आचार्य को इस कार्य में सफलता न मिली। उनकी असफलता के सर्वेक्षण में चार बातें कही जा सकती हैं—

१. ध्वनि और रस की स्थापना का उदय। ध्वनि के भेद में वर्ण, पद तथा वाक्यों की व्यंजकता का जो बोध हुआ वह वामन के गुण निरूपण से अधिक आकर्षक बन गया।

२ दश गुणों की एक ही संज्ञा को शब्द तथा अर्थ के द्विधा विभाग से दो-दो विशेषताओं में निरूपित करने से शब्द-वैचित्र्य और अर्थ-वैचित्र्य प्रधान हो गया, गुण-वैचित्र्य का प्रसंग ही गौण हो गया।

वामन के इस वैचित्र्य-निरूपण से एक बात अवश्य हुई कि वक्रोक्ति के विस्तार का पूर्व आभास काव्य-चिन्तन में अनजाने प्रकट हो गया। भाषा-क्रान्ति के दो युग गुण और वक्रोक्ति के बीच वामन के बीस गुणों का निरूपण गुण और वक्रोक्ति की सन्धि है। सम्भवतः गुणों के सभी लक्षण दण्डी से भिन्न हो गये हैं और वे वक्रोक्ति के निकट होते गये हैं। अर्थ-गुण तो निश्चित रूप से वक्रोक्ति के ही लक्षणों की ओर उन्मुख है। माधुर्य का लक्षण ही है—'उक्ति-वैचित्र्यं माधुर्य्यम्।'[3]

३. दण्डी और वामन के काल में चार सौ वर्षों का अन्तर है। इस बीच गुण की मान्यताओं का विस्तार और अन्य प्रदेश-गत उनकी मान्यताओं में परिवर्तन (जैसा कि दण्डी के युग में ही विदर्भ तथा गौड का अन्तर था) निश्चित रूप से हुआ होगा। पर गुणों की मूल-भूमि वैदर्भ काव्य की मान्यताएँ थीं। वामन ने

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।२।६-८—रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पद-रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।

२. वही, १।२।९-१०—किं पुनः देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां येन अयं देशविशेषव्यपदेशः? नैवम्। विदर्भगौडपांचालेषु देशेषु तत्रत्यैः कविभिः यथास्वरूपम् उपलब्धत्वात् तत्समाख्या, न पुनर्देशः किंचिदुपक्रियते काव्यानाम्।

३. वही, ३।२।१०

अपने निरूपण में उनको नहीं लिया है, दण्डी के वैदर्भ गुणों के लक्षण वामन के गुणों में उलट-पुलट गये हैं, वामन औदीच्य होने के कारण पांचाल और गौड काव्य मान्यताओं से प्रभावित हैं। दण्डी के युग में गौड श्लेष गुण को न स्वीकार कर उसके विपर्यय शिथिल पद-बन्ध को मान्यता देते थे, वामन ने इसे शब्द-प्रसाद का लक्षण कहा है—'शैथिल्यं प्रसादः'[1] दण्डी के अनुसार गौड समता गुण के पद-बन्ध की एकरूपता को भी अच्छा नहीं समझते थे, वे इसके वैषम्य उतार-चढ़ाव को ही मान्यता देते थे।[2] वामन ने इसे शब्द—समाधि का लक्षण स्वीकार कर लिया—'पदों का आरोहावरोहक्रम समाधि है।[3] इस प्रकार वैदर्भ काव्य के गुणों की प्रतिष्ठा की बात अब नहीं थी, जिसकी पूर्व-भूमि दण्डी ने तैयार कर रखी थी, यह तो गौड और पांचाल काव्य-गुणों की स्थापना की जा रही थी, जो नवीन थे और अनेकांश में परम्परा-रहित भी। तथा उनके सामने लम्बी परम्परा से पोषित, शतियों से सुपरिचित अलंकारों का विवेचन काव्य-चर्चा के क्षेत्र को आक्रान्त कर चुका था। इसलिए भी वामन की मौलिकता से उज्ज्वल बीस गुणों का विवेचन काव्य-मर्मज्ञों में आदर न पा सका। अलंकार तो ध्वनि और रस की प्रतिष्ठा के बाद भी बने रहे।

४. वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा और रीति की विशेषताएँ गुण थे।[4] रीति का काव्यात्मत्व वक्रोक्ति के ही अधिक निकट था, उसकी स्थापना ध्वनि और रस के विपरीत पड़ती थी। अतः रीति के विरोध के साथ-साथ उसके बीस गुणों का भी विरोध हुआ।

मार्गों और गुणों का एक नया स्वरूप कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवित' में मिलता है। उन्होंने तीन मार्ग और दश गुणों का विवेचन किया है। उनके मार्ग हैं—सुकुमार, वैचित्र्य और मध्यम। गुणों के नाम हैं—प्रसाद, माधुर्य, लावण्य, आभिजात्य, औचित्य और सौभाग्य।[5] प्रथम चार गुण लक्षण-भेद से सुकुमार और

---

१. काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति, ३।१।६

२. काव्यादर्श १।५०

३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३।१।६

आरोहावरोहक्रमः समाधिः

४. वही, १।२।७-८

विशिष्टा पदरचना रीतिः॥

विशेषो गुणात्मा॥

५. वक्रोक्तिजीवित १।२३-५८

विचित्र मार्गों के अलग-अलग हैं, इस प्रकार इनकी संख्या दश हो जाती है। कुन्तक का मार्ग-निर्धारण प्रदेश-गत भाषा-प्रवृत्ति से सर्वथा स्वतंत्र, कविकृत-व्युत्पत्तियों की पृष्ठभूमि पर आधारित है, उन्होंने कवियों के स्वभाव-भेद से मार्गों का भेद स्वीकार किया है। इनमें सुकुमार मार्ग बहुत कुछ वैदर्भ मार्ग का ही स्थानापन्न है किन्तु यह वही नहीं है। भामह की भाँति कुन्तक ने भी वैदर्भ काव्य की संगीतमयता को समीचीन नहीं माना है—'न च दाक्षिणात्यगीतविषयसुस्वरतादिध्वनिरामणीयकवत्तस्य स्वाभाविकत्वं वक्तुं पार्यते।'[1]

कुन्तक का मार्ग-गुण-सम्बन्धी विवेचन सर्वथा उनकी मौलिक व्युत्पत्ति है। दण्डी के मार्ग और गुण से उसका सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि कुन्तक सर्वथा नवीन और दण्डी से बाह्य हैं। क्योंकि कुन्तक के गुणों के अनेक विशेषण दण्डी-कृत प्रकृत गुणों के लक्षणों से साम्य रखते हैं। कुन्तक ने उन लक्षणों को समस्त रूप से तो नहीं व्यस्त रूप से अपनी व्यवस्था में विन्यस्त किया है। सुकुमारमार्ग में—

१. असमस्तमनोहारि (माधुर्य)
२. झगित्यर्थसमर्पणम् (प्रसाद)
३. बन्धसौन्दर्यम् (लावण्य)
४. श्रुतिपेशलताशालि (आभिजात्य)

तथा विचित्र मार्ग में—

५. व्यक्तशैथिल्यम् (माधुर्य)
६. ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च (लावण्य)

कुन्तक के इन व्यस्त गुण-विशेषणों को क्रमशः दण्डी के इन व्यस्त-गुण-लक्षणों से मिलाया जा सकता है।

१. अन्ये त्वनाकुलं हृद्यम् (ओज)
२. अनेयत्वमर्थस्य (अर्थव्यक्ति)
३. बन्धेष्वविषमम् (सुकुमारता)
४. यया कयाचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते (माधुर्य)
५. अस्पृष्टशैथिल्यम् (श्लेष)
६. मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यास-योनयः (सुकुमारता)

कुन्तक ने सुकुमार मार्ग की प्रशंसा में कहा है—'यह वह सुकुमार मार्ग है जिस मार्ग से चल कर सत्कवि अपनी काव्य-रचना में, फूले हुए पुष्पोंवाले वन में

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।२४

भ्रमरों के समान प्रवृत्त हुए हैं।'[1] दण्डी ने भी अपने माधुर्य गुण के लिए लगभग यही प्रशस्ति कही है---'वाणी और अर्थ-वस्तु में रस की स्थिति रूप रसवद् वाक्य मधुर गुण है जिसे पढ़कर सहृदय जन वैसे ही आनन्दातिरेक से भर जाते हैं जैसे मधु-पान से भौंरे।'[2] इसी तरह कुन्तक के विचित्र मार्ग में प्रसाद गुण का समग्र लक्षण---'समस्तपदों से रहित और थोड़ा ओज का स्पर्श करता हुआ कवि के रचनाकौशल में प्रसिद्ध प्रसाद गुण भी इस विचित्र मार्ग में प्रायः देखा जाता है।'[3] दण्डी के वैदर्भानुमत ओज से भिन्न नहीं है---'दूसरे वैदर्भ कवि वाणी के अनाकुल (समस्त पदों या विषम उच्चारणों से रहित) और मनोहारी ओज को पसन्द करते हैं।'[4]

इन समानताओं से हमें गुणों की प्रकृति-एकता का बोध होता है। और यह भी निश्चय होता है कि वह प्रकृति दण्डी के गुण-लक्षणों में विद्यमान है।

गुण---रुद्रट और नमिसाधु

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में वाक्य की पद-गुम्फना के सौन्दर्य को लेकर गुण की चर्चा की है, यह सौन्दर्य शब्दों के संनिवेशचारुत्व पर निर्भर होता है अतः उसे वे शब्द-गुण कहते हैं।[5] रुद्रट आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती हैं, इसलिए आनन्दवर्धन

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।२९

सुकुमाराभिधः सोऽयं येन सत्कवयो गताः।
मार्गेणोत्फुल्लकुसुमकाननेनेव षट्पदाः॥

२. काव्यादर्श १।५१

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।

३. वक्रोक्तिजीवित १।४५

असमस्तपदन्यासः प्रसिद्धः कविवर्त्मनि।
किंचिदोजः स्पृशन् प्रायः प्रसादोऽप्यत्रदृश्यते॥

४. काव्यादर्श १।८३

अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा।

५. काव्यालंकार (रुद्रट) २।१०

रचनाचारुत्वे खलु शब्दगुणाः संनिवेश-चारुत्वम्।
तर्वाल्युर्वेवर्षे तरुपंक्तिरसंकटैव मुने!

ने संघटना का जो विस्तार से विवेचन किया है उसे रुद्रट के रचना-चारुत्व से सम्बद्ध करना अनुपयुक्त नहीं कहा जायगा।

रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु (११वीं उत्तरार्ध शती ई०) ने रीतियों को लेकर प्रश्न प्रस्तुत किया है कि ये रीतियाँ अलंकार तो हैं नहीं, तो क्या शब्द के आश्रित गुण हैं?[1] इसी तरह दोषों के उपसंहार में 'दोषान्गुणांश्च निपुणो विसृजन्नसारम्' की टीका करते हुए पाँच शब्दगुणों और चार अर्थगुणों का उल्लेख किया है।[2] जो वस्तुतः रुद्रट द्वारा विवेचन किये गये शब्दालंकारों के पाँच वर्ग (वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र) तथा अर्थालंकारों के चार वर्ग (वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष) हैं।[3] रुद्रट ने इनको क्रमशः शब्द और अर्थ के अलंकार कहे हैं, जिनके प्रभेदों के अन्तर्गत समस्त अलंकारों का निरूपण हुआ है। टीका में रुद्रट के अभिमत का प्रश्न नहीं है, नमिसाधु के अभिमत की बात है, उन्होंने रुद्रट के निरूपित--रीतियों और समग्र अलंकारों को शब्द गुण और अर्थगुण के वर्गों में विभक्त कर दिया है और प्रायः काव्यालंकार के समस्त काव्य-प्रपंच को इस प्रकार गुण का ही विस्तार सिद्ध किया है। प्रकारान्तर से इस विस्तार के द्वारा गुण की सीमा में अलंकार की अन्तर्मुक्ति प्रतिपादित होती है। नमिसाधु के उल्लेख से काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में वामन के शब्द-अर्थ-गुणों की उद्भावना के प्रति काव्य-मर्मज्ञों की अभिरुचि का पता चलता है अथवा यह अभिरुचि भोज (११वीं पूर्वार्ध शती ई०) के चौबीस गुणों के निरूपण का परिणाम हो, क्योंकि नमिसाधु भोज के परवर्ती हैं।

भोज के चौबीस गुण

काव्य-चर्चा के चरम उत्कर्ष-काल के अन्तिम भाग में भोज (११वीं पूर्वार्ध

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) २।६ की टीका

एताश्च रीतयो नालंकाराः, किं तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति।

२. वही, १२।३६ की टीका

शब्दस्य हि वक्रोक्त्यादयः पंच गुणाः। अर्थस्य पुनर्गुणा वास्तवादयश्चत्वारः।

३. काव्यालंकार (रुद्रट) २।१३, ७।९

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥
अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

शती ई०) ने दण्डी के गुण-निरूपण का पुनः विस्तार किया। इनको हम वामन की अपेक्षा दण्डी के अधिक निकट पाते हैं। वैसे भोज वैदर्भ मार्ग—दाक्षिणात्य कवि-सम्प्रदाय की भूमि के ही निवासी थे अतः इनका दण्डी की काव्य-चर्चा का अनुगमन करना स्वाभाविक भी था।

भोज ने दो नयी बातें कीं—

१. अलग-अलग शब्द-अर्थ गुणों की संख्या दश से बढ़ा कर चौबीस कर दी।

२. और जैसे मम्मट ने कुछ गुणों को दोषों का अभाव मान दोषाभाव में उनका अन्तर्भाव कर दिया और गुणों की बीस संख्या समाप्त करने में मदद ली, भोज ने उसका उलटा किया था—दोष की ऐसी स्थितियों को जो काव्य-विधा की उपकारक बन जाती हैं, उनको लेकर गुणों का एक तृतीय प्रकार-प्रतिमान स्थापित किया, तथा उनकी भी संख्या चौबीस रखी।

इस प्रकार भोज के गुणों के तीन वर्ग हैं—१. बाह्य—शब्द गुण, २. आभ्यन्तर—अर्थगुण, ३. वैशेषिक—दोषों की गुण-स्थिति। प्रत्येक की संख्या चौबीस है।[1] बाह्य, आभ्यन्तर गुणों के नाम वही हैं, परिभाषा में भेद है। वैशेषिक के नाम भिन्न हैं। गुणों के इस विस्तार में भोज को वैदर्भ काव्य-गोष्ठियों की काव्य-स्थापनाओं से भी सहायता मिली है। उनके कितने गुणों के सूत्र ढूँढ़ने पर राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिल जाते हैं जैसे—

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १।६०-६५

त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥
बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्थसंश्रयाः।
वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणाः॥
ते तावदभिधीयन्ते नामलक्षणयोगतः॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः॥
संक्षेपः सम्मितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिरथैषां लक्ष्यलक्षणे॥

(शब्द गुण)

१. सुप्-तिङ् की व्युत्पत्ति सुशब्दता गुण है।[१]

भामह ने यही लक्षण सौशब्द्य काव्य का दिया था।[२] तथा काव्य-मीमांसा में जिसे नामाख्यात कवि कहा गया है उसी का रूपान्तर यह सुशब्दता गुण है।[३]

२. समास से अभिधान संक्षेप गुण है।[४]

यह संक्षेप गुण काव्यमीमांसा का शाक्त वाक्य है।[५]

३. विस्तार से कथन करना विस्तर गुण है।[६]

समासव्याससंदृब्ध-वाक्य देव जातियों के होते थे।[७]

(अर्थ गुण)

४. शास्त्र-अर्थ से अपेक्षित पदों का अभिधान गाम्भीर्य गुण है।[८]

यह गुण काव्यमीमांसा का शास्त्रार्थ कवि है।[९]

ऐसे और भी उदाहरण हैं। लेकिन तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भोज ने दण्डी के गुणों की सही पहचान की है और उन गुणों की परिभाषा में वैदर्भ-सम्मत लक्षण रखे हैं, वामन की भाँति अन्य लक्षण नहीं कर गये हैं। भोज की ये परिभाषाएँ--'गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते' 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते', 'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिति स्मृतम्' 'श्लाघ्यैर्विशेषणैर्योगो यस्तु सा स्यादुदात्तता', 'ओजः समासभूयस्त्वम्'[१०] दण्डी के गुण-लक्षणों की ही आवृत्ति या अनुवाद हैं। उनके समाधि गुण के आभ्यन्तर स्वरूप--चेतन-क्रिया धर्म

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, १।७२

२. काव्यालंकार (भामह) १।१४-१५

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम् ।
तदेतदाहुः सौशब्द्यम्........... ॥

३. काव्यमीमांसा, पृ० ४३

४. सरस्वतीकण्ठाभरण १।७४

५. काव्यमीमांसा, पृ० ५५

६. सरस्वतीकण्ठाभरण १।७३

७. काव्यमीमांसा, पृ० ७२

८. सरस्वतीकंठाभरण १।८५

९. काव्यमीमांसा, पृ० ४६

१०. सरस्वतीकण्ठाभरण १।६६-७१

का अचेतन में अध्यारोप--का उद्घाटन भी भोज ने किया।[1] बहुत अंश में दण्डी के गुणों के सही व्याख्याता भोज हैं।

गुणों की काव्य-सीमा--सम्मिश्रण और विस्तार

स्वभावोक्ति अलंकार और गुण

गुण वाणी की प्रकृति हैं। प्रकृति अर्थात् स्वभाव की स्थिति। स्वभावोक्ति अलंकार, जिसे दण्डी ने आदि अलंकृति कहा है, तथा जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य के रूप में शास्त्र एवं काव्य में उसकी व्यापक स्थिति का उल्लेख किया है, वर्णन में वस्तु की प्रकृति का पर्याय है। वाणी और उसका वर्ण्य विषय--वस्तुतः दोनों का परस्पर जो सम्बन्ध हो सकता है, वही सम्बन्ध गुण और स्वभावोक्ति अलंकार में भी हमें समझना चाहिए। वर्ण्य विषय के अनुकूल वाणी की स्वभावोक्ति को देखकर और ऐसी उक्ति में अर्थवस्तु के साधारणत्व, असाधारणत्व के अनुसार वाणी की अनाकुल, आकुल अभिव्यक्ति की कसौटी कर गुणों के विभाग का आरम्भ हुआ होगा। पुनः गुणों के विभाग के अनुकूल वर्णन के लिए वर्ण्य विषय का जो चुनाव हुआ वह स्वभावोक्ति का उदात्त रूप था। स्वभावोक्ति अलंकार में दण्डी ने जो उदाहरण दिये हैं वे गुणों के लक्षण में भी घटित होते हैं। जैसे दण्डी का गुण-स्वभावोक्ति का निम्न उदाहरण उनके माधुर्य गुण के काव्य से भिन्न नहीं है--

बध्नन्नङ्गेषु रोमांचं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम्।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रिया-स्पर्शः प्रवर्तते॥[2]

और द्रव्य-स्वभावोक्ति का यह उदाहरण समता गुण का काव्य है--

कण्ठेकालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद्वृषभध्वजः।[3]

इसी प्रकार उनका सुकुमारता गुण का यह काव्य जातिगत स्वभावोक्ति अलंकार है--

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥[4]

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण १। उदा० ८८
२. काव्यादर्श २।११
३. वही २।१२
४. वही, १।७०

गुणों में अन्तर्हित तीन अलंकार

माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति में दो अलंकार सहायक हैं––अनुप्रास और अग्राम्यता। अनुप्रास के दो प्रकार हैं––(१) जो वैदर्भों को प्रिय है (२) जो गौडों को प्रिय है। वैदर्भ कहते हैं––उच्चारण में स्थान तथा प्रयत्न की समानता के कारण जिन पदों के सुनने में एक समान अनुभूति होती है, ऐसे पदों का अनुप्रास-युक्त अव्यवहित प्रयोग रस का पोषक होता है।[1] अर्थात् श्रुत्यनुप्रास माधुर्य गुण का उत्कर्षाधायक है। दण्डी ने इसे सानुप्रास पदासत्ति कहा है। गौड कहते हैं–कानों के सुनने में एक समान अनुभूति नहीं, वर्णों की प्रत्यक्ष आवृत्ति अनुप्रास है, जो छन्दों के चरण और पद मात्र दोनों में होती है। तथा इस आवृत्ति का अर्थ है, पहले के उच्चारण किये गये वर्ण के श्रवणजन्य संस्कार की तादृश द्वितीय वर्ण से निकट की स्थिति।[2] अर्थात् वृत्त और छेक अनुप्रास इनके मत में माधुर्य गुण के लिए रसवत्ता का निर्वाह करते हैं।

दूसरा अलंकार है––अग्राम्यता। ग्राम्यता अर्थात् असभ्य, अश्लील अर्थ और उसका अभाव अग्राम्यता है। ग्राम्यता शब्द-गत, अर्थ-गत तथा वाक्य-गत तीन प्रकार की हो सकती है। शब्दगत ग्राम्यता वहाँ होती है जहा दो पदों या वर्णों का सम्मिलित श्रवण तीसरे नये पद के रूप में अश्लील अर्थ की अभिव्यक्ति कर देता है। और अपने अभीष्ट अर्थ 'के लिए ऐसे शब्द का प्रयोग जो उपयुक्त होते हुए भी अमर्यादित तथा असभ्य हो, जैसे 'प्रेयसि' के अर्थ में 'कन्ये !' का सम्बोधन, वह अर्थ-ग्राम्यता है। वाक्यगत ग्राम्यता तब होती है जब सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ-बोध के साथ, उसमें प्रयुक्त पदों के कारण असभ्य अर्थ भी प्रतीत होने लगता है, जैसे—

खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति।[3]

इस छन्द में 'वीर्यवान्' पद पराक्रमी वीर के लिए प्रयुक्त है जो शत्रु को परास्त कर शान्त हो चुका है। लेकिन वीर्यवान् पद के शुक्रवान् (कामुक) का भी बोधक होने से तथा अन्य पदों की भी इसी अनुरूप अर्थ-संगति बैठ जाने से पूरा वाक्य ही

---

१. काव्यादर्श १।५२

२. वही, १।५५

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता॥

३. वही, १।६७

रतिक्रिया से श्रान्त पुरुष का वर्णन हो जाता है, जो प्रस्तुत प्रकृष्ट अर्थ को विकृत कर देता है।

तीसरा अलंकार अत्युक्ति है, जिसे गौड कान्तिगुण का परिपोषक मानते हैं। लोक-व्यवहार का अत्यन्त अतिक्रमण कर कल्पनापूर्वक नये अर्थ की विवक्षा में ही वे काव्य का आनन्द पाते हैं।[1] दण्डी ने इसे अत्युक्ति कथन कहा है।[2]

ये अलंकार गुणों के उत्कर्ष में सहायक-रूप से उल्लिखित हुए हैं, दण्डी ने पुनः इनका निरूपण अन्यत्र नहीं किया है। ऐसा अनुमान होता है कि गुणों की दश संख्या निर्धारित होने के पूर्व अनुप्रास और अत्युक्ति भी अन्य मार्ग-गुणों की भाँति स्वतंत्र गुण के रूप में स्वीकार किये जाते रहे होंगे। और अग्राम्यता लोक-काव्य से शिष्ट-काव्य के बीच की पहली विभाजक रेखा है।

दण्डी का समाधि गुण

'काव्यादर्श' में समाधि गुण की जो परिभाषा दी गयी है, वह स्फुट नहीं हो पायी है। दण्डी का वास्तविक मन्तव्य समाधि गुण के लक्षण में कुछ और ही था, लेकिन उन्होंने कहा कि लोक-व्यवहार की सरणि में अन्य के धर्म का अन्यत्र सम्यक् व्यवहार (प्रस्तुत करना) समाधि है, इस लक्षण में व्याख्या की अपेक्षा रह जाती है। हाँ, समाधि-गुण के उनके उदाहरणों में लक्षण का मूल उद्देश्य भलीभाँति स्पष्ट है।

वामन के समाधि-गुण का लक्षण दण्डी से विपरीत है, वह शब्द-अर्थ की व्युत्पत्ति मात्र है—१. शब्द-बन्ध का आरोहावरोहक्रम समाधि है। २. अर्थ की दृष्टि समाधि है, जो मौलिक और अन्य कवि की रचना से प्रेरित दो प्रकार का होता है।

दोनों आचार्यों ने अपने-अपने युग और स्थान का प्रतिनिधित्व समाधि गुण के निरूपण में किया है। दण्डी के सामने समाधि गुण विदग्धों की अत्यन्त प्रिय

---

१. काव्यादर्श १।८९

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः॥

२. वही, १।९२

इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्‌गौडोप—लालितम्।

उक्ति-व्युत्पत्ति थी, अन्य के धर्म की अन्यत्र लोकानुमत सम्यक् उपस्थिति[१]—काव्य की इस पद्धति का अभी नया उन्मीलन ही हुआ था, जिसके प्रयोग की ओर प्रतिभाशाली काव्य-कर्ता उन्मुख हो रहे थे। लक्षण में 'लोकसीमानुरोधिना' पद ही इसकी सही कुंजी है। लोक-सीमा का अनुरोध अर्थात् लोक—चेतन-अचेतन-प्राणी, की सीमा—व्यवहार-पद्धति के अनुरोध—अनुभव से अन्य के धर्म की अन्यत्र स्थापना समाधि काव्य है, जो कवियों की नयी खोज मानी जा रही थी। अचेतन में चेतन के व्यवहार को स्थापित करते हुए काव्य की रचना करना दण्डी के समाधि गुण का सही अर्थ था, जो लक्षण में स्पष्ट नहीं है, लेकिन उदाहरण में स्पष्ट है—

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।

इस पद्य में चेतन-आँखों की क्रिया अचेतन कुमुद और कमलों में देखी गयी है। इसी प्रकार—

पद्मान्यकांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः॥

यहाँ भी कमल में चेतन की, पान तथा वमन क्रियाओं का चमत्कारी निबन्धन किया गया है।

भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में समाधि शब्द गुण का लक्षण दण्डी की अपेक्षा अस्पष्ट कर दिया है—

समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम्।[२]

इस लक्षण में लोक-सीमा जैसी कोई अन्विति न होने से इसको दण्डी के लक्षण के समान प्रशस्त नहीं माना जा सकता। किन्तु भोज ने उदाहरण देकर उसकी व्याख्या में चेतन-क्रिया धर्मों का अचेतन में अध्यारोप—यह स्पष्टीकरण कर, लक्षण का वह अंश पूरा कर दिया, जो दण्डी से छूट गया था—

प्रतीच्छत्याशोकीं किसलयपरावृत्तिमधरः
कपोलः पाण्डुत्वादवतरति तालीपरिणतिम्।
परिम्लानप्रायामनुवदति दृष्टिः कमलिनी-
मितीयं माधुर्यं स्पृशति तनुत्वं च भजते॥

---

१. काव्यादर्श १।९३
अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥
२. सरस्वतीकण्ठाभरण १।७२

अत्र प्रतीच्छति-अवतरति-अनुवदति-इत्यादि चेतनक्रियाधर्माणामचेतने-ष्वधरादिषूपचारेणाध्यारोपणं समाधिः।[१]

दण्डी और भोज के समय में सात शताब्दियों का अन्तर है, इस बीच में समाधि गुण की कवि-समाज में बड़ी चर्चा रही, लेकिन आचार्यों द्वारा उसकी उपेक्षा भी की जाती रही और किसी ने समाधि को ठीक से स्पष्ट नहीं किया, इसी सन्दर्भ में हम भोज की उक्त व्याख्या का महत्त्व समझते हैं।

अचेतन में चेतन की क्रिया, उसके धर्म का सर्वथा व्यवहार करते हुए सभी चमत्कारजनक अर्थों की योजना समाधि गुण है, वे अर्थ अलंकार भी हो सकते हैं, रस भी हो सकते हैं––लक्षण को हम इस प्रकार विशद कर लें तो कुछ अनुचित नहीं है। ऐसी काव्य-रचना महाभारत में, रामायण में बहुलता से विद्यमान है। परवर्ती आलंकारिकों ने चेतन-अचेतन की ऐसी अर्थ-योजना को लुप्तोपमा तथा रूपकातिशयोक्ति जैसे अलंकारों में विभक्त कर आपाततः समाधि गुण की सत्ता को तितर-बितर कर दिया और समाधि नाम से अलग अलंकार की कल्पना कर ली। यह भी एक अनुरंजक बात है कि दण्डी ने समाधि गुण से मिलते-जुलते समाहित अलंकार का निरूपण किया था, परवर्ती आचार्यों ने उसे समाधि नाम से प्रस्तुत किया और निदर्शन में दण्डी के ही उदाहरण को ला कर रखा। केवल भोज ने ही 'समाहित' नाम से उसका विवेचन किया है तथा दण्डी के उदाहरण के अतिरिक्त अन्य उदाहरणों से जिसमें चेतन-अचेतन भाव से भिन्न अन्य विधा की उद्भावनाएँ हैं, उसे विस्तार-पूर्वक समझाया है। और यह कहना बहुत सत्य है कि समाहित का उपयुक्त विवेचन भोज ने ही किया।[२] अन्यत्र समाहित और समाधि के लक्षण में भी अन्तर नहीं हुआ है––'किसी आरम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने के लिए दैव-योग से अन्य उपायों की प्राप्ति समाहित अलंकार है।'[३] 'दूसरे कारणों के योग से जहाँ कार्य का होना अत्यन्त सुगम हो जाय वह समाधि अलंकार है।'[४] और उदा-

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण१।८८, उदा०

२. वही, ३।३४, उदा० १०२-१०७।

३. काव्यादर्श २।२९८।

किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥

४. काव्यप्रकाश १०। सू० १९२

समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।

हरण तो एक ही है, जिसमें स्पष्टतः अचेतन में चेतन-क्रिया की सम्भावना करनी पड़ती है—

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ॥

'मानिनी प्रिया का मान दूर करने के लिए उसके पैरों पर मेरे गिरते हुए भाग्य से मेरा उपकार करने के लिए बादल की यह गर्जना उत्पन्न हुई।' इस वर्णन में उपकारी बादल के लिए जब तक हम चेतन-भाव की उद्भावना नहीं करेंगे तब तक इस उक्ति का आनन्द अनुभूति नहीं बनेगा। यही एक उदाहरण समाहित या समाधि अलंकार के लिए कितने आचार्यों ने प्रस्तुत किया है।[1] इससे इस अलंकार की अकिंचनता, और इसके रूप में समाधि गुण के ही उपस्थापित किये जाने का इतिहास सामने आता है।

कुवलयानन्दकार का निजी उदाहरण भी—

उत्कण्ठिता च तरुणी जगामास्तं च भानुमत्।[2]

'तरुणी उत्कण्ठित थी कि सूर्य भी अस्ताचल को चला गया।' चेतन-क्रिया की उद्भावना में समाधि-अलंकार की सिद्धि प्रस्तुत करता है।

उक्त विवेचना के बाद यह कहा जा सकता है कि दण्डी का समाधि गुण अचेतन में मानवीय संवेदन की उद्भावना है। इस प्रकार समाधि की उक्ति और रस-भाव की उक्ति का अस्तित्व समानान्तर से प्रतिष्ठित होता है। इस आशय को स्वीकार किया जाय तो ध्वन्यालोक के एक प्रसंग में अनायास अप्रत्यक्ष रूप से समाधि गुण की नित्यता प्रतिपादित हो गयी है। आनन्दवर्धन ने 'रस कहाँ अलंकार हो जाते हैं।' इस विषय की स्वपक्ष-सम्मत व्याख्या की है—उनका कहना है कि जहाँ रस वाक्यार्थीभूत (वाक्य का प्रधान विधेय) है, वहाँ ध्वनि का प्रभेद है, वहाँ उपमा आदि ही अलंकार होते हैं और जहाँ रस से अतिरिक्त अन्य अर्थ का वाक्यार्थीभाव होता है, रस केवल प्रधान अर्थ की चारुत्व निष्पत्ति करते हैं। वहाँ काव्य में रसवदलंकार का विषय होता है। इस प्रकार ध्वनि, उपमादि एवं रसवदलंकार के विषय विभक्त हैं। उनके सामने इस विषय को प्रतिपादित करने वाला दूसरा पक्ष भी था—उस पक्ष का कहना था कि चेतनों का वाक्यार्थीभाव होने पर रसवदलंकार होते हैं तथा अचेतनों के वाक्यार्थी भाव में उपमा आदि अलं-

---

१. दे० काव्यादर्श २।२९९, काव्यप्रकाश १०।५३४, सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१०२, साहित्यदर्पण १०।१११, कुवलयानन्द का० ११८

२. कुवलयानन्द का० ११८

कार। निश्चित था कि इस पक्ष को केवल रसवदलंकार तथा उपमा आदि की विषय विभक्तता अभीष्ट थी, आनन्दवर्धन को ध्वनि, रसवदादि तथा उपमा आदि तीन का विषय-विभाग करना था। उन्होंने दूसरे पक्ष की विषय-स्थापना की अतिव्याप्ति स्पष्ट की और कहा—यदि ऐसा कहा जायगा कि चेतनों का वाक्यार्थीभाव होने पर रसवदलंकार होते हैं, तो उपमा आदि अलंकार प्रविरल विषय या निर्विषय हो जायेंगे, उन्हें कहीं अवकाश ही नहीं मिलेगा। अचेतन वस्तुवृत्त का ऐसा कोई वाक्यार्थीभाव होगा ही नहीं, जिसका यथाकथंचित् चेतनवस्तु-वृत्तान्त-योजना से संस्पर्श न हो और यदि ऐसा कहा जाय कि नहीं, चेतनवस्तु-वृत्तान्त की योजना का संस्पर्श होने पर भी हम वाक्यार्थी भाव अचेतनों का ही स्वीकार करेंगे और वहाँ उपमा आदि अलंकारों की स्थिति बनी रहेगी, वे स्थल रसवदलंकार के विषय नहीं होंगे तो यह भी बेढंगी बात होगी। फिर हमें रस से पूर्ण काव्य-प्रबन्ध के एक बड़े भाग को नीरस स्वीकार करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ निम्न-छन्द में अचेतन नदी का ही वस्तुवृत्तान्त है किन्तु क्या मानिनी नायिका की भाव-योजना की अनुभूति हमें इससे नहीं होती—

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥[1]

(तरंगें टेढ़ी भौंहें हैं, क्षुब्ध कलरव करती उड़ती हुई पक्षियों की कतार बजती करधनी है, चलने के वेग में शिथिल हो कर लटकते हुए फेन-रूपी झीने परिधान-वस्त्र को हाथ से खींचती-सँभालती वह मानो मेरी त्रुटियों को बार-बार स्मरण कर—ऊँची-नीची चट्टानों पर चढ़ उतर कर—उसी मान-भाव में कुटिल गति से प्रवाहित होती चली जा रही है, निश्चित ही वह मेरी मानिनी—उर्वशी—विहर-सन्ताप को न सह कर मेरे वियोग में ताप-शान्ति के लिए इस नदी के रूप में परिणत हो गयी है।)

और इसे हम केवल उपमा अलंकार का ही विषय स्वीकार करें तो क्या यह उचित होगा? और क्या विप्रलम्भ श्रृंगार-विषयक-रसवदलंकार की चारुता के बिना इस काव्य का आनन्द उठाया जा सकता है? अर्थात् ऐसा नहीं है, यहाँ उपमा और विप्रलम्भ रस दोनों नदी-गत-वस्तुवृत्त-वाक्यार्थी भाव के अंग हैं। अतः जहाँ रस अन्य वाक्यार्थी भाव के अंग हो जायेंगे वहाँ उनकी अलंकारता स्पष्ट है।

---

१. ध्वन्यालोक २।५ का उदाहरण

चेतन-अचेतन का प्रश्न उठाना ठीक नहीं है। चेतन-वस्तु-वृत्तान्त के वाक्यार्थी भाव में रसवदलंकार और अचेतन के वाक्यार्थी भाव में उपमा आदि ही अलंकार होते हैं, यह विषय-विभाग दोष-पूर्ण है। क्योंकि प्रायः सभी अचेतनवस्तु-वृत्तान्त-योजना में अन्ततः विभावादि से चेतनवस्तु-वृत्तान्त-योजना वर्तमान रहती है।[१] इसी प्रसंग में 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' का उदाहरण है,[२] जिसमें त्रिपुररिपु (शिव) के प्रभावातिशय का वाक्यार्थीभाव होने पर शिव के बाण-अग्नि के चेतनत्व में श्लेष के साथ असुर-रमणियों का ईर्ष्याविप्रलम्भ अंग बन कर रसवदलंकार हो गया है, जो केवल अचेतन शराग्नि में चेतन कामी की वस्तु-वृत्तान्त-योजना के काव्य-सौष्ठव से ही चमत्कृत है।

यहाँ 'चेतनवस्तुवृत्तान्त-योजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन' में 'विभात्वेन' पद का प्रयोग आनन्दवर्धन ने रस की सुरक्षा के लिए किया है, जिससे कोई यह आशंका न उठाने लगे कि तब तो यह चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना काव्य की एक नयी विधा ही हो गयी और उसकी अलग संज्ञा होनी चाहिए। 'विभावत्व से स्थित' कह कर उसे रस के विस्तार से बाहर नहीं जाने दिया है। परन्तु बात ऐसी नहीं है, चेतन-वस्तु-वृत्त की योजना भाव या उसके व्यापार की ही होगी, यह तो सत्य है, लेकिन वह भाव, विभाव या रस का कोई छिन्न टुकड़ा ही होगा——सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं है। क्योंकि स्वयं वे ही रसवद् के बिना भी चेतन-वस्तु-वृत्त की उपस्थिति उपमा में स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने जिस चेतन-वस्तु-वृत्तान्त-योजना की सर्वत्र स्थिति स्वीकार की है, और जिसके न स्वीकार करने पर रस-सम्भृत काव्य-प्रबन्धों के नीरस हो जाने की आशंका व्यक्त की है, वह चेतनवस्तु-वृत्तान्त योजना और कुछ

---

१. पूरे प्रसंग के लिए दे० ध्वन्यालोक २।५ की वृत्ति

अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलंकारः। तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविलरलविषया वा स्युः। यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन। तस्मादंगत्वेन च रसादीनामलंकारता।

२. पूरा उदाहरण है--

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिंगन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

नहीं, केवल समाधि गुणा है। चेतन वस्तु-वृत्त की योजना जब इतना व्यापक धर्म है कि वह रसवद् में भी है, उपमा आदि में भी है, जहाँ ये नहीं है वहाँ भी है, तब इतने व्यापक धर्म को काव्य की एक स्वतंत्र व्युत्पत्ति स्वीकार करना ही उचित होता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधि गुण के रूप में इस चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना को आनन्दवर्धन के पूर्व वैदर्भ मार्ग के कवियों में अत्यन्त आदर प्राप्त था। काव्य-चिन्तन की एक ही चमत्कारी विधा का समाधि गुण और चेतन वस्तु-वृत्तान्त-योजना—दो संज्ञाओं में विवेचन हुआ है। समाधि गुण की रचनाओं के प्रति विदग्ध-गोष्ठियों एवं कवि-समाज में कितनी अभिरुचि थी यह धनपाल की उस उक्ति से पता चलता है जिसमें राजशेखर की कवि-वाणी की प्रशंसा उसने 'समाधि-गुणशालिनी' कह कर की है।[1] कालिदास का मेघदूत समाधि गुण का पूर्णप्रबन्ध-गत परिपाक है। अचेतन मेघ में यक्ष के चेतन मित्र की योजना कर कालिदास ने जो उक्ति-सौष्ठव प्रस्तुत किया, उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में इस समाधि गुण का ही नामान्तर पर्सानिफिकेशन (Personi fication) अथवा मानवीकरण अलंकार है। हिन्दी के आधुनिक कवियों ने इस विधा की रचना में अपनी अत्यधिक रुचि दिखायी है। छायावाद की अधिक कविताएँ समाधि गुण अथवा अचेतन की इसी मानवीकरण काव्य-विधा के विविध विकास हैं।

गुणों की एकत्र स्थिति अथवा संसृष्टि

दश गुणों में उदारत्व, कान्त तथा समाधि अर्थ-बोध की ओर उन्मुख गुण हैं, शेष सात विशुद्ध शब्द गुण हैं। अतः उदारत्व आदि अर्थोन्मुख गुणों के साथ शब्द-गुणों की एकत्र स्थिति बहुत सम्भव है। विशेषतः समाधि गुण के साथ किसी न किसी शब्द-गुण का योग तो निश्चित है। जैसे समाधि गुण की निम्न रचना में—

मूलं बालकवीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः
सारश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचं च सोयं गणः
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पंचेषवे।[2]

---

१. तिलकमंजरी (मंगलाचरण) ३३

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः॥

२. विद्धशालभंजिका ४।५

जब काम वसन्त ऋतु में शिव के तृतीय नेत्र की ज्वाला से भस्म हुआ तब वसन्त के बाद ही उपस्थित ग्रीष्म ऋतु ने जलन को शान्त करनेवाली ओषधियों का समूह—बालकलता की जड़, मालती की सुगन्धित छाल, चन्दन वृक्षों का सार, अशोक के नये कोमल पत्ते, शिरीष के फूल और पके हुए केले के फल—अपने उस मित्र काम देवता को दिये थे। यहाँ अचेतन ग्रीष्म में चेतन मित्र की व्यापार-योजना का वर्णन हुआ है, जो समाधि गुण का पक्ष है पर इस छन्द का पद-बन्ध सुकुमार गुण का है।

शब्द गुण भी कहीं-कहीं एकत्र देखे जाते हैं। ऐसी एकत्र स्थिति श्लेष और माधुर्य की, माधुर्य और सुकुमारता की, अर्थव्यक्ति और प्रसाद की, ओज और समता की, ओज और प्रसाद की सम्भव होती है। **'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज-गुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्'**[1] का उदाहरण एक साथ ओज, समता, अर्थव्यक्ति और प्रसाद गुणों का है। छन्द की यति के अनुसार विभक्तिमय पदों का प्रयोग समता की तथा दीर्घ मात्राओं, संयुक्त वर्णों की आवृत्ति ओजोगुण की विशेषताएँ हैं, अंगराज के प्रति कहे गये अश्वत्थामा के इस संकल्प-वाक्य में पितृ-वध के सन्दर्भ से अर्थ-बोध के लिए खींचातानी नहीं करनी पड़ती, अतः अर्थव्यक्ति है और प्रसिद्ध अर्थवाले शब्दों का प्रयोग होने से प्रसाद गुण है। तीनों गुण मुख्य रूप से ओज को चमत्कृत कर रहे हैं।

रौद्र रस की अभिव्यक्ति में ओजगुण की ही स्थिति रसवादी स्वीकार करते हैं, लेकिन नीचे के उदाहरण में, ओज के जो प्रयोग-नियम मम्मट ने बताये हैं—संयुक्त अक्षर, रकार से संयोग, ट वर्ग के अक्षर, श-ष का प्रयोग, लम्बे समास, विकट बन्ध[1]—वे नहीं हैं और रचना रौद्र रस की है—

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।
इयं परिसमाप्यते रणकथाद्य दोःशालिना-
मपैतु नृपकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः॥[2]

(राजन्! आज रात में आप इतने आनन्द की नींद सोयें कि बन्दीजनों की स्तुतियों से प्रयत्न-पूर्वक आपकी गाढ़ निद्रा भंग हो, क्योंकि अब आज ही यह लोक

---

१. काव्यप्रकाश ८। सू० १००

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥

२. वेणीसंहार ३।३४

कृष्ण से रहित, पाण्डवों से शून्य और बिना सोमक वंशी क्षत्रियों के हो रहा है। बाहुबल का अभिमान रखनेवालों की यह युद्ध-कहानी आज मैं समाप्त कर रहा हूँ। आज ही राजाओं का वन-रूपी पृथ्वी का भारी भार दूर होता है।)

इस छन्द के तृतीय चरण में---**रणकथाद्य दोःशालिनाम्**---ओज के अनुकूल अक्षरबन्ध कहा जा सकता है, शेष सम्पूर्ण छन्द अश्वत्थामा की इस क्रोध-उक्ति को पितृ-वध के सन्दर्भ से अर्थ के अनेयत्व धर्म की उज्ज्वलता में चमत्कृत करता है।

उन्मेष चार | काव्य का शरीर : विधाएँ तथा भाषाएँ

सामान्य-परिचय

वैदिक ऋचाओं के बाद एक लम्बे व्यवधान के अनन्तर काव्य और उसके कवि का नया इतिहास लोक-कवियों की सूक्ति-रचनाओं से पल्लवित हुआ। सूक्ति का अर्थ है--सुष्ठु या आकर्षक कथन। कथन का आकर्षण उसके शब्द-चयन और अर्थ-विधान दोनों से चमत्कृत होता है पर अर्थ-बोध मुख्य विधेय रहता है और शब्द-चयन उसका माध्यम। शब्द--अर्थ का यह सामंजस्य तब अनुभव किया गया जब सूक्ति को काव्य-संज्ञा दी जाने लगी। शब्द-अर्थ के इस सामंजस्य ने काव्य-चर्चा में आगे चलकर अपना विस्तार इतना अधिक किया कि उसके विस्तार के ओट में उसके मूल सूक्ति का पता नहीं रहा। मार्ग, गुण, सौशब्द्य काव्य और वक्रोक्ति, दूसरी ओर स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, अलंकार और ध्वनि--सभी सूक्ति के ही पत्ते, फूल और फल से भरी शाखाएँ हैं, जो अपने सौरभ और रस से लगभग सात सौ वर्षों (काव्य में रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा स्थापित करनेवाले आचार्य अभिनवगुप्त[1] के पूर्व) तक काव्यशास्त्री आलंकारिकों को मुग्ध करती रही हैं। यदि रस के समुद्र में शब्द-अर्थ का यह काव्य-अक्षयवट डूब न गया होता तो बहुत सम्भव था कि काव्य-चर्चा का यह वृक्ष अर्थ की किसी नयी ऋतु और उसके नये कुसुमों से आच्छादित होता।

सूक्ति, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति कहने में जो अभिव्यक्ति होती है, जो बोध होता है, वही अभिव्यक्ति या बोध 'शब्द-अर्थ का सामंजस्य पूर्ण कथन' मात्र कहने में नहीं है। शरीर की प्राणवत्ता और शरीर की रूपरेखा का अन्तर उक्त दोनों विभागों का अन्तर है। और केवल 'सूक्ति' कहने में शब्द-अर्थ का सामंजस्य और उक्ति-वैचित्र्य--हमारे बोध की दोनों ओर प्रवृत्ति होती है।

---

१. लोचन (ध्वन्यालोक १।५ की टीका)

तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते।

सूक्ति शब्द में अन्तर्गर्भित काव्य के इस द्विधा बोध को विभक्त करने का प्रयास आचार्य दण्डी ने किया—एक ओर उन्होंने काव्य के शरीर का व्याख्यान किया और दूसरी ओर मार्ग, मार्ग के प्राण गुण तथा अलंकारों का निदर्शन प्रस्तुत किया। दण्डी का यह विषय-विभाग काव्य का शरीर तथा काव्य की प्राणवत्ता के दृष्टिकोण से समझने में अधिक स्पष्ट होता है। दण्डी का कहना है—सूरियों ने वाणी के विचित्र मार्गों की रचना-विधि का निरूपण किया और उन्होंने काव्य के शरीर तथा अलंकारों को स्पष्ट किया है। और इसके बाद दण्डी ने, ऊपर शब्द-अर्थ की जिस समरसता की चर्चा हुई है, उसे ही काव्य-शरीर कहा है। उनका लक्षण है—इष्ट-अर्थ से अन्वित पदावली (शब्दों का समूह) काव्य का शरीर है।[1] काव्य के व्याख्यान के प्रसंग में काव्य का शरीर ही पहला सिद्धान्त-कथन है। इसीलिए बाद में वह अतीत के निर्वचन के रूप में स्मरण किया जाता रहा।[2]

काव्य-शरीर का यह लक्षण सूक्तियों की रचना-विधि का अनुगमन था। दण्डी के पश्चात् इस लक्षण को सीधे काव्य से संयुक्त किया गया, शरीर मात्र में उसकी गतार्थता आचार्यों को अच्छी न लगी। उक्त लक्षण के केवल काव्य में पर्यवसायी होने पर तथा शरीर-परक उसके निदर्शन के विच्छिन्न हो जाने से, काव्य की स्वीकृति के दो अलग-अलग मार्ग हो गये—एक जो केवल शब्द में काव्य का सौष्ठव देखते थे, दूसरे वे थे जो काव्य की उक्ति में अर्थ की व्युत्पति का चमत्कार खोजते थे। अब काव्य के शरीर का लक्षण नहीं, काव्य के चमत्कार का तत्वान्वेषण आचार्यों को आकर्षित कर रहा था। काव्य के शब्द-अर्थ-गत चमत्कार को लेकर जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय काव्य-मर्मज्ञों के चल रहे थे, दण्डी के परवर्ती भामह ने उसकी आलोचना की, उन्होंने कहा—कुछ लोग रूपक आदि अलंकारों को बाह्य कहते हैं और संज्ञा, क्रिया की सौशब्द्य-योजना को ही काव्य का वास्तविक, स्वरूप मानते हैं, उनकी दृष्टि में अर्थ-व्युत्पत्ति उतनी चमत्कारजनक नहीं होती जितनी शब्द-व्युत्पत्ति। दूसरे लोग थे, जो रूपक आदि अर्थालंकारों की अनेक प्रकार से योजना करने हैं में अभिरुचि रखते हैं। किन्तु हमें तो शब्द तथा अर्थ भेद से दोनों ही अलंकार इष्ट हैं।[3]

---

१. काव्यादर्श १।१०

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।

२. ध्वन्यालोक १।१

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्।

३. काव्यालंकार (भामह) १।१३-१५

दण्डी ने लक्षण में काव्य के शरीर का दृष्टिकोण रखा था अतः इष्ट अर्थ तथा उसकी पदावली की अन्विति का उल्लेख उन्होंने किया। भामह के समय लक्षण काव्य-शरीर से हट कर केवल काव्य पर केन्द्रित हो गया अतः लक्षण में भी अर्थ से अर्थालंकार तथा पदावली से शब्दालंकार का ग्रहण किया जाने लगा।

दण्डी के काव्य-शरीर का यह लक्षण सूक्ति-काव्यों की परिचर्चा का परिणाम था। लेकिन आगे काव्य-शरीर के वृक्ष-विस्तार में उन्होंने जो अन्य विधाओं का उल्लेख किया है, जैसे महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, नाटक, लास्य, छलित, शम्पा—ये सब सूक्ति-काव्यों के समानान्तर कवि की अन्य रचना-प्रवृत्तियाँ थीं। दण्डी ने काव्य-शरीर के भेद के रूप में उनका सामंजस्य स्थापित कर दिया।

कवि की अन्य रचना-प्रवृत्तियों में विशेष आकर्षक महाकाव्य की रचना थी। महाकाव्य का मूल रूप राजविरुदावली अथवा राजवंशों का क्रमिक निबन्धन था। राजविरुदावली के रूप का आख्यान, वंशानुकीर्तन आदि अनेक सामंजस्यों के साथ जो विकास हुआ उसने महाकाव्य का रूप लिया, पद्य में वह महाकाव्य था और गद्य में आख्यायिका।

इनके बाद आकर्षक प्रवृत्ति कथाओं की थी। लोक-जीवन में युवा-युवती की रस-निर्भर प्रणयगाथाएं मौखिक रूप से सुन-सुना कर अवकाश के क्षणों में आनन्द लिया जाता था। ऐसी प्रणयगाथाओं ने कवियों को गद्य में कथा लिखने की प्रेरणा दी, जिसमें स्वभावतः कल्पना का अंश अधिक हो जाता था। इन कथाओं का मूल रूप लौकिक अनुश्रुतियों में था। कालिदास ने उदयन और वासवदत्ता की कथा को अवकाश के क्षणों में ग्राम-वृद्धों द्वारा सुनाये जाने का उल्लेख किया है—
प्राप्यावन्तीनुदयन-कथाकोविदग्रामवृद्धान्।[1]

नाटक यद्यपि प्रथमतः कवि के कृतित्व की सीमा में नहीं आता था लेकिन जब उसके संवादों में काव्यलक्षणों तथा अलंकारों का समावेश हुआ तो उसे भी काव्य के रूप में स्वीकृति मिलने लगी। यह स्पष्ट है कि दण्डी के समय में नाटक काव्य के रूप में उतना अभीष्ट नहीं था, जितने महाकाव्य, आख्यायिका या कथा थे। इसीलिए यह संभव है कि महाकाव्यों में कथावस्तु की सन्धियाँ, नाटकों से आयी हों जैसा कि भामह ने **पंचभिः सन्धिभिर्युक्तम्** कहा है।[2]

कवि की रचना की एक चौथी प्रवृत्ति राग-काव्यों की थी। यह विदग्ध-

---

१. पूर्वमेघ ३२

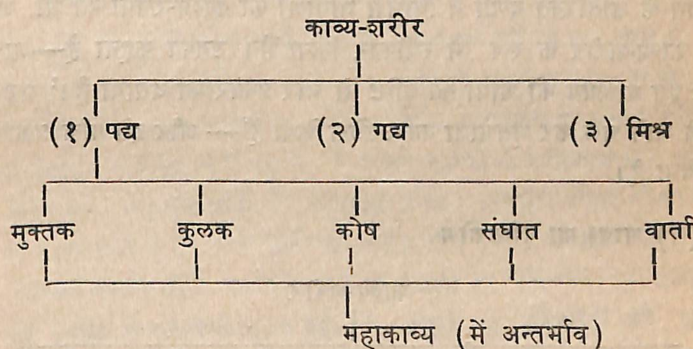
२. काव्यालंकार (भामह) १।२०

पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।

गोष्ठी नहीं, ठेठ लोक-समाज अथवा ज्येष्ठ राज-सभाओं की शोभा था। नाटक और काव्य के मध्य की उभयनिष्ठ प्रवृत्ति इस विधा में होती थी। इस काव्य को अभिनय अथवा नृत्त के साथ गाकर सुनाया जाता था। दण्डी ने इसे प्रेक्षार्थम् कहा है, लास्य, छलित तथा शम्पा के रूप में यह केवल स्त्री से, केवल पुरुष से अथवा वाद्यों के साथ गाया जाता था। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से हमें आकृष्ट करती है कि नाटक को तो दण्डी ने केवल गद्य-पद्य का मिला-जुला मिश्र काव्य कहा, प्रेक्ष्य नहीं, किन्तु इन रागकाव्यों को स्पष्ट रूप से 'प्रेक्षार्थम्' कह कर अन्यों को श्रव्य बताया है।[1] नाटक अभी काव्य रूप में अधिक अभिमत नहीं था, अतः दृश्य काव्य के रूप में उसके विभाजन पर ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ था, दण्डी ने कहा है कि नाटक का विस्तार अन्यत्र है।

दण्डी के काव्य-शरीर का वृक्ष-विस्तार इस प्रकार देखा जा सकता है—

(क) प्रकार या विधा का दृष्टिकोण

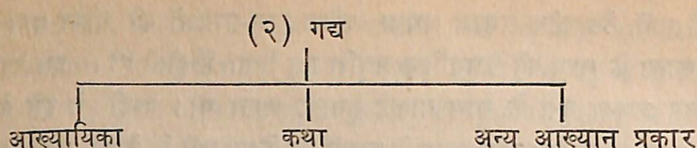


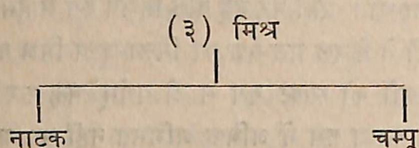
वार्ता-काव्य का उल्लेख दण्डी ने काव्य-शरीर के प्रसंग में नहीं वरंच कान्ति-गुण की स्थिति में किया है।

---

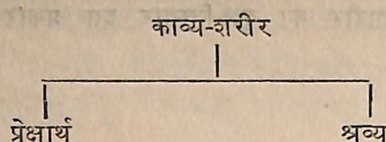
१. काव्यादर्श १।३९

लास्यच्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थम् इतरत् पुनः।
श्रव्यमेवेति सैषापि द्वयी गतिरुदाहृता॥



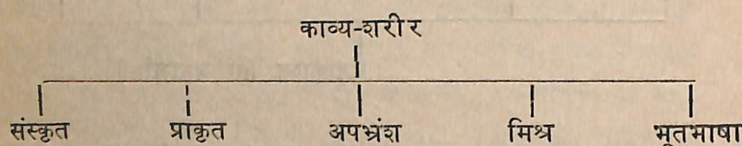


(ख) ग्रहण का दृष्टिकोण



काव्य-शरीर के उक्त सभी भेद काव्य की विधाओं के ही विस्तार हैं। इस व्याख्यान के अतिरिक्त दण्डी ने विभिन्न भाषाओं की काव्य-रचना को भी अलग-अलग काव्य-शरीर के रूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है—आचार्यों ने पुनः इस वाङमय को भाषा की दृष्टि से चार प्रकार का बताया है।[१] पर स्वयं दण्डी ने आगे चल कर भूतभाषा का उल्लेख किया है[२]— और इसे पाँच प्रकार का बना दिया है।

(ग) भाषा का दृष्टिकोग



---

१. काव्यादर्श १।३२

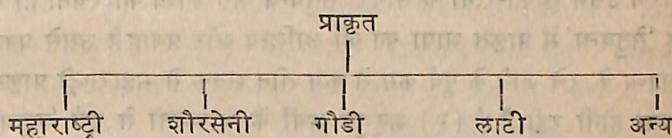
तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

२. वही, १।३९

भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्॥

प्राकृत भाषा के प्रयोग और उसमें काव्य-रचना की प्रवृत्ति का बहुत प्रचार दण्डी के समय में था।

भूतभाषा और उसमें लिखी बृहत्कथा की चर्चा उन्होंने बाद में की है। नाटक काव्य में मिश्र भाषाओं का प्रयोग होता था, वहाँ ऐसा इसलिए भी आवश्यक था कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलनेवाले पात्र नाटक में उसी रूप में लाये जाते थे। भूतभाषा का प्रयोग भी संस्कृत नाटकों में हुआ है लेकिन कदाचित् दण्डी के सामने उसकी मान्यता अधिक इष्ट नहीं थी। प्राकृत प्रत्येक प्रदेश की अलग थी और उनमें सभी में काव्य-रचना की जाती थी। काव्य में प्राकृत की यह विविधता काव्य की लोकप्रियता का प्रमाण है और इससे इस तथ्य का भी पुष्टीकरण हो जाता है कि सूक्ति-काव्यों के रूप में लोक की प्राकृत भाषा ही पहले काव्यचर्चा का आश्रय थी। दण्डी ने चार प्राकृतों का स्पष्ट उल्लेख कर अन्यों में भी काव्य-रचना किये जाने का संकेत किया है—



पुनः विधा तथा भाषा की दृष्टि से इन काव्य-शरीरों का अपने में एक सामंजस्य, अथवा निजी अभिज्ञान भी था। सर्गबन्ध महाकाव्य संस्कृत में लिखे जाते थे। सर्गबन्ध कहने का अर्थ है, सर्गबन्ध आदि कुछ विशिष्ट लक्षण, जो महाकाव्यों के सम्बन्ध में स्थिर किये गये थे, वे संस्कृत-काव्यों के अभिज्ञान थे। प्राकृत-काव्यों में स्कन्धक, गलितक छन्दों का प्रयोग होता था। अपभ्रंश काव्य ओसर आदि छन्दों में लिखे जाते थे।[1] उक्त छन्दों का प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश कवियों की अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति थी। छन्दों के साथ ही काव्य के परिच्छेद की संज्ञाएँ भी भिन्न थीं, संस्कृत में सर्ग-बन्ध काव्य होते थे, प्राकृत में परिच्छेदों की संज्ञा स्कन्ध, आश्वास होती थी। यह तो काव्यों की स्थिति हुई। नाटक की एक ही वृत्ति में सभी भाषाओं का प्रयोग सम्भव था, जैसा कि पहले कहा गया है। कथा के गद्य-काव्य भी सभी भाषाओं में लिखे जाते थे। लास्य, छलित तथा शम्पा राग-काव्यों में भी कम से कम लास्य काव्य, जो स्त्री-जनों द्वारा गाया जाता था, निश्चित ही प्राकृत भाषा में निबद्ध होता रहा होगा।

दण्डी द्वारा व्याख्या किये गये उक्त काव्य-शरीर, विशेषतः महाकाव्य,

---

१. काव्यादर्श १।३७

कथा तथा आख्यायिका अपने साथ अपने उद्भव एवं विकास का बड़ा रोचक इतिहास रखते हैं। दण्डी ने जो इनका विस्तृत व्याख्यान किया है, उसे हम ऐतिहासिक व्युत्पत्ति के साथ समझने का प्रयास करें तो उसका प्रत्येक पक्ष अधिक स्पष्ट होकर सामने आता है। इसी प्रकार कवियों द्वारा प्राकृत, अपभ्रंश, भूताभाषा में काव्य-रचना का भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व है। इन भाषाओं के कवियों ने ही काव्य-चर्चा के मूल में प्रतिभा का जल सींच कर उनकी गाँठों से लोक-भाषा के नये रूप में लोक-काव्य के नये अँखुए फोड़ निकाले हैं। परवर्ती काल (राजशेखर से लेकर मम्मट तक के समय) में लोकभाषा के इन कवियों का ही अनेक काव्यगोष्ठियों में बोलबाला रहता था। विधा और भाषा का यह वर्गीकरण जब दण्डी ने किया होगा तब भी लोक-कवियों की महिमा काव्य-चर्चा में ऊँची ही रही होगी, इस तथ्य की प्रामाणिकता दण्डी के वचनों से होती है—(१) विद्वान् जन दक्षिण महाराष्ट्र देश में बोली जानेवाली भाषा को प्राकृतों में उत्तम प्राकृत कहते हैं, उसकी उत्कृष्टता के ही कारण उसमें सूक्ति-रत्नों के सागर 'सेतुबन्ध' जैसे काव्य की रचना हो सकी है अर्थात् 'सेतुबन्ध' में प्राकृत भाषा का जो लालित्य और प्रवाह है उससे प्रकट है कि इस काव्य के रचे जाने के पूर्व कम से कम तीन शतक से महाराष्ट्री प्राकृत में काव्य-रचना होती रही है।[1] (२) अद्भुत अर्थों के आख्यानों से पूर्ण 'बृहत्कथा' जैसी रचना भूतभाषा (पैशाची भाषा) में पायी जाती है।[2] काव्यादर्श के इन उद्धरणों से बहुत स्पष्ट है कि 'सेतुबन्ध' तथा 'बृहत्कथा' के रचयिता कवियों ने अपने उत्कृष्ट कृतित्व की छाप संस्कृत कवियों पर डाली होगी।

महाकाव्य

उक्त विधाओं में महाकाव्य का गुम्फन कवि की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। काव्य-सम्बन्धी सभी मान्यताओं का अन्तर्भाव इस के गुम्फन में हो जाता है। कथा, आख्यायिका तथा नाटक की कथावस्तु का निबन्धन भी महाकाव्य की परिधि से बाहर नहीं है। किन्तु विकास-क्रम में नाटक और कथा-आख्यायिका के स्वरूप महाकाव्य से पहले स्थिर हो चुके थे, यह एक विशेष बात है। और ऐसा लक्षित होता है कि पुराण के मूल से कथा (सत्य वृत्तान्त से भिन्न अद्भुत कथा), महाकाव्य (राजविरुद), आख्यायिका (राज-चरित) का स्वरूप एक ओर विकसित हो

---

१. काव्यादर्श १।३४

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

२. वही, १।३८

रहा था एवं लोक की प्रेम-कथाओं का अनुकरण लेकर नाटक का स्वरूप दूसरी और ऊँचे उठ रहा था। नाटक ने रंगमंच के कारण उत्सव का रूप ले लिया और बहुत शीघ्र विकसित होकर आगे आ गया। उसके साथ कथा और आख्यायिका का रूप प्रस्फुट हुआ। इनके समानान्तर महाकाव्य का जो रूप स्पष्ट होकर सामने आया वह राजप्रशस्ति मात्र था जिसमें राजा, राजवंश या उसकी राजधानी की प्रशंसा होती थी। महाकाव्य का मान्य रूप जिसकी विवेचना दण्डी या अन्य आचार्यों ने की है, वह तो निश्चित ही नाटक के बाद का है, क्योंकि उसकी कई विशेषताएँ नाटक से प्रभावित हैं जैसा कि आगे महाकाव्य के लक्षणों के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाएगा।

सर्गबन्ध काव्य-रचना को महाकाव्य कह कर उसकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख काव्यादर्श में हुआ है।

मूल लक्षण

महाकाव्य का आरम्भ आशीः, नमस्क्रिया अथवा वस्तु-निर्देश से होता है।[१]

इसका निबन्धन इतिहास––महाभारत, रामायण आदि अथवा अन्य कथाओं के आश्रय से निष्पन्न सत्य वृत्तान्त को लेकर होता है। उस सत्य वृत्तान्त का लक्ष्य चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है और उसका केन्द्र विन्दु कोई चतुर तथा उदात्त नायक रहता है।[२]

इसका विभाजन सर्गों में होता है, जो बहुत लम्बे नहीं होते। कथा की सन्धियों का निर्वाह इन सर्गों में किया जाता है, जैसे सर्ग की समाप्ति के साथ आगे के सर्ग में निबद्ध की जानेवाली कथा का संकेत देना। तथा सुनने योग्य एवं पठनीय छन्दों में वे सर्ग प्रणीत होते हैं। सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन हो जाता है। इन सर्गों में महाकाव्य की कथावस्तु का विस्तार उसके अनेक कथांगों द्वारा होता है।[३]

---

१. काव्यादर्श १।१४

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥

२. वही, १।१५

इतिहास - कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्॥

३. वही, १।१८-१९

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम्।

कथावस्तु को संक्षिप्त नहीं होना चाहिए, उसको विशद करनेवाले अंग ये हैं--नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय और सूर्योदय के वर्णन। विवाह, उद्यान-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, पानगोष्ठी (मदिरा सेवन), सुरत (संभोग-शृंगार) का विलास, विप्रलम्भ (वियोग शृंगार) की वेदना तथा पुत्र-जन्म जैसी अंगभूत प्रासंगिक कथाओं का सन्निवेश। शत्रु को विजय करने के लिए अमात्यों के साथ युद्ध-मन्त्रणा, दूत भेजना, रण-प्रयाण, युद्ध और पुनः विजय के साथ समस्त कथावस्तु में व्याप्त नायक के अभ्युदय की कहानी।[1]

उक्त समस्त निर्देश महाकाव्य की परिधि के विस्तार हैं, जिसमें धर्म, राजनीति, समाज एवं जीवन के अनेकानेक विषय कथा के अंग बन कर कवि के लिए काव्य को आर्कषित बनाने के उपादान का काम देते हैं। महाकाव्य संज्ञा से काव्य की जिस विराट् गुम्फना ना की ओर संकेत मिलता है यदि उक्त निर्देशों को वही मान लिया जाय तो दण्डी के 'काव्यादर्श' में निरूपित सिद्धान्तों अथवा प्रयोगों को महाकाव्य के रचयिता कवि के लिए सर्वथा अपर्याप्त ही समझना चाहिए। जीवन और जगत् राष्ट्र और धर्म, समाज और व्यक्ति के लगभग समस्त व्यवहार किसी न किसी प्रकार महाकाव्य के इन निर्देशों में समाहित हो जाते हैं। कवि इनका गुम्फन महाकाव्य में किस प्रकार करे, इनके सन्निवेश से महाकाव्य की प्राणवत्ता किस प्रकार विराट् हो जाती है--आदि पर्यालोचन संस्कृत के किसी भी काव्यशास्त्र में प्राप्त नहीं होते। जिन काव्यशास्त्रों में--जैसे भामह, रुद्रट के काव्यालंकार, हेमचन्द्र के काव्यानुशासन, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में--महाकाव्य का यह परिचय मात्र दिया गया है, उनमें यह परिचय विलक्षण तथा बलात् जोड़ा गया-सा प्रतीत होता है। और ऐसा अनुमान होता है कि यहाँ इस लक्षण के व्याख्यान की कोई आवश्यकता या संगति नहीं है। सच बात यह है कि संस्कृत के सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र में उक्ति-वैचित्र्य की ही अनेकधा व्याख्या हुई है, चाहे वह अलंकार हो, गुण हो, रीति हो, चाहे ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा रस हो। विषय-वैचित्र्य की व्याख्या की ओर किसी आचार्य का ध्यान नहीं गया और महाकाव्य वास्तविक रूप में उक्ति-वैचित्र्य नहीं, विषय-वैचित्र्य है। आचार्यों ने केवल उसके विषयों की सूची गिना दी है। विषयों के निर्वाह, उनकी विविधता के आकर्षक सन्निवेश आदि पर जो सूक्ष्म पर्यवेक्षण होना चाहिए था, नाटक के सम्बन्ध में तो मिलता है, किन्तु महाकाव्य के सम्बन्ध में नहीं। महाकाव्य की प्राणवत्ता विषय के इसी सूक्ष्म पर्यवेक्षण में थी।

---

१. काव्यादर्श १।१६-१७

किन्तु अन्य आचार्यों की अपेक्षा दण्डी का 'काव्यादर्श' महाकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में तात्कालिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व की सूचनाएँ देता है और इस दृष्टि से उनकी परिभाषा का अपना एक वैशिष्ट्य है। जिन मूलभूत विशेषताओं के कारण महाकाव्य को काव्यशास्त्र के विवेचन में स्थान मिलता है वे दो हैं—सालंकारता तथा रसभावान्विति। दण्डी ने महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय पक्ष का विस्तार केवल इन्हीं दो बातों में किया है—महाकाव्य रस तथा भाव की योजनाओं से परिपूर्ण होता है और अलंकारों के सद्भाव के साथ लोकरंजक बन कर सदा के लिए अमर बन जाता है।[1] भामह ने ऐसे चार विशेषणों को, काव्यशास्त्रीय मापदण्ड से महाकाव्य के लिए अपेक्षित माना है। अलंकार और रस के अतिरिक्त ग्राम्य शब्दों का परित्याग तथा अर्थ-सौष्ठव की सम्पन्नता भामह-निरूपित महाकाव्य के विशिष्ट पक्ष हैं।[2] अर्थात् महाकाव्य के जिस भाग या अंश में अलंकार अथवा रस का विधान न किया जा सके, उसे अर्थसौष्ठव और अग्राम्य शब्दों से काव्योपयुक्त-श्री से सम्पन्न बनाया जाये। भामह ने महाकाव्य को अधिकाधिक काव्य-शिल्प की परिधि में रखने का प्रयत्न किया है।

इन विशेषताओं के सद्भाव तथा अभाव की स्थितियों एवं उनके प्रस्तुतीकरण-प्रकार की ओर भी संकेत किया गया है, जिनमें महाकाव्यत्व नष्ट नहीं होता। उक्त सम्पूर्ण विशेषताएँ महाकाव्य का अंग हैं, इनमें कुछ अंगों से न्यून होने पर भी यह काव्य हीन नहीं कहा जाता यदि वर्णित किये गये अंगों में प्रस्तुत की गयी काव्य-सम्पत्ति काव्य-विशेषज्ञों को आकृष्ट करती है। महाकाव्य के नायक का प्रस्तुतीकरण प्रभावकारी ढंग से अपेक्षित होता है—नायक के गुणों का वर्णन पहले करना चाहिए। पुनः उसके द्वारा शत्रुओं का विनाश दिखाना चाहिए। वर्णन का यह मार्ग स्वभावतः आकर्षक हो जाता है। एवं शत्रु के भी वंश, शौर्य एवं विद्या का

---

१. काव्यादर्श १८-१९

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभाव - निरन्तरम्।
.......................लोकरंजकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति॥

२. काव्यालंकार (भामह) १।१९, २१

अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥

वर्णन कर तब नायक द्वारा उसे विजित कराना चाहिए---नायक के उत्कर्ष का ऐसा काव्यगान चित्त को प्रसन्न कर देता है।[1]

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी अन्तिम विशेषताओं को छोड़ कर उक्त सभी विशेषताएँ अनेक स्रोतों से आकर महाकाव्य के संगम में एकाकार हुई हैं। उन स्रोतों के साथ इन विशेषताओं को इस प्रकार देखा जा सकता है---

महाकाव्य के स्वरूप-गठन के विभिन्न स्रोत

१. पुराण---सृष्टि की कथा एवं राजवंशानुचरित

महाकाव्य के स्वरूप गठन में पुराण की ये विधाएँ और अंश गृहीत हुए हैं---आशीः, नमस्कार, वस्तु-निर्देश। नगर, समुद्र, तथा पहाड़ के वर्णन। सर्ग का विभाजन। चतुर उदात्त नायक, उसके वंश, शौर्य तथा विद्या-विवेक का वर्णन।

पुराण के पाँच लक्षण प्राय: सर्वत्र कहे गये हैं---सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित, मन्वन्तर।[2] राजशेखर की काव्यमीमांसा में इन लक्षणों को ही लेकर पुराण की परिभाषा इस प्रकार है---संसार की सृष्टि, अवान्तर सृष्टि, कल्प, मन्वन्तर और वंश-वर्णन---इन पाँच विषयों का वर्णन जिसमें हो वह पुराण है।[3]

प्रलय और उसके बाद मानव-सृष्टि होने की कहानी प्रायः विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में पायी जाती है। सृष्टि-वर्णन में समुद्र, पहाड़ तथा मानव-सभ्यता के उच्चतम प्रतीक---नगरों का वर्णन लोक-मन की बुद्धि-इयत्ता एवं हृदय जिज्ञासा का उद्रेक था। और इस अर्थ में पुराणों का आविर्भाव वैदिक सूक्तों के

---

१. काव्यादर्श १।२०-२२

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥
वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्ष-कथनं च धिनोति नः॥

२. मत्स्य० ५३।६४

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

३. काव्यमीमांसा, पृ० ८

सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति॥

समकाल या उससे भी पूर्व लोकभूमि तथा लोकभाषा में हुआ। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में लोकवृत्त को ही पुराण अथवा इतिहास कहा है।[1] लोकभूमि से उद्भूत होने के कारण पुराण के विषयों का ग्रहण प्रसंग आने पर धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में भी किया जाता रहा, जब कि कहा जाता है कि स्मृतियाँ श्रुति का अनुगमन करती हैं। कल्प, सूत्र आदि ग्रन्थ वेदांग साहित्य हैं। वेदांग साहित्य में पुराण के जिन विषयों का उल्लेख है वे विषय पुराण की आदि अवस्था के हैं, जब पुराण एक था, पुराण विद्या था, अथवा व्यास द्वारा सम्पादित पुराण-संहिता। मत्स्य पुराण में यह स्पष्ट उल्लेख है कि पूर्व कल्प में पुराण एक ही था और ब्रह्मा ने वेदों से भी पूर्व पुराण का गायन किया था, अर्थात् वेदों की रचना के समय पुराण का वाङ्मय लोक में पहले से वर्तमान रहा।[2] बाद में पुराणों का जो साम्प्रदायिक उपबृंहण हुआ, उसके विषय-सूत्र से वेदांग साहित्य का कोई परिचय नहीं है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ऋषि-जीवन-पद्धति की दो मान्यताओं एवं प्रलय के बाद पुनः सृष्टि[3] का जो प्रसंग पुराण के नाम से उद्धृत है वह ही बढ़ा-चढ़ाकर वायु, मत्स्य आदि पुराणों में विस्तार से कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र पुराण के मूल स्वरूप से परिचित था। पुराणों की ये कथाएँ यज्ञ-समारोहों के अवसर पर अथवा राजा या समाज द्वारा आयोजित सभाओं में सुनायी जाती थीं। राजा द्वारा उसके सुने जाने की उपयोगिता, उसमें वर्णित राजवंशों और प्रसिद्ध सम्राटों के

---

१. न्याय भाष्य ४।१।६१

यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः।

२. मत्स्यपुराण ५३।३-४

पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ॥
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृता॥

३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, २।९।२३।३-४, २।९।२४।५-६

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः। दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे॥
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजा नेषिर ऋषयः।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते॥
आभूत संप्लवात् ते स्वर्गजितः॥ पुनस्सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे॥

चरित-गान के कारण थी। इस प्रकार उस आदि पुराण के दो रूप रहे होंगे--सृष्टि-वर्णन, राजचरित-वर्णन। राजचरित के वर्णन को ही ले कर पीछे आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि के रूप में पुराण का नया विस्तार हुआ।[1] इसका संकेत महाभारत में भी है, शौनक ने लौमहर्षणि से कहा है--पुराण में जो दिव्य कथाएँ तथा ऋषियों एवं राजाओं के आदि वंश बताये गये हैं, हम लोगों ने पहले आप के पिता से इनको सुना है।[2] यहाँ दिव्य कथाओं से सृष्टि-सम्बन्धी अनुश्रुतियों और देव-असुर आदि की पुरातन कथाओं की ओर संकेत है और राजाओं तथा ऋषियों के वंश से--आख्यान, सत्य-वृत्तान्त (इतिहास) का अभिप्राय है। महाभारत में वहीं दिव्य कथाओं का यही विशदार्थ इस प्रकार है--वे आचार्य शौनक देवों तथा असुरों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक दिव्य कथाएँ जानते हैं एवं मनुष्य, नाग और गन्धर्व की कथाओं से भी पूर्ण परिचित हैं।[3] दिव्य-कथा अथवा देवासुर-कथाएँ पुराण हैं तथा मनुष्य-कथा इतिहास है। एक अतीत की कथा होने से अद्‌भुत-प्रसंगों से भर उठा था, दूसरा अभी के बीते हुए मनुष्य के आख्यानों की गाथा था और उसके प्रसंग निश्चित रूप से जैसे घटित हुए थे वैसे ही कहे जाते थे, इसीलिए उसे इतिहास (इति-,ह-आस) कहा गया। पुराण की ही नयी विधा यह इतिहास था--पुराणप्रविभेद एवेतिहासः।[4] लोकवृत्त में पहले केवल पुराण ही रहे होंगे, देव-सभ्यता के विनाश के ठीक पश्चात्। लेकिन जब मानव-सभ्यता और उसके सम्राटों के यश देव-सृष्टि के समान प्रत्यक्ष घटित होने लगे, तब इसका भी समावेश उस पुराण में इतिहास की संज्ञा से हो गया, परन्तु दोनों के विषय की इयत्ता एक होने पर भी दोनों को सदा अलग स्वीकार किया गया। और जब व्यास ने 'जय काव्य' (भारत) की रचना की तब उसके पूर्व के अतीत के सभी मानव-आख्यान

---

१. विष्णु पुराण ३।६।१६

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥

२. महाभारत आदि० ५।२

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव॥

३. महाभारत आदि० ४।५

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः॥

४. काव्यमीमांसा, पृ० ८

भी पुराण बन गये, केवल रामायण और महाभारत—यही दो इतिहास रह गये। पुराण अलग हुआ और इतिहास दूसरा हुआ। मनुष्य के संबंध से इतिहास की महत्ता भी पुराण से अधिक हो गयी।

छान्दोग्योपनिषद् में इन अतीत के आख्यानों के लिए इतिहास, पुराण दोनों संज्ञाएँ एक साथ अन्वित कर प्रयुक्त की गयी हैं।[1] पुराण में देव और उनके स्वर्ग की चर्चा का बाहुल्य रहता था, इतिहास में राजवंशों एवं उनके प्रसिद्ध सम्राटों की गौरव-गाथा का। ये राजवंश्यानुचरित ही आगे जा कर राजविरुदावली बन गये।

पुराण के यही दोनों स्वरूप महाकाव्य के मूलरूप हैं, जिस मूलरूप को कहीं-कहीं अलंकार, सूक्ति एवं रस से अन्वित हो जाने के कारण प्रारम्भ में काव्य की संज्ञा से अभिहित किया गया और बाद में मुक्तक तथा छोटे-छोटे काव्य-प्रबन्धों से आकार में बड़ा होने के कारण महाकाव्य की संज्ञा दी गयी। इतिहास का प्रतिनिधित्व करनेवाला राजा इतिहास के प्रबन्ध में नायक के रूप में चित्रित किया गया, महाकाव्य की बुनियाद यहीं से आरम्भ होती है। इतिहास ने महाकाव्य के स्वरूप की ओर किस प्रकार अपने चरण बढ़ाये, यह महाभारत और रामायण के स्वरूप-विधान से स्पष्ट होता है। महाभारत के अनेक नायकों के स्थान पर (जो पुराण-विधा का ही रूप था) रामायण में एक नायक का विधान महाकाव्य का पथ-सन्धान था। आचार्यों की दृष्टि में भी इतिहास के उक्त दो भेद थे।[2] इनमें बाद की रचना—परक्रिया—रामायण का भेद महाकाव्य के स्वरूप की ओर अग्रसर हो रहा था।

पुराणेतिहास के उक्त वर्णित अंग महाकाव्य के लक्षण में बहुत ही स्पष्ट हैं—

पुराणो के नाम पहले देवता तथा सम्प्रदाय परक नहीं होते थे। पुराण नाम से एक ही संज्ञा का बोध होता था। किन्तु ऐसा अनुमान है कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित, मन्वन्तर—पुराण के ये पाँच लक्षण ही अलग-अलग पुराणों की पाँच संज्ञाएं थीं। और उनके विषयों का विभाग सर्ग (सृष्टि) का पहला खण्ड दूसरा खंड या प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग अथवा प्रतिसर्ग का पहला खण्ड, दूसरा खंड

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ३।४।१–२

अथर्वांगिरस एवं मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः॥
ते वा एतेऽथर्वांगिरस एतदितिहास पुराणमभ्यतपँ॥

२. काव्यमीमांसा, पृ० ८

परक्रिया पुराकल्प इतिहास-गतिर्द्विधा, स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहु नायका। तत्र रामायणं, भारतं चोदाहरणे।

या प्रथम प्रतिसर्ग, द्वितीय प्रतिसर्ग इस प्रकार से हुआ करता रहा होगा। आदि, सर्ग पुराण ही सूक्तियों से संयुक्त होकर राजप्रशस्ति (काव्य-प्रबन्ध) का रूप लेते गये, इसलिए आदि के सर्ग पुराण का प्रकारान्तर से विषय-गत यह सर्ग-विभाजन ज्यों का त्यों महाकाव्य में भी चला आया और सदा चलता रहा। सर्ग संज्ञा ही प्रथम तथा लघ्वक्षर होने से गृहीत हुई। यह विभाजन ठीक उसी प्रकार का था जैसे--शास्त्रों का अध्याय-विभाजन। शास्त्रों में अध्ययन का दृष्टिकोण प्रमुख था। अतः अध्ययन के विषय-विभाग से अथवा एक दिन में या किसी अवधि विशेष में जितना अध्ययन किया जा सके, उतना एक अध्याय माना जाता था, निरुक्त आदि के अध्यायों का विभाजन इसी दृष्टिकोण को ले कर है। भगवान् व्यास के बाद शास्त्रों की प्रमुखता के साथ विद्याओं का बहुत विस्तार हुआ। शास्त्रों की प्रमुखता के कारण प्रायः उनका अध्याय-विभाग ही सर्वत्र प्रमुख हो गया। उपनिषद्, काव्य-शास्त्र तथा कवियों की रचनाएँ-जैसे वाङमय इसके अपवाद रहे। पुराण के बिखरे अंशों को मिलाकर बनायी गयी पुराण-संहिता भी अध्यायों में विभक्त हुई। किन्तु 'सर्ग'—पुराण का विभाग---प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग—महाकाव्यों में जो अनुकृत हुआ वह बाद में आचार्यों द्वारा काव्य के शास्त्रीय रूप में स्वीकार कर लिया गया। महाकाव्य की एक संज्ञा ही 'सर्गबन्ध' है। 'सर्गबन्ध' अर्थात् पुराण जैसी 'सर्गमयी' काव्य-रचना। दण्डी और भामह दोनों ने महाकाव्य के अर्थ में केवल 'सर्ग-बन्ध' (काव्य) संज्ञा का भी प्रयोग किया है।[1]

पुराण सुने और सुनाये जाते थे, वे शास्त्र की भाँति स्वाध्याय या चिन्तन के विषय नहीं थे। सामाजिक गोष्ठियों में इनके श्रवण का समारोह होता था। पुराण का ज्ञाता वक्ता होता था और पूरा समाज श्रोता। अतः ऐसे समारोहों में पुराण-पाठ के पूर्व समाज के देवता को प्रणाम, समाज के प्रति शुभ-कामना (आशीष) और जो पुराण सुनाया जाने को होता था उसका विषय-निर्देश (वस्तु-निर्देश)---इन तीन विधियों का पालन होता था। इसी पद्धति का अनुसरण कर, महाभारत के आरम्भ में यह स्पष्ट निर्देश है कि नारायण, नरोत्तम नर, देवी

---

१. काव्यादर्श १।१३

सर्गबंधांशरूपत्वा अनुक्तः पद्यविस्तरः ॥

काव्यालंकार (भामह) १।१८

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते ॥

सरस्वती एवं व्यास की वन्दना कर तब इस 'जय' काव्य का पाठ करे।[1] पुराण-पाठ की यह आरम्भिक विधि महाकाव्य के भी स्वरूप विधान-में एक अंग बन गयी। दण्डी ने इसे काव्य का मुख कहा है।[2]

पुराण से महाकाव्य का प्रथम विभेद जब हुआ तब उसके साथ पुराण-पाठ का आरम्भ और महाकाव्य का आरम्भ दोनों एक बने रहे, दण्डी की परिभाषा महाकाव्य की प्रथम समग्र परिभाषा है तथा पुराण से महाकाव्य के विभेद होने के समकाल की है। बाद में इस आरम्भ-विधा का पालन आवश्यक नहीं समझा गया। दण्डी के परवर्ती आलंकारिकों में विश्वनाथ[3] और हेमचन्द्र[4] ने ही महाकाव्य के स्वरूप में आशीः, नमस्कार और वस्तुनिर्देश की चर्चा की है, औदीच्य आलंकारिकों में भामह तथा रुद्रट ने महाकाव्य के स्वरूप में इनका नाम तक नहीं लिया है, जबकि रुद्रट के महाकाव्य की परिभाषा इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यही नहीं 'सेतुबन्ध' के पश्चात् लिखे गये आलंकारिक महाकाव्यों में उक्त स्वरूप का प्रायः अभाव भी दीखता है। 'रघुवंश' तथा 'सेतुबन्ध' ठीक उस काल की रचना है जब कवि की सूक्तियों के सन्निवेश से पुराण ही महाकाव्य बनाया जाकर पुराण के समानान्तर खड़ा किया गया। इसलिए इनमें उक्त स्वरूप भलीभाँति विद्यमान है। 'सेतुबन्ध' लोकभाषा प्राकृत में लिखा गया है अतः उसमें स्पष्ट ही सामाजिकों को सम्बोधन करके विष्णु और शिव की अलग-अलग लम्बी वन्दना की गयी है, सके बाद काव्य-कथा की शुभाशंसा और कथारम्भ का वस्तु-निर्देश है।[5] दण्डी ने इनमें महाकाव्य के मुख-रूप में किसी एक के विधान का ही निर्देश किया था,

---

१. महाभारत के आरम्भ की पुष्पिका—

नारायणं नमस्कृत्यं नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

२. काव्यादर्श १।१४

आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥

३. साहित्यदर्पण ६।३१९

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥

४. काव्यानुशासन, अध्या० ८

शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्। शब्दवैचित्र्यं यथा—···
आशीर्नमस्कारवस्तुनिर्देशोपक्रमत्वम्।

५. सेतुबन्ध, प्रथम आश्वास १-१५

ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी का यह अपना निर्णय था, जो भावी महाकाव्यों के लिए निर्देश के रूप में था, दण्डी के सामने जो महाकाव्य थे, उनमें अधिकांश में उक्त तीनों स्वरूप-विधान महाकाव्य के आरम्भ में एकत्र पाये जाते हैं। सेतुबन्ध का परिचय ऊपर दिया गया है। कालिदास के रघुवंश में भी वन्दना, अपने कवित्व के प्रति श्रोताओं के अनुराग की कामना, तथा रघुवंशी सम्राटों की जीवन-विधि की विशेषताओं का वस्तु-निर्देश--उक्त तीनों स्वरूपों का सन्निवेश है।[1]

किन्तु महाकाव्य का यह उपक्रम एक होने पर भी 'सेतुबन्ध' से 'रघुवंश' की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। 'रघुवंश' में यह उपक्रम कवि का अपने कर्त्तृत्व के प्रति एक वक्तव्य भी हो गया, जिसमें वह अन्त में एक ओर तो अपने अल्पवाणी-विभव की असमर्थता स्वीकार करता है और दूसरी ओर सन्त जनों से इसके सदसद्-विवेक की कसौटी चाहता है।[2] और कवि का ऐसा वक्तव्य अपनी वांछित श्रेष्ठ कृति 'रघुवंश' के साथ संलग्न है, कुमार-सम्भव के साथ नहीं। 'कुमार संभव' में तो कालिदास ने कवि की निरंकुशता का परिचय दिया है, और उन्होंने महाकाव्य का आरम्भ नूतन पद्धति से किया है। इसमें न वन्दना है, न आशीः (शुभ कामना) और न वस्तु-निर्देश। महाकाव्य अथवा पुराण के विषय-वर्णन के अंगभूत--पर्वतों में विशिष्ट पर्वत हिमालय के काव्यात्मक परिचय द्वारा कुमार-सम्भव का आरम्भ होता है।[3] इसे हम वस्तु-निर्देश नहीं कह सकते। वस्तु निर्देश का अर्थ होता है--महाकाव्य में पिरोयी जानेवाली कथा का संक्षिप्त परिचय, अथवा कथा बीच से शुरू की जा रही है तो पूर्वकथा का वर्णन, सेतुबन्ध में यही है। 'रघुवंश' में कालिदास ने रघुवंशी सम्राटों के जीवन-वैशिष्ट्य मात्र का परिचय देकर वस्तु-निर्देश का एक नया रूप खड़ा किया। आदिकाव्य रामायण और महाभारत में तो इस पौराणिक पद्धति का पूरा निर्वाह ही किया गया है। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि वन्दना, आशीः और वस्तु-निर्देश पुराण-पाठ में पुराणकर्त्ता का कथन नहीं, पुराणवक्ता का कथन होता है। वाल्मीकि रामायण के आरम्भ के चार सर्ग वस्तु-निर्देश, आशीः और कवि तथा काव्य के परिचय में ही समाप्त होते हैं, रामायण काव्य का वास्तविक

---

१. रघुवंश, प्रथम सर्ग १-१०

२. रघुवंश, १।९, १०

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।

३. कुमारसंभव, प्रथम सर्ग

आरम्भ पंचम सर्ग--श्लोक ५ (अयोध्यापुरी के वर्णन) से होता है। प्रथम सर्ग जिसे मूलरामायण भी कहते हैं, वस्तु निर्देश का सच्चा स्वरूप है। इसी प्रकार महाभारत के आरम्भ में भी वन्दना, आशीः, कवि-काव्य-परिचय और वस्तु-निर्देश का लम्बा विस्तार है। महाभारत का उपबृंहण भिन्न-भिन्न कालों में हुआ है। महाभारत के अनेक वक्ता ही इस उपबृंहण के स्वाभाविक कारण बने हैं। अतः उनके अपने-अपने वस्तुनिर्देश उन-उन कालों के भिन्न-भिन्न अध्याय हैं। आदि पर्व प्रथम अध्याय में श्लोक १ से १०९ तक महाभारत पाठ के पूर्व, जो वन्दना, प्रस्तुत जय-काव्य का रचना-परिचय एवं उसकी शुभाशंसा है, दूसरे अध्याय में पर्वों तथा उनके विषयों का संक्षिप्त संग्रह है--महाभारत के आरम्भ का यह कृतित्व सौति लौमहर्षणि कृत है, जिसने नैमिषारण्य क्षेत्र में शौनक को महाभारत की कथा सुनायी। पुनः आदि पर्व के अध्याय ६१-६२ में जनमेजय के सामने महाभारत का पाठ करनेवाले वक्ता वैशम्पायन की वन्दना, कथा का वस्तु-निर्देश तथा प्रस्तुत सुनाये जानेवाले काव्य की शुभाशंसा देखने को मिलती है। आदि पर्व का पंचानवे अध्याय वार्तिक ७ से अन्त के ९० वें श्लोक तक स्वयं व्यास का रचित अपने काव्य का आरम्भ अथवा वस्तु-निर्देश है और इसी आदि पर्व के प्रथम अध्याय में श्लोक ११० से श्लोक २५१ तक का वस्तु-निर्देश, जिसमें महाभारत की मुख्य कथा करुणा-प्लावित धृतराष्ट्र से कहलायी गयी है--व्यास-पुत्र शुक अथवा उनके शिष्य संजय का किया हुआ वस्तु-निर्देश है।

रामायण-महाभारत की भाँति गुणाढ्य की बृहत्कथा भी पौराणिक पद्धति का लोकप्रिय कथा-प्रबन्ध है, जिसके अनेक वक्ता समय-समय पर होते रहे हैं, उसका मूल रूप आज प्राप्त नहीं है, संस्कृत में उसका अनुवाद क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथा-मंजरी' नाम से और सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' नाम से किया है। 'कथासरित्सागर' में काव्यों का उक्त उपक्रम बहुत ही स्पष्ट लक्षित होता है, इसके देखने के यह ज्ञात होता है कि प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग एवं अष्टम तरंग निश्चित रूप से सोमदेव कृत आशीः एवं वस्तुनिर्देश से संयुक्त हैं, बीच के छह तरंग अन्य वक्ताओं का अपना वस्तुनिर्देश है, इस प्रथम लम्बक का नाम ही कथा-पीठ है। दूसरे लम्बक का नाम कथामुख है, इसमें गुणाढ्य का अपना वस्तुनिर्देश-विषयक उपक्रम देखने को मिलता है, लेकिन आरम्भ के तीन श्लोक गुणाढ्य के नहीं उस वक्ता के हैं, जिसने गुणाढ्य और सातवाहन के बाद इस कथा को लोक के बीच सुनाने का काम किया--वह स्पष्ट कहता है कि गौरी के आलिंगन से भाव में पसीजे भगवान् शंकर आप लोगों की रक्षा करें। कैलाश निवासी धूर्जटि शंकर के मुख से उनके गण पुष्पदन्त ने, पुष्पदन्त से भूतल में वररुचि ने, वररुचि से काणभूति ने, काणभूति

से गुणाढ्य ने, गुणाढ्य से सातवाहन ने जिस कथा को सुनकर आनन्द प्राप्त किया, विद्याधरों की उस अद्भुत कथा को आप लोग मुझ से सुनें।[1] बृहत्कथा को सुनानेवाले वक्ता का, समाज के प्रति यह आशीः तथा प्रस्तुत कथा की परम्परा का परिचय जो अपने महान् वक्ताओं से अपनी महनीयता स्वयं ख्यापित करता है—इस बात का दृढ़ संकेत है कि किसी पुराण, काव्य या कथा को समाज में सुनाने के पूर्व वक्ता के उक्त उपक्रम तीन कारणों से आवश्यक और अनिवार्य हो जाते थे—(१) धार्मिक बुद्धि से आयोजन की निर्विघ्न समाप्ति को ध्यान में रख कर इष्ट देवता के लिए प्रणाम (२) सामाजिकों के कल्याण के लिए आशीर्वचन (३) सामाजिकों को श्रवण के प्रति उन्मुख करने के लिए कथा का वस्तुनिर्देश या उसके उपक्रम—परम्परा का परिचय। वक्ता अपने से पूर्व के प्रतिष्ठित महान् वक्ताओं का नाम कथा की महिमा को ऊँचे उठाने के लिए लेता था। पुराण-वाचकों की यह शैली ही महाकाव्य के शास्त्रीय रूप-विधान का एक अंग बन गयी।

आगे चल कर उक्त तीन उपक्रमों में इष्टदेवता को किसी कृति के आरम्भ में प्रणाम करना एक समय (सिद्धान्त), परिपाटी अथवा शिष्टाचार ही स्वीकार कर लिया गया। ग्रन्थारम्भ के पूर्व इस प्रकार का प्रणाम अध्येता (श्रोता) तथा अध्यापयिता (वक्ता) दोनों की पूर्ण सफलता की कामना से अनुप्रेरित होता था। वैसे ग्रन्थ लिखनेवाला हृदय में इष्ट देवता को प्रणाम करके ही अपने प्रणयन में प्रवृत्त होता रहा होगा लेकिन भविष्य में उसके ग्रन्थ के व्याख्याता तथा श्रोता भी उसके इष्ट देवता के सांमुख्य से ग्रन्थ के स्वाध्याय में सफल मनोरथ हों, इसीलिए उसका निबन्धन भी वह ग्रन्थ के आरम्भ में कर देता था—अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन के आरम्भ में शिष्टाचार के इस भेद को इसी प्रकार स्पष्ट किया है—**'स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतॄणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणफलसम्पत्तये समुचिताशीः प्रकटनद्वारेण परमेश्वरसांमुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वच्छेति।'** न केवल महाकाव्य में वरंच प्रत्येक

---

१. कथासरित्सागर तरंग, ९।१-३

गौरी नवपरिरंभे विभोः स्वेदाम्बु पातु वः।
नेत्राग्निभीत्या कामेन वारुणास्त्रमिव आहितम्॥
कैलासधूर्जटेर्वक्त्रात् पुष्पदन्तं गणोत्तमम्।
तस्माद् वररुचीभूतात् काणभूतिं च भूतले॥
काणभूते गुणाढ्यं च गुणाढ्यात् सातवाहनम्।
यत प्राप्तं शृणुत इदं तद् विद्याधरकथाद्भुतम्॥

शास्त्रीय कृतियों के आरम्भ में इस शिष्टाचार का पालन एक अनिवार्य धर्म बन गया । सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने कहा है—'ग्रन्थारम्भे समुचितेष्टदेवता-नमस्कारेण शिष्टाचारमनुवर्तते।' नमस्कारात्मक मंगल का यह शिष्टाचार ग्रन्थकृत् के लिए धार्मिक बुद्धि से कितना अनिवार्य बन गया, यह कारिकावली के इन वाक्यों से प्रतीत होता है—'ननु मंगलं न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्ति प्रति कारणं विनाऽपि मंगलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्न-परिसमाप्तिदर्शनात् इति चेत् न।—इत्थं यत्र मंगलं न दृश्यते तत्रापि जन्मान्तरीयं तत्कल्प्यते।'[1] मंगल-शिष्टाचार के प्रति श्रद्धानुप्रेरित ऐसा ही शास्त्रार्थ 'तर्कसंग्रह' के आरम्भ में भी है—मंगल निर्विघ्न समाप्ति के प्रति कारण नहीं है, कादम्बरी आदि में मंगल करने पर भी निर्विघ्न समाप्ति नहीं देखी जाती और किरणावली आदि में मंगल का अभाव होने पर भी उसकी समाप्ति देखी जाती है इसलिए समाप्ति के प्रति मंगल कारण होता है इस कथन में अन्वय-व्यतिरेक का व्यभिचार है।[2] पुनः इसका समाधान किया जाता है कि बात ऐसी नहीं है—कादम्बरी आदि में विघ्न की बहुलता से उनकी समाप्ति नहीं हुई, और किरणावली आदि की जो समाप्ति हो गयी तो वहाँ उसका मंगल ग्रन्थ के बाहर विद्यमान था, और इस प्रकार समाप्ति के प्रति मंगल के कारण होने में अन्वय-व्यतिरेक का व्यभिचार नहीं है।[3]

जब काव्य में अलंकृत-शैली का प्रभाव बढ़ा तब पुराण के आरम्भ की उक्त पद्धति महाकाव्य में त्याग दी गयी। सर्वप्रथम भारवि के अलंकृत महाकाव्य किरातार्जुनीय में इस भिन्नता के दर्शन होते हैं। लेकिन जैसा कि कहा गया है, प्रत्येक विषय के ग्रन्थ के आरम्भ में मंगल एक शिष्टाचार का रूप पकड़ रहा था, जिसकी बुनियाद अवश्य ही भारवि (६ वीं शती ई०) के समकाल या कुछ पूर्व की रही होगी। मंगलाचरण वक्ता का पक्ष और कृतित्व था, तथा वह समाज के माध्यम से होने के कारण समाज का भी पक्ष था, पुराण-ग्रन्थों या कथा-ग्रन्थों के

---

१. कारिकावली १

२. तर्क संग्रह का आरम्भ—

ननु मंगलस्य समाप्ति-साधनत्वं नास्ति। मंगले कृतेऽपि कादम्बर्यादौ निर्विघ्नपरिसमाप्त्यदर्शनात्। मंगलाभावेऽपि किरणावल्यादौ समाप्ति-दर्शनादन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादिति चेत्।

३. तर्कसंग्रह का आरम्भ—

न। कादम्बर्यादौ विघ्नबाहुल्यात् समाप्त्यभावः। किरणावल्यादौ तु ग्रन्थाद् बहिरेव मंगलं कृतमतो न व्यभिचारः।

पाठ में एक वक्ता दूसरे वक्ता से उसे ग्रहण कर लेता था। स्वयं पुराण-कर्त्ता या काव्य-कर्त्ता कवि के लिए इस प्रकार कृति के आरम्भ में मंगल को निबद्ध करना आवश्यक नहीं था और न ही अन्य शास्त्रकर्त्ताओं ने भी इस शिष्टाचार के प्रथित होने के पूर्व अपनी कृतियों का आरंभ मंगल-स्तुति से किया है। कालिदास ने जैसे कुमार-सम्भव का आरम्भ कथा के अंगभूत हिमालय वर्णन से किया, कवि का वह प्रकृत मार्ग था, परवर्ती किसी कवि में इस पथ पर चलने का साहस नहीं हुआ। भारवि ने उक्त तीनों उपक्रमों को अपने महाकाव्य में त्याग तो अवश्य दिया, पर मंगल-शिष्टाचार की जो नींव पड़ रही थी उसके पूर्वग्रह से भारवि पूर्ण मुक्त नहीं हुए, उसके पालन के हेतु ही उन्होंने महाकाव्य के आरम्भ में 'श्री' शब्द का प्रयोग किया,[१] इस प्रकार भारवि का पथ कालिदास के प्रकृत मार्ग तथा मंगल-शिष्टाचार के मध्य का समन्वय था। ऐसा ही समन्वय भारवि की अनुकृति पर माघ ने 'शिशुपालवध' का आरम्भ 'श्री' शब्द से कर के किया।[२] इन दोनों कवियों का 'श्री' प्रयोग मंगल का आचार-मात्र है, अर्थ में उसकी वह मंगलात्मक सत्ता नहीं रह जाती।

मंगलाचरण का यह शिष्टाचार बहुत रूढ हो जाने पर भी परवर्ती महाकाव्यों में कहीं-कहीं उसकी उपेक्षा भी देखी जाती है, 'नैषधीय चरित' के कर्त्ता ने महाकाव्य के आरम्भ में किसी के प्रति प्रणाम या आशीः का विधान नहीं किया है, उन्होंने आरम्भ में अपने वर्णनीय राजा नल की कथा की महत्ता और नल के ऐश्वर्य की एक भूमिका दी है।[३] और तब नल के प्रति तीनों लोक की रमणियों की कामासक्ति दिखाते हुए कथा का आरम्भ किया है। महाकाव्य के रूप-विधान के अनुसार इसे वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण कहा जायगा, दण्डी ने सूत्र रूप में इसे कहा है और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने इसे दुहराया है। दण्डी का कहना अपने समय के अनुसार उचित था, उन्होंने सेतुबन्ध महाकाव्य की चर्चा की है और 'सेतुबन्ध' में कथा का पूर्व-निर्देश आरम्भ में दिया गया है।[४] परन्तु 'नैषधीय चरित' के कवि का यह कहना—पृथिवी के रक्षक राजा नल की जिस कथा

---

१. किरातार्जुनीय १।१

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्।

२. शिशुपाल-वध १।१

श्रियः पतिः श्रीमतिशासितुं जगत्।

३. नैषधीयचरित १।१-२५

४. सेतुबन्ध १।१२-१६

का पान कर बुध-जन अमृत को भी आदर नहीं देते। जो कथा अपने काव्य-रसों से अमृत का तिरस्कार करनेवाली है। क्या वह कथा मेरी दोषपूर्ण वाणी को अपनी सेविका समझ कर उज्ज्वलता नहीं प्रदान करेगी।[१]—वस्तुनिर्देशा मक मंगल नहीं है, इसे कवि का अपना वक्तव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसी के आगे नल के ऐश्वर्य का जो आलंकारिक वर्णन है, वह वस्तुनिर्देश अवश्य है, पर आलंकारिकता से बोझिल होकर वस्तु-निर्देश के सही रूप को प्रच्छन्न कर देता है, दण्डी को महाकाव्य के स्वरूप-विधान में ऐसा वस्तु-निर्देश अभीष्ट नहीं है। उनका वस्तुनिर्देश रामायण, महाभारत, पुराण में कथा की यथावत् संक्षिप्त सूची या कथा-आरम्भ की पीठिका है (जैसा 'बृहत्कथा' में है)। हेमचन्द्र या विश्वनाथ को महाकाव्य के आरम्भ की इस नयी स्थिति को लक्षकर इसकी नयी परिभाषा करनी चाहिए थी। महाकाव्य के आरम्भ की इस नयी विधि के प्रवर्तक कालिदास हैं। 'रघुवंश' के आरम्भ में कवि के वक्तव्य की चर्चा अभी की गयी है। कालिदास का अपने महाकाव्य के आरम्भ में दिया गया कवि-वक्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' के आरम्भ के रूप में निबद्ध अपना वक्तव्य केवल आलंकारिक विशेषताओं से आकर्षक बनता है। कालिदास के कवि-वक्तव्य की परिपाटी का सही अनुकरण और उसमें अपनी मौलिकता का सन्निवेश बिल्हण ने 'विक्रमांकदेव-चरित' में किया, उसमें अनेक प्रणाम तथा आशीः के साथ वैदर्भी रीति के गुणों, कवि की सार्थकता, काव्य की चोरी, अपनी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं, कवि एवं राजा के सम्बन्धों आदि का तात्कालिक स्थिति की पृष्ठभूमि में अच्छा निदेश है।[२] बिल्हण को ऐसी प्रेरणा प्राकृत तथा अपभ्रंश महाकाव्यों से प्राप्त हुई होगी, इसमें सन्देह नहीं है। बिल्हण ने जैसा अपना कवि वक्तव्य महाकाव्य के आदि में दिया है उससे उनके कृतित्व की दिशा का बोध हो जाता है। महाकाव्य के स्वरूप-विधान

---

१. नैषधीयचरित १।१, २, ३

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।

... ...

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलःस भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः।

... ...

कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति।

२. विक्रमांकदेवचरित १।१-३०

में यह एक नयी उपज थी, जिसका अनुकरण बाद के भाषा-महाकाव्यों में किया गया। अपने कृतित्व का दिशा-बोध करानेवाला महत्त्वपूर्ण कवि-वक्तव्य हिन्दी के 'रामचरितमानस' में तुलसीदास का है, जो प्राकृत, अपभ्रंश महाकाव्यों के साथ बिल्हण के कवि-वक्तव्य का सर्वांग विकास है।

इस प्रकार 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' दण्डी का महाकाव्य-सम्बन्धी यह स्वरूप-विधान मूलतः पुराण-वक्ता के पुराण-पाठ का उपक्रम था, वह महाकाव्य का अंग बन गया, लेकिन वह जिस रूप में अंग बना वह प्रकृत स्थिति नहीं थी। अतः उसका रूप कालिदास से ही परिर्वातित होने लगा और परवर्ती अन्य महाकाव्यों में वह अपने प्रकृत रूप में आ गया अर्थात् कवि-वक्तव्य होकर वह महाकाव्य का अंग बना। महाकाव्य के आदि में कवि-वक्तव्य की स्थिति वैसी नहीं थी जैसी पुराण, महाभारत सुनानेवाले वक्ताओं के उस उपक्रम की होती थी जिसमें पूर्ववक्ता का, कथा-परिचय और उसके माहात्म्य का उल्लेख होता था। कवि की अपनी कृति उसकी नवीन कथा, काव्य-सम्बन्धी अपनी मान्यता और कवि-संसार की नयी स्थिति को लक्ष्य कर कवि के वक्तव्य का विधान महाकाव्य के आरम्भ के अंश में अपनी सार्थकता रखता था।

महाकाव्य की तरह नाटक में भी आशीः, नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश का उपक्रम इष्ट रहा है, जैसे पुराण या महाकाव्य में यह वक्ता का पक्ष है, वैसे ही नाटक में यह नाट्य-प्रयोक्ता का विधान होता था। यद्यपि कवियों ने अपने नाटकों में ऐसा विधान स्वयं ही कर दिया है तथापि अनुमान है कि आरम्भ के नाटकों में ऐसा उपक्रम नाट्यप्रयोक्ता स्वयं ही करता था, भास के नाटकों में नान्दी के बाद सूत्रधार प्रवेश करता है, उनके नाटकों में वह प्ररोचना नहीं है जिसमें नाटककर्त्ता कवि और नाटक का परिचय रहता था, भास ने यह सब नाट्यप्रयोक्ता के लिए छोड़ दिया था। पुराण वक्ताओं की तरह नाट्यप्रयोक्ता इसे अपनी पद्धति से प्रस्तुत करते थे, इसमें प्रणाम या आशीः और वस्तुनिर्देश ही प्रस्तुत किया जाता था। कदाचित् कालिदास ने ही नयी पद्धति का आरम्भ किया और अपने नाटकों में कवि के परिचय का उपक्रम अपनी विधा से नाट्य-प्रयोक्ताओं के लिए प्रस्तुत किया। इसे स्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह इस बात का संकेत है कि दर्शकों में नाटक के नये कवि के विशिष्ट परिचय के प्रति आकर्षण होता था। इस सम्बन्ध में किंचित् नयी बात का संकेत भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' से मिलता है, उन्होंने श्रव्य काव्य का लक्षण लिखा है—जो काव्य न देखा जाये, न पढ़ा जाये केवल कानों को सुखदायी हो वह श्रव्य काव्य है, उसके छह प्रकार हैं—आशीः, नान्दी, नमस्कार, वस्तुनिर्देश, आक्षिप्तिका, ध्रुवा। इनके अतिरिक्त अन्य भेद

ऊहनीय हैं।[१] इन भेदों के प्रयोग के जो उदाहरण भोज ने दिये हैं उनसे तथा 'श्रोत्रयो-रेव सुखदं काव्यम्' 'नेक्ष्यते' अर्थात् 'कान से काव्य पाठ सुनायीं दे, पढ़नेवाला सामने न हो' (नेपथ्यान्तः से पाठ करे) इस लक्षण से सिद्ध होता है कि इन काव्य-भेदों का उपयोग प्रायः नाटक में ही होता था। भोज ने उदाहरणों के अन्त में लिखा है— **'सेयं रंगमंगलान्तं नान्दी।' 'सेयं पात्रप्रवेशरसानुसन्धानादिप्रयोजना ध्रुवा।'** इस विवेचन से दो नयी बातें प्रकट होती हैं—(१) आशीः, नान्दी, ध्रुवा आदि को नाटक का अंग होने पर भी वे उन्हें अलग से श्रव्य काव्य कहते हैं। वैसे भोज ने तो केवल यहाँ अपने सूक्ष्म विवेचन का परिचय देना चाहा है—नाटक के संवादों में भी उत्तम काव्यों का प्रयोग होता है पर संवादात्मक काव्य पात्रों द्वारा रंगमंच पर पढ़े जाते हैं अर्थात् काव्यपाठ आँखों के सामने होता है इसलिए वह प्रेक्ष्य है और जिस काव्य को हम स्वयं पढ़ते हैं वह अभिधेय हुआ। पर नाट्य-प्रयोग में नेपथ्यान्तः से उक्त आशीः, नान्दी, ध्रुवा का जो प्रयोग होता है वह प्रेक्ष्य होकर भी प्रेक्ष्य नहीं है क्योंकि काव्य-पाठ करनेवाला आँख के सामने नहीं है, काव्य कानों से सुना मात्र जा रहा है—ऐसा काव्य ही श्रव्य है, यह तो श्रव्यकाव्य के सम्बन्ध में भोज ने अपना सूक्ष्म विवेचन किया। परन्तु उनका यह श्रव्य काव्य स्वयं अभिधेय न होने से प्रेक्ष्य के ही निकट है। और इस प्रकार यह मत और भी पुष्ट हो जाता है कि आरम्भ में उक्त आशीः, नमस्क्रिया और वस्तु-निर्देश कवि के नहीं वक्ता के ही पक्ष थे—वह वक्ता चाहे पुराण का वाचक हो, चाहे नाट्य-प्रयोग का कर्त्ता हो। (२) दूसरी बात यह है कि इस उपक्रम को तीन प्रकारों में ही सीमित नहीं किया जा सकता, उक्त भेदों में भोज ने नान्दी और आक्षिप्तिका के जो भेद दिये हैं वे आशीः और नमस्क्रिया के निकट होकर भी उनसे भिन्न हैं। यह उनके उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।[२] नाटक या महाकाव्य

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २।१४०, १४१

श्रव्यं तत्काव्यमाहुर्यन्नेक्ष्यते नाभिधीयते।
श्रोत्रयोरेव सुखदं भवेत्तदपि षड्विधम्॥
आशीर्नान्दी नमस्कारो वस्तुनिर्देश इत्यपि।
आक्षिप्तिका ध्रुवा चेति शेषो ध्येयं भविष्यति॥

२. वही, २।१४१

'भद्दं भोदु, सरस्सईअ कइणो णन्दन्तु वासाइणो
अण्णाणं पि परं पअट्टदु वरा वाणी छइल्लप्पिआ।
वच्छोभी तह माअही फुरदु णो सा किं अ पंचालिआ
रीदीओ विलिहन्तु कव्वकुसला जोण्हं चओरा विअ। ३८५

दोनों के आरम्भ में इनका प्रयोग होने में कोई भी अन्तर उनके स्वरूप में नहीं आता। यह भी एक विशेष बात है कि भोज ने इन दोनों के उदाहरण प्राकृत के दिये हैं, इससे प्राकृत-प्रबन्धों में इनके प्रयोग की बहुलता का संकेत होता है।

नगर, समुद्र, नदी और पहाड़ के वर्णन भी पुराण से महाकाव्य में अनुकृत हुए। प्रवरसेन ने सागर और पर्वत के वर्णन में दो सर्ग ही समाप्त कर दिये हैं।[1] राम द्वारा लंका पर अभियान, लंका और राम के बीच में सागर का व्यवधान, अतः पहाड़ उखाड़ पर उस पर सेतु बाँधने की आवश्यकता आदि के कारणों से उक्त वर्णन की अनुकूलता भी वहाँ प्राप्त थी। कालिदास ने कुमार-संभव के आदि में हिमालय का वर्णन भी पौराणिक-वर्णनों से प्रभावित होकर किया है। पुराणों में इनके वर्णन अद्भुत अर्थों से संयुक्त होते थे, अद्भुत अर्थ और उनकी भौगोलिकता ही श्रोताओं के आकर्षण होते थे, महाकाव्य में उक्त वर्णन को अद्भुत अर्थ के साथ लालित्य प्रदान किया गया। दण्डी ने केवल नगर, समुद्र और पहाड़ का नाम लिया है, वन, ऋषि, आश्रम, निर्झर नदी आदि के वर्णन इन्हीं वर्णनों के अन्तर्गत थे, कालिदास ने अपनी कृतियों में इन्हें पल्लवित किया है।[2] परवर्ती महाकाव्यकारों में प्रवरसेन और कालिदास की भाँति पहाड़ और समुद्र के ललित, आकर्षक वर्णन हमें नहीं प्राप्त होते। पुराण में ऐसे वर्णन यथार्थ भौगोलिक स्थिति के बोध को ले कर प्रस्तुत किये जाते थे, उक्त दोनों महाकवियों ने विषय के इस तथ्य का भी पालन अपने महाकाव्यों में किया है अतः वे उत्कृष्ट वर्णन दे सके हैं। परवर्ती भारवि और माघ ने अपने को विषय के तथ्य से पराङ्मुख कर अलंकार-वैचित्र्य मात्र में सीमित कर लिया और उनके पहाड़ आदि के वर्णन वैसे नहीं बन पड़े हैं जैसे महाकाव्य में होने चाहिए थे। नगरों का वर्णन जैसा रामायण या महाभारत में किया गया, वैसा महाकाव्यों में तो नहीं ही है, हाँ परम्परा का पालन अवश्य है। नगरों की चर्चा राजचर्चा के साथ प्रत्येक महाकाव्य में स्वभावतः आ जाती है।

पुराण की सृष्टिकथा का उक्त स्वरूप ही प्रायः विश्व की अन्य प्राचीन जातियों

सेयं रंगमंगलान्तं स्वस्त्ययनं नान्दी।

... ...

पअपीडिअमहिसासुरदेहेहिं भुअगभअलुआवससिलेहिं।
सुरसुहदेत्तवलिअववलच्छिहिं जअइ सहासं वअणु महलच्छिहिं॥ ३८८
सेयमभिधित्सितरागविशेष-प्रयोगमात्रफलं वचनमाक्षिप्तिका॥

१. सेतुबन्ध, आश्वास २, ६, ९

२. रघुवंश, सर्ग १, २

में भी आदिकाव्य के रूप में प्रस्तुत हुआ है। हमें प्रतिसर्ग पुराण की विधा का काव्यात्मक गान तीन सहस्राब्दी ई० पू० सुमेरी एलामी बाबुली सभ्यता के (अक्कादी) साहित्य के 'गिल्गमेश' काव्य में मिलता है। यह काव्य कीलनुमा अक्षरों में गीली ईंटों पर लिखा गया था। उन ईंटों को असुर-सम्राट् अशुर-बनिपाल (६६८–६२६ ई० पू०) ने अपने ग्रन्थागार में संगृहीत किया था। जो अब खुदाई में प्राप्त हुई हैं। उस क व्य का नायक गिल्गमेश है। काव्य में जल-प्लावन का वर्णन है जिसमें जिनुसुद्द् अपनी जाति की रक्षा के लिए प्रयत्न करता है। और उसके बाद गिल्गमेश द्वारा अपनी जाति की, देवताओं एवं बनैले मनुष्य किंदू से, रक्षा के वर्णनों में उसके पराक्रम की गाथा है।[1] इस काव्य की तुलना शतपथ ब्राह्मण की जल-लावन कथा से संभव है, किन्तु यह पूर्णतया काव्य है, केवल कथा नहीं है और इस गिल्गमेश काव्य की कथावस्तु प्रतिसर्ग पुराण से अभिन्न है।

पुराण का जो दूसरा पक्ष था—राजवंशानुचरित, उससे ही महाकाव्य के लिए नायक राजा प्राप्त हुआ; राजा, सम्राट् या वीर के लिए महाकाव्य में नायक (चतुरोदात्तनायक) पद का प्रयोग एक विलक्षण बात है। दण्डी, रुद्रट और विश्वनाथ तीनों ने ही नायक शब्द लिखा है।[2] नाटक तथा महाकाव्य दोनों में ही इसी संज्ञा का प्रयोग होता है। यह संज्ञा वस्तुतः कामशास्त्र की है, जैसा कि आगे विवेचन किया जायगा। महाकाव्य तथा नाटक के विराट् प्रबन्ध के उपयुक्त उच्च अर्थबोध इस संज्ञा से नहीं होता। इस अर्थ में दशरूपककार की 'नेता' संज्ञा अधिक उपयुक्त है।[3] दण्डी के मत में मनुष्य—राजा ही महाकाव्य का नायक होता था। रुद्रट के मत में भी कुलीन (राजा) ही महाकाव्य का नायक था, जिसके वंश की प्रशंसा

---

१. दे० 'साहित्य और कला' में 'अक्कादी साहित्य' शीर्षक लेख, पृ० ८७-९५।

२. काव्यादर्श, १-१५—चतुरोदात्तनायकम्।
काव्यालंकार (रुद्रट) १६।७—कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च।
साहित्यदर्पण ६।३१५-३१६—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि ......।

३. दशरूपक, २।१

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा॥

महाकाव्य के आरम्भ में की जाती थी।[१] (यथा कालिदास ने रघुवंश में की है) दिव्य-देवता पुराणकथा का नायक था, बाद में लक्ष्य देख कर महाकाव्य के लक्षण में सीमा का विस्तार हुआ—सुर (देव), सदवंशोत्पन्न क्षत्रिय दोनों ही महाकाव्य के वर्णनीय नायक बने।[२] नायक को चतुर और उदात्त होना चाहिए। चतुर का अर्थ उसकी ज्ञानवैदग्ध्यता से और उदात्त का अर्थ शौर्य, चरित एवं शील की गहराई से है। दण्डी ने इसका स्पष्टीकरण वहाँ किया है जहाँ उन्होंने शत्रु के भी वंश, बल तथा ज्ञान के वर्णन की सलाह दी है।[३] पुराण में दो प्रकार के चरित वर्णन किये जाते हैं (१) ऐसे चरित जो पुराणकार को अभीष्ट हैं, उनकी प्रत्येक दृष्टि से प्रशंसा ही प्रशंसा की जाती है (२) ऐसे चरित जो असुर हैं, अथवा अधर्म-आचरण करते हैं उनके बल का वर्णन तो अवश्य होता है पर वह अत्याचार में पर्यवसायी हो जाता है तथा उनके वंश और श्रुत (ज्ञान) की चर्चा नहीं की जाती। इसी को लक्ष्य कर महाकाव्य के निबन्धन के अनुकूल दण्डी का उक्त निर्देश है।

२. इतिहास अथवा इतिहास जैसा इतर वाङ्मय

इतिहास से महाकाव्य के लिए कहानी अथवा उसके अन्य कथा-प्रसंगों के लिए सत्य वृत्तान्त का चयन हुआ है। इतिहास और पुराण बहुत कुछ मिलते-जुलते वाङमय हैं, लेकिन इतने पर भी इतिहास केवल राजवंशों तक ही सीमित था, पुराण का विस्तार सृष्टि, प्रलय, सुर और असुर तथा मनुष्य, राजवंशों तक होता था। महाकाव्य की कथा मुख्यतया इतिहास से ली जाती थी।

इतिहास के अन्तर्गत महाभारत, रामायण की भी गणना करनी चाहिए। इनके कथांशों का भी विस्तार करके महाकाव्य की कथावस्तु का स्वरूप-विधान किया जाता था, जैसे—रामायण के एक कथा-भाग रावण-वध को लेकर प्रवरसेन

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १६।७

तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च॥

२. साहित्यदर्पण ६।३१५, ३१६

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।

३. काव्यादर्श १।२२

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥

ने 'सेतुबन्ध' की रचना की। 'इतरद् वा सदाश्रयम्' से दण्डी का संकेत पुराण एवं अन्य वाङमय——बृहत्कथा, राजवंशावलियों की ओर है यदि उनमें सत्य वृत्तान्त हो।

३. धर्मशास्त्र, स्मृति

चतुर्वर्ग-फल, विवाह और पुत्र-जन्म धर्मशास्त्र एवं स्मृतियों के विषय थे, जो जीवन को प्राणवान् करते थे, इनकी इस महत्ता के कारण ही इनको महाकाव्य में निबद्ध करने के प्रसंग उद्भावित किये जाते थे।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष——मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थों की चर्चा भारतीय धर्मशास्त्रों एवं स्मृतियों में अनेकधा हुई है। महाकाव्य का निबन्धन इन फलों को उद्देश्य में रख कर होना चाहिए। स्मृतियों के अनुसार विवाह भी जीवन का अनिवार्य धर्म अथवा संस्कार है। सन्तान पैदा कर अपनी वंश-परम्परा को अचल रखना ——जीवन धारण करने की महती सफलताओं में से है। वेद में भी इस बात को ऋषि ने अपनी हार्दिक कामना के रूप में प्रकट किया है——'हे अग्नि! हम अपनी सन्तान से अमरता प्राप्त करें'[१] कालिदास ने रघुवंशी सम्राटों के जीवन की यह विशेषता भी बतायी है कि वे सन्तान की कामना से दार-पाणिग्रहण करते थे।[२] अतः विवाह की चर्चा तो उतनी नहीं, किन्तु सन्तान की चर्चा भारतीय महाकाव्यों एवं नाटकों का एक प्रमुख अंग है। महाकाव्य में कुमारोदय-वर्णन से दण्डी का संकेत जीवन और धर्म की उक्त अनिवार्यता की ओर है। यहाँ एक यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि महाकाव्यों में विवाह के अधिकांश प्रसंग कामशास्त्र की विधि पर निबद्ध किये जाते थे। जैसे, नैषधीय चरित में हंस का दूतत्व करना। कामसूत्र

---

१. मनुस्मृति ३।२

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्॥

ऋग्वेद ५।४।१०

जातवेदो यशो अस्मासु धेहि
प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।

२. रघुवंश १।७

प्रजायै गृहमेधिनाम्।

में दूत का काम धात्री को करने को कहा गया है।[1] महाकाव्य में उसका माध्यम अधिक उपयुक्त तथा ललित कल्पित किया जाता था। लेकिन स्वयंवरों में सखी ही कन्या की सहायक बनती थी।

४. राजनीति, युद्ध-विद्या

युद्ध की मन्त्रणा, दूत भेजना, रण-अभियान, युद्ध, शत्रु पर विजय और नायक का अभ्युदय, महाकाव्य के ये प्रसंग राजा और उसकी राजनीति, युद्धनीति से सम्बद्ध थे।

प्रायः सम्राट् या कुलीन वीर क्षत्रिय ही महाकाव्य के नायक रहे हैं, देवों के अवतार विशेष इसके अपवाद होते थे, यद्यपि दण्डी ने उनका नाम नहीं लिया है। महाकाव्य की रचना राजाश्रय में राजा के यश-विस्तार या उनके इष्ट पौराणिक-अवतारों की गाथा गाने के लिए ही की जाती थी, इसीलिए वीर और अद्वितीय विजेता होने पर भी भगवान् परशुराम को किसी कवि ने अपने महाकाव्य का नायक नहीं बनाया। वीर क्षत्रिय या सम्राट् के नायक होने से महाकाव्य में राजनीति के उस अंग का वर्णन अपेक्षित हुआ जिसमें युद्ध के लिए मन्त्रणा से लेकर सेना के अभियान तक की कूटनीति की जाती थी।[2] फिर युद्ध, नायक की विजय और उसके प्रताप की चर्चा का क्रम आता था। सेना के अभियान तक तो राजनीति का वर्णन होता था और उसके बाद युद्ध के व्यूह, अस्त्र-शस्त्र, समरभूमि की भयंकरता—युद्ध-विद्या के विषय होते थे। राजनीति और युद्ध-विद्या का भी ज्ञान महाकाव्य-कर्त्ता कवि के लिए आवश्यक हो जाता था, उस युग की राजसभा में रत्न की भाँति आदरणीय कवि के लिए यह सहज और सुलभ था।

रुद्रट ने महाकाव्य के अपने लक्षण को राजनीति और युद्धविद्या में ही सीमित कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सामने राजवंशावली जैसा ही कोई महाकाव्य रहा होगा। उनके लक्षण कल्हण की 'राजतरंगिणी' में घटते हैं। जो उनके बाद लिखी गयी। उन्होंने शत्रु के विपरीत कार्यों को सुन कर क्रुद्ध हुए नायक द्वारा मन्त्रणा-पूर्वक युद्ध के लिए अभियान के प्रसंग में ही नागरिकों के क्षोभ, जनपद, पहाड़, नदी, अटवी, कानन, सरसी, मरुस्थल, समुद्र, द्वीप, भुवन, सूर्यास्त, गहन अन्धकार, चन्द्रोदय, समाज, संगीत, पानगोष्ठी आदि के वर्णन का निर्देश किया

---

१. कामसूत्र, ३.५

२. देखिए कौटलीय अर्थशास्त्र—अधिकरण ९-१०

है,[1] जो महाकाव्य की विराट् कथा को एक रूढ़ि में बाँधने का कृत्रिम विधान जैसा ही प्रतीत होता है, इस दृष्टि से इनका यह निर्देश अत्यन्त अनुपयुक्त है। कालिदास ने रघुवंश में दिलीप के गो-चारण के प्रसंग में वन, सन्ध्या, पहाड़ तथा निर्झर के वर्णन किये हैं, ऋषि-आश्रम के प्रसंग से भी नीवार, खेत, वन, सन्ध्या के चित्र प्रस्तुत किये हैं——वर्णनों तथा प्रसंगों के पारस्परिक सामंजस्य में यह विविधता महाकाव्य की विराटता की कसौटी है। रुद्रट ने महाकाव्य में विराट् जीवन को केवल राजनीति के आश्रित कर दिया है, इस प्रकार उनकी वह परिभाषा केवल एक विशेष प्रकार के महाकाव्यों का स्वरूप-निदर्शन है।

५. कामशास्त्र

कामशास्त्र ने महाकाव्य के वर्णन-विस्तार में बहुत योगदान किया है। ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान-क्रीडा, जलक्रीडा, पानगोष्ठी, सुरत-विलास, वियोग-वर्णन तथा चतुर उदात्त नायक एवं विवाह भी काम-परिचर्या के अंग हैं।

पुराण और राजनीति की तुलना में कामशास्त्र ही महाकाव्य के स्वरूप-विधान का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। काम-विलास की कथाओं ने एक साथ महाकाव्य, कथा तथा नाटक के प्रसंग उद्भावित करने में कवियों को अमोघ प्रेरणा दी है। भारतीय संस्कृति में काम-भाव के उद्दाम विलासों का ऐतिहासिक संकेत विक्रम के पूर्व की शताब्दियों से ही सम्राट् उदयन की प्रेम-कहानी में मिलता है, उदयन द्वारा वासवदत्ता के अपहरण की कहानी युवा से वृद्धों तक के कण्ठ का हार हो गयी थी। इस कहानी की अत्यन्त प्रियता का पता कौशाम्बी की खुदाई में उपलब्ध

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १६।११-१५

स्वचरात्तद्दूताद्वा कुतोऽपि वा श्रृण्वतोऽरिकार्याणि।
कुर्वीत सदसि राज्ञां क्षोभं क्रोधेद्धचित्तगिराम्॥
संमन्त्र्य समं सचिवैर्निश्चित्य च दण्डसाध्यतां शत्रोः।
तं दापयेत्प्रयाणं दूतं वा प्रेषयेन्मुखरम्॥
अथ नायकप्रयाणे नागरिकाक्षोभजनपदाद्रिनदीः।
अटवीकानन——सरसीमरुजलधि —— द्वीपभुवनानि॥
स्कन्धावारनिवेशं क्रीडा यूनां यथायथं तेषु।
रव्यस्तसमयं सन्ध्यां संतमसमथोदयं शशिनः॥
रजनीं च तत्र यूनां समाजसंगीतपानश्रृंगारान्।
इति वर्णयेत्प्रसंगात्कथां च भूयो निबध्नीयात्॥

मिट्टी के उन ठीकरों से चलती है जिनमें इस कथा को आकर्षक रूपायन दिया गया है—"वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी के खँडहरों में मिट्टी के अनेक ठीकरे मिले हैं जो शुंगकाल याने ईसवीपूर्व दूसरी सदी के हैं। उपलब्ध ठीकरों के मतिमान् साँचाकार ने ठीकरे पर समूची कथा खींच दी है। राजा वीणा धारे हाथी पर बैठा है। वासवदत्ता उसकी कमर से चिमटी हुई है। पीछे पूँछ के पास अनुचर बैठा नकुली से स्वर्ण-मुद्राएँ गिरा रहा है जिससे पीछा करनेवाले शत्रु-सैनिक लोभ में फँस कर राजा का पीछा करना छोड़ दें। गज बेतहाशा भागा जा रहा है। ऐतिहासिक घटना का इतना सजीव वर्णन कला के ठीकरे पर अन्यत्र कभी नहीं हुआ।"[1] ठीकरे पर इस कहानी के चित्रण का अर्थ है कि यह नाट्य और काव्य का भी विषय बन चुकी थी। काव्य में काम-विलास का चित्रण उसी युग से आरम्भ समझना चाहिए। वह युग ब्राह्मण और उपनिषद्-रचनाओं का अन्तिम समय था। यद्यपि काम के उन उद्दाम विलासों के प्रतिरोध में ही गौतम बुद्ध का प्रव्रज्या-अभियान हुआ तथापि उनके बाद की शती में उनके संन्यास-अभियान के विपरीत भी राजसभाओं में काम-विलास के प्रति सदा ही अत्यादर बना रहा, इसका पता भर्तृहरि के शतक में निबद्ध तीखे व्यंग्य से चलता है—'हम न नट हैं, न विट हैं, न संगीतज्ञ हैं, न दूसरे के द्रोह से प्रेरित कान भरनेवाले पिशुन हैं और न ही ऊँचे उठे स्तन के भार से नमित ललना हैं। फिर राजसभा में आदर पाने योग्य हमारी कौन-सी विशेषता है, जो वहाँ बैठाये जायें,'[2] इनमें केवल पिशुन को छोड़ कर सभी कामशास्त्र के ही अंग हैं जो राजा के सभासद् के वैशिष्ट्य बताये गये हैं। महाकाव्य राजाओं का चरित था, राजसभा और राजाओं की दिन-चर्चा में काम-विलास अपनी पूरी सज्जा के साथ एक आवश्यक पक्ष होता था, अतः महाकाव्य में भी उसकी अनिवार्यता राजचरित का अंग होने के कारण बनी रही।

ऊपर काम-कला के जिन प्रसंगों को महाकाव्य के स्वरूप में उद्धृत किया गया है, सभी वात्स्यायन के कामसूत्र में निर्दिष्ट हैं। कामसूत्र की चौंसठ विद्याओं में अक्षरमुष्टिका कथन, देशभाषाविज्ञान, नाटकाख्यायिकादर्शन, काव्यसमस्यापूरण, सम्पाठ्य, मानसी काव्य-क्रिया, अभिधानकोशछन्दोज्ञान, क्रियाकल्प[3]—ये विधाएँ

---

१. साहित्य और कला, पृ० १५५

२. वैराग्यशतक २७

न नटा न विटा न च गायना न परद्रोह-निबद्धबुद्धयः।
नृपसद्मनि नाम के वयं कुचभारानमिता न योषितः॥

३. कामसूत्र १।३।१५

काव्यशास्त्र से ही संबंध रखती थीं। वात्स्यायन ने वेश्याभवन में नागरक जनों के गोष्ठी-समवाय के आयोजन तथा उसमें काव्य-चर्चा एवं कला चर्चा होने का निर्देश किया है।[1] और इस प्रकार काव्य-शास्त्र और काम-शास्त्र का परस्पर सामंजस्य कामशास्त्र के अंगों को महाकाव्य में सहज ही स्थान दिला देता है। ऋतुएँ, सूर्योदय, चन्द्रोदय (प्रदोष) आदि काम-भावों को सुकुमार विकास देनेवाली स्थितियाँ होती थीं, महाकाव्य में इन्हें और व्यापक रूप में लिया गया। शेष उद्यान जलक्रीडा, पानगोष्टी––नागरक जनों के विनोद होते थे,[2] जो महाकाव्य में भी इसी रूप में स्वीकृत किये गये। सुरत-विलास काम-सूत्र का प्रमुख अध्याय है।[3] साम्प्रयोगिक अधिकरण के दस अध्यायों में इसका ही विस्तार से विवेचन है। विप्रलम्भ-वर्णन सुरतविलास का अभावपक्ष होता था, जो प्रकारान्तर से उसकी महिमा का ही कीर्तन करता था। कामसूत्र के इन वर्णनों तथा महाकाव्यों में ग्रथित उक्त-रूप विधानों का इतना अधिक साम्य है कि कामशास्त्र के अतिरिक्त उनके अन्य स्रोत की कल्पना ही हम नहीं कर सकते।

राजशेखर ने कामसूत्र के उक्त निदेशों को ध्यान में रखते हुए कवि की जिस दिनचर्या का निरूपण किया है उससे हमारी उक्त धारणा और भी दृढ़ हो जाती है––"कवि का भवन स्वच्छ, लिपा-पुता होना चाहिए, सामने उद्यान हो, वृक्ष-मूल तथा लतागृहों में बैठने के स्थान हों। घर में भी प्रत्येक छह ऋतु के अनु-कूल बैठने की जगहें हों। उद्यान में क्रीडा-पर्वतक, छोटी बावली और पुष्करिणी हो। कृत्रिम नदी और समुद्र के आवर्त भी हों, आदि।···कवि भोजनोपरान्त दूसरों के साथ काव्य-विषयक चर्चाएँ (काव्यगोष्ठी) करे।···रात्रि के प्रथम पहर तक दिन में परीक्षित काव्य-रचना को लिख डाले और जब तक थकावट दूर न हो, स्त्री के साथ रमण करे, दूसरे-तीसरे पहर में भली-भाँति शयन करे और चौथे पहर में अवश्य उठ जाय।[4]

---

१. कामसूत्र, १।४।१९-२०––

वेश्याभवने सभायामन्यतमस्योद्वसिते वा समानविद्याबुद्धिशीलवित्त-वयसां सह वेश्याभिरनुरूपैरालापैरासन-बन्धो गोष्ठी ॥

तत्र चैषां काव्य-समस्या कला-समस्या वा ॥

२. कामसूत्र १।४।१४

घटानिबन्धनम्, गोष्ठी-समवायः, समापानकम्, उद्यानगमनम्, समस्याः क्रीडाश्च प्रवर्तयेत् ॥

३. कामसूत्र, अधिकरण २

४. काव्यमीमांसा, पृ० १२२, १२८

कामशास्त्र में विवाह के प्रसंग को लेकर दूती या धात्रियों को कन्या के लिए सहयोग देने की बात कही गयी है, उसे बहुत कुछ थोड़े से ललित परिवर्तन के साथ महाकाव्य में भी निबद्ध किया जाता है। दूती द्वारा परस्पर राग-प्रतिराग का सन्देश गान्धर्व-विवाह, अथवा कुट्टनी-प्रयोग[1] को ही कवियों ने अधिक सम्मत एवं शालीन बना कर महाकाव्य में प्रयोग किया है। 'कुमार सम्भव' में नारद द्वारा पार्वती की माता से शिव की निन्दा, एवं विष्णु से पार्वती के विवाह की सलाह देना कुट्टनी-प्रयोग का परिमार्जित रूप है। विवाहोत्सव की भाँति 'नायक' संज्ञा भी महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण में परम्परया कामसूत्र से आयी है। पहले यह संज्ञा कामशास्त्र से नाट्यशास्त्र में स्वीकार की गयी, नाट्यशास्त्र में इस संज्ञा के जाने का मुख्य कारण यह था कि नाटकों के आरम्भिक अथवा अनेक नाट्य-प्रयोग शृंगार-रस-पर्यवसायी कथाओं के होते रहे हैं। नाटक का जन्म ही प्रेमकथा के स्वांग में हुआ है, यहाँ इस विषय के विस्तार से विवेचन का स्थान नहीं है, हाँ, इतना संकेत किया जा सकता है कि कालिदास के तीनों नाटक––अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र––प्रेमकथा की ही घटना हैं। उनके पूर्ववर्ती भास की श्रेष्ठ नाट्यकृति 'स्वप्नवासवदत्तम्' आमूलचूड प्रेमकथा में अन्तर्हित है। और जहाँ शृंगार या रति-विषय का यह निबन्धन होता था वहाँ स्वभावतः युवाप्रेमी की उपस्थिति हो जाती थी, कामशास्त्र में उसे युवा वा पति अथवा नायक की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है––'**एक एव तु सार्वलौकिको नायकः। प्रच्छन्नस्तु द्वितीयो विशेषालाभात्।**'[2] और युवती या प्रेमिका को उसी के साथ 'नायिका' संज्ञा दी गयी है––'**यदुभयोः साधारणमुभयत्रोदारं विशेषतो नायिकायाः सुविश्रब्धं तत्र दूतकर्म।**'[3] जिस युवा प्रेमी को कामसूत्र में नायक संज्ञा दी गयी है, नाटक की प्रेमगाथा में भी वही प्रस्तुत किया जाता था, अतः नाट्यशास्त्र में कामशास्त्र के अनुकरण पर उसे नायक ही कहा गया। पुराण के विषय से अनुप्रेरित शास्त्रीय महाकाव्य के स्वरूप की कल्पना नाट्य-प्रयोगों के बाद की घटना है, अतः नाट्यशास्त्र की देखा-देखी महाकाव्य के लक्षण में भी प्रधान पात्र––वीर, सम्राट् या विजेता को नायक संज्ञा दी गयी। महाकाव्य में भी विजेता सम्राट् के रति-अनुराग की चर्चा तो आ ही जाती थी और नाटक की प्रेमकथा से महाकाव्य के प्रबन्ध में इतना साम्य, लक्षण में 'नायक' संज्ञा के उल्लेख किये जाने का पर्याप्त आधार था।

---

१. कामसूत्र ३।५।१-२१
२. वही, १।५।८
३. वही, १।५।३५

६. नाट्यशास्त्र

'नायक' की संज्ञा के साथ रस, भाव और कथा की संधियों की योजना भी नाट्यशास्त्र या नाट्य-प्रयोगों से महाकाव्य में पल्लवित हुई। महाकाव्य का कथा-प्रबन्ध नाटक की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक होता है। अतः रस, भाव की स्थिति उसमें स्वतः होती है, यदि नाटक से 'नायक' संज्ञा के साथ महाकाव्य में रस और भाव को प्रत्यक्ष न लिया जाय तो भी उसमें इस पक्ष की न्यूनता की सम्भावना नहीं की जा सकती थी। क्योंकि जहाँ कथा है वहाँ रस और भाव भी अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। दण्डी ने महाकाव्य में रस-भाव की स्वाभाविक स्थिति की ओर संकेत किया है, 'रसभावनिरन्तरम्' अर्थात् कथा मानवीय मनो-व्यापार के प्रसंगों से परिपूर्ण हो, जिसका रस और भाव की अनुभूति से आस्वादन किया जा सके, कोरा वर्णन ही वर्णन न हो। रुद्रट ने भी मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को रस-सम्मिश्र करके कथा-प्रबन्धों में निबन्धन करने की बात कही है।[1] रस या भाव का यह सामान्य निर्देश महाकाव्य के विस्तृत कलेवर के अनुरूप था। विश्वनाथ ने महाकाव्य के लिए शृंगार, वीर, शान्त में से किसी रस को अंगी (प्रधान) तथा शेष सभी रसों एवं नाटक-सन्धियों को अंग-रूप में निर्वाह करने की सलाह दी है।[2] विश्वनाथ का ऐसा कथन नाटक की सीमित कथावस्तु के विधान से प्रभावित है। और महाकाव्य के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

संधियाँ कथावस्तु में अपेक्षित अंश के ग्रहण तथा अनपेक्षित अंश के त्याग और जो अंश (रस-भाव की दृष्टि से) नहीं है उसकी उद्‌भावना के लिए नाटक में आयोजित होती थीं। कथावस्तु का एक नपा-तुला गठन इन सन्धियों से बनता है। दण्डी ने 'सुसंधिभिः' पद से महाकाव्य में किस विधान की ओर संकेत किया, यह बहुत स्पष्ट नहीं है, सन्धि के पूर्व 'सु' उपसर्ग से यह उलझन और भी बढ़ जाती है। अतः नाटक की पाँच संधियों--मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण--में से जो सुष्ठु बन पड़ें, कथा-वस्तु को चमत्कारी रूप प्रदान करें, उनसे महाकाव्य युक्त हो--ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं और यह अर्थ भी कर सकते हैं कि सामान्य-

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १६।१

जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थकाममोक्षाणाम्।
सम्यक् तानभिदध्याद्रस--संमिश्रान् प्रबन्धेषु॥

२. साहित्यदर्पण, ६।३१७

शृंगार--वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः॥

तथा गाम्भीर्य एवं चमत्कार विधान के लिए महाकाव्य के विस्तृत कथाप्रबन्ध को अवान्तर कथा-प्रसंगों से युक्त किया जाय। अथवा जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है—सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेदिति[1]—उस प्रकार सर्ग के अन्त और नये सर्ग के आरम्भ में कथा को जोड़नेवाले वक्तव्य सन्धि के रूप में रखे जायें। पण्डित रंगाचार्य शास्त्री ने भी अपनी प्रभा टीका में इस 'सुसन्धिभिः' पद के द्विधा अर्थ का संकेत किया है।[2] भामह ने तो स्पष्ट ही **'पंचभिः सन्धिभिर्युक्तम्'** लिख कर नाट्य-सन्धियों की ओर संकेत किया है।[3] रुद्रट ने भी संशिलष्ट सन्धियों की योजना का निर्देश किया है।[4] विश्वनाथ ने भी अंग रूप में सभी नाटक-संधियों के निर्वाह की बात कही है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि सन्धियों की उपयोगिता नाटक के नपे-तुले कथा-गठन के लिए ही है, न कि विस्तृत प्रबन्ध महाकाव्य के लिए भी। दण्डी को ये सन्धियाँ अभीष्ट थीं, इसमें सन्देह हीं है।

७. काव्य-शास्त्र

महाकाव्य के लिए काव्य-शास्त्र का विशिष्ट योगदान केवल अलंकार है। इस अलंकार संज्ञा में हम गुणों को भी सम्मिलित कर सकते हैं, जैसा कि दण्डी ने गुणों को विशिष्ट अलंक्रिया माना है, गुणों का स्वतंत्र उल्लेख उन्होंने महाकाव्य के लक्षण में नहीं किया है। इसलिए कि गुण अभी काव्य-जगत् की नयी उद्भावना के रूप में प्रतिष्ठित हो रहे थे यह अद्भुत बात है कि उक्त अनेक वैशिष्ट्यों से युक्त विराट् प्रबन्ध को काव्य-शास्त्र के अकेले अलंकार के सन्निवेश से 'महाकाव्य' की संज्ञा मिल जाती है। दण्डी के महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षण में केवल 'संदलङ्कृति' विशेषण मात्र उसे काव्यस्रोत की देन है।[5] काव्य-विद्या के इस सूक्ति-रूप अलंकार-विधान ने भी अकेले उसके स्वरूप को इतना प्रभावित किया है कि उसे अपना अभिधान ही महाकाव्य करना पड़ा है—महापुराण, महाइतिहास या महाकथा नहीं।

---

१. साहित्यदर्पण ६।३२१

२. काव्यादर्श, प्रभा टीका, पृ० २२

३. काव्यालंकार (भामह) १।२०

४. काव्यालंकार (रुद्रट) १६।१९

सन्धीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसम्बन्धात्॥

५. काव्यादर्श १।१९

काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।

इससे दो बातें प्रकट होती हैं--(१) अलंकार (सूक्ति) ही महाकाव्य में ऐसा चमत्कार है जो अन्य सभी चमत्कारों या वैशिष्ट्यों में समान रूप से समाया हुआ है। जितने वर्णन महाकाव्य में अपेक्षित हैं वे सभी सूक्ति से ही प्राणवान् बनते हैं। 'सेतुबन्ध' की प्रशंसा करते हुए दण्डी ने उसे सूक्ति-रत्नों का सागर कहा है।[1] सेतुबन्ध में ये सूक्तियाँ उसके अलंकृत वर्णनों की सच्ची उद्भावना हैं। (२) इससे सिद्ध होता है कि कवि की साधना के आरम्भ में उसे सूक्ति या अलंकार ही इष्ट थे और कवि की इस कृति को ही काव्य की संज्ञा दी गयी। काव्य के पर्याय के रूप में सूक्ति या अलंकार का बोध होता रहा। तब काव्य भी प्रबन्ध नहीं मुक्तक था। प्रबन्व के रूप में थे पुराण, कथा और नाटक। पुराण या कथा के वक्ता और नाटक के अभिनेता कथा-रस और नाट्य-रस की सृष्टि करते थे। महाकाव्य के रूप में जब कथा-प्रबन्ध को भी काव्यत्व प्राप्त हुआ तब कथा का अनुगामी बन कर कथा-रस महाकाव्य में पहुँचा, और उसने समय के साथ काव्य-रस की संज्ञा प्राप्त की।

८. छन्दःशास्त्र

'महाकाव्य' संज्ञा के मूल में छन्द का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग है, सच में यदि महाकाव्य पद्यबद्ध न होता तो उसे दण्डी के युग में कथा या आख्यायिका ही कहा जाता। आख्यायिका के कन्याहरण, संग्राम, विप्रलंभ आदि वर्णनों को दण्डी ने स्वयं सर्गबन्ध (महाकाव्य) के समान कहा है।[2] पद्य-गद्य का ऊपरी स्वरूप ही महाकाव्य एवं आख्यायिका, कथा की संज्ञाओं के भेद का कारण बनता है, नहीं तो आन्तरिक प्राणवत्ता प्रायः इन सबकी समान होती है।

छन्द के सम्बन्ध में दण्डी के दो निर्देश हैं--(१) श्रव्य छंदों का प्रयोग हो। प्रभा-टीका में श्रव्य का अर्थ किया गया है--यतिभंग-हतवृत्त दोषराहित्य, माधुर्य-गुण-युक्त, श्रुति-सुखद, सुवृत्ततिलकोक्त छन्द।[3] कदाचित् दण्डी को यहाँ श्रव्य विशेषण से कानों को परिचित लोक-प्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग अभीष्ट है। (२)

---

१. काव्यादर्श १।३४

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥

२. वही, १।२९

कन्याहरण - संग्राम - विप्रलम्भोदयादयः।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः॥

३. काव्यादर्श, प्रभा-टीका, पृ० २१

सर्ग के अन्त में रोचकता लाने के लिए छन्द बदल दिया जाय (सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तैः)।[1]

दण्डी ने चतुष्पाद छन्दों के प्रयोग की ही बात कही है—'पद्यं चतुष्पदी।'[2] दो-तीन पादवाले वैदिक छन्दों के प्रयोग की चर्चा नहीं की है। 'चतुष्पदी' संज्ञा का प्रयोग कर उनको अनपेक्षित कह दिया है, क्योंकि यह काव्य-चर्चा लोक-जीवन से उठ कर नागरक-जीवन में प्रवेश कर रही थी, और उसके स्वरूप का विधान लोक-सम्मत परम्परा में ही सम्भव था। लौकिक छन्द चार चरणों के होते थे। दण्डी के मत में काव्य-रचना के लिए छन्द की बड़ी उपयोगिता है और छन्दःशास्त्र का बड़ा विस्तार (प्रपंच) है। यह छन्दोविद्या गहरे विस्तृत काव्यसमुद्र को पार करनेवालों के लिए नौका है।[3]

महाकाव्य का विस्तृत लक्षण उक्त प्रकार से अनेक स्रोतों से क्रमशः आ-आकर महाकाव्य के उदात्त रूप में परिणत हुआ है। इनमें महाकाव्य की परिणति में पहला योगदान छन्दःशास्त्र का है और अन्तिम काव्यशास्त्र का। महाकाव्य के उपादानों को ऊपर उल्लिखित स्रोतों से ग्रहण करने का संकेत जैन कवि स्वयंभू भी करता है, उसके इस उल्लेख में व्यास से कथा-विस्तार का ग्रहण अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है—व्यास का कथा-विस्तार अर्थात् व्यास द्वारा सम्पादित या रचे गये पुराणों से कथावस्तु का अनुसंधान। स्वयंभू कहता है—मैंने सरस्वती को प्रणाम किया है कि वह मुझे विमल मति प्रदान करे। तब उसने मुझे इन्द्र का व्याकरण-ज्ञान दिया। भरत का रस, व्यास का कथा विस्तार, पिंगल मुनि का छन्दः एवं उसके प्रस्तार, भामह और दण्डी के अलंकार एवं बाण के घणघणत्कारपूर्ण अक्षराडम्बर प्रदान किये।[4]

---

१. काव्यादर्श १।१९

२. वही, १।११

३. वही, १।१२

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपंचो निर्दशितः।
सा विद्या नौर्विविक्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्॥

४. हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन), पृ० २४

तेहि अवसर सरसइ धीरवइ। करि कव्वु कण्ण महं विमल मइ॥
इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहें वासे वित्थरणु॥
पिंगलेण छन्द पथ पत्थारु। भम्मह दण्डिणहि अलंकारु॥
बाणेण समप्पिउ घणघणउ। ते अक्खर-डम्बर घणघणउ॥
(हरिवंश पुराण-उत्थानिका)

महाकाव्य में अन्तर्भूत काव्य-विधाएँ

पद्य (छन्द की रचना) अक्षर संख्या और मात्रा संख्या से दो प्रकार से होती थी लेकिन संस्कृत-काव्यों में अक्षर संख्या (वर्णिक छन्दों) का प्रयोग ही अधिक पाया जाता है। कवि छन्द में अपने विचार, भाव प्रकट करते समय यह प्रयास करता था कि भरसक एक ही छन्द में उसकी उद्भावना की समस्त परिणति हो जाय, ऐसा एक छन्द मुक्तक काव्य कहा जाता रहा परन्तु यह संभव न होने पर दो, तीन, चार या पाँच छन्दों में जा कर वर्णन की समाप्ति होती थी और उतनी संख्या के छन्दों का एक साथ अन्वय होता था। छन्द-संख्या में वर्णन की इस व्याप्ति को क्रमशः युग्मक, सन्दानितक, कलापक और कुलक—काव्य नाम से पुकारा जाता है। दण्डी के समय इसमें मुक्तक और कुलक दो भेदों की ही रचनाएँ होती थीं। पाँच से अतिरिक्त छन्द संख्या में लिखे गये काव्य को कोष कहते थे, कोष काव्य में अन्वय एक नहीं होता था, वरंच वर्णित विषय की एकता उसमें अभीष्ट रहती थी—दूसरे शब्दों में एक ही विषय पर लिखे गये छन्दों का समूह कोष है। इसमें छन्द एक ही हो ऐसा कोई बन्धन नहीं था। एक ही विषय पर लिखे गये छन्दों की लम्बी संख्या को जब छन्द का प्रकार आरम्भ से अन्त तक एक ही रहता था, संघात काव्य कहते थे।

मुक्तक, कुलक, कोष और संघात काव्य दण्डी के सामने अत्यन्त प्रचलित रहे होंगे, ऐसा अनुमान है। क्योंकि दण्डी ने इनका केवल नाम गिनाया है, कोई परिभाषा नहीं दी है।[1] मुक्तक के बाद कुलक, कोष और संघात भेद की कल्पना सूक्ति-काव्य के विकास का वह सोपान है जिसमें वह अधिकाधिक कथा के निकट होकर प्रबन्ध-बद्ध होने लगा है। कोष और संघात—काव्य के वे शिलाखंड हैं जिन्हें जोड़-जोड़ कर महाकाव्य रस-सरोवर की लम्बी सोपान-परम्परा तैयार हुई। दण्डी ने स्पष्ट कहा है—ये सभी काव्य-भेद सर्गबन्ध महाकाव्य के ही अंश हैं, इसलिए मैं पद्य के इस विस्तार से आगे बढ़कर उस सर्गबन्ध काव्य का ही व्याख्यान करता हूँ।[2] काव्य के प्रबन्ध-रूप तथा महाकाव्य की कथा-योजना की दिशा में उक्त भेदों का अनुशीलन सर्वथा उपयोगी है।

---

१. काव्यादर्श १।१३

मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः॥

२. वही, १।१४

वार्ता काव्य

काव्य की एक दूसरी विधा भी, जिसकी चर्चा दण्डी ने यहाँ तो नहीं, आगे जा कर गुण-निरूपण के प्रसंग में की है, महाकाव्य की कथा-योजना का प्रमुख अंश है, वह है 'वार्ता' काव्य। दण्डी कहते हैं कि 'लोक-प्रसिद्धि को न त्याग कर वस्तु-वर्णन को प्रस्तुत करनेवाला वाक्य जो अपने इस स्वरूप के कारण साधारण से लेकर विदग्धजनों तक को कमनीय होता है, कान्ति गुण है और उसकी स्थिति वार्ता के कथन एवं वस्तु के स्वरूप-निरूपण में होती है।'[1] यह वार्ता क्या है? प्रभा-टीका में इसके तीन अर्थ दिये गये हैं--(१) लौकिक उपचार-वचन (२) स्वस्थ-प्रियालाप (३) इतिहास वर्णन। इतिहास अर्थात् यथावद् वर्णन। भामह ने वार्ता की चर्चा अलंकार-निरूपण के प्रसंग में की है, दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म, लेश अलंकारों का व्याख्यान किया है अर्थात् दण्डी के समय अलंकार-चिन्तन की एक परम्परा में इन अलंकारों का अस्तित्व था, भामह ने इनको वक्रोक्तिहीन उक्ति कहकर अलंकार नहीं माना, केवल वार्ता कहा है।[2] दण्डी ने ज्ञापकहेत्वलंकार के उदाहरण में लिखा है--

गतोस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदिने॥[3]

भामह ने इस उदाहरण का इस अलंकार या काव्य के रूप में विरोध किया है--

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥[4]

इत्येवमादि से भामह का संकेत ज्ञाप्य-अभाव-हेतु के अन्य प्रकारों की ओर भी है, दण्डी ने जिनका विस्तार से निदर्शन किया है, जो एक ओर कान्तिगुण की सीमा में हैं और दूसरी ओर हेतु अलंकार हैं।[5] वार्ता काव्य के मूल की खोज पहले

---

१. काव्यादर्श १।८६

२. काव्यालंकार (भामह) २।८६

हेतुश्च सूक्ष्मोलेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥

३. काव्यादर्श २।२४४

४. काव्यालंकार (भामह) २।८७

५. काव्यादर्श, २।२४५, २४७

(ज्ञाप्यहेतु) अवध्यैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम्।
देहोष्मभिः सुबोधं ते सखि कामातुरं मनः॥

(प्रागभावहेतु) अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम्।
अनिग्रहेण चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणाम्॥

भामह के इस निर्देश को लेकर की जाती है। उक्त उदाहरण को भामह ने अलंकार न स्वीकार कर केवल वार्ता कहा है, वार्ता कहने से उनका तात्पर्य सामान्य लौकिक वचन से है। अर्थात् कथन की ऐसी विधा जो लोक में साधारणतया सभी प्रयोग करते हैं, जिसमें वक्रोक्ति दृष्टिगत नहीं होती और उसे अलंकार की कोटि में नहीं रखा जा सकता, उसको वार्ता अर्थात् लोक-प्रयुक्त वचन से अधिक गौरव देना उचित नहीं है। ऊपर के उदाहरण में 'सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमकने लगा, पक्षी अपने घोंसलों की ओर जा रहे हैं' यह कथन सायंकाल होने की सूचना देता है, लोक-वचन का यह ढंग भामह की दृष्टि में वाक्य की साधारण प्रस्तुति है जो अलंकार-विधान के सर्वस्व वक्रोक्ति-प्रकार से शून्य है। इतना तो निश्चित है कि उक्त उदाहरण अलंकार अथवा काव्य के रूप में अभिमत था इसीलिए भामह को उसका प्रत्याख्यान करना पड़ा है, भामह विदग्ध-गोष्ठी के अलंकार-सम्मत काव्य का निरूपण कर रहे हैं और यह अथवा इसी प्रकार के दूसरे उदाहरण लोक-गोष्ठी के अभिमत काव्य थे। लोकगोष्ठी का अभिमत काव्य अर्थात् सूक्ति काव्य। और काव्य बिना वक्रोक्ति के अपना अस्तित्व नहीं रखता, भामह का यह कथन भी सत्य है, किन्तु भामह उक्त श्लोकार्ध में स्थित वक्रोक्ति को पहचानने में असफल रहे हैं, उनकी असफलता का कारण है उनकी विदग्ध-गोष्ठी में एकनिष्ठ दृष्टि, जो लोक की वचनभंगि से विमुख है अथवा अपरिचित है। लोक की वाणी-भंगिमा से युक्त प्रस्तुत श्लोकार्ध वस्तु-वक्रता का सूक्ति काव्य है। यह स्वतःसम्भवी वस्तु-व्यंग्य के निकट है। स्वतःसम्भवी-वस्तुव्यंग्य लोक के सूक्ति-काव्यों की प्रकृति है। ये सामान्य लोकोपचार-वचन अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति कैसे करते हैं, यह तथ्य काव्य-प्रकाशकार के 'गतोऽस्तमर्कः' को लेकर किये गये व्यंग्य-व्याख्यान से पता चलता है। 'सूर्य डूब गया' वाक्य एक साथ--'शत्रु को आक्रान्त कर लेने का समय है', 'तू अभिसरण के लिए तैयार हो जा' 'तुम्हारा प्रिय आ ही पहुँचता है' 'अब काम करना बन्द करो' 'सांध्योपासन की विधि पूरी करो' 'रात में दूर न जाओ', 'गायों को बाड़े में करो' 'अब दिन की गरमी शान्त है' 'दूकान को बटोर कर रखो' 'हाय! अभी तक मेरा प्रिय नहीं आया'--आदि अनेक अर्थ विभिन्न वक्ता और बोद्धा की स्थिति के अनुसार अभिव्यक्त करता है।[1] यह 'गतो-

---

१. काव्यप्रकाश ५। सू० ६९

तथा च 'गतोऽस्तमर्क' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति,

ऽस्तमर्कः' दण्डी और भामह के उक्त श्लोकार्ध का ही एक अंश है, जिसकी काव्य-विधा को लेकर दोनों ने परस्पर भिन्न धारणाएँ व्यक्त की हैं। ऊपर के उदाहरण को भामह ने वार्ता कह कर अलंकार की श्रेणी से अलग कर दिया है। अलंकार न होने पर उसका काव्यत्व भी उपेक्षित ही समझना चाहिए क्योंकि भामह को 'शब्दाभिधेयालंकार भेद' से काव्य की दो मान्यताएँ ही इष्ट थीं।[1]

वार्ता-काव्य—विषयक भामह की मान्यता को लेकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोक-काव्यों में वचन-वक्रता की योजना कम ही हो पाती थी, काव्य की उस प्रकृति में वस्तु (भाव)-वक्रता अधिक अनुकूल पड़ती है। बिना पढ़े-लिखे अतएव पद-वाक्य के विन्यास में अजान किन्तु भाव में अथाह दरियादिल ग्रामीणों का हृदय वस्तु-वक्रता में बह कर काव्य बनता था। इससे यह भी प्रकट होता है कि ध्वनि का एक रूप इन वार्ता-काव्यों की ही मूल प्रकृति है। ऐसे काव्यों को ही वचन-वक्रोक्ति से शून्य बता कर भामह ने वार्ता की संज्ञा दी है।

परन्तु भामह ने वार्ता-काव्य के जिस अंश पर अपनी दृष्टि डाली वह वार्ता का समग्र स्वरूप नहीं था, वार्ता-काव्य एक छोटा प्रबन्ध होता था—'गतोऽस्तमर्कः' तथा अन्य उदाहरण अपने सन्दर्भ में कोई न कोई कथा-प्रसंग लिये हुए हैं। यह तथ्य कान्ति गुण की व्याख्या में वार्ताभिधान के दिये गये दण्डी के उदाहरण से प्रकट होता है, दण्डी के युग में 'वार्ता-काव्य' अपने समग्र रूप में आदर पाता रहा होगा, ऐसा अनुमान है। उनके कान्तिगुण के दो ही विषय हैं—वार्ता और वर्णना। वार्ता का उदाहरण है—

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।
संभावयन्ति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः॥[2]

अर्थात् घर वही हैं जिनको आप-जैसे तपोराशि अपनी पवित्र चरणधूलि से कृतार्थ करते हैं। हेमचन्द्र ने रसवादी परम्परा के अनुसार तीन गुण ही माने हैं। लेकिन काव्यानुशासन की टीका में शब्द-अर्थ के दश गुणों की भी व्याख्या की है। और कान्तिगुण का लक्षण वैदर्भानुमत लोकसीमा का अतिक्रम ही स्वीकार किया है। तथा उसके वार्ता एवं वर्णना यही दो प्रकार बताये हैं।[3] उनका भी वार्ता का उदाहरण दण्डी की कोटि का है—

संतायोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

१. काव्यालंकार (भामह) १।१५

२. काव्यादर्श १।८६

३. काव्यानुशासन, अध्याय ४, टीका पृ० २००

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥

वार्ता को समझने के लिए देखना यह है कि वर्णना से उसका अन्तर क्या है क्योंकि दोनों में एक समानता है, वे लोक-प्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण नहीं करते। दण्डी की वर्णना का उदाहरण है।

अनयोरनवद्यांगि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे।[1]

अर्थात् सुन्दरि ! बढ़ते हुए तुम्हारे इन दोनों स्तनों के लिए वाहु-लता के बीच पर्याप्त स्थान नहीं है। वर्णना होते हुए भी यह एक तरह का प्रणय-आलाप (प्रेम वार्ता) है। हेमचन्द्र ने वर्णना का जो उदाहरण दिया है, विषय की यह एकता उसमें भी है—

तदाननं निर्जित-चन्द्रकान्ति कन्दर्पदेवायतनं मनोज्ञम्।
प्रदक्षिणीकर्तुमितः प्रवृत्ते विलोचने मुग्धविलोचनायाः॥[2]

इस प्रकार कान्तिगुण के विषय वार्ता और वर्णना थे। वार्ता और वर्णना की सीमा क्या थी, यह इससे स्पष्ट नहीं होता। दण्डी ने सीमा का स्पष्टीकरण तो नहीं किया है किन्तु विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहा है—इस प्रकार लोक-व्यवहार में निष्णात सर्वसाधारण के लिए विशेष कथन से परिष्कृत रचना ही कान्ति गुण है।[3] ऊपर के दिये गये उदाहरणों से यह जान पड़ता है कि वार्ता का अर्थ—शिष्टाचारपूर्ण कथोपकथन था, और वर्णना से प्रणयालाप का तात्पर्य ग्रहण किया गया है। अर्थात् वर्णना प्रथमतः वार्ता में ही अन्तर्भुक्त है, दोनों ही लोकाचार-पूर्ण वृत्तान्त के आलाप हैं, वर्णना का वार्ता से भेद यह है कि वह प्रणय को व्यक्त करने का उपक्रम है। अतः वार्ता ही अपने दो रूपों में कान्ति-गुण विशिष्ट काव्य था। लोक-अर्थ का अनतिक्रमण यह विशेषता, कान्तिगुण की दण्डी ने बतायी है, वस्तुतः कान्ति गुण की नहीं, यह व्याख्या वार्ता काव्य की है। अमरकोष के शब्दादिवर्ग में वार्ता के पर्याय प्रवृत्ति, वृत्तान्त (घटना) और उदन्त

---

१. काव्यादर्श १।८७

२. काव्यानुशासन अध्याय ४, टीका पृ० २००

३. काव्यादर्श १।८८

इति संभाव्यमेवैतद् विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥

(कथा) दिये गये हैं।[१] जनश्रुति (लोकवाणी) भी इसका अर्थ है।[२] वार्ता काव्य वहाँ होता था जहाँ लोक-वाणी की बोध-सीमा में चमत्कार युक्त कथन किया जाता था, निश्चित है कि ऐसे कथन में उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षा जसे अलंकारों की योजना अस्वाभाविक है, साधारण जनों के लिए तब उसके अर्थ-बोध में व्यायाम करना पड़ेगा। वाणी-विदग्धता के ऐसे चमत्कार ही, जो लोक के प्रयोग में अजनबी न हों, वहाँ प्रयोग-योग्य हो सकते थे। वार्ता काव्य की यह विशेषताएँ हमें प्रबन्ध-काव्य के संवादात्मक अंशों में मिलती हैं—जैसे महाभारत का गृध्र-गोमायु-संवाद, रघुवंश का सिंह-दिलीप-संवाद, कुमार-संभव का पार्वती-ब्रह्मचारी-संवाद। कुमार-सम्भव में पार्वती और ब्रह्मचारी का जो संवाद है वह वार्ता के वर्णना-प्रकार के अधिक निकट है। वार्ता-काव्य का ही समानार्थक संवादात्मक काव्य है। दण्डी अथवा कालिदास के सामने संवाद-काव्यों की रचना कहानियों के कहने में होती रही होगी, कथावस्तु को रोचक बनाने तथा लोक-सम्मत भावों-विचारों को उन्हीं की प्रकृति में प्रकट करने के लिए यह संवाद-काव्य उत्कृष्ट माध्यम था, कालिदास ने अपने महाकाव्य की कहानी में संवाद-काव्य का सफल प्रयोग किया है और प्रत्येक संवाद-काव्य में लोक-सम्मत व्यवहार, विचार तथा भाव प्रकट किये हैं—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ़ः प्रतिभासि मे त्वम्॥

(रघुवंश २।४७)

इसमें थोड़े से लाभ के लिए बहुत बड़ी हानि नहीं उठानी चाहिए, लोक के इस प्रकृत विचार का निबन्धन है। और—

नीवारपाकादि कडंगरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित्?
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः॥

(रघुवंश ५।९)

इसमें ऋषि-आश्रम के नीवार आदि की सुरक्षा और अतिथियों के लिए जीविका की स्वस्थ स्थिति का प्रश्न—लोकयात्रा का ही सामान्य विषय है। इसी प्रकार रघु के प्रति कहा गया कौत्स का यह कथन है—

---

१. अमरकोष १।६।७

वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्।

२. वही, ३।३।७५

वार्ता वृत्तौ जनश्रुती।

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्! नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा॥
(रघु० ५।१३)

राजा की प्रशंसा में ऋषि के उपयुक्त कहे जाने योग्य प्रशंसा वचन ये नहीं हैं। यह तो सामान्य लोक की सीधी-सादी अतिशय-अर्थ-पूर्ण वाणी है, जो प्रशंसा-परक होने से सुहावनी बन रही है। ऋषि अपनी वाणी में यदि कहता तो जैसा प्रथम सर्ग के आरम्भ में दिलीप के वर्णन में स्वयं कवि ने कहा है, कुछ वैसा कहता। जैसा कि इस छन्द में है—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥
(रघुवंश १।१७)

अथवा, दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥
(रघुवंश १।२६)

इस छन्द में राजा के शासन की प्रशंसा ही कवि कर रहा है लेकिन उसकी वाणी की प्रकृति लोक की नहीं है, राजा की महिमा में उसने ऋषि-सम्मत शास्त्रीय वचनों का उपक्रम किया है, 'दिलीप की प्रजा मनु के बताये मार्ग से रेखा मात्र भी बहक कर इधर-उधर नहीं चलती थीं।' 'वह सम्राट् धरती के किसानों से यज्ञ के लिए ही कर लेता था।'—ये वाक्य उक्त श्लोकों में ऋषि-प्रयुक्त वाणी के अभिज्ञान हैं और रघुवंश के दूसरे-पाँचवें सर्ग की वार्ता-विधा से भिन्न हैं।

अतः वार्ता-काव्य की रचना के चिह्न हमें महाकाव्य की कहानी में सुरक्षित मिलते हैं, वे वहाँ हैं जहाँ लोक-भाव की भूमि पर घटना-प्रसंगों में संवादों की योजना है। संवाद वार्ता-काव्य का उत्कृष्ट अंश होता था। वार्ता एक कहानी होती थी, कहानी गद्य या पद्य में कही जाती थी, उसे रोचक बनाने के लिए बीच-बीच में कथावाचक पात्रों के संवाद में कान्ति गुण की पद्य-रचना का प्रयोग करता था। ऐसे संवाद-काव्यों को, कान्तिगुण जिनकी विशेषता थी, वार्ता (कहानी) में प्रयुक्त होने के कारण दण्डी ने वार्ता कहा है, जहाँ संवाद प्रणय-विषयक हो जाता था उसे वर्णना कहते थे, था वह भी वार्ता का ही अंश।

यह 'वार्ता' काव्य पद्य (काव्य) के अन्य भेदों—मुक्तक, कुलक, कोष, संघात से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य की रचना-प्रक्रिया है, कथावस्तु का प्राण है किन्तु कहानी अथवा महाकाव्य में इसका इतना अन्तर्भाव हो चुका था कि इसके अस्तित्व को अलग रख कर इसका व्याख्यान नहीं हुआ। दूसरी बात यह थी कि उक्त

मुक्तक, कुलक आदि भेद पद्य की संख्या और जाति पर आधारित हैं, उनके साथ इस भेद की कोई सजातीयता नहीं है। कालिदास का 'मेघदूत' प्रणय के वियोग-संयोग की एक छोटी-सी कहानी है, उसी के माध्यम से कवि ने देश के इतिहास और स्थानों के भूगोल की कहानी भी चमत्कारिक ढंग से प्रस्तुत कर दी है, वार्ता के जो तीन अर्थ प्रभा-टीकाकार ने बताये हैं—(१) लौकिक उपचार वचन (२) स्वस्थ प्रियालाप (३) इतिहास का यथावद् वर्णन—वे तीनों मेघदूत में हैं, कालिदास ने कहानी में संवाद (वार्ता) और वर्णना को काव्य के उत्कृष्ट परिधान में सजा कर ऐसा खड़ा किया है कि वार्ता (कहानी) का सारा अस्तित्व ही काव्य में आत्मसात् हो गया है। वस्तुतः 'मेघदूत' मूल रूप में वार्ता है और विकसित रूप में वार्ता-काव्य है। मध्यभारत के वार्ता काव्यों की यह परम्परा राजस्थानी भाषा की बोलियों में 'बात' के रूप में बनी रही, 'बात' अर्थात् वार्ता (कहानी)। वह भी धाराप्रवाह कही जानेवाली कहानी नहीं होती थी, प्रश्नोत्तर के रूप में संवादात्मक कहानी ही राजस्थानी 'बात' है। दण्डी के कान्तिगुण-विषयक वार्ता-काव्य का निदर्शन राजस्थानी 'बात' में सुरक्षित है।

दण्डीकृत महाकाव्य-लक्षण का वैशिष्ट्य

दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण करने में इस प्रकार उन सभी विषयों को महा-काव्य की धारा से अलग कर देखने का प्रयास किया है, जिन सब के सम्मेलन के बाद इस महाधारा का रूप खड़ा हुआ। उन्होंने महाकाव्य की रूपरेखा का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और उनके उक्त निरीक्षण में प्राणवत्ता अथवा आत्मा के विषय-सन्निवेश का तो नहीं, किन्तु इनके आधारभूत तथ्यों के प्रति अभिनिवेश तो है ही। यदि गोष्ठी काव्य के लिए गुण और अलंकार का लम्बा व्याख्यान करने के लिए वे बाध्य न होते तो निश्चित था कि महाकाव्य के सम्बन्ध में जितना उन्होंने कहा है, उससे उसका विस्तार अधिक होता। महाकाव्य के विस्तार और व्यापकता की जितनी परख दण्डी ने की, उतनी परख भी उनके परवर्ती महाकाव्य के लक्षणकार न निभा सके। सच यह था कि दण्डी का परिचय महाकाव्य के उदय होते हुए विराट् रूप से था, जब वह पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा काव्य-लक्षण इन सब को आत्मसात् करता हुआ कवि विधाता की विलक्षण कृति के रूप में विदग्ध जनों का विस्मय बन रहा था। परवर्ती काल में महाकाव्य का वह स्वरूप न रह गया। महाकाव्य के प्रति कवियों का आकर्षण तो बहुत रहा, अनेक ने महाकाव्य की रचना के प्रति अपना मोह दिखाया है; किन्तु वह काव्य-जगत् की विराट सृष्टि था, कितने कवि उस सृष्टि के निर्माण के व्यामोह में पड़कर

घर-घरौंदा ही बनाकर रह गये हैं। दण्डी ने महाकाव्य के महत्त्व को सही आँका है कि 'एक ही युग में नहीं, एक ही कल्प में भी नहीं, अन्य कल्पों तक लोक-रंजक महाकाव्य अमर रहता है और पढ़ा-सुना जाता है।'[1] दण्डी की परिभाषा महाकाव्य के पूर्ण स्वरूप और उसके ऐतिहासिक पक्ष को सर्वथा स्पष्ट करती है, रुद्रट और विश्वनाथ दोनों के महाकाव्य-लक्षण उसकी तुलना में नहीं पहुँच पाते। रुद्रट ने तो महाकाव्य को एक मात्र राजनीति के आश्रित कर दिया है,[2] विश्वनाथ की परिभाषा में नाटक और कथा का विशेष प्रभाव है। वे नाटक की सभी सन्धियों की योजना चाहते हैं। कथा के अनुसार खलों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कीर्तन चाहते हैं।[3] हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में महाकाव्य की विस्तृत व्याख्या अवश्य की है[4] पर उसमें क्रम-बद्ध एवं मौलिक समीक्षण का अभाव है, यत्र-तत्र प्राप्त लक्षणों को एकत्र जुटा दिया गया है। भामह के महाकाव्य का लक्षण, जो दण्डी से बाद का और रुद्रट से बहुत पूर्व का है, एकदेशीय है, उसमें नायक और उसके राजनीतिक अभ्युदय की ओर ही विशेष लक्ष्य है।[5] तो भी भामह और रुद्रट ने महाकाव्य की एक महत्त्वपूर्ण पहचान की है कि महाकाव्य महान् चरितों से सम्बद्ध एक विराट् रचना है।[6]

दण्डी के सामने उनके अपने लक्षणों से लक्षित उत्कृष्ट महाकाव्य अवश्य रहे होंगे किन्तु उन्होंने प्राकृत काव्य 'सेतुबन्ध' का जिस प्रशंसा के साथ नाम लिया है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह उनका अभिमत महाकाव्य था, पन्द्रह आश्वासों में विभक्त रामकथा पर आधारित 'सेतुबन्ध' में दण्डी कृत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ण अन्विति है।

कथा-आख्यायिका

महाकाव्य के बाद तत्समकक्ष महत्त्वपूर्ण काव्य-शरीर आख्यायिका और नकथा के हैं। ये विधाएँ गद्यात्मक थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी ने जब विधाओं का व्याख्यान किया तब ही ये दो विधाएँ अलग-अलग प्रतिष्ठितकी जा रही थीं, उनके पूर्व कथा और आख्यायिका दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं स्वीकार किया जाता था। दण्डी अब भी दोनों विधाओं की अलग-अलग प्रतिष्ठा

---

१. काव्यादर्श १।१९ काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।

२. काव्यालंकार (रुद्रट) १६।११-१८; ३. साहित्यदर्पण ६।३१७, ३१९

४. काव्यानुशासन, अध्याय ८; ५. काव्यालंकार (भामह) १।२०, २२-२३

६. काव्यालंकार (भामह) १।१९, एवं (रुद्रट) १६।५

के विरुद्ध थे। उन्होंने आख्यायिका और कथा का लक्षण न बताकर दोनों में भेद स्थापित करनेवालों को उत्तर दिया है और इस अभेद को स्थापित करने में ही उनके प्रमुख लक्षण निरूपित हो गये हैं, वे उनकी अभेद प्रतिष्ठा इस प्रकार करते हैं—

(१) आख्यायिका को नायक स्वयं कहता है, कथा का वक्ता नायक अथवा दूसरा भी होता है। नायक द्वारा स्वयं अपने गुणों का वर्णन दोष नहीं है क्योंकि यहाँ वह भूतार्थशंसी—बीती हुई घटनाओं का कहनेवाला यथार्थवादी होता है।

किन्तु यह नियम भी नहीं है कि आख्यायिका का वक्ता उसका नायक ही हो, दूसरा पुरुष भी उसका वक्ता होता है। इसलिए आख्यायिका में नायक स्वयं वक्ता होता है और कथा में दूसरा—दोनों विधाओं का यह लक्षण-भेद समीचीन नहीं है, क्योंकि न तो यह लक्षण दोनों में अलग-अलग पालन किया जाता है और न वक्ता के भेद से उनमें कोई विलक्षणता ही उत्पन्न होती है।[1]

(२) आख्यायिका में वक्त्र, अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है।

किन्तु छन्द के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है। कथा में जैसे आर्या आदि छन्दों का प्रयोग होता है वैसे ही वक्त्र, अपरवत्र का भी हो सकता है, उससे कथा के स्वरूप की कोई हानि नहीं होगी।[2]

(३) इसी प्रकार कथा के परिच्छेद लम्भ, लुम्बक नाम से रखे जाते हैं और आख्यायिका के उच्छ्वास नाम से। लेकिन परिच्छेद की संज्ञा लम्भ हो या उच्छवास, इससे विषय या स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[3] केवल नामभेद है।

(४) तथा कुछ विद्वान् कन्या-हरण, संग्राम, विप्रलम्भ, कुमारोदय आदि

---

१. काव्यादर्श १।२४-२५

इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल।।
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः।।
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेद-कारणम्।।

२. वही, १।२६-२७

वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्च प्रसंगेन कथास्वपि।
आर्यादिवत् प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।।

३. वही, १।२७

भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः।।

के वर्णनों को केवल आख्यायिका का ही वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं, कथा का नहीं।

किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि ये विशेषताएँ सर्गबन्ध महाकाव्य में भी निबद्ध की जाती हैं, केवल आख्यायिका के लिए रूढ नहीं है। तब प्रबन्धगत सामान्य धर्म होने पर कथा में भी उनका प्रयोग हो ही सकता है। ये वैशिष्ट्य आख्यायिका को कथा से अलग नहीं करते।[1]

(५) अन्यत्र कथा में कवि अपने अभिप्राय-गर्भित चिह्नों का प्रयोग करते हैं, अभिप्राय-गर्भित चिह्नों से तात्पर्य ऐसे शब्दों के प्रयोग से है जो रचना में यत्र-तत्र विशेषतः आरम्भ में कवि इसलिए करता है कि जिससे यह प्रमाणित होता रहे—अमुक शब्द-प्रयोग अमुक कवि के कथा-प्रबन्ध के अभिज्ञान हैं अतः यह उस कवि की कृति है।

किन्तु अपनी इष्ट कृति के संपादन के लिए विद्वान् कवि जिस किसी प्रकार से रचना का प्रारम्भ कर सकते हैं, केवल कथा में ही नहीं आख्यायिका और महाकाव्य में भी उसके प्रयोग होते हैं। यह वैशिष्ट्य कथा का आख्यायिका से कोई भेदक नहीं हुआ।[2] दण्डी के सामने ऐसी कथा-कृतियाँ रही होंगी, जिसमें कवि ने अपने विशेष शब्द-प्रयोग रचना में अपने कृतित्व-अभिज्ञान के लिए किये होंगे, मुद्रा (मुहर) की भाँति। पर आज वे हमारे सामने नहीं हैं। उनके अनुकरण पर भारवि तथा माघ ने अपने किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपनी कृतित्व-मुद्रा के रूप में क्रमशः श्री, लक्ष्मी शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा ही कथा में भी होता रहा होगा, आख्यायिका में नहीं था। दण्डी का मत है कि वह आख्यायिका में भी किया जा सकता है, जैसे कथा के अतिरिक्त अन्य प्रबन्धों में होता है।

इसलिए कथा और आख्यायिका काव्य की एक ही जाति (विधा) हैं, केवल उसकी संज्ञाएँ दो हैं। और जैसे सर्गबन्ध महाकाव्य में काव्य की अन्य छोटी विधाएँ अन्तर्भूत रहती हैं वैसे ही आख्यान के अन्य भेद—खण्डकथा, सकलकथा, परिकथा,

---

१. काव्यादर्श, १।२९

कन्याहरण-संग्राम-विप्रलम्भोदयादयः ।
सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः ॥

२. वही, १।३०

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति ।
मुखमिष्टार्थसंसिद्धौ किं हि न स्यात् कृतात्मनाम् ॥

आख्यान, निदर्शन, प्रवाह्लिका आदि—भी कथा और आख्यायिका में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।'[1]

दण्डी के कथा-आख्यायिका—विषयक उक्त निरूपण के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष ये हैं—

(१) कथा दण्डी की अधिक अभिमत विधा है। उन्होंने आख्यायिका का पूर्वपक्ष की भाँति पहले निरूपण कर बाद में कथा में उत्तरपक्ष की भाँति आख्यायिका के लक्षणों की उपस्थिति बता कर दोनों की एकता स्थापित की है और आख्यायिका को कथा से भिन्न नहीं माना है। तथा निष्कर्ष प्रकट करते हुए कहा है—**तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।** इस कथन में कथा का पहले उल्लेख उसके प्रति अभिमत का संकेत है। इसके अतिरिक्त दण्डी और भामह दोनों के उल्लेख से प्रकट होता है कि उनके समय में कथा की रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सभी भाषाओं में होती थी और आख्यायिका केवल संस्कृत में लिखी जाती थी।[2] आख्यायिका का केवल संस्कृत में लिखे जाने का कारण उसका राजचरित से सम्बद्ध होना था। इसलिए स्वभावतः आख्यायिका लिखनेवाले का सम्मान राजसभा में होता था और कथा लिखनेवाले लोक में आदृत होते थे। परन्तु इस कोटि की पहली विधा कथा ही थी, उसी के अनुकरण पर इतिहास या राजचरित को लेकर आख्यायिकाओं की रचना का आरम्भ हुआ, जैसे पुराण के राजचरितों को लेकर महाकाव्य का प्रणयन किया गया। राज्याश्रित विद्वानों का स्वभावतः पक्षपात आख्यायिका के प्रति रहा होगा और वे कथा से उसे भिन्न मान कर उसके लिए विशेष नियमों और रुढ़ियों को अपेक्षित बताने लगे होंगे जो दण्डी को अच्छा नहीं लग रहा था, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मनोहारी लोक-काव्यों की ओर रही है। उन्होंने संस्कृत के किसी काव्य या कथा का नामतः उल्लेख अपने काव्यादर्श में नहीं किया है किन्तु प्राकृत एवं भूतभाषा की कृतियों—'सेतुबन्ध' एवं 'बृहत्कथा' का उल्लेख आदर के साथ करते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने उक्त निरूपण में

---

१. काव्यादर्श १।२८

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥

२. काव्यादर्श १।३८

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते।

काव्यालंकार (भामह) १।२८

संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तथा॥

कथा को ऊँचा उठाने के लिए आख्यायिका के लक्षणों के साथ उसकी अभेद स्थापना की है।

(२) कथा और आख्यायिका के मूल प्रेरक स्रोत पुराण और इतिहास हैं। जैसे इतिहास से पुराण की प्राथमिकता है, उसी प्रकार आख्यायिका से कथा की प्राथमिकता भी मानी जानी चाहिए। **भूतार्थशंसी** वक्ता नायक द्वारा अपने गुणों और अपनी जीवन-घटनाओं के वर्णन की परम्परा पुराण और इतिहास से ही ग्रहण की गयी है। पुराणों में, विशेषतः महाभारत में वक्ताओं की लम्बी परम्परा का उल्लेख मिलता है, उन्होंने किस प्रकार कहाँ-कहाँ पहुँचकर कैसे दूसरे वक्ता से उसे सुना और ग्रहण किया, और फिर कहाँ जाकर किस सत्र की सभा में स्वयं सुनाया, इसकी चर्चा उनके पीछे आनेवाला वक्ता करता है। सामान्य रूप से अपने को वक्ता मान कर स्वयं अपनी कहानी कहने का सूत्रपात यज्ञ-सभा में जनमेजय को जयकाव्य सुनानेवाले वैशम्पायन ने किया। इतिहास में घटी हुई घटनाएँ ही ऐसे वक्ता कहा करते थे, कपोलकल्पित नहीं, या जो सुने रहते थे उसे कहते थे, उसी अर्थ में दण्डी ने उन्हें भूतार्थशंसी कहा है।

(३) दण्डी के सामने आख्यायिका का महत्त्व आ ही रहा था लेकिन कदाचित् उसी समय महाकाव्य की विधा में उस राजचरित को वैसी ही और अधिक अलंकृत शैली से प्रस्तुत होने के कारण उसे वह महत्त्व न मिल सका। यदि महाकाव्य की ऊँची प्रतिष्ठा स्थापित न हो गयी होती और पद्यात्मक काव्य कवि की साधना का चरम उत्कर्ष न स्वीकार कर लिया गया होता तो इतना निश्चित था कि आख्यायिका काव्य की सर्वश्रेष्ठ विधा स्वीकार की गयी होती।

(४) कथा के प्रति अपना आग्रह दिखा कर दण्डी ने लोक-काव्य को प्रोत्साहन देने का सराहनीय कार्य किया है, नहीं तो पिछले महाकाव्य जिस प्रकार राजचरितों के गुण वर्णन में निष्प्राण होते गये, कथा और उसकी समानान्तर विधा आख्यायिका की भी वही दशा होती। लोक-काव्य मूलतः प्रणय की सीमाओं में पल्लवित और कुसुमित होता है, महाकाव्यों के राजचरितों से आक्रान्त हो जाने पर उसके निष्प्राण होने के साथ उसके इसी कलेवर में प्रणय का लोक-काव्य किस प्रकार आ गया और अत्यन्त प्रथित हुआ, यह हम जयदेव के 'गीतगोविन्द' से समझते हैं। कालिदास का 'मेघदूत' भी लोक-कथा का ही काव्य है। 'मेघदूत' से 'गीत गोविन्द' तक लम्बी अवधि को हम समीक्षात्मक दृष्टि से देखें तो यह तथ्य सामने आता है कि महाकाव्य के उदयकाल की लोक की प्रणयात्मक काव्य-रचना 'मेघदूत' है और 'गीतगोविन्द' महाकाव्य के ह्रास-काल का प्रणयात्मक लोक-काव्य। 'मेघ-

दूत' लोक-काव्य के मूल कलेवर में है और 'गीतगोविन्द' ने ढहते हुए महाकाव्य का स्थान ले लिया है।

(५) दण्डी का कथा के प्रति जो आग्रह हुआ, स्यात् उसका उलटा प्रभाव पड़ा। आख्यायिका की विधा के प्रति विद्वानों का आदर बढ़ रहा था, लोक-भूमि से पल्लवित काव्य-विधाएँ अपना अस्तित्व अलग स्थापित कर रही थीं। अतः दण्डी की अभेद स्थापना के विपरीत भामह ने आख्यायिका के स्वरूप को कथा से अधिक भिन्न प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कथा को बहुत संकुचित कर दिया, उसके सम्बन्ध में केवल तीन बातें बतायीं--(क) इसमें न वक्त्र-अपरवक्त्र छन्द होते हैं, न उच्छ्वास होते हैं। (ख) संस्कृत, अपभ्रंश--संस्कृत से अतिरिक्त सभी भाषाओं में यह लिखी जाती है (ग) इसका चरित दूसरों द्वारा कहा जाता है, नायक से नहीं, कुलीन व्यक्ति अपना गुण स्वयं कैहे कहेगा?[1] जब कि उनकी आख्यायिका में नायक ही अपना चरित स्वयं कहता है। यही नहीं आख्यायिका के लिए उन्होंने दण्डी से आगे बढ़कर उन विशेषताओं को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया, जो महाकाव्य में होती थीं--मनोहारी सुनने योग्य शब्द-अर्थ एवं पद-वृत्ति (समास) तथा उदात्त विषय।

दण्डी का कथा के प्रति आग्रह केवल इस लक्ष्य से था कि कहीं आख्यायिका के सामने कथा की विधा को निरस्त न कर दिया जाय, भामह आख्यायिका को ऊँचे उठाना चाहते थे, वे कथा से उसकी अलग प्रतिष्ठा के पक्ष में थे। हमारा अनुमान है कि दोनों आचार्यों के प्रयास का प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ा। अर्थात् आख्यायिका की विधा अलग ही प्रतिष्ठित की गयी तथा कथा का महत्व अधिक ऊँचे उठा। बाणभट्ट की दोनों विधा की रचनाएँ--हर्षचरित तथा कादम्बरी इसका प्रमाण हैं।

गद्य-पद्य की मिश्रित विधा

गद्य-पद्य का जिनमें एक साथ प्रयोग होता था, काव्य की ऐसी मिश्र-विधा नाटक और चम्पू थे। नाटक की व्याख्या इस काव्य-लक्षण में सम्मिलित नहीं थी। दण्डी ने 'नाटकों का विस्तृत व्याख्यान इस काव्यलक्षण से अन्यत्र है' कह कर केवल उसकी चर्चा की है। हाँ, चम्पू काव्य इस लक्षण की सीमा में था पर उसके विषय में उन्होंने इतना ही कहा है--'गद्य-पद्य दोनों की सम्मिलित विधा से मिश्रित कोई रचना चम्पू काव्य कही जाती है।' गद्य-पद्य का वह मिश्रण किस प्रकार,

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।२८, २९; २.

किस अनुपात से होता रहा होगा, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश उन्होंने नहीं दिया है, उनके सामने कदाचित्—चम्पू काव्यों का उदय हो रहा था। किन्तु 'चम्पू' संज्ञा के जनक या काव्य-शास्त्र में इसका प्रथम उल्लेख करनेवाले स्यात् दण्डी ही थे, ध्वन्यालोक-लोचन में अभिनव गुप्त ने 'चम्पू' के संबंध में दण्डी की ही परिभाषा उद्धृत की है।[1]

प्रेक्षार्थ और श्रव्य काव्य

प्रेक्षार्थ काव्य से यहाँ नाटक का ग्रहण नहीं है। नाटक के सम्बन्ध में दण्डी ने पहले ही कह दिया है कि उसका विस्तार अन्यत्र है, वह मिश्र काव्य के भेद के अन्तर्गत है—'मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।' प्रेक्षार्थ काव्य से यद्यपि दृश्य का ही बोध होता है तथापि प्रेक्षार्थ और नाटक की विधा में अन्तर था। प्रेक्षार्थ नाटक में या रंगमंच पर गाया जानेवाला काव्य था। इसका ठीक नामकरण आगे चलकर राग काव्य या गेय काव्य संज्ञा में हुआ।

दण्डी ने प्रेक्षार्थ काव्य के लास्य, छलित और शम्पा तीन भेदों का उल्लेख किया है।[2] इनको प्रेक्षार्थ कहकर शेष सभी को श्रव्य काव्य बताया है और इस प्रकार काव्य के आस्वादन या ग्रहण की दृष्टि से उसके ये दो प्रकार हैं। भामह ने प्रेक्षार्थ को अभिनेयार्थ संज्ञा दी है और उसके अन्तर्गत नाटक को भी लिया है। उनके समय तक इस विधा का और भी विकास हो गया था, उन्होंने नाटक के अतिरिक्त इस विधा के चार भेदों का उल्लेख किया है—द्विपदी, शम्या, रासक, स्कन्धक। प्रेक्षार्थ काव्य के ये निखरे हुए प्रकार थे, दण्डी के प्रकार केवल प्रयोग के संकेत हैं, जिनमें पुरुष द्वारा, स्त्री द्वारा या रंगान्तर्गत प्रयोग किये जाने की दृष्टि से उनका विभाग किया गया है। ये प्रेक्षार्थ काव्य आज के गीति-नाट्य जैसे प्रबन्ध होते रहेंगे, जिनको अभिनय और भाव के प्रदर्शन के साथ रंगमंच पर गा कर सुनाया जाता था। जिनमें पात्र थोड़े—एक-दो ही होते रहे होंगे, और वे रंग-मंच पर अपने-अपने पक्ष की कथावस्तु गाते होंगे। वस्तुतः यह लोक-काव्य की ठेठ विधा थी, जयदेव के 'गीत-गोविन्द' को इसी विधा के अन्तर्गत माना जाना चाहिए, जिसमें स्त्री-प्रयुक्त लास्य, पुरुष-प्रयुक्त छलित और वाद्य के साथ रंगान्तर (कथा-वर्णन) में प्रयुक्त शम्पा—तीनों प्रकारों का प्रयोग हुआ है।

अभिनव गुप्त ने 'अभिनव भारती' में राग काव्य के डोम्बिका आदि भेदों की

---

१. ध्वन्यालोक-लोचन ३।७, यथाह दण्डी—'गद्यपद्यमयी चम्पूः' इति।
२. काव्यादर्श १।३९

चर्चा की है। इन रागकाव्यों को नाट्य स्वीकार किया है और पुनः नृत्यप्रकारों का व्याख्यान करते हुए ऐसे नृत्त-विभाग, जो गीतों के आदि में प्रयुक्त होते हैं, जिनका प्रवर्तन गीत-प्रयोग का आश्रयण लेकर होना चाहिए, (**ये गीतकादौ युज्यन्ते सम्यङ्नृत्तविभागकाः। देवेन चापि सम्प्रोक्तस्तण्डुस्ताण्डवपूर्वकम्। गीतप्रयोगमाश्रित्य नृत्तमेतत्प्रवर्त्यताम्।** ना. शा. ४।२६७-८) उनका सामंजस्य रागकाव्य के साथ स्थापित किया है और उनको नाट्यांग माना है। यह नयी व्यवस्था अभिनव गुप्त की थी––'कला-विधि से निबन्धन किया गया ऐसा नृत्तप्रकार 'राघवविजय', 'मारीचवध' आदि जैसे रागकाव्य के भेद को प्रस्तुत करता है। अभिनव गुप्त के पूर्ववर्ती कोहल ने लय-ताल के प्रयोग और रागों से गुम्फित, नानारसों से सुघटित कथावाले ऐसे प्रबन्धों को काव्य कहा है। जैसे 'राघवविजय' में विचित्र कथावस्तु के होते हुए भी ठक्कराग से ही उसका निर्वाह होता है और 'मारीचवध' का कुभग्राम राग से। इसलिए ये रागकाव्य कहे जाते हैं।.. इस प्रकार नृत्त के इन सात प्रकारों का विस्तार भगवान् (शिव) से ही हुआ है। उनमें (१) रेचक, अंगहार विधिवाले शुद्ध नृत्त हैं, और (२) गीतक आदि अभिनयोन्मुख नाट्य हैं। गीतकादि के भी दो प्रकार हैं––(१) केवल गान-क्रिया का अनुसरण करनेवाले (शुद्ध रागकाव्य) और (२) वाद्यताल के साथ गान-क्रिया का अनुसरण करने वाले।"[1]

---

१. अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र ४।२६१, २६७, २६८, २६९)

डोम्बिकाप्रस्थान - विद्गकभाणकभाणिका––रागकाव्यादेर्दशरूपकलक्षणेनासंग्रहान्नाट्याद्भेद इति चेत्। तदैकान्तिकम्। तोटक-प्रकरणिका-रासकप्रभृतेस्तदसंगृहीतस्यापि नाट्यरूपत्वात्।...अथोच्यते (राघवविजयादि) रागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव। अभिनययोगात्। यत्त्वभिनयादिशून्यं केवलं वलनावर्तनाभ्रक्षेपताराचलनचरणधारणकम्पस्फुरितकटिच्छेद-रेचकादि तदस्माकं नृत्तं भविष्यति।...अधुना नृत्तप्रधानरागकाव्यादिविषयः काव्यं च नाट्यांगमिति दर्शयन् पुराकल्पच्छायया प्रकारान्तरमपि नृत्तस्य समर्थयितुमाह देवेनेत्यादि।...एष एव तु प्रकारः कलाविधिना निबध्यमानो राघवविजय-मारीचवधादिकं रागकाव्यभेदमुद्भावयतीति। यथोक्तं कोहलेन––("लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।) नानारसं सुनिर्वाह्य कथं काव्यमिति स्मृतम्॥ एवमिदं च नृत्तं सप्तकृतिप्रकारैर्भगवत एव प्रसृतम्। तथाहि––शुद्धमेव नृत्तं रेचकांग-हारात्मकम्। ततो गीतकाद्यभिनयोन्मुखम्। ततोऽपि गानक्रियामात्रानुसारि वाद्यतालानुसारि च।

दण्डी ने जब इनका उल्लेख किया था तब ये लोकभूमि से शास्त्र-विवेचन की कसौटी पर प्रवेश कर रहे थे, नाट्य होकर भी वे काव्य ही थे। उनमें गद्य का प्रयोग नहीं होता था, सम्भवतः इसीलिए उनके विशुद्ध काव्यत्व को लक्ष्य कर दण्डी ने प्रेक्षार्थ काव्य के रूप में चर्चा की है। इन पर शताब्दियों तक विवाद होता रहा होगा, कि ये कौन-सी विधा हैं, नाट्य या काव्य। तब अभिनवभारती में इन राग-काव्यों को नृत्त के साथ अन्वित कर नाट्य के अन्तर्गत स्वीकार किये जाने की बात कही गयी।

हेमचन्द्र ने इन राग-काव्यों को नाट्य विधा के अन्तर्गत रखते हुए भी इनकी मूलप्रकृति के अनुसार इनको गेय नाट्य कहा है, वे कहते हैं––'प्रेक्ष्यं पाठ्यं गेयं च।' अर्थात् दृश्य काव्य पाठ्य और गेय दो प्रकार का होता है––पाठ्य अर्थात कथोपकथन-युक्त नाटक, प्रकरण, समवकार आदि। गेय अर्थात् डोम्बिका, भाण, संप्रस्थान, शिंग, रासक, गोष्ठी, श्रीगदित रागकाव्य।[1] इस प्रकार जिसमें गद्यात्मक संवाद होते थे वह पाठ्य दृश्यकाव्य था और जिस दृश्यकाव्य की कथावस्तु गेय पदों में निबद्ध होती थी वह गेय नाट्य अथवा रागकाव्य था। आजकल के नाटक और गीतिनाट्य जैसे ही ये भेद थे। दण्डी ने जिस रूप में प्रेक्षार्थ काव्य की चर्चा की है, हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य काव्य का गेय भेद कर उसी को स्पष्ट कर दिया है।

भाषामय काव्य-शरीर (वे भाषाएँ, जिनमें काव्य लिखे जाते थे)

भाषामय काव्य शरीर की व्याख्या करते हुए दण्डी ने कहा है कि पुनः इस वाङमय को आर्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मिश्र––इन भाषाओं के भेद से चार प्रकार का बताया है।[2] यहाँ मिश्र से उनका तात्पर्य क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। कदाचित् ऐसी काव्य-रचना जिसमें उक्त तीन भाषाओं का मिश्रण होता रहा हो, भाषा की दृष्टि से मिश्र काव्य था। दण्डी के बाद का जो भाषा-काव्य है उसमें एक ही छन्द के चार चरण भिन्न-भिन्न भाषाओं के होते थे अथवा एक ही प्रबन्ध में भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग होता था। दण्डी ने भूतभाषा और उसके अद्-

---

१. काव्यानुशासन, अध्याय ८, पृ० ३१७, ३२७

प्रेक्ष्यं पाठ्यं गेयं च। पाठ्यं नाटकप्रकरणनाटिकासमवकारेहामृगडिम व्यायोगोत्सृष्टिकांकप्रहसनभाण-बीथी-सट्टकादि।

गेयं डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-शिंगभाणिका - प्रेंखरामाक्रीडहल्लीसक-रासक-गोष्ठी-श्रीगदित-रागकाव्यादि।

२. काव्यादर्श १।३२

भुत प्रबन्ध बृहत्कथा की भी चर्चा की है।[1] लेकिन भेदों का प्रकार बताते समय 'मिश्र भाषा' का नाम लेकर भी भूतभाषा का नाम नहीं लिया है। संभवतः दण्डी के सामने भूतभाषा की काव्य-रचना का विदग्धजनों में बहुत आदर नहीं था। वैसे भूतभाषा (पैशाची) में काव्य लिखने की परम्परा आगे बढ़ती रही और उसका उल्लेख रुद्रट, भोज, विश्वनाथ ने भी किया है। यह भी हो सकता है कि बृहत्कथा जैसा अद्भुत प्रबन्ध लिखे जाने के विपरीत भी उस भाषा में काव्य लिखने की ओर कवि उन्मुख नहीं हुए थे। इसलिए दण्डी ने काव्य-भाषाओं के साथ इसकी गणना नहीं की। पैशाची भाषा विन्ध्याचल पहाड़ में मध्यदेश की भाषा थी।[2] इसी कारण औदीच्य आचार्यों का इसके प्रति आदर बहुत बाद में हुआ।

प्रोफेसर कीथ ने पैशाची के सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख किया है—१. डाक्टर ग्रियर्सन पैशाची का सम्बन्ध अशोक के अभिलेखों की उत्तरी-पश्चिमी भाषा से और आधुनिक उत्तरी-पश्चिमी भाषाओं से सम्भावित मानते हैं। २. कोनो (konow) का मत है कि पैशाची का सम्बन्ध पालि से है। पैशाची में ल् और ळ् दोनों पाये जाते हैं। तथा आनुनासिक व्यंजनों में केवल न्। ये लक्षण आधुनिक मालवी में सुरक्षित हैं। पैशाची में सघोष व्यंजनों का अघोषी भाव द्राविड़ भाषा का प्रभाव है। अतः भारतीय परम्परा के अनुसार पैशाची का स्थान विन्ध्यप्रदेश है।[3] डा० बाबूराम सक्सेना ने पैशाची को दरद (पिशाच) जाति की भाषा स्वीकार किया है जिनका स्थान पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच पड़ता है, जहाँ से यह जाति बाद में अपनी भाषा के साथ पूरब की ओर फैली।[4]

भामह ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन ही भाषाओं का उल्लेख किया है।[5] संस्कृत, प्राकृत आरम्भ से ही काव्य-भाषा के रूप में सम्पूर्ण देश में आदृत थीं। उनके अतिरिक्त भाषाएँ अपभ्रंश मान ली जातीं थीं। भामह का उल्लेख

---

१. काव्यादर्श १।३८

२. काव्यमीमांसा, पृ० १२४

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्येमध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रो० कीथ) पृ० ३८

४. सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० ३४९-३५०

५. काव्यालंकार (भामह) १।१६

कुछ इस दृष्टिकोण से है। दूसरी बात यह है कि अनेक भाषाएँ और उनमें काव्य-रचना की प्रवृत्ति मध्यदेश की स्थिति थी, औदीच्य कश्मीर में इस व्यापकता के पहुँचते देर लगी। मध्यदेश के कवियों की एक विशेष प्रवृत्ति मिश्रित-भाषाओं में काव्य-रचना की थी, दण्डी ने मिश्र भाषा का केवल नाम लिया है, किन्तु मध्यदेश के आचार्य भोज और विश्वनाथ ने उसकी चर्चा विस्तार से की है। काव्यचर्चा के विकास काल में दण्डी और भामह के ये उल्लेख, विशेषतः दण्डी के निर्देश उनकी यथार्थ स्थिति और ऐतिहासिक गति के बोधक हैं। दण्डी ने भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी विशेष प्रवृत्तियों को बताया है—महाराष्ट्री बहुत उत्कृष्ट प्राकृत है, उसमें 'सेतुबन्ध' जैसे काव्य की रचना हुई है। शौरसेनी, लाटी, गौडी आदि भाषाएँ प्राकृत के अन्तर्गत आती हैं, आभीरों की वाणी अपभ्रंश है। शास्त्रों में संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाओं को अपभ्रंश कहा जाता है। प्राकृत प्रबन्धों के परिच्छेदों की संज्ञा स्कन्ध होती है। लेकिन कथा की मूलभूमि संस्कृतेतर लोकभाषा है, क्योंकि अद्‌भुत प्रबन्धवाली बृहत्कथा भूतभाषा में ही है।[१]

आचार्य द्वारा भाषाओं का यह उल्लेख बड़े महत्त्व का है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य दण्डी में काव्य के आकलन की दृष्टि कितनी व्यापक थी। उत्तम काव्य किसी भाषा का हो, सहृदयों को ग्राह्य होता था। दूसरा तथ्य यह भी प्रकट होता है कि काव्य ने सचमुच लोक-भाषा में जन्म ही लिया था, वहीं से लोक की मिट्टी में खेलते-कूदते अपने मनोहारी स्वरूप के कारण वह विदग्ध-गोष्ठियों तथा राजसभाओं में पहुँचकर संस्कृत भाषा का जटिल परिधान पहनने के लिए बाध्य हुआ। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य सभी भाषाओं में समय के साथ काव्य-रचना की प्रवृत्ति समान रूप से बढ़ती रही है।

रुद्रट ने काव्य की भाषा के छह भेद बताये हैं—प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शूरसेनी, अपभ्रंश।[२] काव्यचर्चा को अत्यन्त शास्त्रीय कोटि में लानेवाले मम्मट ने भाषाओं के काव्य-भेद की चर्चा नहीं की है। दण्डी ने स्वतः कहा है—शास्त्र में संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं।

भोज (११वीं पूर्वार्ध शती ई०) के समय तक देश-भाषाओं में भी उत्तम काव्य लिखे जाने लगे थे। भोज के काव्य-निरूपण की दृष्टि तो व्यापक रही है, अतः उन्होंने नौ भाषाओं का उल्लेख भाषा के औचित्य प्रयोग से जाति-शब्दालंकार

---

१. काव्यादर्श, १।३४-३८
२. काव्यालंकार (रुद्रट) २।१२

की स्थिति में किया है—संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, मागधी, शौरसेनी, अपभ्रंश, देशभाषा, लटभ (गुर्जर), म्लेच्छ।[1] अलग-अलग अर्थों की उत्कृष्टता के हेतु तदुपयुक्त भाषा का प्रयोग अधिक सहायक बनता था।[2] भौगोलिक स्थिति के अनुसार संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी जिसमें काव्य-रचना और काव्य-पाठ भारत के किसी भी कोने के कवि की भाषा-प्रकृति के अनुकूल पड़ता था, उसके बाद उतनी व्यापकता प्राकृत की थी, अन्य भाषाएँ आंचलिक थीं। प्राकृत भी गौड देश के कवियों के अनुकूल नहीं थी।[3] नौ भाषाओं का नाम लेकर भी भोज ने श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रयुक्त केवल छह भाषाएँ ही मानी हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, भूतभाषा, मागधी और शौरसेनी।[4] रुद्रट ने भी इन्हीं भाषाओं को स्वीकृति दी है। मागधी और शौरसेनी प्राकृत के ही भेद हैं। दण्डी ने इन्हें गौडी और शौरसेनी कहा है। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो दण्डी के और इनके भाषा-भेद में तो बहुत अन्तर नहीं पड़ा है, हाँ सात सौ वर्षों की लम्बी अवधी में उनमें पर्याप्त विकास अवश्य हो गया है, जो भाषाएँ केवल प्राकृत का भेद मानी जाती थीं, अब वे स्वतन्त्र भाषा बन गयी थीं।

भोज ने पुनः मिश्रित भाषाओं में काव्य-रचना को लक्ष्य कर जाति-अलंकार के छह प्रकार बताये हैं।[5] दण्डी के मिश्रभाषा का ही यह विकास और विस्तार

---

१. सरस्वती कण्ठाभरण २।६-१७

२. वही, २।१०

संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव वापरः।
शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥

३. वही, २।१४

ब्रह्मन विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकाराजिहासया।
गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती॥

४. वही, ।१६

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विदग्धानामिष्टे मगध - मधुरावासिभणिति-
र्निबद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते।

५. वही, २।१७

शुद्धा साधारणी मिश्रा संकीर्णा नान्यगामिनी।
अपभ्रष्टेति साचार्यैर्जातिः षोढा निगद्यते॥

है। उन छह प्रकारों में तीन प्रकार भाषा के मिश्रित रूप थे—मिश्रा, संकीर्णा, साधारणी। और तीन प्रकार ऐसे थे जिनमें भाषा दूसरी भाषा से मिश्रित नहीं होती थी—शुद्धा (कवि की एक संस्कार की भाषा), नान्यगामिनी (जिस भाषा में दूसरी भाषा का संपर्क सहन न हो), अपभ्रष्टा (ऐसी भाषा जो संस्कार भेद या अपनी प्रकृति से दूसरी भाषा के साथ मिल न सकती हो)। भाषाओं का ऐसा मिश्रण संस्कृत, प्राकृत और उसके भेदों —अपभ्रंश और भूतभाषा में होता रहा होगा। संस्कृत—प्राकृत और अपभ्रंश-भूतभाषा परस्पर नान्यगामिनी और अपभ्रष्टा रही होंगी।

विश्वनाथ ने सोलह भाषाओं में काव्य-रचना का उल्लेख किया है। विविध भाषाओं में एक ही साथ ऐसी लिखी रचनाओं को करम्भक कहते थे, करम्भक की भाषा और दण्डी एवं भोज की मिश्र-भाषा में भेद है। करम्भक ऐसा प्रवन्ध होता था जिसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखे छन्द एक विषय के वर्णन में आते थे। मिश्र-भाषा तो वहाँ होती थी जहाँ एक ही छन्द में दो भाषाओं का प्रयोग होता था। दण्डी और भोज की मिश्र-भाषा का परिमार्जित रूप विश्वनाथ के करम्भक में आया है। करम्भक के रूप में उन्होंने अपनी कृति षोडसभाषामयी 'प्रशस्ति-रत्नावली' का उल्लेख किया है।[1] मिश्र-भाषा में काव्य-रचना का चरम उत्कर्ष भाषासम अलंकार में, जिसमें एक ही पद्य अपनी पद-रचना में कई भाषाओं में एक समान होता है, तथा दो भाषाओं के श्लेष अलंकार में हुआ।[2]

---

१. साहित्यदर्पण ६।३३७

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम्॥
यथा मम-षोडशभाषामयी 'प्रशस्ति रत्नावली'।

२. वही, १०।१०

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते॥

विश्वनाथ ने इनका उदाहरण स्वयं-रचित दिया है—

मञ्जुलमणिमंजीरे कल-गम्भीरे विहार सरसीतीरे।
विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे॥

उनका यह उदाहरण संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्यावन्ती, नागरापभ्रंश भाषाओं में एक साथ एक समान पद-रचना है।

इसी प्रकार (साहित्यदर्पण १०।११-१२) श्लेष-अलंकार के प्रसंग में उन्होंने संस्कृत और महाराष्ट्री भाषाओं का श्लेष भी उद्धृत किया है।

राजसभाओं में सभी भाषाओं के कवियों का समादर होता था, कम से कम राजशेखर के समय दशवीं शताब्दी तक तो ऐसी परम्परा अवश्य थी। उन्होंने काव्यमीमांसा में राजा को काव्यगोष्ठी प्रवर्तन करने का जो लम्बा विधान बताया है उसमें अन्य विधानों के साथ सभी भाषा के कवियों को बैठने के उचित स्थानों का भी निर्देश किया है—सभा-मंडप के बीच रत्नजटित वेदी पर राजा का आसन हो। राजा के आसन के उत्तर की ओर संस्कृत के कवि बैठें। जो कवि अनेक भाषाओं की काव्य-रचना में प्रवीण हों, वे इच्छानुसार जहाँ चाहें बैठ सकते हैं।........ आसन के पूर्व की ओर प्राकृत भाषा के कवि विराजमान हों......पश्चिम की ओर अपभ्रंश के कवि बैठें। .....दक्षिण की ओर भूतभाषा के कवि बैठें।[1]

संस्कृत से लेकर देशभाषा तक के कवि और काव्य लोक और शास्त्र दोनों की दृष्टि में एक समान आदृत हो रहे थे। प्राकृत तथा देशभाषाओं के बिना काव्य-जगत् की पूर्णता भावकों की दृष्टि में ही न थी। इसका समर्थन स्वयंभू (८ वीं शती ईस्वी) के कथन से भली प्रकार हो जाता है, जिसमें वह लोकप्रिय रामकथा-रूपी सरिता में देशभाषाओं को उज्ज्वल तट तथा संस्कृत-प्राकृत को पुलिन कहता है।[2]

किन्तु लोकभाषाओं में कवियों की अच्छी क्षमता तथा उत्तम काव्य-रचना के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि संस्कृत भाषा के शास्त्रज्ञों ने ही, जिनको प्रत्येक विषय को शास्त्रीय पद्धति से सोचने का व्यसन था, सर्व प्रथम उन समर्थ कवियों और उनके काव्यों को शास्त्रीय रीति से समझने का पवित्र कार्य सम्पादित किया एवं लोक-वाणी से उद्भूत काव्य को लक्षण-परीक्षण द्वारा व्यापक बनाया।



---

१. काव्यमीमांसा, पृ० १३२-१३३
२. हिन्दी काव्य-धारा, पृ० २६

दीह समास पवाहा बंकिय।
सक्कंय पायय-पुलिणालंकिय॥
देसी भाषा उभय तडुज्जल।
कवि दुक्कर घण - सद्द-सिलायल॥

उन्मेष पाँच | काव्यशास्त्र का प्रयोजन और काव्यसम्पद् के कारण

गुणों की व्याख्या के बाद काव्य-सम्पद् के कारणों की ओर दण्डी ने निर्देश किया है---सहजात प्रतिभा, अनेक शास्त्रों का साधिकार ज्ञान और काव्य-रचना में निरन्तर अभ्यास---ये तीन बातें समस्त लक्षणों से युक्त काव्य के निर्माण में कारण होती हैं।[१] इन कारणों में सहजात प्रतिभा जो प्राक्तन संस्कार के कारण जन्म के साथ ही व्यक्ति को मिलती है, काव्य का स्वाभाविक हेतु है। किन्तु उसके अभाव में भी दण्डी ने काव्य के कृतित्व की स्थिति बतलायी है, उनका कहना है---यदि काव्य की अद्भुत सहजात प्रतिभा न हो तो भी काव्य और काव्यशास्त्र आदि का अनुशीलन एवं काव्य-निर्माण में निरन्तर प्रयत्न ऐसी साधना है जिससे वाणी प्रसन्न होती है और काव्य-रचना की शक्ति आ ही जाती है। इस प्रकार अगर अद्भुत काव्य लिखने की क्षमता न आयी तो भी उक्त प्रकार से विदग्ध-गोष्ठियों में पढ़ने योग्य काव्य लिख ही लिया जाता है।[२]

दण्डी ने कवि-प्रतिभा के विवेचन का जो यह प्रसंग उठाया उससे दो प्रश्न उठते हैं---

(१) ये काव्य लक्षण क्या कवियों के लिए लिखे जाते थे ?

(२) क्या कवि-प्रतिभा का विवेचन भी काव्यशास्त्र का एक विभाग है ?

काव्य-शास्त्र का प्रयोजन

दोनों प्रश्नों का उत्तर हाँ में ही दिया जाना चाहिए। दण्डी का काव्यादर्श

---

१. काव्यादर्श १।१०३

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

२. वही, १।१०४, १०५

तो निश्चय ही कवियों के लिए है। दूसरे और तीसरे परिच्छेद के अन्त में अपने शास्त्र-विवेचन का उपसंहार करते हुए दण्डी ने कवि के अभ्यास द्वारा इसका विस्तार तथा युवा के जैसे कवि के साथ वाणी का अभिसरण—दो महान् फलों की चर्चा की है।[1] आचार्य भामह ने भी अभ्यास द्वारा असंगृहीत अलंकारों को उद्भासित करने का संकेत किया है।[2] और आचार्य वामन ने काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ग्रन्थ का उपक्रम करते हुए उसका अधिकारी कवि को कहा है तथा उसके दो भेद बताये हैं।[3] अर्थात् इन तीनों आचार्यों के मत में उनके काव्यशास्त्र का उपयोग कवि के लिए है। लेकिन यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि दण्डी की कवि-संज्ञा व्यापक अर्थ में है। विदग्ध-गोष्ठी में केवल कवि ही नहीं बैठते थे, काव्य के गुण-दोष की पहचान करनेवाले भावकों (आलोचकों) का भी वहाँ जमावड़ा होता था। पर भावक कोई अलग संज्ञा नहीं होती थी, वह भी कवि का एक वर्ग था जिसकी क्षमता काव्य-रचना से अधिक काव्य की कसौटी में रहती थी। कदाचित् इस अर्थ में भी वामन ने अपने ग्रन्थ का अधिकारी कवि को कहा है। अथवा हम यह कह सकते हैं कि काव्य-विद्या के अभ्युदय काल में काव्य-कर्त्ता के साथ काव्य का परीक्षक भी मूलतः कवि होता था। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने एक प्राचीन मत को उद्धृत करते हुए भावकों की स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित

---

१. काव्यादर्श २।३६८, ३।१८७

पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या
संहृत्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम्।
वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना-
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान्॥
व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्॥

२. काव्यालंकार (भामह) २।९५

समासेनोदितमियं धीखेदायैव विस्तरः।
असंगृहीतमप्यन्यदभ्यूह्यमनया दिशा॥

३. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति १।२।१

अधिकारिनिरूपणार्थमाह—
अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः॥

किया है––जो दोष-गुण के तत्त्वों का भलीभाँति विवेचन कर सके एवं स्वयं अच्छा कवि हो, खेद है कि ऐसा भावक ही अब विदग्ध-गोष्ठियों में नहीं रह गया है और है भी तो वह मात्सर्य से भरा है।[1] अतः दण्डी से लेकर राजशेखर के काल तक कवि और भावक (आलोचक) की एकता बहुत अंशों में बनी रही, लेकिन अब भावकों का अपना वर्ग अलग हो चुका था। राजशेखर ने कवि और भावक के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की परिभाषा दो आचार्यों की उद्धृत की है––मंगल आचार्य का मत है कि भावक दो प्रकार के होते हैं, (१) आरोचकी (जिन्हें कोई रचना अच्छी लगती ही नहीं), (२) सतृणाभ्यवहारी (जो अच्छी अथवा असफल सभी प्रकार की रचनाओं पर वाह-! वाह! कर उठते हैं)। आचार्य वामन एवं उनके अनुयायी कवियों के भी उक्त दो प्रकार मानते हैं। वामनीयों का मत गौण रूप में उद्धृत किया गया है। स्वयं राजशेखर ने भी उक्त भेद भावकों (आलोचकों) के माने हैं और अपने दो नये भेद भी प्रस्तुत किये हैं––(३) मत्सरी (ईर्ष्या-वश रचना को न पसन्द करनेवाला), (४) तत्त्वाभिनिवेशी (निष्पक्ष आलोचक)[2] इस विवेचन से इस इतिहास का भी पता चलता है कि पहले उक्त भेद कवियों के ही होते थे, लेकिन बाद में मंगल को उक्त भेदों का अर्थबोध भावक में अधिक संगत प्रतीत हुआ।

विदग्ध-गोष्ठियों के आरम्भ के साथ कवि बनने के लिए काव्यशास्त्र और काव्य की उपविद्याओं का अनुशीलन एवं काव्य-विद्या के गुरु से उसका उपदेश आवश्यक समझा जाने लगा। कवित्व-शक्ति को एक अलौकिक प्रतिभा मानकर भी उसे शास्त्र और विद्या की कोटि में रखकर काव्य-निर्माण के हेतु शास्त्रीय अनुशीलन की आवश्यकता पर जोर दिया गया। अतः और विद्याओं के स्नातक की भाँति कवि भी प्रथम में काव्य-विद्या का स्नातक होता था।[3] कवि को स्नातक

---

१. काव्यमीमांसा पृ० ३३

यःसम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः।
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथभवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

२. वही, पृ० ३२

ते च द्विधा रोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च, इतिमंगलः। कवयोऽपि भवन्ति, इति वामनीयाः। 'चतुर्द्धा' इति यायावरीयः––मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च।

३. वही, पृ० ४७

यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः (कविः)।

बनने की आवश्यकता तब और भी प्रतीत हुई होगी जब महाकाव्य जैसा प्रबन्ध लिखना तथा अनेक भाषाओं में सफल काव्य-रचना करना महाकवि के लिए कसौटी बने होंगे।[1] लेकिन ऐसे स्नातक कवि को काव्यशास्त्र से अधिक काव्य की उपविद्याओं और अन्य अनेक भाषा-शास्त्रों के पढ़ने की आवश्यकता थी। फिर भी दण्डी से लेकर आचार्य रुद्रट तक के काव्यशास्त्र आलोचकों से अधिक कवियों के लिए ही लिखे गये हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा तो सर्वथा कवि के लिए ही है कि इसे पढ़कर वह काव्य-प्रतिभा की अमितः व्युत्पत्ति में निष्णात हो सके। आचार्य आनन्दवर्धन और उनके परवर्ती आचार्यों ने अपनी काव्य-शास्त्रीय रचनाएँ आलोचकों––काव्यतत्त्वज्ञों के लिए ही विशेष रूप से लिखी हैं, कवियों के लिए कम। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के शास्त्रीय विवेचन का गहरा प्रभाव पिछली-परम्परा पर पड़ा, फलस्वरूप अभिनवगुप्त, कुन्तक और महिम भट्ट ने क्रमशः लोचन, वक्रोक्ति-जीवित तथा व्यक्ति-विवेक लिखकर काव्य-लक्षण को गहन शास्त्रीय रूप प्रदान किया। मम्मट का 'काव्यप्रकाश' रुद्रट और आनन्दवर्धन दोनों की परम्परा का समन्वित निदर्शन है, कवि और काव्य-तत्त्वज्ञ प्रायः दोनों के लिए है। 'काव्य प्रकाश' में दोषों तथा अलंकारों का विस्तृत निदर्शन कवि की उपयोगिता को ही दृष्टि में रखकर किया गया है। बहुत पीछे इन आचार्यों की शास्त्रीय परम्परा का विशुद्ध परिपालन पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर और आचार्य विश्वेश्वर पांडे के अलंकार-कौस्तुभ में हुआ। इधर आकर ये शास्त्रीय विवेचन काव्य के आलोचकों के लिए भी कम, काव्यलक्षणों के सम्बन्ध में शास्त्रीय ऊहापोह करनेवालों के लिए ही अधिक लिखे जाने लगे। यह सब 'ध्वन्यालोक' 'वक्रोक्तिजीवित' और 'व्यक्तिविवेक' की परम्परा का प्रभाव था, जो क्रमशः एक दूसरे के बाद अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए लिखे गये। काव्य-लक्षण से काव्य-सिद्धान्त की प्रवृत्ति का यह भेद है।

दण्डी, भामह, वामन के उपक्रमों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि किस प्रकार उन्होंने अपने लक्षण-ग्रन्थों का प्रतिपादन कवि के लिए किया है। इस प्रसंग में भामह की दो-तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारिकाएँ और हैं, वे लिखते हैं––'शब्द-अर्थ के प्रयोग को भलीभाँति जानकर, उनको जाननेवाले काव्यज्ञों की उपासना

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४८

योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र-तत्र भाषा विशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतंत्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।

कर और कवियों के लिखे काव्यों का अवलोकन कर काव्य-रचना में प्रवृत्त होना चाहिए। एक भी शब्द का प्रयोग सदोष नहीं होना चाहिए, लक्षण-रहित काव्य कुपुत्र के समान निन्दा करानेवाला होता है। काव्य न लिखने से अधर्म, रोग या दंड तो नहीं होता किन्तु विद्वानों ने कुकाव्य-रचना को साक्षात् मृत्यु कहा है।'[1] भामह के इन कथनों से स्पष्ट है कि वे शब्द-अर्थ के प्रयोग (शब्दार्थालंकार), गुण-दोष के विवेचन आदि कवियों की काव्य-रचना की शिक्षा के लिए ही कर रहे हैं। **'कार्यः काव्यक्रियादरः'**, **'विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते'** तथा **'कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिर्माहुर्मनीषिणः'**—ये वाक्य इस बात के प्रत्यक्ष संकेत हैं कि लक्षण-युक्त काव्य-रचना के लिए कवि जन मेरे इस ग्रन्थ को पढ़ें।

राजशेखर ने तो बहुत स्पष्ट कहा है कि 'यायावर कुल में उत्पन्न राजशेखर ने प्राचीन-मुनियों के अभिमत को संक्षिप्त कर कवियों के लिए इस काव्यमीमांसा की रचना की है।'[2] और काव्यमीमांसा है भी सर्वथा कवि-शिक्षा के ही उपयुक्त ग्रन्थ।

रुद्रट का काव्यालंकार भी कवियों के लिए ही है—अलंकारों के निरूपण से पूर्ण इस ग्रन्थ का भलीभाँति अनुशीलन कर लेने पर चतुर कवि को शीघ्र ही अलंकारों की योजना से उत्कृष्ट काव्य-रचना करने की स्वच्छ एवं समर्थ प्रतिभा प्राप्त होती है।[3]

ध्वन्यालोक से ग्रन्थ-प्रयोजन की यह परिपाटी बदल जाती है—'काव्य-

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।१०-१२

शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः॥
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निंद्यते॥
ना कवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिर्माहुर्मनीषिणः॥

२. काव्यमीमांसा, पृ० ५

यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः॥

३. काव्यालंकार (रुद्रट) १।३

अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य।
काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुमुदारा मतिर्भवति॥

तत्त्वज्ञों ने काव्य की आत्मा ध्वनि कहा है।——दूसरों ने उसका अभाव बताया है। ——इसलिए उसके सम्बन्ध में विचारों की यह विभिन्नता होने पर सहृदयमनों की प्रसन्नता के लिए ध्वनि के स्वरूप की विवेचना करता हूँ।'[1] अर्थात् ध्वन्यालोक की रचना उन सहृदय विचारकों के लिए की जा रही है जो इस बात से दुखी हैं कि काव्य के तत्त्ववेत्ताओं ने काव्य की आत्मा का स्वरूप ध्वनि के रूप में पहचाना था किन्तु अन्य सिद्धान्तवादियों ने अपने-अपने मतों की स्थापना में इस उत्कृष्ट सिद्धान्त को संशय में डाल दिया है। काव्यलक्षण लिखनेवाले पूर्ववर्ती आचार्यों और ध्वनि का प्रस्फुरण करनेवाले आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों की परम्परा परस्पर भिन्न है। आनन्दवर्धन कहते हैं——'काव्यतत्त्वज्ञों ने काव्य की आत्मा ध्वनि को प्रकट किया।' 'बहुत दिनों से काव्य-लक्षण लिखनेवालों की बुद्धि में रंचमात्र भी न आया हुआ—— ध्वनि यह काव्य का अपूर्व तत्त्व है।'[2] इस प्रकार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्य काव्यलक्षणविधायी हुए, जो कवियों के लिए अपने शास्त्र लिख रहे थे, आनन्दवर्धन का शास्त्र काव्यतत्त्वज्ञों के विचारों के विमर्श हेतु था, न कि कवियों को काव्य-रचना की शिक्षा तथा प्रेरणा देने के लिए। शास्त्रार्थ कोटि से अपने पक्ष का विवेचन, समर्थन तथा दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन ध्वन्यालोक में प्रस्तुत हुआ है जो आलोचकों, शास्त्रीय विचारकों की उपादेयता का निदर्शन है। ग्रन्थ की समाप्ति पर भी आनन्दवर्धन ने कुछ ऐसा ही कहा है——'अखिल सौख्यों के आगार विबुधों (काव्यतत्त्वज्ञों, देवों) के काव्य-संज्ञक उद्यान में मैंने कल्पतरु के समान ध्वनि का दर्शन किया।'[3] 'सत्काव्य के तत्त्व की जो सिद्धान्त-सरणि सुलझे हुए काव्य-तत्त्वज्ञों के मन में सो-सी गयी थी, आनन्दवर्धन ने सहृदयों के समक्ष प्रकट करने के लिए

---

१. ध्वन्यालोक १।१

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्माध्वनिरिति संज्ञितः। तस्याप्य-भावमन्ये जगदुः। तेनैवं विधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

२. वही, १।१

काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः। . . अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलित-पूर्वम्।

३. वही, उद्योत ४

काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः।
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

उसका व्याख्यान किया।'[1] बीच में उन्होंने इसकी भी चर्चा की है कि 'उक्त-स्वरूप ध्वनि के अनुशीलन में निपुण सत्कवि काव्य के निर्माण में परम उत्कर्ष प्राप्त करते हैं अतः प्रयत्नपूर्वक कवियों को अथवा जो काव्य के मर्म को जानने के लिए उद्यत हैं उनको उक्त-लक्षण ध्वनि का अनुसन्धान करना चाहिए।'[2] यह उनका गौण लक्ष्य था।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के पश्चात् काव्यशास्त्र लिखने के प्रयोजन में दिशा-परिवर्तन हुआ और उसका उत्कृष्ट रूप 'वक्रोक्तिजीवित' तथा 'व्यक्तिविवेक' में आया। काव्य-तत्त्व की छानबीन से ही उसका आरम्भ हुआ। कव्य-तत्त्व का आलोड़न आलोचक का काम है, कवि के लिए तो शब्दाभिधेय की व्युत्पत्तिमात्र इष्ट होती है। ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा अनुमिति में किसी को भी काव्य का तत्त्व मान कर यदि कवि अपनी रचना में प्रवृत्त हो तो काव्य आयुर्वेद का रसायन नहीं है जो कवि जिस तत्त्व को चाहे, उस तत्त्व को मिलाकर काव्य-रचना करेगा। ईश्वर की सृष्टि की भाँति अलौकिक प्रतिभा के कारण कवि की वाणी में जो कुछ फूट पड़ता है, वह काव्य है, उस काव्य को प्रकट होने के लिए शब्द-अर्थ की आवश्यकता है जैसे ईश्वर की सृष्टि के लिए प्रकृति और ब्रह्म की। कवि का काव्य एक है। उसके तत्त्व का दर्शन अपने-अपने सिद्धान्त का निदर्शन है। कवि के लिए काव्यशास्त्र की उपादेयता उसकी शब्दार्थ-व्युत्पत्ति में है। यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ध्वन्यालोक या अन्य परवर्ती ग्रन्थों से इस व्युत्पत्ति की मीमांसा भी प्राप्त होती है किन्तु उसमें दृष्टि तत्त्व-निदर्शन की है। कुन्तक ने भी अपने ग्रन्थ को काव्य का अपूर्व (यथा किसी ने अब तक उद्भावना नहीं की है) अलंकार-ग्रन्थ ही कहा है, जिसके द्वारा काव्य में लोकोत्तर चमत्कार तथा आह्ला-

---

१. ध्वन्यालोक, उद्योत ४

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त—
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो—
रानन्दवर्धन इति—प्रथिताभिधानः॥

२. वही, ३।४५

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः॥

दक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की जा सकेगी,[1] किन्तु वक्रोक्तिजीवित भी कवि की व्युत्पत्ति के लिए कम आलोचकों के बीच अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए ही अधिक जागरूक है।

मम्मट ने विशुद्ध सहृदय पाठक (जो कवि नहीं है) तथा विशुद्ध आलोचक (जो कवि नहीं है) की सत्ता को काव्य-जगत् में कवि के समानान्तर रखा। उनके काव्य के छह प्रयोजनों में तीन सहृदय पाठक के लिए हैं, शेष कवि के लिए—'लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म काव्य है। अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर एकमात्र आनन्द-स्वरूप काव्य, अनुराग-भरी रमणी की भाँति सरसतापूर्वक हृदय के साथ तादात्म्य कर राम-आदि की तरह व्यवहार करना चाहिए, रावण आदि की तरह नहीं—यह उपदेश सहृदय पाठकों को तथा अन्य यथायोग्य-प्रयोजनों—यश, अर्थ-लाभ, अनर्थनिवृत्ति आदि—की सिद्धि कवि के लिए प्रदान करता है, अतः सर्वथा इस काव्य के निर्माण और अनुशीलन में प्रयत्नशील होना चाहिए।'[2] इसी प्रकार नये कवि को काव्य-निर्माण की शिक्षा लेने के लिए वाणी-सिद्ध कवि एवं काव्य तत्त्वज्ञ आलोचक दोनों को गुरु बनाने का सुझाव भी वे देते हैं—'जो काव्य के निर्माण में चतुर हैं (कवि) तथा जो काव्य के अनुशीलन की विधा (विचार, आलोचना) को जानते हैं (आलोचक)—दोनों से शिक्षा प्राप्त कर काव्य के निर्माण में पुनः पुनः अभ्यास करना—इस तरह तीनों (शक्ति, निपुणता, अभ्यास) कारण एक साथ सम्मिलित होकर काव्य के उत्कृष्ट निर्माण में एक कारण हैं, अलग-अलग तीन हेतु नहीं।'[3] मम्मट के उक्त कथन में ध्वन्यालोक के इस कारिकांश

---

१. वक्रोक्तिजीवित १।२

लोकोत्तर—चमत्कार - वैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥

२. काव्यप्रकाश १।२

विगलित - वेद्यान्तरमानन्दम् लोकोत्तर-वर्णना - निपुणकविकर्म तत्-कान्तेव सरसतापादनेनाऽभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादि-वदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा यतनीयम्।

३. वही, १।३

काव्यं कर्तुं विचारयितुं ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः-पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।

की छाया है—'सत्काव्यं कर्तुं ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः।' उन्होंने काव्य-तत्त्वज्ञ पद का प्रयोग नहीं किया है, उनका मूल प्रयोग है—"काव्यं विचारयितुं ये जानन्ति', अर्थात् सहृदय पाठक नहीं, विशुद्ध आलोचक जो काव्य के आनन्द में ही न डूब कर उसके गुण-दोष की सही कसौटी करते हैं। इसी प्रकार का अर्थभेद मम्मट के बुध-शब्द के प्रयोग में है, मम्मट कहते हैं—"बुध अर्थात् वैयाकरणों ने अर्थ के प्रत्यय रूप फल के उत्पादक—प्रधान स्फोट स्वरूप-व्यंग्य अर्थ के बोधक शब्द में ध्वनि का व्यवहार किया है।"[१] इनके पूर्ववर्ती ध्वनि के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—'बुधों अर्थात् काव्यतत्त्व के मर्मज्ञों ने काव्य की आत्मा को ध्वनि सज्ञा से अभिहित किया है।'[२] दोनों के कारिकांश क्रमशः इस प्रकार हैं—'इद-मुत्तमशायिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।[३] तथा काव्यस्यात्मा ध्वनि-रितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।[४] अन्यत्र आनन्दवर्धन ने श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि का व्यवहार करनेवाले वैयाकरणों को भी स्मरण किया है, पर उनको बुध नहीं, विद्वान् कहा है।[५]

अतः आनन्दवर्धन के अभिमत में ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में काव्य-तत्त्व के जाननेवालों ने ही प्रकट किया और मम्मट को उसकी व्युत्पत्ति सर्वथा वैयाकरणों की शब्दशक्ति के रूप में ही इष्ट हुई। काव्य-विद्या के अभ्युदय के शताब्दियों-पूर्व से ही व्याकरण की शास्त्र रूप में प्रतिष्ठा हुई थी और वह दिनोदिन शब्दशक्ति, अक्षर-विज्ञान के रूप में पल्लवित होता रहा है। मम्मट के बुध-शब्द में वैयाकरण अर्थ की अभीष्टि शास्त्रीय अभिनिवेश के प्रति उन्मुख दृष्टि का द्योतक है। काव्य-चर्चा को शास्त्रीय पद्धति में पल्लवित करने के लिए दो मूल तथा

---

१. काव्यप्रकाश १।४
बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोट-रूप-व्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।

२. ध्वन्यालोक १।१
बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः।

३. काव्यप्रकाश १।४

४. ध्वन्यालोक १।१

५. वही, १।१३, प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

व्यापक आधार आचार्यों को मिले--(१) शब्द-शक्ति--ध्वनि का प्रपंच (२) दर्शन--रसो वै सः। रस ही ब्रह्म है। साहित्य मीमांसाकार ने लिखा है--**वाच्य-वाचके वस्तुनी नाम परापरे वेद्यवेदके ब्रह्मणी अत्र परापरब्रह्मपारस्पर्यानुभवलभ्यनिरतिशयसुखवत् तत्त्वस्वाविशेषभूतशब्दार्थसाहित्यवैचित्र्य-भावना विशेषेण सतां हृदि (रसो) निरतिशयो जायेतेति सूचितम्।**[1] यदि आनन्दवर्धन ने रस को ध्वनि की आत्मा कहकर उसे नाट्य से काव्य के क्षेत्र में सर्वथा प्रतिष्ठापित न किया होता तो काव्य-चर्चा के शास्त्रीय पल्लवन का दूसरा आधार बन ही न पाता और योगियों के ब्रह्म-साक्षात्कार की कोटि में काव्य-रस के आनन्द को न बैठाया जाता। और तब काव्य-विवेचन की शास्त्रीय कोटि इतनी सुदृढ़ न हो पाती। रस को ब्रह्म के समकक्ष जैसे ही रखा गया काव्यशास्त्र का आचार्य आनन्द से उछल पड़ा और उसने कहा--काव्य-रस तो वाणी-रूप गौ से कवि-वत्स की भावुक तृष्णा देख कर अपने आप निष्यन्द होने लगता है, योगी को ब्रह्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार अत्यन्त कठिन साधना के बाद होता है अतः काव्य-रस के साथ उसकी तुलना भी संभव नहीं है।[2]

काव्य-सम्पद् के कारण

अब दूसरा प्रश्न। कवि-प्रतिभा के विवेचन को भी काव्यशास्त्र में इसलिए स्थान मिला कि काव्य-लक्षण-ग्रन्थ कवियों की व्युत्पत्ति के लिए लिखे जाते थे। काव्य-रचना करने में निपुणता के लिए काव्य-विधा की जानकारी आवश्यक थी, इसके साथ ही उस निपुणता का पात्र कैसे बना जा सकता है, इस दृष्टि को लेकर काव्य-सम्पद् के कारण--कवि-प्रतिभा का व्याख्यान हुआ। कवि की सहजात प्रतिभा ही काव्य का कारण होती थी लेकिन उसके अभाव में ज्ञान एवं अभ्यास के यत्नों से भी विदग्धगोष्ठियों में सुनाने योग्य काव्य की रचना सम्भव थी। दण्डी के काव्य-प्रतिभा-सम्बन्धी विवेचन का सार यही है जिसे किसी न किसी रूप

---

१. साहित्यमीमांसा प्रकरण १, मूलकारिका है—

निदानं जगतां वन्दे वस्तुनी वाच्यवाचके।
ययोः साहित्यवैचित्र्यात् सतां रसविभूतयः॥

२. ध्वन्यालोक १।६—लोचन

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥
(भट्टनायक)

में परवर्ती आचार्यों ने भी दुहराया है, और प्रतिभा के विवेचन को भी काव्यशास्त्र का एक भाग ही माना है।

दण्डी ने कवि की जिस नैसर्गिक प्रतिभा का उल्लेख किया है, भामह ने उसी प्रतिभा मात्र को काव्य का हेतु माना है, केवल यत्न या अभ्यास और ज्ञान मात्र में काव्य की व्युत्पत्ति नहीं स्वीकार की है। यद्यपि प्रतिभा के साथ ज्ञान और अभ्यास के रहने पर ही काव्य का यथार्थ निर्माण उनके भी मत में सम्भव है।[1] भामह कहते हैं कि जहाँ तक शास्त्रज्ञान की बात है, गुरु के उपदेश से जड़ बुद्धि भी अध्ययन करने में समर्थ हो सकते हैं, किन्तु काव्य-निर्माण तो किसी प्रतिभावान् के लिए और कभी-कभी ही सम्भव है।[2] काव्य-प्रतिभा की प्राप्ति उन युगों में एक दुर्लभ भाग्य था—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥[3]

अग्नि-पुराण के इस कथन से दण्डी के विचारों का ही समर्थन होता है अर्थात् कवित्व एवं शक्ति-उद्भावित कवित्व काव्य-निर्माण की दो कोटियाँ थीं। शक्ति (प्रतिभा) से व्युत्पन्न कवि सभी नहीं होते थे, ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि, कवियों की लम्बी परम्परा में कालिदास आदि दो-तीन या पाँच-छह ही हैं[4]—आनन्दवर्धन के इस कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कवियों का दो वर्ग था—(१) प्रतिभा-व्युत्पन्न कवि और (२) ज्ञानाभ्यास-निष्पन्न कवि। जो कवि ज्ञान और अभ्यास से ही काव्य-निर्माण में क्षम होते थे उनके लिए विशेष रूप से ये काव्यलक्षण—ग्रन्थ उपादेय थे। किन्तु सैद्धान्तिक काव्यलक्षणों के अतिरिक्त काव्य-प्रतिभा के विकास के लिए मिलते-जुलते भिन्न विवेचन भी आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं।

प्रतिभा का अर्थ है नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा। स्मृति, मति और बुद्धि क्रमशः अतीत, भविष्य तथा वर्तमान के ज्ञान-विषयों को आत्मसात् करती हैं किन्तु प्रज्ञा

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।९-१०

२. वही १।५

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥

३. अग्निपुराण ३३७।३

४. ध्वन्यालोक १।६

अस्मिन् अतिविचित्र-कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पंचषा वा महाकवयो गण्यन्ते।

में त्रैकालिक विषयों का साक्षात्कार होता है।[1] ऐसी प्रज्ञा ही काव्य-प्रतिभा का हेतु है। ऐसी कवि-प्रतिभा सहजात ही होती है। दण्डी और भामह ने इसे प्रतिभा कहा है, रुद्रट और मम्मट ने इसे ही शक्ति कहा है। रुद्रट ने काव्य-प्रतिभा की उक्त दो कोटियों को स्वीकार किया है, और यह भी कहा है कि मैं जिसे शक्ति कह रहा हूँ, उसे ही अन्य आचार्यों ने प्रतिभा कहा है। रुद्रट का प्रतिभा-सम्बन्धी व्याख्यान छह कारिकाओं में है, उसके मुख्य अंश हैं—'जिसके कारण कवि के समाहित मन में शब्द-अर्थ के अनेक पद अपने आप प्रस्फुटित होते जाते हैं, वह शक्ति है। इसे ही दूसरे आचार्यों ने प्रतिभा कहा है। इसके दो प्रकार हैं—(१) सहजात (२) यत्न से प्राप्त उत्पाद्य। सहजात प्रतिभा ही श्रेष्ठ कवित्व शक्ति है। उत्पाद्य प्रतिभा के लिए श्रम-पूर्वक व्युत्पत्ति की अपेक्षा होती है, संक्षेप में छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति और पद-पदार्थ का ज्ञान, युक्त-अयुक्त का विवेक व्युत्पत्ति है।'[2] संसार का समस्त ज्ञान ही कवि की व्युत्पत्ति की सीमा में आता है। काव्य-व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मम्मट का विचार दण्डी और रुद्रट दोनों के साथ समानता रखता है। दण्डी के विवेचन के अनुसार नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल ज्ञान और निरन्तर अभ्यास काव्य-निर्माण का हेतु है, मम्मट ने भी इसी बात को इस प्रकार से कहा है—'शक्ति तथा लोक, शास्त्र, काव्य आदि के अनुशीलन से प्राप्त निपुणता और काव्यज्ञों की शिक्षा से अभ्यास—काव्य के निर्माण में कारण होता है।'[3] दण्डी ने वाणी की

---

१. स्मृतिर्व्यतीत-विषया मतिरागमिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालकी मता॥
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता। (रुद्र)

२. काव्यालंकार (रुद्रट) १।१५, १६, १८, १९
मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सहजातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥
छन्दो-व्याकरण-कला-लोकस्थिति-पदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥
विस्तरस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्यांग सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैवा॥

३. काव्यप्रकाश १।३
शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र - काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

प्रसन्नता और सरस्वती की उपासना की जो बातें कहीं हैं—'श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्', 'तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।' वे काव्य-विद्या के अभ्युदय काल का प्रतीक हैं, जैसा कि पहले कहा गया है। मम्मट ने कवि की भारती को ही नूतन कल्पित किया है। दण्डी ने काव्य-गुरु से शिक्षा-अभ्यास की चर्चा न कर सरस्वती की उपासना की बात कही है, रुद्रट और मम्मट ने काव्यज्ञ गुरु से शिक्षा और अभ्यास को काव्य-व्युत्पत्ति के लिए आवश्यक माना है। 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास' इस मूलकारिकांश को विस्तृत करते हुए मम्मट लिखते हैं—'जो काव्य-रचना करना जानते हैं तथा जो काव्य के सम्बन्ध में विचार-अनुशीलन करने में समर्थ हैं, (उन्हें गुरु मान कर) उनसे उपदेश शिक्षा ग्रहण कर बार-बार अभ्यास करना काव्य-व्युत्पत्ति का कारण है।'[1] रुद्रट ने भी इसी बात को विस्तार से कहा था।[2]

वामन ने प्रतिभा का उल्लेख न कर कवियों की दो कोटियाँ बतायी हैं, जिसमें उन्होंने सतृणाभ्यवहारी कवि को अविवेकी होने के कारण शिक्षा के अयोग्य कहा है। अरोचकी कवि ही शिक्षा के योग्य होते थे—'पूर्वे खलु अरोचकिनः शिष्याः शासनीयाः विवेकित्वात्।'[3] अर्थात् वामन के मत में भी प्रतिभावान् कवि ही सच्चे काव्य का निर्माण कर सकते थे। और काव्य-सम्बन्धी शिक्षा के उपयुक्त पात्र थे।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में चल रहे विचारों का विस्तृत संकेत राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है। यद्यपि उनके समय में 'शक्ति' संज्ञा का प्रयोग होने लगा था। लेकिन राजशेखर ने दण्डी की 'प्रतिभा' संज्ञा को अधिक महत्त्व दिया है—'शक्ति शब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते।' शक्ति अथवा प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति में काव्य-निर्माण का सही हेतु कौन है, काव्य गोष्ठियों के भावक इस पर एक मत नहीं थे। व्युत्पत्ति का अर्थ अभ्यास नहीं, वरंच बहुज्ञता और उचित अनुचित का विवेक था। आचार्य आनन्द के मत में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति में प्रतिभा ही काव्य-निर्माण के लिए अनिवार्य थी और आचार्य मंगल का मत था कि व्युत्पत्ति ही काव्य-निर्माण में उत्कृष्ट हेतु है क्योंकि व्युत्पत्ति कवि के अशक्ति-कृत दोष को काव्य में छिपा लेती हैं, आलोचक या श्रोता

---

१. काव्यप्रकाश १।३ की वृत्ति

२. काव्यालंकार (रुद्रट) १।२०

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधौ नियतम्।
नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम्॥

३. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति १।२।१-२

काव्य में व्युत्पत्ति द्वारा प्रस्तुत कवि के अलौकिक भाव या कल्पना की ओर आकृष्ट हो जाते हैं तथा शब्द और अर्थ की योजना पर ध्यान नहीं देते। इससे यह प्रकट होता है कि उक्त आचार्य की दृष्टि में प्रतिभा या शक्ति का पक्ष कवि की वाणी में शब्द-अर्थ का कवित्वमय प्रस्फुरण मात्र था, भाव-योजना या विषय-वस्तु की उद्भावना व्युत्पत्ति का पक्ष था। आनन्द के मत में अशक्तिकृत-दोष व्युत्पत्ति से छिपाया नहीं जा सकता लेकिन व्युत्पत्ति-कृत-दोष शक्ति के बल पर कवि तिरोहित कर सकता है। अर्थात् शब्दार्थ की प्रस्तुति ही काव्य का सर्वस्व है। राजशेखर ने इस विवाद का उपसंहार करते हुए कहा—'प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूप से काव्य-निर्माण का उत्कृष्ट हेतु हैं, एवं प्रतिभा-व्युत्पत्तिमान् कवि ही यथार्थ कवि है।'[1]

प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन के भी उत्कृष्ट निर्देश हैं। उन्होंने राजशेखर की काव्यमीमांसा में उद्धृत आचार्य आनन्द के मत का समर्थन किया है और आचार्य मंगल के 'शब्दार्थ गुम्फना हेय है' इस विचार के बिल्कुल विपरीत प्रतिभा के स्वरूप शब्दार्थ-व्युत्पत्ति को ही महाकवि का अभिज्ञान माना है—

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति-सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥[2]

साथ ही अर्थ-तत्वं (कल्पना, भाव) को भी व्युत्पत्ति के अन्तर्गत न मानकर उसे प्रतिभा विशेष स्वीकार किया है—

सरस्वतीस्वादु तदर्थ-वस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
तत् वस्तु-तत्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोक-सामान्य-प्रतिभा-विशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति।[3]

यद्यपि आनन्दवर्धन ने यहाँ सरस्वती को 'कवीनां भारती' कहा है तथापि उनके

---

१. दे० काव्यमीमांसा (अध्याय ५ का आरम्भ) पृ० ३७-४०
'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' इत्यानन्दः। सा हि कवेरव्युत्पत्ति-कृतं दोषमशेषमाच्छादयति। 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मंगलः। कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि। वैदग्धीचित्तचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥ 'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः, प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते।

२. ध्वन्यालोक १।८

३. ध्वन्यालोक १।६

इस प्रयोग को हम मम्मट के **'निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति'**[१] के समकक्ष नहीं रखेंगे। दण्डी ने निरलस होकर जिस सरस्वती की उपासना का निर्देश दिया है,[२] आनन्दवर्धन की सरस्वती भी वही है। और वह कवि-प्रतिभा पर अपने आप रीझने वाली है, उसकी उपासना की आवश्यकता नहीं, दण्डी से इतना भेद है।

प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के सर्वांगीण विकास के लिए कवि को जीवन में आचारवान् होना भी आवश्यक है, आचार अर्थात् संयम, संयम स्वास्थ्य का हेतु होता है और स्वस्थता अनेक सम्पत्तियों का कारण बनती है, राजशेखर ने स्वास्थ्य, प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के साथ कवित्व को जीवन देनेवाले जिन अन्य पाँच कारणों का उल्लेख किया है, उनमें कुछ का मूल स्वस्थ जीवन ही है––स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास (व्युत्पत्ति), भक्ति, विद्वत्कथा, बहुमुखी ज्ञान, स्मृति की दृढ़ता और उत्साह–– कवित्व की ये आठ माताएँ हैं।[३] इनमें स्मृति की दृढ़ता तथा उत्साह स्वस्थ-जीवन के बिना सम्भव नहीं हैं।

दण्डी ने काव्यसम्पद् के कारण का एक भाग **अमन्दश्चाभियोगः**—निरन्तर अभ्यास कहा है। आनन्दवर्धन ने उसे व्यापक दृष्टि से देखा है, ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में वे कहते हैं––'ध्वनि का गुणीभूतव्यंग्य के साथ जो यह मार्ग प्रदर्शित किया गया, इसके स्वाध्याय से कवि-प्रतिभा का अनन्त विस्तार सम्भव है।'[४] अर्थात् कवि को चाहिए कि इस ध्वनितत्त्व का स्वाध्याय करें, और इसके प्रयोग तथा अभ्यास से अपनी काव्य-प्रतिभा को व्यापक बनायें। जगत् की समस्त प्रकृति की भाँति ही काव्य के विषय-वस्तु का विस्तार है, सहस्र बृहस्पतियों के सहस्रों समूह यदि इस वस्तु-प्रकृति का काव्य-निबन्धन करते रहें तो भी इसका अन्त नहीं होगा।[५] अतः कवि के लिए अपने काव्याभ्यास का अनन्त क्षेत्र है। इस अभ्यास

---

१. काव्यप्रकाश १।१

२. काव्यादर्श १।१०५

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

३. काव्य-मीमांसा, पृ० १२१

४. ध्वन्यालोक ४।१

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥

५. वही, ४।१०

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥

को आनन्दवर्धन ने ध्वनि तथा रस में केन्द्रित किया है जो कविता का आस्वादन-पक्ष था और दण्डी ने मार्ग-गुण एवं अलंकार के रूप में इस अभ्यास की महिमा स्वीकार की थी, काव्याभ्यास ही अलंकारों के सम्यक् व्याख्यान का सही रास्ता था।[१] तथा उन के मत में कवि के काव्याभ्यास का वह अनन्त क्षेत्र स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का शब्द-अर्थ है।[२]

१. काव्यादर्श १।१०१, २।३६८

२. वही, २।३६३

उन्मेष छह | अलंकार-निदर्शन

अलंकार-संज्ञा की प्रियता

'अलंकार' शब्द काव्यशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संज्ञा है। अकेले यह एक शब्द अपने में भारतीय काव्यशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास समेटे है। काव्यशास्त्र की गहरी नींव अलंकार के स्वरूप-निदर्शन में ही दी गयी। लेकिन जैसे परिजनों के विरोध से परिवार के मुखिया का घर उजड़ जाता है वही दशा काव्यशास्त्र में अलंकार-विवेचन की हुई है। नाटक के रंगमंचीय अलंकरणों के संसर्ग में संवादात्मक काव्य-छन्दों की अर्थ शोभा को अलंकार (वाचाम् अलंकारः) संज्ञा प्राप्त हुई और उसका अत्यन्त वेग से विकास तथा प्रसार 'सूक्ति' काव्य के क्षेत्र में हुआ। यह एक विचित्र बात है कि काव्यविदों को अलंकार संज्ञा इतनी प्रिय हुई जितनी प्रियता उन्हें काव्य-चिन्तन में सर्वोच्च प्रतिष्ठापित ध्वनि और रस से भी नहीं स्वीकार है। ध्वनि को भी प्रसिद्ध अलंकार विशेष के रूप में स्वीकार करने के लिए काव्यतत्त्वज्ञों का एक सम्प्रदाय ध्वनिकार के सामने था।[1] कुन्तक ने भी अपनी वक्रोक्ति-स्थापना को काव्य का अपूर्व अलंकार ही कहा है।[2] अतः अलंकार संज्ञा के मिलते ही काव्यगोष्ठियों में पहले से प्राप्त काव्य के विशिष्ट अनेक लक्षण अलंकार नाम से ही पुकारे जाने लगे और बाद में जिन अनेक प्रयोगों तथा काव्य-वैशिष्ट्यों की उपलब्धि हुई उनको भी अलंकार कहा गया। ध्वनि, रस अथवा शब्द-शक्ति की समस्त विधाएँ प्रथम अलंकार की सीमा से ही आकर काव्य-व्यवहार

---

१. ध्वन्यालोक १।१३

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेद-संकलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकार-विशेषमात्र-प्रतिपादनेन तुल्यमिति।

२. वक्रोक्तिजीवित १।२

लोकोत्तरचमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते॥

में आदृत हुई। पर काव्य में शास्त्रीय चिन्तन के उत्कट प्रभाव ने उन्हें अर्थशोभा से तत्त्व निर्णय की ओर अग्रसर किया और अन्त में अलंकार से उनकी अलग सत्ता स्थापित हुई। अलंकार की भाँति रस भी नाट्य से ही काव्य-जगत् में आया लेकिन दोनों के आगमन-काल के युग भिन्न-भिन्न थे। जब अलंकार काव्य-जगत् में आया तब कवियों के काव्य-प्रयोग का बोलबाला था। कविता की कसौटी कवि की दृष्टि से, काव्य-प्रयोग की दृष्टि से होती थी और जब काव्य-जगत् रस की ओर आकृष्ट हुआ तब सहृदय काव्य-पाठक और काव्यालोचक काव्य-जगत् का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, काव्य का प्रयोग नहीं, काव्य का उपयोग चिन्तन का विषय था। तुरन्त रस का चिन्तन शब्दार्थ-शक्ति और ध्वनि के साथ अलंकार की संज्ञा से मुक्त हो गया, अलंकार के व्यवस्थित काव्य-परिवार का इस तरह उच्छेद रस की स्वतन्त्रता से हुआ। नाट्य के अलंकार ने ही काव्य को एक बार अलंकृति कहा, फिर नाट्य के ही रस ने उसे सरस सूक्ति कहना ज्यादा अच्छा समझा।

परन्तु क्या ध्वनि, रस, भाव---कथा-प्रसंगों के भावोद्वेजक मोड़ अलंकार-संज्ञा की सीमा में आने योग्य नहीं है? दण्डी और भामह दोनों ने रसों और भावों को अलंकार-विवेचन के अन्तर्गत ही लिया है, दण्डी ने सन्ध्यंगों, वृत्यंगों को भी अलंकार ही माना है। अनुप्रास (शब्दालंकार) की उन्होंने मार्गों के गुण के साथ एक रूपता स्थापित कर दी है।[1] और आगे जाकर गुण, अनुप्रास दोनों की गणना मार्ग की अलंक्रिया में कर दी है।[2] भामह ने भी अपने तीन गुणों को गुण से न अभिहित कर शब्दालंकारों के प्रसंग में ही उनकी चर्चा की है और दूसरे के मत में उन्हें अलंकार न बताते हुए अपना अभिमत उनकी अलंकारता के प्रति संकेत रूप में प्रकट किया है। इस प्रकार गुण भी सम्भवतः बाद में अलंकार संज्ञा से अभीष्ट हुए थे। अतः उक्त प्रश्न काव्यशास्त्र के इतिहास को पुनः पूर्वग्रह-मुक्त दृष्टि से देखने की सलाह देता है। हमारे इस प्रश्न को ध्वनिकार के उस प्रतिपादन से और बल मिलता है जहाँ वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त जैसे अलंकारों में अभिधीयमान तथा प्रतीयमान की समान प्रधानता सम्भव है, तथा दीपक, अपह्नुति, विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, आक्षेप आदि अलंकारों में ध्वनि

---

१. काव्यादर्श १।५४

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमीप्सितम्॥

२. वही, २।३

एवं वाच्य अर्थ के विभाग के लिए विभाजक रेखा बनानी पड़ती है।[1] अर्थात् इन अलंकारों की सरणि से ध्वनि की सरणि की एक समानता अवश्य है तभी दोनों को अलग करने के लिए निर्णय की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी के साथ एक दूसरा प्रश्न भी है—कि क्या ध्वनि, रस, भाव के अतिरिक्त अलंकार-चिन्तन स्वयं अवशिष्ट अकेला पक्ष है और अलंकार की एक मान्य परिभाषा के अन्तर्गत उसमें निरूपित सभी अलंकार-प्रकार समा जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर आगे स्पष्ट होगा। अब भी संख्या में सौ से अधिक-निरूपित अलंकार अलंकार की एक सामान्य परिभाषा की सीमा में नहीं हैं और मम्मट ने ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य तथा गुणालंकार[2] नाम से काव्य के जो उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार बताये हैं यदि इसी को आप्त स्वीकार किया जाय तो दण्डी और परवर्ती आचार्यों के निरूपित अलंकारों के लक्ष्य-लक्षणों में विशुद्ध ध्वनि, रस, गुणीभूत-व्यंग्य के अतिरिक्त अभी और ऐसे पक्ष अवशिष्ट हैं जो उत्तम-मध्यम काव्य की कोटि में ही आयेंगे।

स्वयं ध्वनिकार के मतानुसार दीपक, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति जैसे अलंकार व्यंग्य एवं अन्य अलंकारों की वस्तु-सीमाओं का पूर्ण स्पर्श करते हैं। महाकवियों द्वारा प्रयुक्त अतिशयोक्ति विचित्र काव्यच्छवि का संवर्धन करती है, अपने विषयौचित्य से उसका प्रयोग सर्वथा काव्य का उत्कर्षाधायक होता है।[3] इस प्रकार व्यंग्य की वस्तु-सीमा में जिन अलंकारों की प्रयोग-सरणि अपना प्रवेश रखती है, उनमें तथा वाच्य मात्र में पर्यवसायी प्रत्यनीक, परिकर जैसे अलंकारों में स्पष्ट ही काव्य-चिन्तन एवं प्रयोग के दो सिद्धान्तों का विश्लेषण होना चाहिए। और अतिशयोक्ति, दीपक, पर्यायोक्त जैसे अलंकारों की व्याख्या ध्वनि के समान-कोटि किसी सिद्धान्त में करना एक न्याय्य पक्ष है। अतः अलंकार की संज्ञा से

---

१. देखिए, ध्वन्यालोक ३।३६, ४० की वृत्ति

२. काव्य-प्रकाश १। सू० ४ की वृत्ति

३. ध्वन्यालोक ३।३६

तथा हि दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलंकाराः प्रायेण व्यंग्यालंकारान्तरवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो दृश्यन्ते। यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति। कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये-नोत्कर्षमावहेत्।

ध्वनि, रस के अलग हो जाने के बाद भी वैसे ही काव्य के प्रखर तत्त्व अभी इस अत्यन्त लोकप्रिय संज्ञा अलंकार में समाविष्ट हैं, यह स्वीकार करना पड़ता है।

और यदि हम काव्य के प्रयोग-पक्ष का ध्यान रखें तो अलंकार और ध्वनि की ठीक विभाजक रेखा भी प्रस्तुत नहीं की जा सकती, केवल यह कहने के अतिरिक्त कि यह वाच्य अर्थ है अतः अलंकार है, यह आक्षिप्त अर्थ है अतः ध्वनि है, अथवा सहृदयों का संवेदन ही इसमें प्रमाण है। विशेषतः जब हम गहराई में उतरते हैं और देखते हैं कि अलंकारों की मूल-प्रेरणा भी भाव ही हैं, ध्वनि की मूल प्रेरणा भी भाव हैं और रस तो भाव का ही प्रकारान्तर है तब हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि काव्य में एक ही भाव की विभिन्न शोभातिशयता के प्रतिष्ठित होने का कारण मम्मट के ध्वनि, रस और अलंकार नहीं हैं, ये तो प्रतिफल या कार्य हैं, मन के भाव को काव्यवाणी का मूर्तरूप तो वक्रोक्ति से मिलता है। जब तक हम वक्रोक्ति का सहारा नहीं लेंगे तब तक वाच्य और आक्षिप्त अर्थ की ठीक विभाजक-रेखा हमारे सामने प्रकट नहीं हो सकती।

अलंकार का लक्षण

दण्डी ने अलंकार का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार कहते हैं (शोभा की विधा परिमित नहीं की जा सकती। अतः अलंकारों के भी प्रकार परिमित नहीं हैं।) इन अलंकारों के नये-नये प्रकार आज भी कवियों द्वारा उद्भावित किये जाते हैं, इसलिए सम्पूर्ण रूप से इनका व्याख्यान कौन कर सकता है?'[१] यह अलंकार की परिभाषा और सीमा हुई, जिसमें दण्डी ने आगे चल कर गुणों से अवशिष्ट काव्य-सम्बन्धी समस्त चिन्तन को समेट दिया है।

'काव्य-शोभा' पद में 'शोभा' से दण्डी को कौन-सा अर्थ अभिप्रेत था, इसे समझने के लिए हमें उनकी काव्य-शरीर-सम्बन्धी परिभाषा को सामने रखना पड़ता है—सूरियों ने वाणी के विचित्र मार्गों की रचना-विधि का निबन्धन किया है, उन्होंने काव्य के शरीर और अलंकारों का व्याख्यान किया है। काव्य का शरीर तो इष्ट अर्थ से युक्त पदावली है, वह शरीर गद्य, पद्य एवं मिश्र तीन प्रकार का

---

१. काव्यादर्श २।१

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥

है।[1] इस प्रकार पदावली ही काव्य-शरीर है, पदावली की प्रतिष्ठा उसके इष्ट अर्थ में है, वही काव्य है। अर्थात् शोभा का सम्बन्ध अर्थ से हुआ। काव्य-शोभा से अभिप्रेत हुआ——काव्य अर्थ की शोभा। यह तो अन्वय की बात हुई। शोभा पद किस अर्थ का बोधक है, यह अलग बात है।

अमरकोष में शोभा शब्द कान्ति, द्युति और छवि के अर्थ में है। और परम शोभा को सुषमा कहते हैं।[2] इस प्रकार शोभा की दो कोटियाँ हैं। निरुक्त में शुभम् शब्द जल का पर्याय है।[3] यदि शोभा की व्युत्पत्ति शुभ से अन्वित की जाय तो शोभा का अर्थ सरसता ही होगा। कुन्तक ने अलंकार के प्रसंग को लेकर शोभा का अर्थ कान्ति किया है——'शोभा अर्थात् कान्ति, उससे शून्य शोभा-शून्य, उसका भाव शोभा-शून्यता, उस शोभा-शून्यता के कारण तथाकथित अवशिष्ट अलंकारों का अलंकारत्व युक्ति-संगत नहीं है।'[4] काव्य के विषय में कान्ति और सरसता का ग्रहण वस्तु का चमत्कार-पूर्ण अर्थ-बोध तथा उसके साथ होने वाली भावानुभूति है और इनका कारकधर्म है अलंकार। ध्वनिकार उसी कारक-धर्म के रूप में रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य तथा स्फुट प्रतीयमानार्थ-रहित अलंकार का एक समान निर्देश करते हैं——(१) प्रबन्ध में एक ही अंगीरस उपनिबद्ध किये जाने पर अर्थ विशेष का लाभ देता है तथा अतिशय काव्यच्छाया का पोषण करता है।[5] (२) यहाँ 'केऽपि' इस पद से वाच्य का अस्पृष्ट अभिधान करते हुए अनायास ही अनन्त प्रतीयमान

---

१. वही, १।९, १०

अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥
तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः।
शरीरम् तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली॥
गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।

२. अमरकोष १।३।१७

सुषमा परमाशोभा शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः।

३. नैघण्टुककाण्ड १।१२

४. वक्रोक्तिजीवित ३।४४

शोभा-शून्यतया शोभा कान्तिस्तया शून्यं रहितं, शोभा-शून्यं तस्य भावः शोभा-शून्यता, तया हेतुभूतया, तेषामलंकरणत्वमनुपपन्नम्॥

५. ध्वन्यालोक ४।५

वस्तु अर्पण कर कवि ने कितना ही काव्य-चमत्कार नहीं पैदा कर दिया[1] (३) रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि उन अलंकारों में गम्यमान धर्म से जो सादृश्य होता है वही काव्य में अतिशय शोभा लाता है। इस प्रकार के सभी अलंकार अतिशय चारुत्व के योग से युक्त होकर गुणीभूतव्यंग्य के ही विषय हैं। (४) महाकवियों द्वारा निबद्ध की गयी अतिशयोक्ति कितनी उत्कृष्ट काव्य-छाया ला देती है।'[2] छाया और छवि का अर्थ भी कान्ति (शोभा) ही है।[3]

यद्यपि ध्वनिकार और उनके पूर्ववर्ती दण्डी--दोनों ने काव्य का उत्कर्ष उसकी शोभा में निर्दिष्ट किया है और दोनों को ही शोभा से चमत्कारपूर्ण अर्थ और सरस भावानुभूति अपेक्षित है तथापि आनन्दवर्धन ने उस चारुत्वातिशय शोभा के मूल में रस को देखा है--जहाँ रस आदि वर्ण्य विषय न हों वह काव्य-प्रकार संभव नहीं हो सकता, क्योंकि बिना वस्तुसंस्पर्श के काव्य की रचना नहीं होती और जगत् में स्थित समस्त वस्तु अन्ततः विभाव रूप में अवश्य ही किसी रस या भाव का अंग हो जाती है।[4] और उनके पूर्व दण्डी ने उसी काव्यशोभा के मूल में वाणी की उक्ति को देखा था--सम्पूर्ण काव्य वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो प्रकारों में विभक्त है, श्लेष का प्रयोग वक्रोक्ति में विशेष रूप से शोभा का आधायक होता है।[5] अतः दण्डी के काव्य-शोभा-कारक अलंकार का व्याख्यान इस उक्ति के चमत्कार को लेकर किया जाना चाहिए, उनके दिशा संकेत से 'काव्य-शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' का स्फुटार्थ इस प्रकार प्रतीत होता है--"काव्य की उक्ति में चमत्कार और सरसता का धर्म अलंकार है।"

अलंकार संज्ञा को काव्य-चिन्तन के अभ्युदय काल की पाठशाला कहा जाना चाहिए, जिसमें, जो सूक्ति-काव्य के उपयुक्त नयी चारुत्व-विधाएँ प्रयोग में उपलक्षित हुईं, अनेक परिष्कार-पूर्वक, समाविष्ट कर गणना कर ली गयीं, उनमें कुछ ने अपनी प्रकृति के अनुसार यथाकाल अपनी सत्ता अलग स्थापित की।

---

१. ध्वन्यालोक ३।३७

२. वही, ३।३६

३. अमरकोष, ३।३।१५८

४. ध्वन्या० ३।४२

५. काव्यादर्श २।७, ३६३

इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः।।
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।।

ध्वनि, रस, वक्रोक्ति और औचित्य की प्रतिष्ठा को इसी रूप में लेना चाहिए। दण्डी ने गुणों को भी मार्गों के अभिज्ञान की अलंक्रिया कहा है और उनको उक्ति के चमत्कार वाणी के अलंकारों के समकक्ष भी मान्यता प्रदान की है। दण्डी के पश्चात् औदीच्य काश्मीरक आचार्यों ने अलंकार को उसके पर्याय आभूषण के समकक्ष रखकर एक भ्रम का आरम्भ किया। काव्य को देही के रूपक के साथ देखने की प्रवृत्ति ने स्वभावतः अलंकार को आभूषण के स्थान पर ला बिठाया और गुणों को शरीर के कान्तिधर्म की तुलना में खड़ा किया। सच बात तो यह है कि आभूषण के साथ अलंकार के समान अर्थ-बोध की स्थापना और उसके चित्र-मार्ग (गूढ़-यमक, चित्रबन्ध की प्रहेलिका, भाव-हीन शुद्ध उड़ान की अतिशयोक्तिओं, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं) की प्रवृत्ति ही काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में अलंकार को हीन बनाने का मुख्य कारण है। सम्भवतः यह कहना, काव्यशास्त्र के इतिहास के सुप्त अध्याय का उन्मीलन होगा कि अलंकार संज्ञा के इस प्रकार हीन हो जाने के कारण ही ध्वनि, रस संज्ञाओं को इतना उत्कर्ष प्राप्त हुआ, और क्योंकि वक्रोक्ति की विधा भी अलकारों के साथ अत्यन्त घुली-मिली थी इसलिए उसे भी अलंकार के साथ अनादृत होना पड़ा। वामन ने 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में अलंकार के संबंध में इसी हीन मनोवृत्ति का परिचायक एक श्लोक दिया है––'यौवन से हीन ललना की भाँति गुण से हीन वाणी में कोई आकर्षण नहीं रह जाता और तब लोकप्रिय भी अलंकार उसके अनादर के ही कारण बनते हैं।'[1] ऐसे कथन निश्चित रूप से एक गलत धारणा की लीक पीटनेवाले थे क्योंकि ध्वनिकार भी अतिशयोक्ति अलंकार को प्रतीयमान (ध्वनि) अर्थ के समकक्ष स्वीकार करते हैं। एक ओर तो वामन को अलंकार संज्ञा की महनीयता काव्य में उसकी स्वीकृति के लिए बाध्य कर रही थी और दूसरी ओर तात्कालिक विदग्धगोष्ठियों की प्रवृत्ति उनको समझा रही थी––युवती के रूप में सौंदर्य की भाँति गुण काव्य का नित्य धर्म है, जिनके बिना काव्य की स्थिति नहीं हो सकती और अलंकार तो उसमें चमत्कृति लाने का आभूषण की भाँति विकल्प है।[2] अतः वामन इस द्विविधा में अलंकार निश्चित

---

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ३।१।२

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

२. वही, ३।१।२

युवतेरिव रूपमंग ! काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्प-कल्पनाभिः॥

रूप से क्या है, इसका स्फुट व्याख्यान नहीं कर सके हैं। एक बार वे कहते हैं—काव्य की स्वीकृति अलंकार से होती है और सौन्दर्य ही अलंकार है।'[1] यहाँ सौन्दर्य से शोभा या कान्ति ही अभीष्ट होंगे। वामन का उक्त कथन दण्डी की पद्धति पर ही है कि काव्य के शोभाकारक धर्म अलंकार हैं। परन्तु वामन का ऐसा निर्णय उस समय के बुध-समाज में आदृत नहीं था, बुध समाज में आदृत न होने पर भी उसे सिद्धान्त रूप में निर्वचन करना आचार्य की दृष्टि से सत्यता का समर्थन है। बहुमत में आदृत सिद्धान्त की बात उन्होंने तीसरे अधिकरण में बतायी है—'काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं। उस शोभा में अतिशय लानेवाले अलंकार हैं।[2] काव्य की स्वीकृति अलंकार से होती है उक्त कथन के विपरीत प्रस्तुत व्याख्यान स्पष्ट ही भ्रम पैदा करता है। वामन ने आरम्भ में ही उसके निवारण का प्रयास किया है और 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' में अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति को वे स्पष्ट करते हैं—अलंकृति अलंकार है—यहाँ भाव से क्तिन् प्रत्यय है, करण-अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर जो अलंकार शब्द बनता है वह ही उपमा आदि के लिए प्रयुक्त है। अर्थात् काव्य की स्वीकृति अलंकार से होती है, जब हम यह कहते हैं तब अलंकार का अर्थ अलंकृति शोभाकारक धर्म है, उपमा आदि अलंकार नहीं। और वह अलंकृति काव्य में दोषों के त्याग तथा गुणों-अलंकारों के सन्निवेश से सम्पादित की जाती है।[3] अब हम इस अलंकृति को दो प्रकार से ग्रहण कर सकते हैं—(१) शब्दार्थ का चमत्कार अथवा (२) काव्य का पर्याय, क्योंकि वामन ने पहले ही कहा है—इस काव्य शब्द का व्यवहार गुण-अलंकार से चमत्कृत शब्दार्थ में होता है।[4] वामन अवश्य ही काव्य का अच्छा व्याख्यान अलंकार के माध्यम से कर सकते थे यदि वे अलंकार-संज्ञा की व्याप्ति बताने के लिए आरूढ न हुए होते, जिसको उन्होंने अलंकृति कहा, अलंकार उससे भिन्न नहीं है। गुण का स्थान अलंकार की अपेक्षा नित्य मानना प्रकारान्तर से सौशब्द्य काव्य की स्वीकृति है।

---

१. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति १।१।१-२

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।

२. वही, ३।१।१-२

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

३. वही, १।१।३

स खलु अलंकारो दोषहानात् गुणालंकारदानाच्च सम्पाद्यः कवेः।

४. वही, १।१।१

काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।

अतः वामन की 'अलंकृति' संज्ञा जो काव्य का पर्याय है उनकी दृष्टि में उपमा आदि अलंकारों से भिन्न होकर, हमारी दृष्टि में उपमा आदि अलंकार संज्ञा का ही नया वेष-विन्यास है। हाँ, उनकी यह अलंकृति संज्ञा अपने सौन्दर्य अर्थ में जिसके लिए दण्डी ने काव्य-शोभा का प्रयोग किया है, अलंकारों की मूल उद्भावना तथा प्रवृत्ति के इतिहास का उद्घाटन करती है। यदि वामन ने अलंकृति का ठीक व्याख्यान निभाया होता तो उनकी यह अलंकृति-स्थापना मौलिकता में आनन्दवर्धन की ध्वनि-स्थापना के तुल्य है, किन्तु वही नहीं है, स्वरूप में उससे भिन्न है। आनन्दवर्धन के विचार से काव्य की स्वीकृति बिना ध्वनि के सम्भव नहीं थी और वामन काव्य की प्रतिष्ठा अलंकृति में मानते हैं। अलंकृति की मूल प्रेरणा सूक्ति और अलंकार से अनुप्राणित हुई है, तथा ध्वनि की मूल उद्भावना वैयाकरणों के स्फोट से आकर सूक्ति एवं अलंकार के बीच पल्लवित हुई है। वामन की इस अलंकृति को हम कुन्तक की वक्रोक्ति के अधिक निकट पाते हैं। जैसा कि वामन ने कहा है--'इस काव्य शब्द की सत्ता गुण-अलंकार से संस्कृत शब्द-अर्थ में है।'[1] कुन्तक ने इसी मत को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए वक्रोक्ति-निरूपण का उपक्रम किया है--'अलंकृति और अलंकार्य (शब्द-अर्थ) को अलग-अलग करके उनका विवेचन काव्य-व्युत्पत्ति का साधन होने से किया जाता है, अलंकार से युक्त ही शब्द-अर्थ की काव्यता है।···जो अलंकार अर्थात् अलंकरणीय वाचक (शब्द)--वाच्य (अर्थ) हैं, उसका भी विवेचन किया जाता है।'[2]

अलंकारों की उद्भावना का मूल--
स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति

जन्म से ही प्रवृत्ति और जाति के अभिज्ञान रूप पकड़ते हैं, इसलिए अलंकारों की उद्भावना का मूल जानने के पहले आचार्यों द्वारा अलंकारों के किये गये वर्गीकरण (प्रवृत्ति-जाति) का अवलोकन इस प्रतिपादन को स्फुटता प्रदान करेगा।

---

१. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति १।१।१

२. वक्रोक्तिजीवित १।६

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता॥
अलंकृतिरलंकरणम्। अलंक्रियते ययेति विगृह्य सा विवेच्यते विचार्यते। यच्चालंकार्यमलंकरणीयं वाचकरूपं वाच्यरूपञ्च तदपि विवेच्यते।

शब्द, अर्थ तथा किसी के मत में शब्दार्थोभय——अलंकार का यह तीन वर्ग परवर्ती काल (ध्वनि की स्थापना के पश्चात्) का विभाजन है,[1] जब अलंकार काव्य की अवर विधा मान लिया गया था।[2] इस विभाजन का दृष्टिकोण शब्द-अर्थ के आश्रित चमत्कार का विभाग है, जिस अलंकार का चमत्कार जिस पर आश्रित है उसकी वही (शब्द या अर्थ) संज्ञा है।

और काव्यशास्त्र के उदयकाल में जब अलंकार ही काव्य का अन्वर्थ था तब उसकी मूल प्रवृत्तियों को सामने रख कर आचार्यों ने उसके विभाग की एक दूसरी दिशा अपनायी थी। रुद्रट द्वारा किया गया अलंकार का वर्गीकरण अलंकारों की मूल प्रवृत्तियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। और दण्डी का अलंकार के सम्बन्ध में विभाग-दृष्टिकोण सूक्ति काव्यों के मूल का निदर्शन है। राजशेखर ने भी काव्य-मीमांसा के आरम्भ में अलंकारों के रूप एवं प्रवृत्ति-मूलक वर्ग के आधार पर विवेचन किये जाने का उल्लेख किया है। कुन्तक की पदार्थवक्रता का विभाग तथा भोज का अलंकार-विभाजन उस स्थापना के पश्चात् अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में परिवर्तित आकलन का द्योतक होने के विपरीत भी दण्डी के अलंकार-चिन्तन से अपनी एकता प्रकट करते हैं। आगे अलंकारों के वर्गीकरण करने के सम्बन्ध में आचार्यों के दृष्टिकोण दिये जा रहे हैं, इससे अलंकारों की स्थिति और काव्य-जगत् में उनके बढ़ते-घटते मूल्यों का बोध हो जाएगा।

दण्डी ने अलंकार नाम से जिनका व्याख्यान किया है, उन्हें साधारण अलंकार वर्ग कहा है। इस साधारण अलंकार-वर्ग के अतिरिक्त कुछ अलंकार (दण्डी के शब्दों में मार्ग की अलंक्रियाएँ) और हैं, जिनका लक्षण उन्होंने वैदर्भ-गौड मार्गों का विभाग करते समय बता दिया है। दण्डी की मूल कारिका है——

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते॥[3]

यहाँ इस भ्रम को अवकाश मिलता है कि दण्डी मार्ग-विभागार्थ-अलंक्रिया में किसकी गणना करते हैं, केवल माधुर्य गुण के प्रसंग में आये श्रुत्यनुप्रास, वर्णानुप्रास, अग्रा-

---

१. देखिए, काव्यप्रकाश ९, १०, सरस्वतीकण्ठाभरण २, ३, ४, साहित्यदर्पण १०

२. काव्यप्रकाश १। सू० ४

चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्।

३. काव्यादर्श २।३

स्यता और यमक[1] की, अथवा वैदर्भ मार्ग के प्राण दश गुणों की भी (गौड मार्ग में जिनमें कुछ का ही और भिन्न स्वरूप में प्रयोग होता है) मान्यता उन्हें मार्ग के अलंकार के रूप में इष्ट है। पिछली बात ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है, क्योंकि वैदर्भ-गौड मार्गों का विभाग केवल इतने कथन से तो पूरा नहीं हो जाता कि वैदर्भ श्रुत्युप्रास को पसन्द करते हैं और गौडों को वर्णानुप्रास प्रिय है।[2] दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक गुण के सम्बन्ध में मार्गों की उनकी अपनी-अपनी मान्यता का आख्यान करना पड़ा है। और दण्डी का दृष्टिकोण जैसा कि द्वितीय परिच्छेद के अन्त में स्पष्ट है, वे काव्य और उसकी प्रबन्ध-सम्बन्धी सभी चमत्कार-विधाओं को अलंकार के रूप में ही स्वीकार करते हैं।[3] अतः उक्त कारिका के **'प्रागप्यलंक्रिया'** पद में मार्ग के दश गुण, श्रुत्यनुप्रास, वर्णानुप्रास, अग्राम्यता और यमक की गिनती करनी चाहिए। प्रायः सभी गुण शब्द-प्रयोग के चमत्कार से ही अनुप्राणित हैं, केवल उदारता, कान्ति और समाधि को इसका अपवाद कहा जा सकता है। यह तो बहुत स्पष्ट है कि गुणों की दश संख्या मनन-चिन्तन के बाद प्रतिष्ठित की गयी होगी, श्रुति एवं वर्ण-अनुप्रास तथा अग्राम्यता, यमक भी पहले उन्हीं गुणों के समकक्ष मान्य रहे होंगे। बाद में जब उनकी सीमा और व्याप्ति का मूल्यांकन हुआ होगा तो तीन को माधुर्य गुण का परिपोषक मान लिया गया तथा यमक को अलग ही चित्रमार्ग की स्वीकृति मिली। श्लेष गुण का स्वरूप यद्यपि अनुप्रास से भिन्न है तथापि वह अनुप्रास के ही लक्ष्य को पूरा करता है, अनुप्रास के प्रयोग से जो नाद या पद-बन्ध की शोभा प्रकट होती है वह श्लेष के अस्पृष्ट शैथिल्य की ही सीमा है।[4] अर्थात् गुण और अनुप्रास सजातीय हैं एवं दोनों ही वाणी की अलंक्रिया हैं। 'प्रागपि अलंक्रिया' में 'क्रिया' शब्द भी काव्य की प्रक्रिया (रचना) की मान्यताओं की ओर संकेत है, जब भावकों का ध्यान काव्य की अर्थशोभा से हट कर शब्द शोभा की ओर आकृष्ट हुआ, दण्डी ने

---

१. **काव्यादर्श १।५२, ५४, ५५, ६१, ६२**

२. **वही, १।५४**

३. **वही, २।३६७**

> **यच्च संध्यंगवृत्यंग-लक्षणाद्यागमान्तरे।**
> **व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥**

४. **वही, १।४३**

> **श्लिष्टमस्पृष्ट-शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।**

पूर्व आचार्यों के मत में 'वाचाम् अलंकाराः' कहा है।[1] अर्थात् वाणी के अलंकार। उसी को देखते हुए विचित्र मार्गों की क्रिया-विधि का निबन्धन भी उनको इष्ट हुआ—— 'वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रिया-विधिम्।'[2] यहाँ वाणी से उस स्थिति का संकेत मिलता है जब अर्थ-चमत्कार को शब्द-चमत्कार अभिभूत कर रहा था। स्पष्ट है कि मार्गों की क्रिया-विधि तथा 'प्रागप्यलंक्रिया' में अलंक्रिया——दोनों पदों का प्रयोग एक समान वाणी की रचना-शोभा को दृष्टि में रख कर किया गया है। 'प्रागप्यलंक्रिया' की व्याख्या करते हुए 'प्रभा' टीकाकार ने अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि यह कथन उस विभाग-विवेचन की ओर संकेत है जिसमें दण्डी ने माधुर्य गुण के प्रसंग को लेकर रसवत्ता लानेवाले अनुप्रास को वैदर्भो और गौडों की प्रवृत्ति के अनुसार श्रुत्यनुप्रास और वर्णानुप्रास दो प्रकार का बताया है,[3] किन्तु यह केवल सिद्धान्त का अनुसरण है, काव्यशास्त्र के इतिहास तथा प्रयोग की सीमा की परख इसमें नहीं है। अग्राम्यता को दण्डी ने दोनों मार्गों की विशिष्टता बतायी है और उसका उल्लेख केवल मार्ग-विभागार्थ नहीं किया है।[4]

अब दण्डी का अलंकार-विभाग स्पष्ट होकर सामने आता है——

(१) अलंक्रिया-वर्ग

जिसमें मार्ग के दश गुण, अनुप्रास, यमक तथा अग्राम्यता आते हैं।

(२) साधारण अलंकार——वर्ग

---

१. काव्यादर्श, २।७

इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः ।।

२. वही, १।९

३. वही, २।३ की प्रभा टीका

मार्ग-विभागार्थम्, गौडवैदर्भमार्गयोर्वैसादृश्यद्योतनार्थम्। प्रागपि प्रथमपरिच्छेदे।. . .तत्प्रयोजनं तु श्रुत्यनुप्रासो वैदर्भैरंगीकृतः न गौडैरित्यादिना मार्गभेदकथनम्। अतः तेऽलंकारा न पुनर्निरूप्यन्ते इति भावः।

४. वही, १।६२, ६७

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा।।
एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।

१. स्वभावाख्यान, २. उपमा, ३. रूपक, ४. दीपक, ५. आवृत्ति, ६. आक्षेप, ७. अर्थान्तरन्यास, ८. व्यतिरेक, ९. विभावना, १०. समास (समासोक्ति), ११. अतिशयोक्ति, १२. उत्प्रेक्षा, १३. हेतु, १४. सूक्ष्म, १५. लव, १६. क्रम, १७. प्रेय, १८. रसवत्, १९. ऊर्जस्वि, २०. पर्यायोक्त, २१. समाहित, २२. उदात्त, २३. अपह्नुति, २४. श्लेष, २५. विशेष (विशेषोक्ति) २६. तुल्ययोगिता, २७. विरोध, २८. अप्रस्तुतस्तोत्र (अप्रस्तुतप्रशंसा), २९. व्याजस्तुति, ३०. निदर्शना, ३१. सहोक्ति, ३२. परिवृत्य, ३३. आशीः, ३४. संकीर्ण (संसृष्टि), ३५. भाविक।[१]

साधारण अलंकार वर्ग के ये प्रकार और इन प्रकारों के अनेक उपभेद सूक्तियों के प्रयोग हैं, सूक्तियों की उद्भावना दो प्रकार से की जाती थी--वस्तुचित्र या भाव का यथातथ्य प्रकाशन और अभीष्ट अर्थ को सीधे न कहकर आक्षिप्त करने के लिए अभिधा से प्रकारान्तर का प्रयोग। इसकी पुष्टि दण्डी के उस कथन से होती है जिसमें उन्होंने सम्पूर्ण काव्य-वाङमय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के सामान्य विभागों में बाँट दिया है। उक्त प्रकारों के अतिरिक्त दण्डी ने चार अन्य अलंकारों का नामतः निर्देश किया है, जो सम्भवतः उनके सामने स्वतंत्र अलंकारों के रूप में मान्य हो रहे थे और स्वयं उन्हें उनका अन्तर्भाव अन्य अलंकारों में ही इष्ट था[२]--

३६. अनन्वय	उपमा में असाधारणोपमा[३] तथा
३७. ससंदेह	संशयोपमा[४] नाम से निरूपित ।
३८. उपमारूपक	रूपक में इसी नाम से व्याख्यात[५]।
३९. उत्प्रेक्षावयव	उत्प्रेक्षा के एक नये भेद के रूप में स्वीकार।

इसी तरह दो अन्य अलंकार दण्डी ने उपमा-भेद के अन्तर्गत निरूपित किये हैं, जो बाद में स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार हुए--

४०. अन्योन्योपमा,[६]

४१. प्रतिवस्तूपमा।[७]

---

१. काव्यादर्श २।४-७
२. वही, २।३५८, ३५९
३. वही, २।१६
४. वही, २।३७
५. वही, २।८८, ८९
६. वही, २।१८
७. वही, २।४६

भामह ने अन्योन्योपमा को उपमेयोपमा नाम से एवं अनन्वय, ससंदेह, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र अलंकार निरूपित किया है।[1] उद्भट ने प्रतिवस्तूपमा को उपमा से अलग स्वतन्त्र रखा है।[2]

दश गुणों एवं अग्राम्यता को अलंकार-कोटि में न रखकर, परवर्ती आचार्यों द्वारा अलंकार की जो विशिष्ट कसौटी स्वीकार की गयी उसके अनुसार अनुप्रास और यमक को मिलाकर तथा संकीर्ण (संसृष्टि) को छोड़ कर क्योंकि वह इन्हीं अलंकारों का मिश्रीभाव है, निष्कर्षतः दण्डी ने कुल ४२ अलंकारों का निरूपण किया है, इस संख्या में उत्प्रेक्षावयव की गणना नहीं है, क्योंकि दण्डी ने उत्प्रेक्षा-भेद के रूप में इसकी स्वीकृति मात्र दी है, निदर्शन नहीं किया है।

इनमें अनुप्रास और यमक को छोड़ कर शेष साधारण अलंकार वर्ग हैं। इन ४० अलंकारों को दण्डी ने पुनः प्रवृत्ति और प्रयोग की दृष्टि से स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो प्रकार का बताया है।[3] यह विश्लेषण उन्हें वहाँ करना पड़ा जहाँ वे संकीर्ण-अलंकार के प्रयोग को लेकर श्लेष द्वारा अन्य अलंकारों के चमत्कृत होने की बात कह रहे थे। उन्होंने कहा—यह श्लेष सभी अलंकारों की शोभा को चमत्कृत कर देता है किन्तु वक्रोक्तिमूलक अलंकारों की शोभा को प्रायः अधिक। उनके यह कहने के बाद स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता था कि समस्त अलंकारों का व्याख्यान किये जाने के बाद यह वक्रोक्ति नाम की नूतन उपलब्धि क्या है? पर दण्डी ने वहीं उत्तर दे दिया है—यह समस्त वाङ्मय स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो प्रकार का है, अर्थात् वक्रोक्ति पद का प्रयोग वाङ्मय के सामान्यभेद, अलंकार के वर्गीकरण के रूप में है किसी नये अलंकार-प्रकार का अभिधान नहीं है। इस कथन को विस्तार से हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—जिस काव्य-वाङ्मय को छन्दः-प्रयोग की दृष्टि से गद्य, पद्य, मिश्र तीन प्रकार का बताया गया, भाषा भेद से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र रूप में व्याख्यान किया गया, मार्गों के वैचित्र्य से जो वैदर्भ और गौड है, वही काव्य-वाङ्मय अर्थशोभा के विधायक अलंकारों की प्रवृत्ति और प्रयोग की भूमि में—

---

१. काव्यालंकार (भामह) ३।३७, ४५, ४३, ३५, ४७

२. काव्यालंकार-सार-संग्रह, १।२२-२३

३. काव्यादर्श २।३६३

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥

(१) स्वभावोक्ति और

(२) वक्रोक्ति

दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है। वक्रोक्ति का अर्थ तो बहुत स्पष्ट है और इसमें अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति जैसे वक्र-उक्ति मूलक अलंकार आते हैं। स्वभावोक्ति को स्वभावोक्ति अलंकार से नहीं सम्बद्ध करना चाहिए, वरंच अलंकारों के एक वर्ग के लिए प्रयुक्त यह पारिभाषिक संज्ञा है। स्वभावोक्ति की संज्ञा को ही रुद्रट ने वास्तव नाम दिया।

अलंकारों की प्रयोग-प्रवृत्ति के विषय में दण्डी का यह प्रथम, यथार्थ और मौलिक संकेत है। यद्यपि उन्होंने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दो विधाओं का ही नाम लिया है, किन्तु श्लेष भी एक नयी विधा है ऐसा संकेत उनके उक्त कथन में है, क्योंकि वह सभी अलंकारों की शोभा को चमत्कृत करता है। अतः (१) स्वभावोक्ति (२) वक्रोक्ति एवं (३) श्लेष अलंकारों की तीन प्रयोग-विधाएँ दण्डी को अभीष्ट थीं, यह कहा जा सकता है। परवर्ती आचार्य रुद्रट ने वास्तव औपम्य, अतिशय और श्लेष—ये चार वर्ग इन अलंकारों के बताये हैं।[1] औपम्य को वे वक्रोक्ति (अतिशय) से अलग कर देते हैं। दण्डी की अपेक्षा उनका यह नया विवेचन है। दण्डी ने घोषणापूर्वक अलंकारों के वर्गीकरण की बात न कहकर वाङमय का द्विधा विभाग किया है, रुद्रट ने अलंकारों का स्पष्ट वर्गीकरण स्वीकार किया है, यह तो विवेचन की उत्तरोत्तर स्फुटता का प्रभाव था।

भामह ने अलंकार का ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं किया। स्वभावोक्ति उन्हें अलंकार के रूप में ही कम स्वीकार है,[2] फिर उसे एक वर्ग मानने की बात तो दूर रही। वक्रोक्ति को वे अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं, जिससे अर्थ में रमणीयता आती है और उनके मत में कोई भी अलंकार इसके बिना संभव नहीं है। कवि को सत्काव्य के लिए इसमें प्रयास करना चाहिए।[3] अलंकार-उद्भावना की

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।९

२. काव्यालंकार (भामह) २।९३

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते ।

३. वही, २।८४, ८५

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

मूल प्रवृत्ति और प्रयोग उनके मत में यह अतिशयोक्ति है, और क्योंकि उनकी पूर्व-परम्परा का आग्रह अलंकारों की मूल-प्रवृत्ति वक्रोक्ति में स्वीकार करता था, अतः उन्होंने समाधान के रूप में यह कथन कर दिया कि यह अतिशयोक्ति वह समग्र वक्रोक्ति है। पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति को अलंकार के एक वर्ग विशेष का वैशिष्ट्य स्वीकार किया था और अतिशयोक्ति को अलंकार-विशेष के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे अन्य अलंकारों की भी उक्ति के चमत्कार का आश्रय माना था।[1] भामह के उक्त मत से ध्वनिकार प्रभावित हुए हैं और उन्होंने भी अतिशयोक्ति के संबंध में ऐसा ही विचार प्रकट किया है—'महाकवियों द्वारा प्रयुक्त अतिशयोक्ति काव्य में विशिष्ट शोभा का कारण बनती है। अपने विषय के औचित्य से अतिशयोक्ति का प्रयोग भला क्यों न काव्य में उत्कर्ष पैदा करे। भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में जो कहा...अतः अतिशयोक्ति जिस अलंकार को अनुप्राणित करती है, कवि-प्रतिभा के बल से उसमें ही विशिष्ट चमत्कार का योग हो जाता है, अन्य अलंकारों की केवल अलंकारता मात्र समझी जानी चाहिए। समग्र अलंकारों के शरीर के रूप में स्वीकृत होने योग्य कारण से तथा अभेद के व्यवहार से यह अतिशयोक्ति ही सभी अलंकारों के रूप में प्रयुक्त होती है (भामह की उक्त कारिका का)—यह ही अर्थ समझना चाहिए।'[2]

यद्यपि भामह ने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति के रूप में ही माना है और उनका यह सिद्धान्त अपनी पूर्व परम्परा की वक्रोक्ति—मान्यता का परिष्कार है तथापि वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में भेद है, यथाकथंचित् हम अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति की सीमा में रख सकते हैं लेकिन वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति की सीमा में नहीं।

---

१. काव्यादर्श २।२२०

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥

२. ध्वन्यालोक ३।३६ की वृत्ति

कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति, कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम् तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरण-योग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकार-रूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

वक्रोक्ति से प्रयोग-वैचित्र्यता (वक्र-उक्ति) अभिप्रेत है और अतिशयोक्ति से भाव-वैचित्र्यता (अतिशय- क्ति) इष्ट होती है।

अलंकारों का प्रवृत्ति-मूलक वर्गीकरण न करके भी भामह ने उनका एक उल्लेख-क्रम अवश्य दिया है, जो अलंकार-उद्भावना के ऐतिहासिक क्रम की महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। कौन अलंकार पहले प्रतिष्ठित हुए कौन बाद में, पूर्वापर की यह गणना भामह के काव्यालंकार में है। यद्यपि दण्डी ने भी अलंकारों के नाम प्रायः इसी क्रम से गिनाये हैं जिस क्रम से भामह ने उल्लेख किया है, यह बात भामह की निम्नलिखित अलंकार-गणना को दण्डी के अलंकारों की दी गयी सूची से मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है, किन्तु अन्तर यह है कि दण्डी ने उनकी गणना एक साथ कर दी है और भामह तथा उनके परवर्ती उद्भट ने ऐतिह्य दृष्टिकोण रखकर काव्य-गोष्ठियों में जिस क्रम से अलंकारों की प्रतिष्ठा की कहानी सुनने में आयी, उसी क्रम का उल्लेख करते हुए उनका व्याख्यान किया। इसके दो कारण थे—एक तो औदीच्यों की सूक्ष्म निरीक्षण-दृष्टि और दूसरा, अलंकार-विवेचन का दाक्षिणात्य परम्परा से औदीच्यों में क्रम-क्रम से आगमन।

भामह ने चार क्रमों में अलंकारों की व्याख्या की है—

१. अन्य (प्राचीन) आचार्यों ने वाणी के पाँच ही अलंकार बताये हैं—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा।

२. उक्त अलंकारों से भिन्न छह अलंकार ये हैं—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

३. यथासंख्य और उत्प्रेक्षा—ये दो अलंकार भी कहे गये हैं। स्वभावोक्ति को भी कुछ लोग अलंकार कहते हैं।

४. उक्त अलंकारों के अतिरिक्त विद्वानों ने इन अन्य अलंकारों का भी व्याख्यान किया है—प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, भाविकत्व।

इनमें से तीन क्रम तो निश्चित रूप से ऐतिहासिक क्रम हैं जो अलंकारों की उद्भावना के पूर्वापर की यथावत् सूचना देते हैं, किन्तु चौथे क्रम के सम्बन्ध में यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। चौथे क्रम के अलंकार दण्डी के काव्यादर्श में भी प्रायः इसी क्रम से गिनाये गये हैं, लेकिन काव्य में उनकी उद्भावना उक्त तीन क्रमों के पश्चात् हुई, ऐसा कहना ठीक न होगा। कम से कम श्लेष के सम्बन्ध में तो यह निश्चित ही है कि इस अलंकार की प्रतिष्ठा उपमा के समानान्तर ही हुई है और तब यह सौशब्द्य काव्य था। दण्डी और भामह

दोनों के श्लेष-विषयक व्याख्यान में ही यह स्पष्ट है, दण्डी कहते हैं—'उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलंकारों में सन्निविष्ट श्लेष के भेद उन-उन अलंकारों के व्याख्यान के साथ समझा दिये गये हैं, अब दूसरे भेदों का निरूपण किया जा रहा है।'[1] भामह का कहना है—'गुण, क्रिया और नाम (संज्ञा) से उपमेय का जो तादात्म्य (अभेद) उपमान के साथ सिद्ध किया जाता है उसे श्लिष्ट अलंकार कहते हैं।'[2] अर्थ के व्युत्पत्ति-विषय को लेकर अलंकारों की प्रतिष्ठा का जो अध्याय आरम्भ हुआ उसमें सौशब्द्य उक्तियों की उपेक्षा हो गयी, श्लेष-अलंकार को भी उन उपेक्षित उक्तियों के साथ समझना चाहिए। लेकिन गुणों के रूप में सौशब्द्य काव्य के पुनः उदय और श्लेष का अर्थ-व्युत्पत्ति-विषयक महत्त्व उसे अनुप्रास , यमक के क्रम से अलग कर अर्थालंकारों के साथ प्रतिष्ठित करने के कारण बने और दण्डी ने पहली बार उसके इस महत्त्व को प्रकट रूप में सामने रखा, उनका कहना है कि स्वभावोक्तियों में तो कम, किन्तु वक्रोक्तिमूलक अलंकारों में श्लेष अत्यन्त ही चमत्कार-जनक होता है।[3] श्लेष की तरह इन तेईस अलंकारों में अन्य अलंकार भी ऐसे हैं जिनकी प्रतिष्ठा पहले या तो अन्य काव्य-सिद्धान्तों (सूक्ति-भाव-रस) में रही है, जैसे—प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, भाविक। या वे दीपक, उपमा, रूपक आदि अलंकारों के उन व्याख्याओं में अन्तर्भूत थे जो व्याख्याएँ उन-उन अलंकारों को समग्र काव्य-सिद्धान्त मान कर प्राक्तन काव्य-गोष्ठियों में की गयी थीं, और जब अर्थ-व्युत्पत्ति को ही अलंकार-उद्भावना का सामान्य सिद्धान्त स्वीकार कर नया विश्लेषण आरम्भ हुआ तो उनको भी अन्तर्भूत-परिस्थिति से अलग कर नयी स्वतन्त्र संज्ञा प्रदान की गयी, जैसे—उदात्त, तुल्ययोगिता, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव। शेष कुछ ही अलंकार नये उद्भावित हुए।

भामह की इस सूची के ऐतिहासिक क्रम की पुष्टि उद्भट के 'काव्यालंकार-

---

१. काव्यादर्श २।३१३

उपमा-रूपकाक्षेप-व्यतिरेकादि गोचराः।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे॥

२. काव्यालंकार (भामह) ३।१४

उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणाक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते॥

३. काव्यादर्श २।३६३

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।

सार-संग्रह' में अलंकारों के छह वर्गों में किये गये उस संकलन से होती है जिसमें प्रत्येक वर्ग के अलंकार अलग-अलग आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित कहे गये हैं—'इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः',[1], 'परे विन्दुः',[2], 'अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ,'[3] 'परे विदुः'[4] 'जगदुरलंकारान्परे गिराम्'[5], 'इत्यलंकारान्परे विदुः,'[6] उद्भट की यह सम्पूर्ण सूची प्रायः ज्यों की त्यों भामह के अनुसार है, अन्तर केवल यह है कि भामह की चौथी सूची को उद्भट ने तीन परम्पराओं में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख कर अपने ग्रन्थ में चतुर्थ, पंचम और षष्ठ वर्गों में बाँट दिया है। भामह की चौथी सूची उद्भट के अनुसार इस ऐतिहासिक क्रम में विभक्त है—

---

१. काव्यालंकार-सार-संग्रह १।१-२

पुनरुक्तवदाभसं छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥
उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥

२. वही, २।१

आक्षेपोऽर्थान्तिरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती चेत्यलंकारान्परे विदुः॥

३. वही, ३।१

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षां स्वभावोक्तिं तथैव च।
अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ॥

४. वही, ४।१

प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विश्चोदात्तं तथा श्लिष्टमलंकारान्परे विदुः॥

५. वही, ५।१-२

अपह्नुतिं विशेषोक्ति विरोधं तुल्ययोगिताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसां च व्याजस्तुतिविदर्शने॥
उपमेयोपमां चैव सहोक्ति संकरं तथा।
परिवृत्तिं च जगदुरलंकारान्परे गिराम्॥

६. वही, ६।१

अनन्वयं ससंदेहं संसृष्टि भाविकं तथा।
काव्यदृष्टान्तहेतू चेत्यलंकारान्परे विदुः॥

चतुर्थ वर्ग--अन्य आचार्यों ने प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, दो प्रकार का उदात्त और श्लिष्ट (इन) अलंकारों को कहा है।

पंचम वर्ग--दूसरे आचार्यों ने अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना, उपमेयोपमा, सहोक्ति, संकर तथा परिवृत्ति, अलंकारों का वर्णन किया है।

षष्ठ वर्ग--तथा (कुछ) अन्य आचार्यों ने अनन्वय, ससन्देह, संसृष्टि, भाविक काव्यहेतु (काव्यलिंग) और काव्यदृष्टान्त (दृष्टान्त) इतने अलंकारों को कहा है।

कुल मिला कर भामह के यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव अलंकार उद्भट की सूची में नहीं हैं और उद्भट के लाटानुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, संकर, काव्यहेतु और काव्यदृष्टान्त अलंकार भामह से नये हैं। प्रतिवस्तूपमा का यद्यपि भामह की सूची में नामोल्लेख नहीं है तथापि उन्होंने इसका निरूपण नाम के साथ उपमा-भेद के प्रसंग में किया है।

जो बात पहले भामह की चौथी सूची के सम्बन्ध में कही गयी है, उद्भट के चौथे, पाँचवें और छठे वर्ग के सम्बन्ध में भी वही बात लागू होती है। इन वर्गों के अनेक अलंकारों की उद्भावना प्रथम तीन वर्गों के समानान्तर होते हुए भी उनकी प्रतिष्ठा अलंकार-संज्ञा से अथवा उनके स्वतन्त्र नाम से बाद में हुई। भामह और उद्भट की इन सूचियों में अलंकार-उद्भावना-विषयक मूल-प्रवृत्तियों का दिशा संकेत न होने पर भी अलंकारों के उद्भावित एवं प्रतिष्ठित होने के पूर्वापर क्रम का प्रामाणिक ऐतिहासिक लेखा है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उससे हमें अलंकारों के विकास का इतिहास उन्मीलन करने में पूरी सहायता मिलती है। पूर्वापर का ऐसा उल्लेख अन्य आलंकारिकों ने नहीं किया है।

वामन (७७९–८१३ ई०) यद्यपि औदीच्य आचार्य हैं और उद्भट के समसामयिक हैं लेकिन उद्भट के प्रतिद्वंद्वी हैं। उन्होंने औदीच्य काव्य-सम्प्रदाय की मान्यताओं से भिन्न दिशा में अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। उनके ऊपर दाक्षिणात्य मान्यताओं का प्रभाव है, जिनको स्वीकार कर वे उनका व्याख्यान अपने ढंग से करते हैं। भामह के तीन गुणों के स्थान पर उन्होंने दण्डी के दश गुणों को स्वीकार किया, यद्यपि शब्द-गत, अर्थ-गत विभाग से उनकी संख्या २० कर दी। अर्थालंकारों की उद्भावना के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपना नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और सभी अर्थालंकारों का मूल उपमा को बताया।[1] उनके मत में समस्त

---

१. काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति ४।२

सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते।

अर्थालंकार उपमा के ही प्रपंच हैं।[1] उनका यह कथन दण्डी के कारिकार्ध, 'उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते',[2] का स्मरण कराता है। उन्होंने उपमा के प्रपंच-भूत कुल ३० अलंकार मात्र निरूपित किये हैं। उनके अलंकारों में दण्डी का स्वभावोक्ति नहीं है, फिर स्वभावोक्ति वर्ग की उद्भावना ही दूर रही। दण्डी और भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को जो अलंकारों का मूल बताया था तथा दण्डी ने श्लेष को जो सभी अलंकारों का शोभाकारक कहा था, वामन ने उनको उपमा एवं रूपक के अंगभूत लक्षणों में समेट दिया।[3] यही नहीं उपमादोष के प्रसंग में अतिशय-उक्ति को असम्भव होने पर दोष भी कहा और स्पष्ट निर्देश किया कि अलंकार-योजना में ऐसी विरुद्ध अतिशय-उक्तियों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।[4] राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में काव्य-विद्या के औपकायन-कृत औपम्य-प्रकरण की चर्चा की है, सम्भवतः वामन के समय में भी काव्य-जगत् में उपमा-सम्बन्धी ऐसी व्यापक चर्चा रही हो, काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति के अर्थालंकार-सम्बन्धी दोनों अध्याय (४।२, ३) प्रकारान्तर से औपम्य-प्रकरण ही हैं। उद्भट और वामन का अलंकार-निरूपण काव्यशास्त्र के शास्त्रीय विवेचन की पद्धति में दण्डी और भामह के बाद क्रमागत अपनी स्थिति सिद्ध करता है। दण्डी ने काव्य-जगत् की मान्यताओं का विभाग-पूर्वक एक संकलन प्रस्तुत किया, भामह ने उन-मान्यताओं पर शास्त्रीय दृष्टिपात किया और वामन ने अपने शास्त्रीय दृष्टिकोण की पूर्णतः स्थापना की। अलंकार के भेदों की संख्या शास्त्रीय निर्वचन-पद्धति में कमशः कम होती गयी।

---

१. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।३।१
प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमा-प्रपंचः।

२. काव्यादर्श २।१४

३. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।३।८
सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।
वही ४।३।१०
सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः॥
वही, ४।३।७
रूपकाच्छ्लेषस्य भेदं दर्शयितुमाह—
स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः।

४. वही, ४।२।२१
न विरुद्धोऽतिशयः।
विरुद्धस्यातिशयस्य संग्रहो न कर्त्तव्य इति, अस्य सूत्रस्य तात्पर्यार्थः।

रुद्रट (९ वीं शती ई०) ने भामह की अतिशयोक्ति रूप-वक्रोक्ति को ही शब्द-वक्रोक्ति एवं अर्थ के अतिशयोक्ति के रूप में माना, और दण्डी ने अलंकार वाङ्मय (अर्थाश्रित) को जो द्विधा विभक्त कर उसके वर्गीकरण का संकेत किया था, उस पद्धति के विकास के फलस्वरूप उन्होंने भाव-विज्ञान और प्रयोग-विज्ञान की परिधि में अलंकारों को चार वर्गों में बांटा—

(१) सास्तव (२) औपम्य (३) अतिशय (४) श्लेष ; काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इन्हीं को अर्थगुण कहा है।[1]

वास्तव—ऐसे अलंकार हैं जिनमें वस्तु का यथास्वरूप कथन होता है. अर्थ पुष्ट रहता है, साथ ही अलंकार की उक्ति विपरीत कथन से रहित, उपमा-रहित, अतिशय-भाव-रहित तथा श्लेष-योजना-रहित होती है, रुद्रट ने इस वर्ग में २३ अलंकारों की गणना की है[2]—

सहोक्ति समुच्चय, जाति (स्वभावोक्ति), यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित, एकावली।

औपम्य—प्रस्तुत वस्तु को स्वरूपतः सम्यक् प्रतिपादित करने के लिए तत्समान अप्रस्तुत वस्तु का अभिधान जिन अलंकारों में होता है वे औपम्य वर्ग के हैं। इस वर्ग में रुद्रट ने २१ अलंकार गिनाये हैं[3]—

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, स्मरण।

इस वर्ग के सहोक्ति और समुच्चय का विधान उपमान-उपमेयभाव को लेकर होता है।

अतिशय—ऐसे अलंकार हैं जिनमें वस्तुस्वरूप प्रसिद्धि की उपेक्षा करके कहा जाता है अतः वाक्य का अर्थ और भाव का धर्म दोनों अपने नियम के उलटे अभिव्यक्त होते हैं। रुद्रट ने इस वर्ग में १२ अलंकारों की गणना की है[4]—

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ११।३६

देखिए, 'शब्दार्थयोरिति निरूप्य विभक्तरूपान्दोषान्गुणांश्चनिपुणो विसृजन्नसारम्' कारिकांश की व्याख्या।

२. वही, ७।९-१२

३. वही, ८।१-३

४. वही, ९।१-२

पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात, अहेतु।

श्लेष—ऐसे अलंकारों का वर्ग है जिसमें अनेकार्थ पदों से रचित एक वाक्य में ही अनेक अर्थों का निश्चय होता है। एक वाक्य कह कर शब्दश्लेष से इसकी अपनी विशेषता उक्त हुई है। इसमें दश अलंकार गिनाये गये हैं[1]—

अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास।

इसी प्रकार शब्द-बोध मूलक अलंकारों को भी पाँच वर्गों में रुद्रट ने रखा है जिन्हें वस्तुतः वर्ग न कह कर भेद कहना चाहिए। टीकाकार नमिसाधु उन्हीं को शब्दगुण कहते हैं[2]—

(१) वक्रोक्ति (२) अनुप्रास (३) यमक (४) श्लेष (५) चित्र।

इनमें यमक, श्लेष तथा चित्र के अनेक प्रकार बताये गये हैं। शब्द श्लेष के भाषा-श्लेष प्रकारों तथा चित्र के चित्रबन्धों एवं गूढ़ प्रहेलिकाओं में विदग्धगोष्ठी के कवियों का शब्दप्रयोग चमत्कार की चरम सीमा पर पहुँच गया है। काव्यादर्श में इस यमक और चित्र का निरूपण गुण तथा अलंकार से अलग अन्य परिच्छेद में है अतः काव्य दृष्टि से अनभिमत प्रतीत होता है, केवल गोष्ठियों में शब्द-चमत्कार-प्रिय कवियों के प्रयोग का आग्रह देखकर ही उसका निरूपण हुआ है और उसे दुष्कर भी कहा गया है।[3]

रुद्रट ने भाषा-श्लेष की दो विधाएँ बतायी हैं—(१) जहाँ वाक्य भिन्न-भिन्न भाषाओं के पदों में अन्वय किया जाता है और भिन्न अर्थों का बोध कराता है (२) तथा जहाँ सम्पूर्ण वाक्य और उसका एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न भाषाओं के समान-पदों में अन्वय-सह हो जाता है। दोनों के, एक-समान भाषा-श्लेष के पाँच-पाँच उदाहरण दिये गये हैं—संस्कृत-प्राकृत, संस्कृत-मागधी, संस्कृत-पैशाची, संस्कृत-सूरसेनी और संस्कृत-अपभ्रंश।[4] इस भाषा-श्लेष को हम दण्डी के मिश्र भाषा-काव्य की परम्परा का नया उन्मीलन मानते हैं।

भाषा-श्लेष की तरह रुद्रट ने प्रकृति, प्रत्यय, वचन और विभक्ति के श्लेष-

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १०।१-३

२. वही, २।१३

३. काव्यादर्श ३।१८६

चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।

४. काव्यालंकार (रुद्रट), ४।१०-२१

काव्य का प्रकार भी निरूपित किया है,[1] जो कवि से अधिक शास्त्र के प्रथम विद्वान् वैयाकरण की प्रतिभा के आश्रित हैं।

रुद्रट के अर्थगत-अलंकारों के विभाजन को ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है है कि कुछ अलंकारों को दो-दो वर्गों में रखा गया है और उनकी परिभाषा वहाँ उस-उस वर्ग की प्रकृति के अनुकूल कर दी गयी है। प्रायः उनका नाम और विधा दोनों एक ही हैं। लेकिन वस्तु-विभाग में द्विधा प्रकृति के कारण उनके भेद को अलग-अलग दो वर्गों का अलंकार स्वीकार किया गया है। यथा सहोक्ति, समुच्चय, और उत्तर, वास्तव और औपम्य दोनों वर्गों में है। उत्प्रेक्षा औपम्य और अतिशय में है। अधिक और विरोध अतिशय और श्लेष दोनों में है। जैसा कि पहले कहा गया है—दण्डी ने भी अलंकार की तीन मूल प्रवृत्तियों का संकेत किया है—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, श्लेष। स्वभावोक्ति को ही रुद्रट ने वास्तव कहा तथा वक्रोक्ति को औपम्य। इस औपम्य को ही प्रकारान्तर से अतिशय की परिभाषा में ग्रहण किया जाता रहा। दण्डी ने श्लेष को वक्रोक्ति-मूलक अलंकारों में जो विशेष शोभाधायक कहा है उसका कारण वक्रोक्ति में श्लेष द्वारा उपमा-धर्म के अर्थ-विधान की सुगमता है। इस वर्गीकरण के अनुशीलन से यह निश्चय होता है कि स्वभावोक्ति-वर्ग बहुत कुछ अपने स्थान पर जहाँ का तहाँ रहा, वक्रोक्ति-मूलक अलंकारों के ही तीन विभाग हो गये—अधिकांश अलंकार जिनमें उपमान-उपमेय का योग रहा वे औपम्य वर्ग में है, जिनकी उक्ति श्लेष-मूलक रही वे श्लेष वर्ग में रख दिये गये और जो अलंकार स्वभावोक्ति और औपम्य की अपेक्षा अपनी उक्ति में ही अधिक चमत्कार रखते हैं उन्हें ही केवल अतिशय वर्ग में रखा गया। इसीलिए दण्डी के काव्यादर्श में जहाँ वक्रोक्ति-मूलक अलंकारों की लम्बी संख्या का संकेत है वहाँ रुद्रट के काव्यालंकार में वे अतिशय के रूप में केवल १२ हैं। स्वभावोक्ति वर्ग के तीन अलंकारों (सहोक्ति, समुच्चय, उत्तर) का उपमा-मूलक स्वरूप औपम्य वर्ग में भी परिगणित हुआ।

रुद्रट के इस विभाजन को हम सर्वथा मौलिक स्वीकार करने के पक्ष में नही हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा से पता चलता है कि तात्कालिक विदग्ध-गोष्ठियों में अलंकारों के भिन्न-भिन्न वर्गों को लेकर शास्त्रीय विवेचन की परम्परा स्थापित की गयी थी उन्होंने अलंकार-शास्त्र के इन वर्गीकृत विवेचनों का उनके आचार्यों के नाम के साथ उल्लेख किया है— वास्तव—पुलस्त्य, औपम्य—औपकायन, अतिशय—पाराशर, अर्थ-श्लेष—उतथ्य, अभयालंकारिक—कुबेर,

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ४।२४-३२

औक्तिक---उक्ति गर्भ, आनुप्रासिक---प्रचेता, यमकानि---यम, चित्र---चित्रांगद शब्द-श्लेष---शेष।[1] राजशेखर के कथनानुसार काव्य-विद्या का उपदेश अठारह भागों में किया गया था, उनमें से उक्त १० भाग अलंकार के ही थे, इससे उस समय की काव्य-गोष्ठियों में अलंकार के प्रति रुझान का पता चलता है। प्रत्येक अलंकार के अनेक प्रयोगों को प्रस्तुत कर अपनी उक्ति-विदग्धता का परिचय दिया जाता था, दण्डी के उपमा-चक्र, रूपक-चक्र, आक्षेप-चक्र आदि में चक्र शब्द उसी प्रयोग-वैशिष्ट्य -गत वर्ग का परिचायक है। राजशेखर के उक्त उल्लेख में आरम्भ के चार भाग ही रुद्रट के अलंकारों के चार वर्ग हैं, शेष में पाँच औक्तिक, आनुप्रासिक, यमक, चित्र तथा शब्द-श्लेष रुद्रट के शब्दालंकार के क्रमशः पाँच वर्ग हैं---वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, चित्र और श्लेष।[2] यह भी सम्भव है कि औक्तिक प्रकरण शब्दालंकार वक्रोक्ति न होकर व्यापक वक्रोक्ति-विधा का व्याख्यान रहा हो। उक्त उल्लेख से प्रकट होता है कि विदग्ध-गोष्ठियों में चलती चर्चा को ही परिष्कृत कर रुद्रट ने काव्यालंकार में निबद्ध किया है। उभयालंकारिक वर्ग को अर्थालंकार में सम्मिलित कर दिया होगा। पर यह नहीं कहा जा सकता कि रुद्रट के इस विभाजन के बाद ही अलंकारों की वर्गीकृत उक्त-शास्त्र-चर्चा विदग्ध-गोष्ठियों में चली होगी? और राजशेखर का समय भी रुद्रट के बाद का है। यह सत्य है कि राजशेखर रुद्रट के पश्चात् हुए हैं और उन्होंने उनके काकु-वक्रोक्ति अलंकार का उल्लेख कर उसका खण्डन किया है और उसे काव्य का पाठ-धर्म मात्र स्वीकार किया है।[3] किन्तु काव्य-विद्या के अन्तर्गत उक्त अलंकार-प्रकरणों के सम्बन्ध में रुद्रट के कृतित्व की चर्चा नहीं की है। अतः सत्य यही है कि रुद्रट ने भी काव्य-गोष्ठियों की अलंकार-चर्चा को ही निबद्ध किया।

ध्वनि की स्थापना और रस की काव्य में सर्वोच्च सत्ता स्थापित होने के बाद कश्मीरी आचार्यों ने अलंकारों को केवल शब्द और अर्थ के आश्रित विधा के चमत्कार में ही देखा। यद्यपि आनन्दवर्धन की विधा में वे कुछ अलंकारों का महत्व

---

१. काव्यमीमांसा (प्र० अ०), पृ० १-२

२. काव्यालंकार (रुद्रट) २।१६-१७

३. काव्यमीमांसा (अ० ७) पृ० ७५

'काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्' इति रुद्रटः।
'अभिप्रायवान्पाठधर्मः काकुः। स कथमलंकारी स्यात्?' इति यायावरीयः।

ध्वनि के समकक्ष स्वीकार करते हैं।[1] मम्मट ने अतिशयोक्ति को भी अलंकारों का प्राण स्वीकार किया है, क्योंकि उसके बिना अलंकारत्व का योग ही नहीं आता। उन्होंने वहाँ भामह की पीछे लिखी कारिका (सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः०) को भी उद्धृत किया है,[2] यह कारिका ध्वनिकार द्वारा भी अतिशयोक्ति के समर्थन में उदाहृत हुई है। इसको देखते हुए अलंकार के अभिधा शब्द तथा वाच्य अर्थ के द्विधा-विभाग की संगति उचित नहीं प्रतीत होती। अतिशयोक्ति तो निश्चय ही भाव है या व्यंग्य उक्ति है, और अतिशयोक्ति-मूलक अलंकार को केवल अर्थ-आश्रित चमत्कार की कोटि में रखना सिद्धान्त का आग्रह मात्र है।

कुन्तक ने प्रत्यय और पद की वक्रता के बाद वाक्य-वक्रता की व्याख्या की है। वाक्य-वक्रता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, वह हजार प्रकार से विभक्त होता है। काव्य की समस्त अलंकार-विधाएँ इसी वक्रता के अन्तर्गत आती हैं।[3] वाक्य पदों से बनता है और इसके अर्थ में अन्वित होकर किसी वस्तु का स्वरूप प्रस्तुत होता है अतः इसे पदार्थ-वक्रता या वस्तु-वक्रता भी कहते हैं। कुन्तक वस्तु-वक्रता के दो भेद करते हैं जिनमें से प्रथम भेद वस्तु के स्वभाव-सौकुमार्य पक्ष को प्रस्तुत करता है और दूसरा अलंकार-विच्छिति से शोभित होता है। (१) प्रथम वस्तु-वक्रता (पदार्थ वक्रता) का विस्तृत लक्षण है—वस्तु का अत्यन्त रमणीय, अपने प्रकृति धर्म से युक्त ऐसा वर्णन जो एक मात्र वक्रता-विशिष्ट शब्द का विषय बनकर प्रस्तुत हो, वस्तु-वक्रता है।[4] . . .और इस प्रकार पदार्थ की स्वभाव-सुकुमारता के वर्णन में उपमा आदि वाच्य अलंकारों का सन्निवेश उचित नहीं होता, अलंकारों से स्वा-

---

१. काव्यप्रकाश १०।११५

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं यत्पर्यायेण भंग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम्।

२. काव्यप्रकाश १०, उदाहरण ५६२ के पश्चात्

३. वक्रोक्तिजीवित १।२०

वाक्यस्य वक्रस्वभावोऽन्योऽभिपतेद्यः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥

४. वही, ३।१

उदारस्वपरिस्पन्द - सुन्दरत्वेन वर्णनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैक-गोचरत्वेन वक्रता ॥

भाविक सौन्दर्य के अतिशय की प्रस्तुति में मलिनता आने की सम्भावना रहती है।[1] (२) दूसरी वस्तुवक्रता (पदार्थ वक्रता) स्वाभाविक न होकर कल्पना-प्रसूत होती है, उसका लक्षण इस प्रकार है—कवि की सहज और आहार्य (कल्पना-प्रौढ़) प्रतिभा के कौशल से युक्त वस्तु की ऐसी प्रथम प्रस्तुति जो अपने नूतन उल्लेख से पदार्थ के लोकप्रसिद्ध रूप को अतिक्रान्त कर देती है—दूसरी वस्तु-वक्रता है।[2] लक्षण में आहार्य (कवि-कल्पना-प्रौढ़) के उल्लेख से ही इस वस्तु-वक्रता को अलंकार का विषय निर्दिष्ट कर दिया गया है। आगे वे कहते हैं—इस प्रकार कवि की सहज प्रतिभा तथा कल्पना-प्रौढ़ प्रतिभा के भेद से वर्णनीय वस्तु की यह दो प्रकार की वक्रता होती है। उनमें से जो यह दूसरे प्रकार की आहार्य वक्रता है वह वस्तु-वक्रोक्ति की शोभा होने पर भी अलंकार के बिना निर्मितित्व नहीं प्राप्त करती। इसीलिए उस अलंकार-रूप आहार्य वक्रता के अनेक भेदों से पदार्थों की वर्णन-विधि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है।[3]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि कुन्तक की यह द्विप्रकार वस्तु-वक्रता जिसमें से एक को वे पदार्थ के स्वभाव की प्रस्तुति मानते हैं और दूसरे को अलंकार शोभा की निर्मिति, दण्डी के कथन—'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङमयम्' का ही अपने ढंग का किया हुआ व्याख्यान है। स्वभावोक्ति कुन्तक की प्रथम वस्तु-वक्रता और वक्रोक्ति दूसरी वस्तु-वक्रता है। आगे उन्होंने वक्रोक्ति के अनुप्रेरक,

---

१. वक्रोक्तिजीवित, ३।१ की वृत्ति

तदिदमुक्तं भवति यदेवंविधे भावस्वभावसौकुमार्यवर्णनप्रस्तावे भूयसा न वाच्यालंकाराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता सम्भवति, स्वभाव-सौकुमार्यातिशयम्लानताप्रसंगात्।

२. वही, ३।२

अपरा सहजाहार्य-कवि-कौशलशालिनी।
निर्मितिर्नूतनोल्लेख-लोकातिक्रान्तगोचरा॥

३. वही, ३।२ की वृत्ति

सैषा सहजाहार्यभेदभिन्ना वर्णनीयस्य वस्तुनो द्विप्रकारा वक्रता। तदेवमाहार्या येयं सा प्रस्तुतविच्छित्तिविधाऽप्यलंकारव्यतिरेकेण नान्या काचिदुपपद्यते। तस्माद्बहुविधतत्प्रकारभेदद्वारेणात्यन्तवितत-व्यवहाराः पदार्थाः परिदृश्यन्ते।

भामह के 'अतिशय' को भी इस दूसरी वस्तु-वक्रता के अन्तर्गत स्वीकृति प्रदान की है और उसे समग्र अलंकारों का अनुग्राहक माना है।[१]

कुन्तक की प्रथम पदार्थ (वाक्य)-वक्रता (स्वभावोक्ति) विशेष महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने उसे अलंकार्य स्वीकार किया है—'महाकवियों को कभी औचित्य के अनुरोध से वर्णनीय प्रस्तुत वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य ही सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रकाशित करना अभीष्ट होता है और कभी शब्द-अर्थ की विविध प्रकार की रचना के वैचित्र्य (अलंकार) से युक्त सौन्दर्य। यहाँ पहले पक्ष में रूपक आदि अलंकार-समूह की शोभा उस (स्वाभाविक सौन्दर्य की) तुलना में चमत्कृत नहीं होती। और दूसरे पक्ष में पुनः अलंकार रचना-वैचित्र्य ही मुख्य रूप से चमत्कृत होता है। इसलिए इस न्याय से सर्वोत्कृष्ट रूप से चमत्कृत स्वाभाविक सौन्दर्य-रूप पदार्थ वक्रता को काव्य में अलंकार्य (प्रधान) मानना युक्ति-संगत है, न कि उसे अलंकार (अप्रधान) मानना।'[२] इसी अलंकार्य पदार्थ (वाक्य)-वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने भाव और रस आदि की स्थिति भी स्वीकार की है।[३] कुन्तक के विस्तृत निरूपण से दण्डी के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का स्वरूप भी सामने आता है,

---

१. वक्रोक्तिजीवित ३।२ की वृत्ति

सातिशयत्वं—उत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥१४॥

इत्यस्याः. . .स्वलक्षणानुप्रवेश इति। अतिशयोक्तेश्च, कोऽलंकारोनया विना ॥१५॥ इति सकलालंकरणानुग्राहकत्वम्।

२. वही, ३।१, उदा० ९

यस्मान्महाकवीनां प्रस्तुतौचित्यानुरोधेन कदाचित् स्वाभाविकमेव सौन्दर्यमेकराज्येन विजृम्भयितुमभिप्रेतं भवति, कदाचिद्विविधरचना-वैचित्र्ययुक्तमिति। अत्र पूर्वस्मिन् पक्षे रूपकादेरलंकरणकलापस्य न तादृक् तत्त्वम्। अपरस्मिन् पुनः स एव सुतरां समुज्जृम्भते। तस्मादनेन न्यायेन सर्वातिशायिनः स्वाभाविक-सौन्दर्यलक्षणस्य पदार्थपरिस्पन्दस्या-लंकार्यत्वमेव युक्तियुक्ततामालम्बते, न पुनरलंकरणत्वम्।

३. वही, ३।४, उदा० २१, २२

यत्र यद्यपि स्वहृदयसंवेद्यं वस्तुसम्भवि स्वभावमात्रमेव वर्णितम्, तथापि विरलविदग्धहृदयैकगोचरं पदार्थलीनवृत्तिसूक्ष्मसुभगं तादृक् स्वरूप-मुन्मीलितं येन वाक्य-वक्रतात्मनः कवि-कौशलस्य काचिदेव काष्ठाधि-रूढिरवपद्यते। अत्रोत्साहाभिधानः स्थायिभावः रसतामानीयमानः किमपि वाक्य-वक्रस्वभावं कवि-कौशलमावेदयति।

अतः उनके द्विधा-विभक्त वाङमय में रसवद्, ऊर्जस्वि, प्रेय आदि अलंकार स्वभावोक्ति के पक्ष थे।

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा प्रतिष्ठापित करनेवाले कुन्तक ने, जो दण्डी के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति---अलंकारों के प्रकार-द्वय की, प्रकारान्तर से ही सही, अपनी स्वीकृति प्रदान की, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य के प्रयोग पक्ष को लेकर लक्ष्य-लक्षण का जो शास्त्रीय चिन्तन हुआ है उसमें आचार्य दण्डी चिन्तन की यथार्थ प्रकृत-भूमि पर स्थित हैं।

कुन्तक का उक्त व्याख्यान आज के चल रहे साहित्य-चिन्तन के समानान्तर भी खड़ा होता है। और उस दृष्टि से उनकी प्रकृति-धर्म से युक्त सहज वस्तुवक्रता को हम कवि-कल्पना का प्रस्तुतरूप-विधान तथा आहार्य वस्तुवक्रता को अप्रस्तुत रूप विधान कहें तो उनकी व्याख्या और आज की व्याख्या में बहुत अन्तर नहीं होता। तथा इसे भी हम दण्डी के चिन्तन से ही सम्बद्ध करेंगे।

अलंकारों का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में है, यह विभाजन भी काव्य में अलंकारों की मूल स्थिति का उन्मीलन करता है और इसे हम महत्त्व इसलिए देते हैं कि यह चिन्तन रस-सिद्धान्त के पश्चात् का है तथा स्वयं भोज रस को काव्य में सर्वोपरि चमत्कार स्वीकार करते हैं, भोज के ऊपर दाक्षिणात्य काव्य-सम्प्रदाय का प्रभाव भी है, जो काव्य में रस की अपेक्षा प्रयोग-वैचित्र्य को अधिक प्रश्रय प्रथमतः देता रहा है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार भोज ने शब्द-अर्थ के अतिरिक्त शब्दार्थोभय-आश्रित-चमत्कार अलंकारों का एक नया वर्ग बताया, उनका यह चिन्तन रस से प्रभावित और अलंकार-महिमा से बाधित मनीषा का प्रतिफल है। यही कारण है कि अलंकारों के वर्गीकरण में दण्डी के द्विधा वाङमय स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने इनको अलंकार मात्र में सीमित नहीं किया है, अपितु रसोक्ति के समकक्ष रखा है और रस से ही उनकी सार्थकता स्वीकार की है।[1] भोज का यह त्रिधा वाङमय---वक्रोक्ति, रसोक्ति, स्वभावोक्ति---अग्राम्य सूक्ति[2] का ही प्रस्फुट रूप है, और यह दण्डी का

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।८

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङमयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रतिजानते॥

२. वही, ५।७

नवोऽर्थः सूक्तिरग्राम्या श्रव्यो बन्धः स्फुटाः श्रुतिः।
अलौकिकार्था युक्तिश्च रसमाहर्तुमीशते।

द्विधा अलंकार-वाङमय न होकर काव्य-वाङमय है अर्थात् काव्य अलंकार की भंग्य-भगिति नहीं, रसमय है।[1]

उनके अलंकारों के तीन वर्ग हैं—(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार (३) शब्दार्थोभयालंकार। भोज के मत में कवि इनके द्वारा काव्य की बाह्य शोभा, आभ्यन्तर शोभा और बाह्याभ्यन्तर शोभा का विधान करते हैं।[2]

शब्दालंकारों में उन्होंने श्लेष, यमक, अनुप्रास के अतिरिक्त सम्पूर्ण चित्रमार्ग की विधाओं एवं भाषा-विषयक प्रयोग-विचित्रताओं की गणना की है, रीति और वृत्ति को भी इसी में सम्मिलित कर दिया है, ऐसा उन्होंने इसलिए भी किया होगा कि वे गुण तथा अलंकार के तीन-तीन विभाग कर प्रत्येक विभाग के चौबीस-चौबीस भेद करने की रूढ़ि-सी बना चुके हैं। हमारे प्रस्तुत विवेचन में भोज के ये शब्दालंकार कोई विश्लेषणात्मक उपलब्धि नहीं प्रस्तुत करते। हाँ, अर्थालंकार तथा उभया-लंकार अवश्य ही अलंकारों की स्थिति-विषयक गुत्थी को स्पष्ट करते हैं। अलंकारों की गणना इस प्रकार है—

शब्दालंकार—१. जाति (औचित्यानुसार भाषा-प्रयोग), २. गति (औचित्यानुसार पद्य, गद्य, मिश्र का प्रयोग), ३. रीति, ४. वृत्ति, ५. छाया (मुहावरों के प्रयोग की अनुकृति), ६. मुद्रा (वाक्य में साभिप्राय वचन का विन्यास), ७. उक्ति (विधि या निषेध से अर्थ की प्रस्तुति), ८. युक्ति (अयुक्त शब्द-अर्थ की योजना), ९. भणिति (उक्ति-प्रकार), १०. गुम्फना (शब्द-अर्थ का विशिष्ट प्रयोग), ११. शय्या (अर्थ का पदार्थ-घटनात्मक बोध), १२, पठिति (अर्थ-विशेष से काव्य-पाठ-भेद, काकु आदि), १३. यमक, १४. श्लेष, १५. अनुप्रास, १६. चित्र, १७. वाकोवाक्य (उक्ति-प्रत्युक्ति-युक्त वाक्य), १८. प्रहेलिका , १९. गूढ़ (क्रिया, कारक आदि का लोप), २०. प्रश्नोत्तर (एक ही वाक्य में प्रश्न और उत्तर दोनों का समावेश), २१ अध्येय (विषय-व्युत्पत्ति-परक विधि-निषेध), २२. श्रव्य, (पाठ्य काव्य) २३. प्रेक्ष्य (अभिनय के साथ गेय काव्य) २४. चित्राभिनय (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, आहार्य)।[3]

---

१. सरस्वतीकंठाभरण ५।३

श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदश्रृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥

२. वही, २।१

३. वही, परिच्छेद २

अर्थालंकार—१. जाति (स्वभावोक्ति), २. विभावना, ३. हेतु, ४. अहेतु, ५. सूक्ष्म, ६. उत्तर, ७. विरोध, ८. संभव, ९. अन्योन्य १०. परिवृत्ति, ११. निदर्शना, १२. भेद (व्यतिरेक), १३. समाहित, १४. भ्रान्ति, १५. वितर्क, १६. मीलित, १७. स्मृति, १८. भाव, १९—२४ जैमिनि के षट् प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव—विषयक अलंकार।[1]

उभयालंकार—१. उपमा, २. रूपक, ३. साम्य, ४. संशयोक्ति, ५. अपह्नुति ६. समाध्युक्ति, ७. समासोक्ति, ८. उत्प्रेक्षा, ९. अप्रस्तुतस्तुति, १०. तुल्ययोगिता, ११. उल्लेख, १२. सहोक्ति, १३. समुच्चय, १४. आक्षेप, १५. अर्थान्तरन्यास, १६. विशेष, १७. परिष्कृति (परिकर), १८. दीपक, १९. क्रम, २०. पर्याय, २१, अतिशयोक्ति, २२. श्लेष, २३. भाविक, २४. संसृष्टि।[2]

भोज के इन अर्थ तथा उभय-अलंकारों की तुलना रुद्रट के वास्तव एवं औपम्य वर्ग के अलंकारों से करनी चाहिए। अलंकार की इन दोनों विधाओं का लक्षण इस प्रकार है—(१) व्युत्पत्ति—मार्ग से जो अर्थ को अलंकृत करते हैं वे जाति आदि अर्थालंकार हैं।[3] तथा (२) शब्द एवं पद के अर्थ से उपमा आदि जो विशिष्ट अर्थ जाने जाते हैं वे कवियों को प्रिय उभयालंकार हैं।[4] अर्थात् वस्तु का यथावत् वर्णन जो अपने अर्थ की व्युत्पत्ति मात्र में ही चमत्कृत होता है, अर्थालंकार की कोटि में है, और जिस वस्तु-वर्णन में वस्तु का यथावत् वर्णन (पद का अर्थ) शब्द (उपमावाचक आदि) के सहयोग से नये चमत्कारी अर्थ की उपलब्धि कराता है वह उभयालंकार है। अर्थात् एक कोटि के अलंकारों में अर्थ-व्युत्पत्ति और दूसरी कोटि के अलंकारों में उक्ति-व्युत्पत्ति की भूमिका में चमत्कार का आस्वादन होता है। रुद्रट ने वास्तव वर्ग के अलंकारों को विपरीत कथन से रहित उपमा-रहित, अतिशयभाव-रहित और श्लेष-योजना से रहित कहा है। ये बातें भोज

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, ३।२-३

२. वही, ४।२-४

३. वही, ३।१

अलमर्थमलंकर्तुं यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेऽर्थालंकार-संज्ञया॥

४. वही, ४।१

शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः॥

के अर्थालंकार में घटित होती हैं। भोज ने दोनों कोटियों में ४८ अलंकार गिनाये हैं। रुद्रट के चार वर्गों को मिलाकर ६६ अलंकार परिगणित हैं। दण्डी के अलंकारों की संख्या (प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि तथा अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा, ससन्देह, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव को छोड़कर) ३२ है। तुलना करने पर दण्डी के प्रायः सभी अलंकार भोज की दोनों कोटियों में आ ही जाते हैं, रुद्रट के प्रमुख अलंकार भी उक्त दोनों कोटियों में विभक्त हैं और इस विभाजन में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः वास्तव-वर्ग के अलंकार भोज के अर्थालंकार हैं तथा औपम्य वर्ग के अलंकार उभयालंकार हैं। अतिशय वर्ग के अलंकारों में उत्प्रेक्षा, विशेष को छोड़कर प्रायः सभी (पूर्व, विभावना, विरोध, अधिक, व्याघात, अहेतु, विषम) किसी न किसी रूप में भोज के अर्थालंकारों में आ जाते हैं अतः रुद्रट का यह वर्ग दण्डी के स्वभावोक्ति वर्ग में परिगणित होना चाहिए। यद्यपि ऐसा कथन कुछ विपरीत प्रतीत होता है तथापि वास्तविकता यह है कि उक्ति का अतिशयभाव स्वभावोक्ति और औपम्योक्ति दोनों का समान धर्म है, अतिशय की इस व्यापकता के कारण ही ध्वनिकार ने उसे प्रतीयमान अर्थ के समकक्ष रखा, जैसा कि पहले कहा गया है। अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति कहना तो ठीक नहीं है, किन्तु अतिशयोक्ति स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनों में है—यह कहा जा सकता है, दण्डी का स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति विभाजन इसी अर्थ में अपनी मौलिकता रखता है। नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जाएगा कि रुद्रट के प्रायः सभी प्रमुख वास्तव अलंकार भोज की अर्थ-कोटि में तथा औपम्य-अलंकार उभय कोटि में है—

(१) अर्थालंकार की श्रेणी में रुद्रट के वास्तव वर्ग के अलंकार—

जाति (स्वभावोक्ति), हेतु, सूक्ष्म, भाव, कारणमाला (हेतु में), एकावली[1]

---

१. भोज ने जिस एकावली को परिकर के अन्तर्गत माना है, वह रुद्रट की एकावली से भिन्न है, यह भिन्नता दोनों के लक्षण और उदाहरण से स्पष्ट है—
दे० सरस्वतीकण्ठाभरण ४।का० ७६, उदा० १९२-१९४

एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्न हि।
त्रिधा सापि समुद्दिष्टा शब्दार्थोभयभेदतः॥७६

तत्र शब्दैकावली यथा—

पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतंगगहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी॥१९२

(कारणमाला के समकक्ष), अनुमान, व्यतिरेक, उत्तर, मीलित, परिवृत्ति, अन्योन्य, अवसर (हेतु के समकक्ष)।

वास्तव वर्ग में कुल २३ अलंकारों के नाम दिये गये हैं, विषम, परिसंख्या, सार, लेश को भोज ने निरूपित नहीं किया है, अवशिष्ट १७ अलंकारों में १३ अलंकार अर्थालंकार की कोटि में हैं और शेष ४ अलंकार—यथासंख्य (क्रम), पर्याय (पर्यायोक्ति), दीपक और परिकर भोज की उभयालंकार-श्रेणी में है।

(२) उभयालंकार की श्रेणी में औपम्य वर्ग के अलंकार—

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, साम्य, अन्योक्ति, (प्रस्तुतस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा), प्रतीप (साम्य-प्रपञ्चोक्ति के अन्तर्गत), अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, सहोक्ति, समुच्चय, उभयन्यास (अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत), दृष्टान्त (साम्य के अन्तर्गत)।

औपम्य वर्ग में रुद्रट ने २१ अलंकार दिये हैं, उनमें से उत्तर वास्तव वर्ग में भी है और उसकी मूल प्रवृत्ति भी उसी वर्ग की है, वह भोज के अर्थालंकार में है, प्रत्यनीक, पूर्व और मत को भोज ने निरूपित नहीं किया है। भ्रान्तिमत् तथा स्मरण भोज के भ्रान्ति एवं स्मृति अर्थालंकार है। अवशिष्ट १५ अलंकार ऊपर उद्धृत हैं।

रुद्रट ने अतिशय वर्ग में १२ अलंकारों का उल्लेख किया है, और श्लेष वर्ग में १० का ; जिनमें से अधिकांश (विभावना, विरोध, व्याघात, अहेतु) अर्थालंकार हैं, कम ही (विशेष, उत्प्रेक्षा) उभयालंकार की श्रेणी में है। इस प्रकार दण्डी के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति वर्ग की नयी संज्ञाएँ भोज के द्वारा निरूपित हुईं। रुद्रट और भोज के वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए दण्डी के निरूपित अलंकारों को हम उनके द्विधा वाङ्मय में इस तरह विभाजित कर सकते हैं—

स्वभावोक्ति वर्ग—

स्वभावोक्ति (जाति), दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, विभावना, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, समाहित, उदात्त, विरोध, निदर्शना, परिवृत्य, आशीः, भाविक।

और काव्यालंकार (रुद्रट) ७।१०९-१११

एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परायथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्॥

यथा—

सलिलं विकासिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि।
मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह॥

वक्रोक्ति वर्ग—

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, क्रम, पर्यायोक्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, सहोक्ति।

भोज के अर्थालंकार तथा उभयालंकार स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति के प्रकारान्तर के रूप में प्रस्तुत हुए हैं इसका प्रबल संकेत उनके समाहित एवं समाधि-उक्ति अलंकारों की व्याख्या में भी मिलता है, दोनों वस्तुतः मिलते-जुलते समान-लक्षण के अलंकार हैं, दण्डी ने केवल समाहित का ही निरूपण किया है, भोज ने दण्डी के समाधिगुण के आधार पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत के धर्म का आरोप-मूलक समाध्युक्ति अलंकार उस समाहित से नया बताया है और समाहित को अर्थालंकार एवं समाध्युक्ति को उभयालंकार के वर्ग में रखा है। दोनों अलंकारों के विषय, प्रवृत्ति के एक होने पर भी स्वभाव एवं वक्र-उक्ति के लक्षण में लपेट कर उनके दो नाम कर दिये हैं। समाहित का लक्षण है—'कार्य का आरम्भ करने पर दैवकृता—आकस्मिकी या बुद्धिपूर्वा सहायता की जो प्राप्ति है वह समाहित अलंकार है।'[1] दण्डी का लक्षण भी प्रायः यही है। जैसे (दैवकृता आकस्मिकी सहायता का उदाहरण)—

'इसका मान दूर करने के लिए इसके पैरों पर मेरे गिरते ही भाग्य से मेरी सहायता करने के लिए बादल की यह गर्जना सुनायी पड़ी।'[2]

अब समाध्युक्ति के लक्षण की इसके साथ तुलना कीजिए—'अन्य के धर्म के अन्यत्र आरोपण को समाधि अलंकार कहते हैं। यह (श्लिष्ट पदों से) निरुद्भेद तथा सोद्भेद दो प्रकार का होता है।' यह लक्षण दण्डी के समाधिगुण का

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।का० ३४

कार्यारम्भे सहायाप्तिर्दैवादैवकृतेह या।
आकस्मिकी बुद्धिपूर्वोभयी वा तत्समाहितम्॥

मिलाइए, दण्डी-काव्यादर्श २।२९८

किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्॥

२. सरस्वतीकण्ठाभरण २। उदा० १०२

मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम्॥

प्रायः भाषान्तर ही है—'लोक-सीमा का पालन करते हुए अन्य के धर्म का सम्यक् रूप से अन्यत्र स्थापित किया जाना समाधि गुण है।'[1]

उक्त समाहित अलंकार की परिभाषा में भी कार्यारम्भ तथा दैवकृता आकस्मिक सहायता की संगति कार्यारम्भ-कर्त्ता के धर्म का दैवकृतसहाय के पक्ष में आरोपित होने में है, किन्तु यहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत (अचेतन-चेतन) के परस्पर धर्म-साम्य की स्थापना में समाधि को नवीन अलंकार बनाने का प्रयत्न भोज ने किया है। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में भोज का समाहित ही समाधि अलंकार के रूप में व्याख्यात हुआ है।[2] दण्डी का समाधि गुण (जो भोज का समाधि अलंकार भी है) किस प्रकार ध्वनिकार द्वारा प्रतीयमान काव्य के क्षेत्र में समादृत है, यह गुण-निरूपण के उन्मेष में कहा जा चुका है। निरुद्भेद समाधि का उदाहरण है—

'दिन की शोभा, वल्लभ सूर्य को अपरदिशा के साथ आलिंगन करते तथा अनुरागबद्ध (अत्यन्त लोहित) देख कर प्रियतम के इस प्रत्यक्ष दोष को न सहती हुई म्लान हो रही है।'[3]

इन लक्षणों और उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि समाहित अलंकार सहज उक्ति का और समाधि अलंकार उक्ति के बाँकपन (वक्रोक्ति) का निदर्शन है, समाधि को जिस रूप में भोज ने निरूपित किया है वह समाहित का वक्रोक्त्यात्मक परिष्कार मात्र है। उन्हें एक प्रिय अलंकार-विधा को अर्थालंकार और उभयालंकार दोनों कोटियों में निरूपित करना था जिसके हेतु ही यह विस्तार और परिष्कार हुआ, परन्तु जब हम मूल की खोज में बैठते हैं तब प्रतीत होता है

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४४

समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः।
निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधा परिपठ्यते॥ (समाध्युक्ति)

एवं काव्यादर्श १।९३

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा॥ (समाधि-गुण)

२. दे० काव्यप्रकाश १०।१२५, साहित्यदर्पण १०।८६

३. सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४४ उदाहरण (८६)

दूरपडिबद्धराए अवऊहत्तम्मि दिणअरे अवरदिसम्।
असहन्तिव्व किलिम्मइ पिअअम पच्चक्ख दूसणं दिणलच्छी॥

कि इस समाहित और समाधि में दण्डी के सहज (स्वभावोक्ति) तथा बाँक-वचन (वक्रोक्ति) के द्विधा वाङ्मय की प्रवृत्ति ही काम कर रही थी।

भोज के बाद अर्थालंकारों का ऐसा वर्गीकरण हमारे सामने नहीं है जो उनकी मूल-उद्भावना की भूमि को स्फुट करता हो। तो भी हम 'साहित्यमीमांसा'-कार की अलंकार-विषयक मान्यताओं को उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। 'साहित्य मीमांसा' के रचयिता का ठीक पता नहीं है, कुछ विद्वानों के मत से 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता (१२ वीं पूर्वार्ध शती ई०) ही इसके भी लेखक हैं, क्योंकि उन्होंने अलंकार-सर्वस्व में विषय-निर्देश पूर्वक अपनी कृति के रूप में साहित्य-मीमांसा का उल्लेख किया है।[1] तथा 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार जयरथ (१२वीं उत्तरार्ध शती ई०) ने भी अपनी टीका में साहित्य-मीमांसा के कर्त्ता को प्रस्तुत ग्रन्थ-कृत् होने का उल्लेख किया है।[2] लेकिन 'अलंकार-सर्वस्व' से 'साहित्य-मीमांसा' के अलंकार-विवेचन की दिशा भिन्न है, जैसा आगे चल कर स्फुट होगा। 'अलंकार-सर्वस्व' के सूत्र और वृत्ति (व्याख्या) दो भाग है, यह सम्भव है कि सूत्रकार एक हों और वृत्तिकार दूसरे। और उनमें वृत्तिकार ही साहित्य-मीमांसा के रचयिता हों। रुय्यक और उनके शिष्य मंखक दोनों का नाम इसके कर्त्ता के रूप में लिया जाता है। जो हो, इनका कर्त्ता कोई औदीच्य आचार्य ही है, हम उसके मौलिक विचारों के लिए उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। यह सत्य है कि साहित्य-मीमांसा का लिखनेवाला दाक्षिणात्य काव्य-सम्प्रदाय की मान्यताओं से प्रभावित है लेकिन उसने उन मान्यताओं को भी अपनी मौलिक व्युत्पत्ति में प्रस्तुत किया है और स्थल-स्थल पर औदीच्य तथा दाक्षिणात्य दोनों की मान्यताओं की आलोचना की है, हमारे प्रस्तुत-प्रबन्ध में इसकी मान्यताओं का इसलिए भी महत्त्व है कि दण्डी के कई लक्षणों और उदाहरणों को इसमें ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है। भोज की काव्य-मान्यताओं से भी यह सहमत है, रुद्रट के भाषा-श्लेष अलंकार को इसने भोज के अनसार जाति कहा है, और उन्हीं के लक्षण-उदाहरणों को ज्यों का त्यों उद्धृत

---

१. अलंकारसर्वस्व, उत्प्रेक्षा प्रकरण

एषापि समस्तोपमा प्रतिपादकविषयेऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्य-मीमांसायां च तेषु तेषु प्रदेशेषूदाहृता इहतु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपंचिता।

२. वही, विभावना-प्रकरण की टीका

ग्रन्थकृताऽपि साहित्यमीमांसायामेतच्छ्लोकविवृतौ पक्षद्वय-मेवोक्तम्।

कर दिया है।[1] जहाँ-तहाँ कुछ परिवर्तन किये हैं इसी प्रकार दण्डी की स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को भी मान्यता प्रदान की है किन्तु उस मान्यता में रस की प्रतिष्ठा के पश्चात् सम्भावित आवश्यक परिवर्तन किये हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पूर्व आचार्यों के श्लाघ्य मतों का संकलन-जैसा कार्य अपनी आलोच्य टिप्पणी के साथ साहित्यमीमांसाकृत् का लक्ष्य था। स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति-सम्बन्धी विवेचन की मुख्य बातें ये हैं—

(१) स्वभावोक्ति नहीं, ऋजूक्ति और वक्रोक्ति—सूक्ति के दो भेद हैं। कुछ लोग रसोक्ति को भी एक तीसरा भेद मानते हैं। किन्तु उक्त दोनों सूक्तियों के वैचित्र्य से ही रस अतिशायनशाली हो जाते हैं। रसोक्ति एक तीसरा भेद ठीक नहीं है।[2]

(२) समाधिमती स्वभावोक्ति वक्रोक्ति से युक्त होकर रस-रूपी अमृत का स्थान हो जाती है।[3] स्वभावोक्ति अलंकार नहीं, अलंकार्य है। जो उसे अलंकृति कहते हैं, उनके लिए फिर अलंकार्य रूप से क्या शेष रहता है, यह वह ही बता सकते हैं।

(३) साहित्यमीमांसाकार कुन्तक से प्रभावित हैं। कुन्तक ने भी स्वभावोक्ति के क्षेत्र में रस की स्थिति स्वीकार की है। कुन्तक के अनुसार ही वे वक्रोक्ति-

---

१. साहित्यमीमांसा, पृ० ९२

शुद्धा साधारणी मिश्रा संकीर्णानन्यगामिनी।
अपभ्रष्टेति सा चेयं जातिः षोढा निगद्यते॥
तासूत्तमपात्रप्रयोज्या संस्कृतजातिः शुद्धा यथा—
"उन्नमितैकभ्रूलतमि"त्यादि।

तुलनीय—सरस्वतीकण्ठाभरण २।१७

२. साहित्यमीमांसा, पृ० ९९

रसाः स्युः सूक्तिवैचित्र्यादतिशायनशालिनः।
ऋजूक्तिरथ वक्रोक्तिररिति द्वेधा हि सूक्तयः॥
रसोक्तिमपि केऽप्याहू रसस्यैवातिदीपनात्।

३. साहित्यमीमांसा, पृ० ९९-१००

स्वभावोक्तिरपि प्रायः स्यात् समाधि-मती यदि।
वक्रामाहुरिमां क्वचिद् रसस्यैवामृतायनम्॥
अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते॥

के सन्निवेश से काव्य में विशिष्ट रमणीयता स्वीकार करते हैं।[1] और वक्रोक्ति के सम्बन्ध में प्राचीन सिद्धान्तों को दुहराते हैं—यथा, विशेष अर्थ की लोकसीमातिवर्तिनी अतिशय-उक्ति ही वक्रोक्ति का जीवित है।[2]

(४) और अर्थालंकारों की व्याख्या के अवसर पर कुन्तक की वाक्य-वक्रता (वस्तु-पदार्थवक्रता) को सामने रखकर अलंकार के सम्बन्ध में दो मान्यताओं का उल्लेख करते हैं—एक पक्ष अलंकार में काव्यशोभा का कर्त्तृत्व स्वीकार करता है और दूसरा अलंकार को काव्य में अर्थ का उक्तिसौष्ठव मानता है। किन्तु साहित्यपारगों की दृष्टि से ऋजूक्ति और वक्रोक्ति दोनों ही अलंक्रिया के विषय हैं।[3] स्पष्ट है कि एक है कुन्तक की प्रकृत धर्म से युक्त सहज वस्तु-वक्रता और द्वितीय है कवि-कल्पना-प्रौढ़ वस्तु-वक्रता।

इस प्रकार साहित्यमीमांसाकार के विवेचन में भी दण्डी के द्विधा वाङ्मय स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का समर्थन होता है।

आचार्य रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व' में अर्थालंकारों का जो वर्गीकरण हुआ है, उसे प्रस्तुत कर देना भी एक अच्छी बात होगी। इससे दो तथ्य प्रकाश में आ जायेंगे—(१) रस-सिद्धान्त की स्थापना के बाद काव्य में अलंकारों का न केवल स्थान परिवर्तित हो गया, उनकी व्युत्पत्ति भी उनके मूल स्रोतों से हटकर प्रत्यक्ष विषय और प्रयोग को लेकर की जाने लगी। एवं स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के स्थान पर औपम्योक्ति अलंकार का विशेष अभिज्ञान बन गयी। (२) साहित्यमीमांसा और अलंकार-सर्वस्व में अलंकार-वर्गीकरण-विषयक मान्यताओं की परस्पर भिन्नता साहित्यमीमांसा के कर्त्तृत्व-निर्धारण में सहायक हो सकती है।

---

१. साहित्यमीमांसा, पृ० ११२

वक्रोक्तिविनिवेशेन काचिज्जायेत रम्यता॥

२. वही, पृ० १००

विवक्षया विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादेषा वक्रोक्तिजीवितम्।

३. वही, पृ० ५२, ५३

केचिदलंकाराः काव्ये शोभाकरत्वतः।
केचिदर्थानलंकारानुक्तिसौष्ठव – तत्पराः॥
किंचास्ति भेदो लेशेन ऋजूक्तावप्यलंक्रियाः।
वक्रोक्तावेव वक्रोक्तिरिति साहित्यपारगाः॥

विषय और प्रयोग को दृष्टि में रखकर अलंकारसर्वस्वकार ने अर्थालंकारों का व्याख्यान ७ वर्गों में बाँटते हुए किया है, जिनकी पूर्ण तालिका इस प्रकार है—

(१) साधर्म्य (सादृश्य)-मूलक अलंकार[1]—२८

(क) भेदाभेदतुल्यप्रधान—४

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण।

(ख) अभेद-प्राधान्य—८

आरोपगर्भ—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति।

अध्यवसायिगर्भ—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

(ग) भेद-प्राधान्य (गम्यमानौपम्याश्रय)—१६

पदार्थगत—तुल्ययोगिता, दीपक।

वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना।

भेदप्राधान्य—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।

विशेषणविच्छित्त्याश्रय—समासोक्ति, परिकर।

विशेषणविशेष्यसाम्य—श्लेष।

अप्रस्तुतप्रस्तुतविच्छित्ति—अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप।

(२) विरोधगर्भ अलंकार—१२

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, (कार्यकारणविपर्यय) असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात।

(३) शृंखलाबद्ध अलंकार—४

कारणमाला, एकावली, मालादीपक, उदार।

(४) न्यायमूल अलंकार—१७

तर्कन्याय—काव्यलिंग, अनुमान।

वाक्यन्याय—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि।

लोकन्याय—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर।

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० ३१

साधर्म्य त्रयः प्रकाराः। भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्। अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत। द्वयोस्तुल्यप्रत्वं यथास्याम्।

(५) गूढ़ार्थप्रतीतिपर अलंकार—३
सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति।

(६) यथावद्वस्तु-वर्णन[1]—७
स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त,
रसवत्[2], प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित।

(७) पृथक् अलंकार[3]—५
भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, संसृष्टि,[4] संकर।

यद्यपि यह वर्गीकरण अलंकारो की मूल-उद्भावना से दूर केवल उनका विषयगत विभाजन है, प्रयोगजन्य अभिज्ञान का ही सूचक है, सही विभाग-रेखा नहीं हैं, (श्रृंखलाबद्ध नामकरण प्रयोग-अभिज्ञान का संकेत है, शेष वर्ग विषय का परिचय देते हैं) तथापि अनजाने अलंकारों की मूल-उद्भावना का संस्पर्श हो ही गया है। अतिशयोक्ति का दो वर्गों में रखा जाना उसकी व्यापकता का ही द्योतक है।[5] और उसका प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया वक्रोक्तिजीवित लक्षण अन्वर्थ होता है। उसी प्रकार स्वभावोक्ति को यथावद्वस्तु वर्णन मान कर भाविक एवं उसी कोटि में चित्त-वृत्ति-विशेष स्वभाव-वश रसवदादि अलंकारों की गणना स्वभावोक्ति की उस व्यापकता का ही समर्थन है जिसका उल्लेख दण्डी,

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० २३०
स्वभावोक्तौ भाविके च, यथावद् वस्तुवर्णनम्।
तद्विपक्षत्वेनारोपित-वस्तु-वर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः।

२. वही, पृ० २३२
चित्तवृत्ति-विशेषस्वभावत्वाच्च रसादीनामिह तद्वदलंकाराणां प्रस्तावः।

३. वही, पृ० २३८, २३९
भावोदयो, भावसन्धिर्भावशबलता च पृथगलंकारः।....एते च पृथग्रसवदादिभ्यो भिन्नालंकाराः।

४. वही, पृ० २४१
अधुनैषां सर्वेषामलंकाराणां सश्लेषसमुत्थापितमलंकारद्वयमुच्यते।

५. वही, पृ० ८३—अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः। अस्याश्च पञ्चप्रकाराः।
पृष्ठ ८९
प्रकारपंचकमध्यात्कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारण—ताश्रयालंकारप्रस्तावे प्रपंचार्थं लक्षयिष्यते।

कुन्तक और साहित्यमीमांसाकार ने किया है। किन्तु ग्रन्थकृत् का यह लक्ष्य नहीं है, यह तो अपनी सचाई के कारण व्यक्त हो गया है। उनका दृष्टिकोण विषय और प्रयोग को ही सामने रख कर अलंकारों का व्याख्यान करना था, वे कहते हैं—'अब विशेषण-चमत्कार के आश्रित दो अलंकार कहे जाते हैं[1], (प्रयोग की दृष्टि), 'प्रतीयमान प्रस्ताव के प्रसंग में पर्यायोक्त कहा जाता है[2], (विषय-निर्देश), 'वहाँ भी उनके पदार्थ और वाक्यार्थ-गत द्वैविध्य में पदार्थगतवाले प्रकार में दो अलंकार कहे जाते हैं[3], (विषय-विभाग), 'प्रकृत प्रतीयमानता को ही विषय-विशेष के रूप में स्वीकार कर आक्षेप-अलंकार कहा जाता है[4], (विषय-अवतारणा), 'अतिशयोक्ति के निरूपित किये जाने पर कार्य-कारणभाव-प्रस्ताव से कोई प्रभेद यहाँ कहा जाता है[5], (विषय-भेद से प्रयोग-भेद) और—'इस प्रकार शृंखला-रूप चमत्कार से अलंकार प्रतिपादित किये गये,'[6] (प्रयोगाश्रित चमत्कार) आदि।

यह एक विचित्र बात थी कि आलंकारिक रस को अलंकार की सीमा में रसवद् आदि विधा से तब भी व्याख्यान करता रहा जब रस-सिद्धान्ती रस के अनुगुणौचित्य से ही अलंकार-योजना को काव्य में निबद्ध किये जाने का सिद्धान्त स्थापित कर चुका था।[7]

---

१. अलंकारसर्वस्व, पृ० १०७

अधुना विशेषण-विच्छित्त्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते।

२. वही, पृ० १४१

गम्यमानप्रस्तावागतं पर्यायोक्तमुच्यते।

३. वही, पृ० ८९

तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्वैविध्ये पदार्थगतमलंकारद्वयमुच्यते।

४. वही, पृ० १४४

गम्यत्वमेव प्रकृतं विशेषविषयत्वेनोररीकृत्याक्षेपालंकार उच्यते।

५. वही, पृ० १६२

अतिशयोक्तौ लक्षितायामपि कश्चित्प्रभेदः कार्यकारणभावप्रस्तावेनेहोच्यते।

६. वही, पृ० १८१

एवं शृंखलाविच्छित्त्यालंकाराः प्रतिपादिताः।

७. ध्वन्यालोक २।१६

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

भारतीय काव्यशास्त्र के आदि में दण्डी और भामह ये दो आचार्य दाक्षिणात्य एवं औदीच्य दो काव्य-सम्प्रदाय की मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करते हुए सामने आते हैं। दाक्षिणात्य मान्यता का अन्तिम जोरदार प्रतिनिधित्व भोज ने किया, उन्होंने दण्डी के गुण और अलंकार विषयक विवेचन को अधिक प्रौढ़ करने का प्रयत्न किया। दण्डी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में अलंकार की मूल भूमि की ओर संकेत किया था किन्तु औदीच्य आचार्यों ने रस-भाव के विधान के सामने स्वभावोक्ति की पूर्ण उपेक्षा कर दी। स्वभावोक्ति अलंकार के रूप में रस-भाव का तुल्यबल प्रतिद्वन्द्वी है तथा स्वभावोक्ति के तिरस्कार से ही परवर्ती कवियों का प्रकृति-चित्रण आदिकाव्य के प्रकृति-चित्रण की छाया नहीं छू सका है। दण्डी की अलंकार-विधा का वर्गीकरण—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति तथा श्लेष—तत्कालीन काव्यगोष्ठियों का भी सत्य था, जिसकी चर्चा राजशेखर की काव्यमीमांसा में विस्तार से होती है, लेकिन काव्यगोष्ठियों की यह चर्चा दाक्षिणात्य जनपदों की बात थी। औदीच्य जनपदों में इसे पहुँचते देर लगी होगी, कम से कम भामह के समय तक की औदीच्य-गोष्ठियों में अलंकार-प्रयोग की ऐसी स्थापनाएँ नहीं हुई थीं, रुद्रट के समय ऐसी स्थापनाएँ अवश्य प्रतिष्ठित हो चुकी थीं, उन्होंने अपने ढंग से उनका विश्लेषण किया, उनके विश्लेषण का मूल दण्डी की स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और श्लेष में निशिचत स्वीकार किया जाना चाहिए। रुद्रट के अलंकारों का वास्तव औपम्य, अतिशय, श्लेष वर्ग अपने मूल चिन्तन में दण्डी से नया नहीं है। उन्होंने 'स्वभावोक्ति' को 'वास्तव' बना दिया, 'स्वभावोक्ति' की सत्ता से अस्वीकार नहीं किया, यही क्या कम था ? क्योंकि उनके पूर्ववर्ती भामह ने स्वभावोक्ति को अन्य लोगों के मत में अलंकार कहा था उन्हे वह अलंकार के रूप में कदाचित् ही मान्य है[1], वे केवल वक्रोक्ति को ही सभी अलंकारों का मूल मानते हैं।[2] जब कि दण्डी ने स्वभावोक्ति को ही आदि अलंकृति कहा है।[3] अलंकार-निर्धारण के सम्बन्ध में

१. काव्यालंकार (भामह) २।९३

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥

२. वही, २।८५

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

३. काव्यादर्श २।८

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वाभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

भामह की वह वक्रोक्ति-मान्यता ही औदीच्य आलंकारिकों में अधिक प्रियता प्राप्त कर सकी और अलंकारों की स्वभावोक्ति-मूलक उद्भावना की चर्चा ही समाप्त हो गयी——इसका कारण यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि स्वभावोक्ति-मूलक अलंकार की उद्भावना में बल नहीं था, कुन्तक ने अलंकार-निरूपण के प्रसंग में स्वभावोक्ति को ही सहज वस्तु-वक्रता कहा है। हाँ, हमें यहीं पर काव्य-विषयक-चर्चा के भारतीय चिन्तन की दो धाराओं का मौलिक भेद स्पष्ट होता है, गुण-निरूपण के प्रसंग में दण्डी ने दाक्षिणात्य और पौरस्त्य काव्य-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, लेकिन आगे चलकर ये काव्य-सम्प्रदाय दाक्षिणात्य और औदीच्य मान्यताओं के रूप में सामने आये। औदीच्यों ने आदि अलंकृति स्वभावोक्ति को सहज-वक्रता (रस-भाव की रमणीयता) में परिवर्तित कर दिया और उसे वक्रोक्ति (ध्वनि) की आत्मा बना दिया। दाक्षिणात्यों ने स्वभावोक्ति के यथार्थ और उत्कृष्ट रूप को सामने लाने के स्थान पर स्वयं भी उसी रस की मान्यता का अनुसरण किया, जैसा कि भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' से स्पष्ट है। साथ ही दाक्षिणात्य आचार्यों ने अलंकृति को अर्थ के चमत्कार के स्थान पर शब्द-चमत्कार की ओर अधिक अनुसारित किया, जिसका परिणाम चित्रमार्ग था। स्वभावोक्ति के साथ ही शब्द-चमत्कार भी दाक्षिणात्यों की मूल प्रवृत्ति रही, इसी शब्द-विच्छित्ति में उन्होंने काव्य के लिए सही अर्थ में उपादेय दश गुणों की मान्यता स्थापित की थी। पर उस प्रवृत्ति का विकृत रूप चित्र-मार्ग में आया।

दण्डी के अलंकार-चिन्तन की परम्परा के सही व्याख्याता तो भोज ही हैं पर उनकी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को अलंकारों की मूल-भूमि होने के कारण प्राय: उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने भी किसी न किसी रूप में स्वीकार किया हैं। अलंकार-सम्प्रदाय में दण्डी के उक्त मूल-चिन्तन को अस्वीकार करना किस प्रकार हमारे लिए असम्भव है, इस तथ्य का बोध प्रस्तुत तालिका से हो जाता है——

(अर्थालंकारों के वर्गीकरण की विभिन्न मान्यताएँ)

दण्डी	स्वभावोक्ति	वक्रोक्ति (श्लेष)
भामह	——	वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति-रूप)
वामन	——	उपमा-प्रपंच
रुद्रट	वास्तव	१. औपम्य २. अतिशय ३. श्लेष
आनन्दवर्धन	——	अतिशयोक्ति

मम्मट	——	अतिशयोक्ति
राजशेखर	वास्तव	१. औपम्य २. अतिशय ३. अर्थश्लेष ४. उभयालंकार
कुन्तक	सहज— वस्तु-वक्रता	कवि-कल्पना-प्रौढ़— वस्तु-वक्रता
भोज	अर्थालंकार	उभयालंकार
साहित्यमीमांसाकार	ऋजूक्ति	वक्रोक्ति
रुय्यक	यथावद्वस्तु	१. साधर्म्यमूल २. शृंखलाबन्ध ३. न्यायमूल ४. गूढ़ार्थप्रतीतिपर ५. विरोधगर्भ ६. पथक् अलंकार-वर्ग

अलंकारों के आदि प्रयोग और मूल स्रोत

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूक्ति की दो मूल विधाओं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को ही लेकर अलंकार-वैचित्र्य का विस्तार हुआ। अतः इसी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के मूल भावों तथा विचारों की खोज अलंकार-उद्भावना की मूल भूमि है। इसी के साथ अलंकारों के इतिहास का दूसरा सही तथ्य यह है कि इतने बड़े देश में सर्वत्र एक साथ काव्य-रचना, काव्यगोष्ठी और अलंकार-संज्ञाएँ अस्तित्व में नहीं आयीं। यदि हम दाक्षिणात्य, पौरस्त्य और औदीच्य नाम से प्राचीन काल के काव्य-सम्प्रदायों का नामकरण करें तो हमें यह भी खोजना चाहिए कि किस काव्य-सम्प्रदाय में कौन-सी अलंकार-संज्ञा पहले अस्तित्व में आयी, इस जानकारी और उसकी तुलनात्मक कसौटी से भी अलंकारों के आरम्भिक प्रकृत-स्वरूप का पता चलता है। ऐसे कुछ ज्ञातव्य तथ्य इस प्रकार हैं—

१. काव्य-रचना के आरम्भ में सौशब्द्य और अर्थालंकार परस्पर विरोधी सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुए, भामह ने इसकी चर्चा की है[1] और ऐसे विचारों का

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।१४-१५

विरोध किया है।[1] भामह के विरोध का अर्थ है कि अर्थालंकारों अथवा अर्थ-प्रवण-उक्तियों का आदर काव्य-रचना में बढ़ रहा था। अर्थालंकारों के आदर की यह बात पुनः तब उठी होगी जब सौशब्द्य काव्यों का अभिनव अवतरण गुण के रूप में हुआ। गुणों की सत्ता का ऐतिहासिक उल्लेख रुद्रदामन् के शकाब्द ७२ (विक्रमाब्द २०७, सन् १५० ई०) के गिरनार शिलालेख में है, जिसमें स्फुट, लघु आदि (शब्द) गुणों द्वारा काव्य के अलंकृत होने की बात कही गयी है (शब्दसमयोदारालंकृत)[2] अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के आरम्भ, ईसवी दूसरी शती के मध्य में अलंकारों के प्रतियोगी सिद्धान्त के रूप में गुणों का उदय हो रहा था।

२. भरत के नाट्यशास्त्र में दश गुणों का अलग विवेचन है और अन्यत्र तीन अर्थालंकार तथा एक शब्दालंकार—उपमा, दीपक, रूपक, यमक—का।[3]

३. दण्डी ने स्वभावोक्ति को ही आदि अलंकृति माना है, उसका दूसरा नाम जाति भी है। और यद्यपि उन्होंने उपमा का व्याख्यान पहले किया है तथापि भेद की अनन्तता के निदर्शन में रूपक-उपमा का एक साथ उल्लेख किया है—'**न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।**' (२।९६)

४. भामह ने लिखा है कि अन्य आचार्यों ने अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा—वाणी के इन पाँच अलंकारों का ही उल्लेख किया है।[4] और भामह ने उसी क्रम से अर्थालंकारों में पहले रूपक का, फिर दीपक और उपमा का निरूपण किया है।

५. उद्भट ने काव्यालंकार-सार-संग्रह के आरम्भ में उल्लेख किया है कि

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।१५

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥

२. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ६४

स्फुट-लघु-मधुर-चित्र कान्त-शब्द समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य
(काव्याविधानप्रवीणे) न.....

३. नाट्यशास्त्र १७।४३

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते त्वलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः॥

४. काव्यालंकार (भामह) २।४, १।१३

अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इतिवाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः॥
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।

'पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, तीन प्रकार का अनुप्रास, लाटानुप्रास, चार प्रकार का रूपक, उपमा, दीपक तथा प्रतिवस्तूपमा—कुछ लोगों ने वाणी के इतने ही अलंकार कहे हैं।, 'इस उल्लेख में चार शब्दालंकार और चार अर्थालंकार हैं एवं अर्थालंकारों में पहला उल्लेख रूपक का है। प्रतिवस्तूपमा को उपमा के अन्तर्गत मान लिया जाय तो भामह के ऊपर के उल्लेख से ही इसकी समानता हो जाती है।[1] लेकिन उद्भट ने एक विशेष बात यह की है कि सूची में उपमा का नाम तो दीपक से पहले दिया है, लेकिन व्याख्यान के अवसर पर पहले दीपक का व्याख्यान कर के तब उपमा का करते हैं। इस सम्बन्ध में लघुवृत्तिकार इन्दुराज ने यह समाधान दिया है—यहाँ ग्रन्थकार को अपने रचित काव्य 'कुमारसंभव' के एक भाग को ही उदाहरण के रूप से प्रस्तुत करना था और उसमें पहले दीपक के उदाहरण हैं, अतः उन्होंने उदाहरणों के अनुसंधान को यथाक्रम जारी रखने के लिए पूर्व सूची-क्रम को त्याग दिया है और सूची में छन्दोभंग होने के भय से दीपक का उल्लेख पहले नहीं किया है।[2] कुछ भी हो, काव्यरचना में ही सही उपमा से पूर्व दीपक का निबन्धन उद्भट को इष्ट था।

६. भट्टि ने भी अपने काव्य में अर्थालंकारों का निबन्धन आरम्भ करते हुए प्रथम क्रिया-प्रयोग-रूप दीपक को ही प्रस्तुत किया है।[3]

---

१. काव्यालंकार-सार-संग्रह १।२

पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः।
उपमादीपके चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥

२. वही, १।१४, उदा० और वृत्ति

ननु उपमाया उपमा दीपकं च—इति पूर्वमुद्दिष्टत्वाद्यथोद्देशलक्षणमिति न्यायात्तस्या एव पूर्वलक्षणं कर्त्तव्यं पश्चात्तु दीपकस्य, तत्कथमादौ दीपकं लक्षितमिति वक्तव्यम्। उच्यते। अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचित 'कुमार-संभवै' कदेशोऽत्र उदाहरणत्वेनोपन्यस्तः। तत्र पूर्वं दीपकस्योदाहरणनि। तदनुसन्धानाविच्छेदायात्र उद्देशक्रमः परित्यक्तः। उद्देशस्तु तथा न कृतो वृत्तभंगभयात्।

३. भट्टिकाव्य १०।२३

गन्च्छन् स वारीण्यकिरत्पयोधेः कूलस्थितांस्तानि तरूनधुन्वन्।
पुष्पाऽऽस्तरांस्तेऽङगसुखानतन्वंस्तान् किन्नरा मन्मथिनोऽध्यतिष्ठन्॥

७. वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने अलंकारों में पहले दीपक और तब रूपक का व्याख्यान किया है।[1]

८. साहित्यमीमांसाकार के अनुसार कवीश्वरों के अर्थालंकारों की मान्यता का क्रम है—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, विभावना, अपह्नुति, भ्रम, साम्य संशय, सन्देह। और इतने ही अलंकार उन्हें स्वीकार हैं।[2]

९. आदिकाव्य का वर्षा तथा शरद् वर्णन स्वभावोक्ति, दीपक और उपमा अलंकारों की योजना से ओत-प्रोत है।

१०. राजशेखर ने काव्य-विद्या के अलग-अलग प्रकरण के रूप में जिन-जिन अर्थालंकारों के व्याख्यान किये जाने का उल्लेख किया है उनके नाम हैं—वक्रोक्ति, वास्तव (स्वभावोक्ति), उपमा, अतिशयोक्ति, अर्थश्लेष, उभयालंकार। उन्होंने पद-वाक्य-विवेक के व्याख्यान को लेकर वाक्यों के दश भेद बताये हैं—एकाख्यात, अनेकाख्यात, आवृत्ताख्यात, एकाभिधेयाख्यात, परिणताख्यात, कृदभिहिताख्यात, अनपेक्षिताख्यात।[3] क्रियाओं के इन प्रयोगों में दीपक अलंकार का लक्षण अनुस्यूत है। समुच्चय अलंकार का मूल भी इन क्रिया-प्रयोगों में है।

उपमा, रूपक, दीपक के लक्षण

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि सूक्ति-काव्यों में सर्वप्रथम उपमा, रूपक, दीपक तीन अलंकारों का निर्धारण हुआ। बाद में सूक्ति-काव्य अलंकारों के वैचित्र्य से वक्रोक्ति-वाङ्मय भी कहा गया, अतः स्वभावोक्ति को सूक्ति-काव्य एवं प्रथम-निर्धारित तीन अलंकारों से अलग समझना चाहिए। जैसा कि पहले कहा गया है, यह सत्य है कि विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों में स्वभावोक्ति-सहित उक्त तीन अलंकार अलग-अलग क्रम में प्रतिष्ठित हुए। अथवा यह भी हो सकता है कि एक ही काव्य-सम्प्रदाय में इनकी प्रतिष्ठा समय के अन्तर से हुई किन्तु यह सम्भावना उपमा और रूपक के सम्बन्ध में यथार्थ नहीं है। वे सम्भवतः एक ही साथ दो भिन्न सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित हुए। अथवा उपमा को ही एक ने उपमा की विधा से दूसरे ने रूपक की विधा से ग्रहण किया। उपमा

(तत्रेदमादिदीपकस्योदाहरणम्। 'क्रिया-पदस्यादौ श्रूयमाणत्वाद्दादिदीपकम्।....'इति जयमंगलः।)

१. वक्रोक्तिजीवित ३।१७, २०

२. साहित्यमीमांसा, पृ० ४१

३. काव्यमीमांसा (अ० ५), पृ० ५७

दाक्षिणात्य काव्य-मान्यता का प्रथम प्रतिष्ठित अलंकार है और रूपक औदीच्य काव्य-मान्यता का। दण्डी ने उपमा का निरूपण प्रथम किया और कहा—'जिस किसी तरह से कुछ भी समानता जहाँ प्रधान रूप से स्फुट व्यक्त होती है उसका नाम उपमा है।'[१] फिर उपमा के लक्षण से ही रूपक को समझाया—'उपमा में विहित प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद जब सादृश्य प्रदर्शन के लिए हटा दिया जाता है तब उपमा को ही रूपक कहा जाता है।'[२] भामह ने पहले रूपक को निरूपित किया—'गुणों की समता देखकर उपमान के साथ उपमेय की जो एकरूपता प्रस्तुत की जाती है उसको रूपक कहते हैं।'[३] और तब उसी रूपक की परिभाषा से गुणों की समता को गुण-लेश की समता के रूप में भावित कर उपमा का व्याख्यान किया—'भिन्न उपमान के साथ उपमेय की देश, काल, क्रिया, आदि के द्वारा गुण-लेश से जो समानता होती है, वह उपमा है।'[४] स्पष्ट है कि एक पक्ष उपमा को प्रथम अलंकार के रूप में और दूसरा रूपक को स्वीकार करता है। दीपक की स्थिति इनसे भिन्न है, किन्तु अवश्य ही किसी काव्य-सम्प्रदाय ने दीपक को ही प्रथम अलंकार की मान्यता दी रही होगी। संभवतः वह ऐसे भावकों का काव्य-सम्प्रदाय था, जो स्वभाव तथा औपम्य प्रस्तुति से अधिक उक्ति-वैचित्र्य में ही काव्य की प्रतिष्ठा स्वीकार करते थे, इसीलिए 'वक्रोक्तिजीवित'-कार कुन्तक ने दीपक का रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि से प्रथम विश्लेषण किया है। आख्यात-वाक्यों के विविध प्रयोगों में जैसा कि राजशेखर की काव्यमीमांसा से स्पष्ट है, दीपक के अन्तर्भूत हो जाने से इस अलंकार की सत्ता किसी सम्प्रदाय में न भी थी, 'साहित्यमीमांसा'-कार ने कवीश्वरों की जो स्वीकृत

---

१. काव्यादर्श २।१४

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते॥

२. वही, २।६६

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।

३. काव्यालंकार (भामह) २।२१

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥

४. वही, २।३०

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥

अलंकार-सूची दी है उसमें दीपक का नाम नहीं है।[1] वे दीपक का शब्दाश्रयत्व स्वीकारकर कदाचित् उसे बहुत महत्त्व नहीं देते। भामह ने क्रियापद के आदि, मध्य, अन्त—तीन प्रकार से दीपकवत् चमत्कारकारक होने के कारण दीपक अलंकार की स्थिति स्वीकार की है।[2] यद्यपि दण्डी की दीपक-परिभाषा व्यापक है और वे जाति क्रिया, गुण, द्रव्य, प्रत्येक को, परस्पर वाक्यों में अन्वित होने से चमत्कारकारक स्वीकार कर दीपक मानते हैं[3] तो भी केवल क्रियापदों के वाक्यान्वयन में ही दीपक की स्थिति माननेवाले भी थे और गोष्ठियों में कुछ भावक दीपक को आख्यात-वाक्य की परिभाषा मात्र में गतार्थ समझते थे। दीपक की आख्यात-प्रतिष्ठा उसके अस्तित्व के लिए हानिकारक थी अतः कुन्तक ने भामह की उक्त परिभाषा को सदोष कहकर दीपक की अपनी नयी परिभाषा प्रस्तुत की है—'पूर्वाचार्यों ने आदि दीपक, मध्यदीपक, अन्त दीपक—इस प्रकार दीप्यमान पद की अपेक्षा से वाक्य के आदि, मध्य, अन्त में व्यवस्थित क्रियापद को ही दीपक अलंकार कहा है। किन्तु इस परिभाषा से दीपक की मान्यता में आनन्त्य दोष आ जायगा क्योंकि दीपक पद से भिन्न सभी अथवा किसी क्रियापद की , पदार्थों के सम्बन्ध में एकरूपता होने के कारण दीपकत्व की स्थिति माननी पड़ेगी और वे सभी दीपक के उदाहरण हो जायेंगे।—आदि,[4] इसलिए दीपक को अन्य अलंकारों का भी कारण (अथवा वाक्य में दूसरी प्रकार की शोभा का विधायक) समझकर काव्य की अपूर्व कमनीयता उद्भावित करने के लिए भामह के प्रकार से भिन्न उसका अन्य लक्षण प्रस्तुत किया जाता है—'औचित्य के अनुसार, तीव्र अर्थबोध कराने

---

१. साहित्यमीमांसा, पृ० ४१

२. काव्यालंकार (भामह) २।२५

आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा॥

३. काव्यादर्श २।९७

जाति - क्रिया - गुण - द्रव्य - वाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥

४. वक्रोक्तिजीवित ३।१६

तत्र पूर्वाचार्यैरादिदीपकं मध्यदीपकमन्तदीपकमिति दीप्यमानपदापेक्षया वाक्यस्यादौ मध्ये चान्ते च व्यवस्थितमिति क्रियापदमेव दीपकाख्यमलंकरणमाख्यातम्। तदेवं सर्वस्य कस्यचिद् दीपकव्यतिरेकिणोऽपि क्रियापदस्यैकरूपत्वाद् दीपकाद् द्वैतं प्रसज्यते।

वाले तथा सहृदयों के लिए आह्लादकारक, प्रस्तुत-अप्रस्तुत पदार्थों के अप्रकट धर्म को प्रकाशित करनेवाली वस्तु दीपक अलंकार है।'[1]

इन अलंकारों में उपमा की प्राचीनता तथा व्यापकता का पता हमें शास्त्रीय ग्रन्थों में उसके उल्लेख से चलता है। निरुक्त में उपमा का बोध करानेवाले १२ पदों की गिनती की गयी है—(१) इदमिव (२) इदं यथा (३) अग्निर्नये (४) चतुरश्चिद्ददमानात् (५) ब्राह्मणा व्रतचारिणः (६) वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवया (७) जार आभगम् (८) मेषो भूतोऽभिन्नयः (९) तद्रूपः (१०) तद्वर्णः (११) तद्वत् (१२) तथा। इत्युपमाः।[2]

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उपमा को लेकर समास की दो प्रकार की व्यवस्था दी है—(१) उपमान का सामान्य वचन (साधारण धर्म) के साथ समास हो, जैसे—घनश्याम और (२) सामान्यवचन के प्रयोग में उपमेय, व्याघ्र आदि उपमान के साथ समस्त हों—जैसे पुरुषव्याघ्र, नृसोम।[3] इसी प्रकार उपमा के ही सम्बन्ध को लेकर संज्ञा पद से वति प्रत्यय का विधान (१) तुल्य क्रिया के अर्थ में (ब्राह्मणवदधीते) (२) समान स्थिति के बोध में (मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः) (३) तुल्य अर्हता प्रकट करने के लिए (विधिवत् पूज्यते) हुआ है।[4] भामह ने गुण समग्र एवं गुण-लेश का साम्य लेकर रूपक तथा उपमा की व्याख्या की है, पाणिनि ने ईषद् न्यूनता के अर्थ में कल्पब्, देश्य, देशीयर् प्रत्ययों का विधान संज्ञा पदों से किया है[5]—विद्वत्कल्पः (अर्थात् पूर्ण विद्वान् से कुछ कम)। 'संकाश' शब्द

---

१. वक्रोक्तिजीवित ३।१७

तदिदानीं दीपकमलंकारान्तरकारणं कलयन् कामपि काव्यकमनीयतां कल्पयितुं प्रकारान्तरेण प्रक्रमते—

औचित्यावहमम्लानं तद्विदाह्लादकारणम्।
अशक्तं धर्ममर्थानां दीपयद् वस्तु दीपकम्॥

२. निरुक्त ३।१३

३. पाणिनि-अष्टाध्यायी

उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५६

४. वही—तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५, तत्र तस्येव ५।१।११६, तदर्हम् ५।१।११७

५. वही—ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७

उपमा का वाचक होता है। पाणिनि ने इस शब्द से 'अदूरभव'—अर्थ अर्थात् समीप्य बोध में ण्य प्रत्यय का विधान किया है[1], 'संकाशादिभ्यो ण्यः—सांकाश्यम्।'। बोलचाल में जो संकाश सामीप्य का बोधक था वही काव्य में समानता का प्रतीक बन गया। इससे यह प्रकट होता है कि इन आलंकारिकों के एक हजार वर्ष पूर्व से ही उपमा के प्रयोग-सिद्धान्त सामान्य वार्तालाप के भी विषय होते थे। और केवल समानता के अर्थ से ही नहीं, ईषत्-न्यूनता से भी उपमा की स्थिति का बोध होता था।

उपमा की तरह रूपक भी सामान्य वार्तालाप के प्रयोग का अंग था। पाणिनि की व्यवस्था में उसका भी निर्देश है। मयूर-व्यंसक जैसे प्रयोग रूपक की आदि प्रवृत्ति हैं, जिनके समस्तपद-प्रयोग की स्वीकृति पाणिनि ने 'मयूरव्यंसकादयश्च'[2] सूत्र में दी है। मयूर-व्यंसक (धूर्त मयूर), राजान्तर (दूसरा राजा)—जैसे प्रयोग रूपक-विधा में स्वीकृत बाहुलता, पाणिपद्म, चरणपल्लव[3] की तरह हैं।

दीपक की परिभाषा के सम्बन्ध में ऊपर चर्चा की गयी है। कुन्तक ने प्रस्तुत-अप्रस्तुत अर्थों के अप्रकट धर्म का अम्लान (तीव्र) दीपन (प्रकाशन) ही दीपक अलंकार का लक्षण कहा है—यह लक्षण मूलतः कर्त्ता-क्रिया के आमीक्ष्ण्य (दुहरे) प्रयोग या अर्थबोध का विकसित रूप है। दुहरे अर्थ-बोध में दण्डी के दीपक का उदाहरण है—(१) दक्षिण पवन लताओं के जीर्ण पत्तों को गिरा रहा है और वह ही अवनतांगियों का मान-भंग भी कर रहा है। (२) चारों समुद्रों के वेला-वनों में तुम्हारे हाथी विचरण करते हैं और लोकालोक पर्वत के कुंजों तक में कुन्दपुष्प-जैसे शुभ्र तुम्हारे गुण।[4] इस आमीक्ष्ण्य-प्रयोग को लेकर समास के भी सिद्धान्त

---

१. अष्टाध्यायी ४।२।८०

वुञ् छणकठजिलसेनिरढञ् ण्ययफक्फिञिञ् ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्व-श्वर्यकुमुदकाशतृण प्रेक्षाश्यसखिसंकाश बलपक्षकर्ण सुतङ्गमप्रगदिन्वराह-कुमुदादिभ्यः।

२. अष्टाध्यायी २।१।७२

३. काव्यादर्श २।६६

४. वही, २।९८, ९९

पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम्।
स एवावनतांगीनां मानभंगाय कल्पते।
चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते।।

स्थिर हुए हैं और भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रयोगों के अलग-अलग गण-पाठ दिये गये हैं—(१) कर्त्ता के लगातार एक के बाद दूसरी क्रिया को करने का प्रयोग—एहीड (आओ और स्तुति करो)। एहियवम् (आओ और मिलन करो)।[1] (२) जहि क्रिया के कर्म के साथ क्रिया-व्यापार के आभीक्ष्ण्य (आवृत्ति) में समस्त पद से कर्त्ता का अभिधान[2]—जहिजोड (जो बार बार जोड को मारने के लिए कह रहा है)। जहिस्तम्ब। (३) व्यापार में एक साथ ही प्रवृत्त क्रिया का क्रिया के साथ समास[3]—अश्नीतपिबता, खादतमोदता।। और ऐसी क्रियाओं का कर्त्ता एक होता है जो अपने कर्म से दोनों के व्यापार को एक साथ प्रकाशित करता है।

दीपक का विस्तार

वाक्य में क्रिया-प्रयोग की इन मूलप्रवृत्तियों ने ही दीपक अलंकार को जन्म दिया, अलंकार के उद्भावना-प्रकारों में स्वभावोक्ति वर्ग के अन्तर्गत दीपक की अपनी एक विशेषता है, जो अपने क्रियात्व एवं कारकत्व के कारण भाषा-प्रयोग की मूल प्रकृति के अधिक निकट है तथा जिसमें भाव का कल्पना-परक प्रस्तुतीकरण कम संभव है। उसकी यह विधा अनेक अलंकारों में अत्यन्त निकट से विद्यमान है।

पहली बार रुद्रट ने तीन प्रकार के समुच्चय अलंकार का (दो वास्तव वर्ग में, एक औपम्य वर्ग में) उल्लेख किया है, समुच्चय के प्रकार भी दीपक की मल प्रवृत्तियों के अत्यन्त निकट हैं और दण्डी के दीपक सम्बन्धी उदाहरणों से उनका मेल हो जाता है। रुद्रट के समुच्चय के दो प्रकार ये हैं—(१) एक देश और एक काल में, किन्तु भिन्न आश्रयों में जहाँ गुण अथवा क्रिया एक साथ उत्पन्न होते हैं, वह समुच्चय अलंकार है।[4] जैसे—'राजन्! शत्रुओं का समूल नाश कर शीघ्र ही तुम्हारा बल अपनी शुभ्रता में चमक उठा, और उसके साथ ही दुष्टों के

---

१. गणसूत्र १८—एहीडादयोऽन्यपदार्थे।

२. गणसूत्र २९

जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति।

३. गणसूत्र २०

आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये।

४. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।२७

व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ॥

चेहरों पर मलिनता छा गयी।'[१] (२) वह समुच्चय अलंकार है 'जहाँ अनेक अर्थ द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति रूप से उपमानोपमेयत्व लक्षण में एकसामान्य होकर प्रकट होता है और उसमें इव आदि उपमावाची शब्दों का प्रयोग नहीं रहता।'[२] जैसे, 'तालाब में हिंसा करनेवाले लोगों के द्वारा जाल से मछलियाँ और जंगल में फन्दे से हरिण एवं संसार में जीव की सृष्टि करनेवाले स्नेह से नर बाँधे जाते हैं।'[३] उनका दीपक का लक्षण इस प्रकार है—'जहाँ अनेक वाक्यार्थों का एक क्रियापद होता है अथवा उसी प्रकार अनेक क्रिया-व्यापारों का एक कारक-पद होता है—इन दो विधाओं से दो प्रकार का दीपक अलंकार है।'[४] जैसे (कारक दीपक का उदाहरण)—'नवपरिणीता वधुएँ दूर से उत्कण्ठित होती हैं, प्रिय के समीप आने पर लज्जित होती हैं, फिर शयन में काँपती हुई डरने लगती हैं।'[५]

रुद्रट के उक्त निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समुच्चय के दोनों प्रकार दीपक से ही अलग होकर प्रतिष्ठित हुए हैं, क्योंकि रुद्रट के दीपक में लक्षित क्रिया की एकसामान्यता एवं एककालता को ही उनके समुच्चय में व्यधिकरण तथा उपमानोपमेयत्व की शर्तों के साथ स्वीकार किया गया है। यह एकता दण्डी के लक्षण और उदाहरणों में और भी स्पष्ट रही है। दण्डी के दीपक का पूर्ण लक्षण है—'एक स्थान पर विद्यमान जाति, क्रिया, गुण या द्रव्य का वाचक पद यदि समग्र

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।२८

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च।
प्रकलुषानि नराधिप! मलिनानि तानि जातानि॥

२. वही, ८।१०३

सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थः एकसमान्यः।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे॥

३. वही, ८।१०४

जालेन सरसि मीना हिंस्रैरेणावने च वागुरया।
संसारे भूतसृजा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते॥

४. वही, ७।६४

यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा॥

५. वही, ७।७१

दूरादुत्कण्ठन्ते दयितानां सन्निधौ तु लज्जन्ते।
त्रस्यन्ति वेपमानाः शयने नवपरिणया वध्वः॥

वाक्य अथवा सभी वाक्यों के अन्वय-उपपत्ति में कारण बनता है तो उसे दीपक कहा जाता है।"[1] रुद्रट ने दीपक के अपने लक्षण में क्रिया और कारक का उल्लेख किया है। कारक की परिभाषा में जाति-गुण-द्रव्य अपने आप आ जाते हैं। अतः उनकी समच्चय की ऊपर उक्त परिभाषा (**सोऽयं समुच्चयः** ८।१०३), जिसमें द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति रूप अनेक अर्थ को उपमानोपमेयत्व भाव से एकसामान्य होना कहा गया है तथा दीपक की परिभाषा (**यत्रैकमनेकेषाम्**) जिसमें अनेक वाक्यार्थों का एक क्रिया-पद या कारक पद अभीष्ट है—दोनों का स्वरूप प्रायः एक हो जाता है। दण्डी ने दीपक के लक्षण में जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य का स्पष्ट उल्लेख किया है और रुद्रट को वह उल्लेख समुच्चय में इष्ट है। परन्तु सच बात यह है कि रुद्रट के दीपक में अनेक वाक्यार्थ (**अनेकेषां वाक्यार्थानाम्**) जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य ही तो है और इसी प्रकार समुच्चय में अनेक अर्थ के एक सामान्य होने की जो बात कही गयी है, अनेक अर्थों की वह एकसामान्यता एकक्रियात्व या एककारकत्व में ही होगी। अतः क्रिया या कारक की एक सामान्यता, उनकी एकत्र स्थिति जो सामान्य बोलचाल में भी व्यवहृत थी, जिसकी रूप-सिद्धि के लिए पाणिनीय व्याकरण में गणपाठ के नियम प्राप्त हैं, एक ही-अलंकार की उद्भावना का मूल है। हाँ, इस उद्भावना का अलंकार-योजना में कई प्रकार से प्रयोग हुआ है, (कुन्तक ने भी दीपक को अलंकारान्तर-कारण स्वीकार किया है।) इन प्रयोगों में पाँच मुख्य हैं—(१) गुणों या क्रियाओं की एककालता—समुच्चय अलंकार (२) क्रियाओं का एक कर्त्तृत्व—दीपक अलंकार (३) कर्त्ताओं की क्रिया-विषयक एकसामान्यता—तुल्ययोगिता-अलंकार (रुद्रट के मत में औपम्य समुच्चय अलंकार)। (४) एक कार्य के प्रति अनेक कारणों की कर्त्तृत्व-सामान्यता (वास्तव—समुच्चय अलंकार)। और पाँचवाँ प्रकार है—(५) क्रियाओं की अर्थ-गत या स्वरूप-गत आवृत्ति (दण्डी का आवृत्ति अलंकार)।

दण्डी ने दीपक तथा दीपक के प्रसंग में आवृत्ति अलंकार को निरूपित किया है। उक्त सभी प्रकारों का बोध उनके दीपकालंकार के अनेक उदाहरणों में होता है। और ये सभी प्रकार एक ही दीपक अलंकार के एकक्रियात्व तथा एककारकत्व धर्म के विस्तार से भिन्न नहीं मालूम पड़ते हैं।

तुल्ययोगिता अलंकार को दण्डी ने अलग से स्पष्ट किया है किन्तु वह उनके

---

१. काव्यादर्श २।९७

जाति - क्रिया - गुण - द्रव्य - वाचिनैकत्र वर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥

दीपक के उदाहरण में भी स्फुट है। रुद्रट ने समुच्चय और दीपक की विभाजक रेखा का एक निर्धारण क्रिया तथा कर्त्ता के व्यधिकरण (भिन्नाश्रयत्व) को लेकर किया है और उन के दीपक के उदाहरणों में इस विभाजन का पालन किया गया है; दण्डी के दीपक के उदाहरणों में क्रिया-कर्त्ता के एकाधिकरण तथा व्यधिकरण दोनों हैं।

रुद्रट के एककालिक गुण-समुच्चय का उदाहरण ऊपर दिया गया है--'राजन्! शत्रुओं का समूल नाश कर शीघ्र ही तुम्हारा बल अपनी शुभ्रता में चमक उठा और उसके साथ ही दुष्टों के चेहरों पर मलिनता छा गयी।''[1] इसी के समान दण्डी का क्रिया-दीपक है--'हे राजन्! चारों समुद्रों के तट के वनों में तुम्हारे हाथी विचरण करते हैं और लोकालोक पर्वत के कुंजों तक में कुन्दपुष्प-से शुभ्र तुम्हारे गुण।'[2] प्रस्तुत दीपक में हाथी के लिए दन्ती शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे शुभ्र दांत और शुभ्र गुण की एक समानता हो जाती है। वैसे ये हाथी काले हैं और शुभ्र गुणों के प्रसार के कारण हैं। सेना के हाथी समुद्रों के वनों में स्वच्छन्द घूम रहे हैं जिससे राजा के शुभ्र गुणों की कहानी पर्वत के कुंजों तक में गायी जा रही है। विजय के प्रतीक हाथी तथा राजा के शुभ्र गुण की एककालिक एवं एक देश में स्थिति है, व्यधिकरण भी है--वेलोद्यान में हाथी हैं और पर्वतकुंजों में गुण। किन्तु समुच्चय का ही चमत्कार व्यधिकरण में है, दीपक का चमत्कार एक क्रियात्व में है। यही इनकी द्वि-प्रकारता है।

रुद्रट के क्रिया-समुच्चय का उदाहरण है--'संयोग की बात है कि मैं अपनी चंचल आँखोंवाली प्रिया से अलग हूँ और लगातार उमड़ते-घुमड़ते बादलों से भरा यह वर्षाकाल आ गया।'[3] यहाँ भिन्न आश्रयों में एक काल में ही दो क्रियाएँ हो रही हैं किन्तु प्रिया-वियुक्त जन में उनकी एककर्त्तृत्व--सामान्यता स्थापित है।

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।२८

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च।
प्रबलमुखानि नराधिप! मलिनानि च तानि जातानि॥

२. काव्यादर्श २।९९

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः।
चक्रवालाद्रिकुंजेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते॥

३. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।२९

दैवादहमत्र तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्।

क्रिया-व्यधिकरण के साथ अनुभव-कर्त्तृत्व की यह एकसामान्यता दण्डी के जाति-दीपक अलंकार के प्रयोग के समान प्रस्तुत होती है। दण्डी के जाति दीपक का उदाहरण है––'मोर वेतस की छाया में नाचते हैं, गाते हैं और आनन्द की आँसुओं से भरी आँखों से बादलों को देखते हैं।'[१] दोनों उदाहरणों में बात एक ही है, क्रियाएँ व्यधिकरण में और एक काल में हो रही हैं, क्रियाओं के फल-व्यापार की अनुभूति तथा कर्तृता भी एक है, पहले उदाहरण में वह प्रिया-वियुक्त जन में है और दूसरे में मोर में है किन्तु प्रयोग-गत अन्तर यह हुआ कि समुच्चय अलंकार में क्रियाओं का व्यधिकरण में प्रस्तुतीकरण अधिक स्फुट है और अनुभव गत एक-कर्त्तृत्व तिरोहित सा लगता है, तथा दण्डी के दीपक अलंकार में क्रियागत एक कर्त्तृत्व प्रधान है, क्रियाओं का व्यधिकरण व्यापार उसका अंग बन गया है। अतः दीपक की उद्‌भावना इस समुच्चय का भी मूल है। दोनों अलंकारों की विधा एक है, प्रयोगगत अन्तर उनको दो प्रकारों में बाँट देता है।

रुद्रट के औपम्य समुच्चय का उदाहरण ऊपर दिया गया है––'हिंसा करने वाले लोगों से तालाब में मछलियाँ, जंगल में फन्दे से हरिण एवं जीव की सृष्टि करनेवाले स्नेह से संसार में नर बाँधे जाते हैं।'[२] यहाँ एक क्रिया के तीन कर्त्ता उपमानोपमेयत्व भाव से हैं। इसकी तुलना दण्डी के गुण दीपक से की जानी चाहिए––'वर्षाकाल में उमड़ती बादल की पंक्तियों से दिशाएँ श्यामल हैं तथा सुकुमार नये हरे तृण के समूहों से भू के खंड।'[३] रुद्रट के उदाहरण में 'बाँधे जाते हैं' ––क्रिया उपमानोपमेयत्व की एकसामान्यता प्रस्तुत करती है और दण्डी के उदाहरण में 'श्यामलता' गुण का क्रिया-व्यापार उपमानोपमेयत्व-विषयक एक-सामान्यता का स्वतः सिद्ध रूप है। यहाँ दण्डी का उक्त दीपक रुद्रट के समुच्चय से भिन्न, अपनी गुण-क्रिया की एककालता के कारण दिशाओं तथा भूखंड में एक साथ श्यामलता उत्पन्न हो रही है––एकत्व का बोध कराता है। और उक्त समुच्चय के चमत्कार में एक-कालता कोई हेतु नहीं है, उपमानोपमेयत्व

---

१. काव्यादर्श २।१०३

नृत्यन्ति निचुलोत्संगे गायन्ति च कलापिनः।
बध्नन्ति च पयोदेषु दृशो हर्षाश्रुगर्भिणीः॥

२. काव्यालंकार (रुद्रट) ८।१०४

३. काव्यादर्श २।१००

श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपंक्तिभिः।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वल - राजिभिः॥

मात्र हेतु है। क्रिया की एकसामान्यता दोनों के चमत्कार में सहयोगी है जिससे दोनों एक ही विधा के दो प्रकार सिद्ध होते हैं। दीपक में एककालता अधिक स्फुट है, समुच्चय में उपमानोपमेयत्व। किन्तु यह अन्तर दण्डी के उदाहरण में ही है, वामन के दीपक-सम्बन्धी निदर्शन और रुद्रट के उक्त समुच्चयोदाहरण में क्रिया की एककालता का कोई व्यवधान नहीं है। वामन के मत में 'केवल क्रियामात्र का उपमान वाक्य एवं उपमेय वाक्य दोनों से सम्बद्ध होना दीपक अलंकार है।'[1] 'जो आदि, मध्य तथा अन्त की स्थिति से तीन प्रकार का होता है।'[2] आदि दीपक का उदाहरण है—'क्रीडोद्यान नये फूलों से सुशोभित होते हैं, मदिरापान से जाग्रत हुए हाव-भावों से कामिनी स्त्रियाँ, ब्राह्मणवेद-विहित यज्ञ आदि क्रियाओं के करने से और राजा शत्रुओं को नष्ट कर देनेवाले अपने प्रताप से।'[3] दीपक के इस उदाहरण में क्रिया की वह एक-कालता नहीं है जो दण्डी के उदाहरण में है। रुद्रट के उक्त समुच्चयोदाहरण 'जालेन सरसि मीनाः,' तथा वामन के इस उदाहरण में सर्वथा अभेद है। वामन ने जिसे दीपक कहा है रुद्रट ने उसे ही औपम्य समुच्चय बताया है। एक स्थान पर 'भूष्यन्ते' क्रिया का साधारणधर्म क्रीडावन कामिनी, ब्राह्मण और राजा को तथा दूसरे स्थान पर 'बध्यन्ते' क्रिया का साधारण-धर्म मीन, ऐण और नर को उपमानोपमेयत्व की एक सामान्यता में प्रस्तुत करता है। दोनों में उपमानोपमेयत्व भाव के साथ एकक्रियात्व स्फुट है। इससे यह सिद्ध होता है कि समुच्चय की कल्पना दीपक के प्रकार से ही उधार ली गयी है। दीपक की व्यापकता अत्यन्त स्पष्ट है तथापि दण्डी के पश्चात् उसका क्षेत्र संकुचित किया जाता रहा। भामह, उद्भट और वामन ने उसे क्रिया मात्र में सीमित किया है किन्तु रुद्रट कर्त्ता की एकसामान्यता में भी दीपक को स्वीकार करने के पक्ष में है।

समुच्चय के उक्त प्रकार के साथ तुल्ययोगिता अलंकार का भी प्रसंग है।

---

१. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।३।१८

उपमानोपमेय—वाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्।

२. वही, ४।३।१९

तत् त्रैविध्यं, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात्।

३. वही, ४।३।१९ का उदाहरण

भूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः, कामिन्यो मधुमदमांसलैर्विलासैः।
ब्राह्मणः श्रुतिगदितैः क्रियाकलापैः, राजानो विदलित-वैरिभिः प्रतापैः॥

रुद्रट ने तुल्ययोगिता अलंकार का निरूपण नहीं किया है। और हमें उनके मत में उसे औपम्य समुच्चय में गतार्थ समझना चाहिए। दण्डी का लक्षण और उदाहरण इस प्रकार है—'किसी प्रस्तुत का अन्य समान गुणवालों के साथ एकता स्थापित कर स्तुति या निन्दा के उद्देश्य से वर्णन किया जाना तुल्ययोगिता है।'[1] जैसे—'राजन्! यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और केवल आप—इतने जन ही अन्य किसी के लिए अनुपयुक्त 'लोकपाल' इस ख्याति को धारण करते हैं।'[2] यह स्तुति-परक तुल्ययोगिता का उदाहरण है। निन्दापरक तुल्ययोगिता का उनका उदाहरण औपम्य समुच्चय अथवा दीपक दोनों के अधिक निकट है—'मृगनयनी ललनाओं क समागम और बिजली की चमक दमक स्वयं गाढ़ अनुराग से अथवा बादल से आरम्भ (घनारब्ध) होकर भी दो क्षण स्थिर नहीं रहते।'[3] इसकी तुलना औपम्य समुच्चय के 'जालेन सरसि मीनाः' उदाहरण से यदि हम करें तो उनकी परस्पर कोई विभाजक रेखा नहीं मिलती। एक में 'बध्यन्ते' क्रिया में गतार्थ अनेक अर्थों की एक अर्थ-सामान्यता विधेय है और दूसरे में भी 'घनारब्धान्यपि स्वयं' गुण से 'क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति' की एक अर्थ-सामान्यता ही अभीष्ट है। दो कर्त्ताओं का एक ही क्रिया-व्यापार इसे दीपक बताता है। तुल्ययोगिता के प्रथम उदाहरण से जाति-दीपक की समानता भी द्रष्टव्य है—'बादलों से बरसता हुआ जल, भवन में पाले गये मयूरों का झुंड और बिजली की चंचल चमक—तीनों काम की सेना हैं।'[4] यह है जाति-दीपक का उदाहरण। तुल्ययोगिता के उदाहरण में 'लोकपाल' की विशेषता सभी प्रस्तुतों में अपेक्षित है और यहाँ दीपक में तीनों की

---

१. काव्यादर्श २।३३०

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥

२. वही, २।३३१

यमः कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि।
बिभ्रत्यनन्यविषयां लोकपाल इति श्रुतिम्॥

३. वही, २।३३२

संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितानि च।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम्॥

४. वही, २।१०५

जलं जलधरोद्गीर्णं कुलं गृहशिखण्डिनाम्।
चलं च तडितां दाम बलं कुसुमधन्वनः॥

एक समान विशेषता है 'काम की सेना होना'। किन्तु तुल्ययोगिता में प्रस्तुत राजा की स्तुति अभीष्ट है, दीपक में ऐसा कोई पक्ष नहीं है। अतः दोनों एक विधा के दो प्रकार हैं।

भोज ने तुल्ययोगिता के सम्बन्ध में दण्डी के ही विवेचन को दुहराया है लेकिन उन्होंने इसके एक और प्रकार का उल्लेख किया है जिससे एक नये तथ्य पर प्रकाश पड़ता है। उनका नया प्रकार है—'दूसरे आचार्य स्तुति या निन्दा के दृष्टिकोण से सुख और दुख की निमित्त-भूत वस्तुओं में एक समान वृत्ति-वर्णन को भी तुल्य-योगिता कहते हैं।'[1] जैसे—'राज्याभिषेक की तैयारी होने पर और वन जाने का आदेश मिलने पर दोनों समय मैंने राम के मुखमंडल पर किसी प्रकार के विकार की रेखाएँ न देखीं।'[2] यह स्तुति-परक तुल्ययोगिता है। निन्दापरक तुल्ययोगिता का उदाहरण है—'जो कुल्हाड़े से नीम को काटता है, जो इसे मधु-युक्त घृत से सींचता है और जो गन्ध-माल्य से इसकी पूजा करता है, सभी के लिए यह अपना कड़वा-पन ही प्रकट करता है।'[3] दोनों उदाहरणों में दण्डी के दीपक अलंकार की विशेषता जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य के वाचक, एक स्थान में विद्यमान पद की सम्पूर्ण वाक्य के अर्थबोध में स्फुट क्षमता वर्तमान है—पहले में 'आकार-विभ्रमता' क्रिया है और दूसरे में 'कटुत्व' गुण। अतः यह नया प्रकार भी दीपक की विधा से अलग नहीं है। साथ ही दण्डी का उदात्त अलंकार इस तुल्ययोगिता से अलग प्रकार नहीं सिद्ध होता। उदात्त अलंकार का लक्षण है—'मनोभाव अथवा सम्पत्ति का अतिशय आधिक्य वर्णन उदात्त अलंकार है।'[4] जैसे 'वह राम पिता के वन जाने के आदेश

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण ४।५५

अन्ये सुखनिमित्ते च दुःखहेतौ च वस्तुनि।
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्वे तुल्ययोगिताम्॥

२. वही, ४।उ० १२१

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

३. वही, ४।उ० १२२

यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः॥

४. काव्यादर्श २।३००

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणाः॥

को टालने में समर्थ हो न सके जो त्रिभुवन-विजयी रावण के शिर काटने जैसे गुरुतर कार्य में भी किसी प्रकार की व्याकुलता अनुभव नहीं करते।'[१] यह मनोभाव के अतिशय आधिक्य का उदाहरण है। मनोभाव का अतिशय आधिक्य जहाँ होगा वहाँ वह किसी न किसी रूप में जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य में से अनेक में एक-सामान्यता स्थापित करेगा, भेद की सीमा को अतिक्रमण करेगा। अतः उदात्त का प्रथम भेद दीपक की विधा में ही है। ऊपर के उदाहरण में भी दो क्रियाओं का चमत्कार-पूर्वक एक कर्तृत्व स्पष्ट है। उदात्त का सही स्वरूप विभूति के अतिशय आधिक्य वर्णन में ही है—"रत्नों से खचित भित्तियों में प्रतिबिम्बित अपने सैकड़ों बिम्बों से घिरे हुए रावण को हनुमान् ने तत्वतः प्रयत्नपूर्वक पहचाना।'[२] इसे उदात्त अलंकार कहना चाहिए।

एक कार्य के प्रति अनेक कारणों की कर्त्तृत्व-सामान्यता, अलंकार की दीपकत्व-योजना ही रुद्रट के वास्तव वर्ग का समुच्चय अलंकार है, इसे मम्मट ने भी समुच्चय का स्वरूप स्वीकार किया है। रुद्रट लिखते हैं—'जाति, क्रिया, द्रव्य, गुण लक्षणात्मक अनेक वस्तु जहाँ एक आधार में स्थित होकर उत्कृष्ट शोभा का कारण बनती हैं अथवा सुखावह आदि होती हैं, और सत्-असत् का तीन प्रकार का जो योग होता है, वह समुच्चय अलंकार है।'[३] लक्षण के इस त्रिधा विभाजन को मम्मट ने उचित नहीं समझा है, उनका कथन है—"जहाँ प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के लिए एक कारण के रहते हुए भी उसकी सिद्धि के लिए अन्य अनेक कारण भी कहे जायें, वह समुच्चय अलंकार है।'[४] तथा 'यह ही समुच्चय अलंकार सद्योग,

---

१. काव्यादर्श २।३०१

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः।
यो रावणशिरश्छेदकार्यभारेप्यविक्लवः॥

२. वही, २।३०२

रत्नभित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः।
ज्ञातो लंकेश्वरः कृच्छ्रादांजनेयेन तत्त्वतः॥

३. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।१९

यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः॥

४. काव्यप्रकाश १०।सू० १७८

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्
समुच्चयोऽसौ।

असद्योग, सदसद्योग रूप में वस्तुओं की एकत्र स्थिति से भी प्रस्तुत किया जाता है, अतः उसका लक्षण अलग से नहीं कर रहे हैं।'[1] अब हम चाहे रुद्रट की परिभाषा को लें अथवा मम्मट की परिभाषा को, दोनों से यह स्पष्ट है कि अनेक वस्तुओं का एक चमत्कार में, सुख आदि एक अनुभूति में, सत्, असत् अथवा सत्-असत् के एक योग में और कारण रूप से एक कार्य की सिद्धि में अर्थ-न्यास की जो योजना है वह किसी न किसी रूप में अनेक वस्तुओं की एकसामान्यता का ही चमत्कार है, एकसामान्यता की चार ही कक्षायें हैं—जाति, क्रिया, द्रव्य, गुण। और कहीं एक सामान्यता कक्षा के ये ही विधेय हैं—जैसे सत-असत् के योग-प्रपंच में। सदसद्-योग का यह उदाहरण लीजिए—'मेरे मानस में बाण की नोक के समान ये सात वस्तुएँ सदा चुभती रहती हैं—दिन हो जाने के कारण मलिन चन्द्रमा, जिसका यौवन बीत चुका है वह स्त्री, जिसके कमल नष्ट हो चुके हैं वह सरोवर, विद्या-विहीन सुन्दर आकृति, धन का लोभी स्वामी, निरन्तर दुर्दशाग्रस्त सज्जन और राजा के आँगन में प्रवेश पानेवाला पिशुन मनुष्य।'[2] यहाँ द्रव्य और जातियों का सदसद्-योग शल्य (बाण की नोक) रूप एक कर्तृत्व में पर्यवसित हो रहा है।

समुच्चय के अस्तित्व का उल्लेख रुद्रट के पहले नहीं हुआ है, ऐसी भी बात नहीं है। इस अलंकार का स्वरूप सर्वप्रथम दण्डी के समुच्चयोपमा में प्रकट हुआ, दण्डी कहते हैं—'प्रिये! तुम्हारा मुख न केवल कान्ति से ही, आनन्दित करने वाले कर्म से भी चन्द्रमा की समानता करता है—इस प्रकार की समुच्चयोपमा भी होती है।'[3] यहाँ समानता की अत्यन्त सिद्धि के लिए गुण-क्रिया रूप दो साधारण धर्मों का एकत्र विधान है। मम्मट के अनुसार इस उदाहरण में समानता-रूप

---

१. काव्यप्रकाश १०। सू० १७८ की वृत्ति

एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते।

२. वही, १०।५०९

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे।

३. काव्यादर्श २।२१

समुच्चयोपमाप्यस्ति न कान्त्यैव मुखं तव।
ह्लादनाख्येन चान्वेति कर्मणेन्दुमितीदृशी॥

कार्य की सिद्धि के लिए कान्ति रूप एक साधारण-धर्म कारण के रहते हुए ह्लादनाख्य दूसरा साधारण-धर्म रूप कारण भी कहा गया है और रुद्रट के अनुसार कान्ति तथा ह्लादन गुण-क्रिया रूप दो वस्तुएँ एक ही आधार-मुख में स्थित हैं।

इस प्रसंग में मम्मट का निर्वचन अधिक स्पष्ट है—कार्य-सिद्धि के लिए एक कारण के रहते हुए अन्य और भी कारणों का कथन समुच्चय अलंकार हैं। यह बात वहाँ भी लागू होती है जहाँ रुद्रट के मत से सुखावह आदि बन कर अनेक वस्तुएं एकत्र स्थित होती हैं। सुखावह आदि को हम अनेक वस्तुओं की एक-सामान्यता अथवा कारणों के एक कर्त्तृत्व का ही नया भेद-पक्ष स्वीकार कर सकते हैं। सुखावह द्रव्य-समुच्चय का रुद्रट का उदाहरण है—'डह-डहाते हुए पूर्ण चन्द्रमा और उसकी चाँदनी से भरी हुई रात, चूने से पुती हुई धवल अट्टालिका, स्निग्ध और प्रगल्भ मित्र, काव्य की गोष्ठी—इतना और यह ही सुख इस जगत् में है।'[1] इस जगत्-रूप आधार में सुखावह वस्तुओं का यह एकत्र समुच्चय सुख-रूप एक कार्य के प्रति अनेक कारणों की स्थिति से अथवा अनेक वस्तुओं की सुख रूप एक-सामान्यता की व्युत्पत्ति से भी आँका जा सकता है।

अनेक की यह एकसामान्यता चाहे वह किसी भी व्युत्पत्ति से सिद्ध होती हो, अन्ततः दीपक की विधा में ही पर्यवसित होती है जहाँ एक पद किसी न किसी प्रकार से अनेक पदों के अर्थबोध में अन्वित होकर दीपक-न्याय से सर्वत्र पदों के अर्थ का प्रकाशक बन जाता है। समुच्चय के उक्त उदाहरण से तुलना के लिए हम यहाँ दण्डी के जाति-दीपक के उदाहरण को तथा प्रथम तुल्ययोगिता के उदाहरण को भी जिससे जाति दीपक की तुलना की गयी है, पुनः रख दे रहे हैं, इस समुच्चय से उनका कितना अभेद है यह इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है—जाति-दीपक का उदाहरण है—'बादलों से बरसता हुआ जल, भवन में पाले गये मयूरों का झुंड और बिजली की चंचल चमक—तीनों काम की सेना हैं।'[2] और प्रथम तुल्ययोगिता इस उक्ति में है—'राजन्! यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और केवल आप—इतने जन ही अन्य किसी के लिए अनुपयुक्त 'लोक-पाल' इस ख्याति को धारण करते हैं।'[3] 'इह' (इस जगत्) पद समुच्चय में, 'बल' (सेना) दीपक में और 'लोकपाल'

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।२१

सुखमिदमेतावदिह स्फारस्फुरदिन्दुमण्डला रजनी।
सौधतलं काव्यकथा सुहृदः स्निग्धा विदग्धाश्च॥

२. काव्यादर्श २।१०५

३. वही, २।३३१

तुल्ययोगिता में---तीनों पद एक समान उनकी उद्भावना के हेतु हैं, केवल तुल्य-योगिता में प्रस्तुत राजा की स्तुति अभीष्ट है जो बहुत ही क्षीण विभाजक रेखा है किन्तु जाति-दीपक और उक्त समुच्चय का अभेद तिरोहित नहीं किया जा सकता।

पीछे दीपकालंकार की उद्भावना के जिन पाँच मुख्य प्रयोगों का निर्देश किया गया है, यह उनके विश्लेषण की बात समाप्त हुई। यह अलंकार अन्य अलंकारों की सीमाओं को भी किस प्रकार अपने में आत्मसात् किये है आगे इस प्रसंग का भी स्पष्टीकरण किया जाता है। अनेक की एकत्र स्थिति की एकसामान्यता स्वभा-वोक्ति अलंकार में भी है, दीपक से उसकी भिन्नता दो प्रकार की है---(१) स्व-भावोक्ति में उपमानोपमेयगत किसी प्रकार की योजना का प्रसंग नहीं होता और (२) दीपक में जहाँ जाति, क्रिया गुण, द्रव्य वाचक एक पद सम्पूर्ण वाक्यों का अर्थ-प्रकाशक होता है वहाँ स्वभावोक्ति में इसकी उल्टी स्थिति होती है, सम्पूर्ण वाक्य ही जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य वाचक किसी एक पद की साक्षात् (वक्रोक्तिशून्य) अवस्था का अर्थ प्रकाश करता है। क्रिया-स्वभावोक्ति का यह उदाहरण देखिए--- 'जिसका कण्ठ मंजुल ध्वनि कर रहा है, आँखे प्रेम-भरी चितवन से देख रही हैं, वह कामुक कबूतर चक्कर काट कर प्रिया का चुम्बन करता है।'[1] अथवा यह द्रव्य-स्वभावोक्ति लीजिए---'कण्ठ से काले, हाथ में कपाल लिये, मस्तक पर चन्द्रमा धारण किये, चिकनी और पिशंगी जटाओंवाले वृषध्वज (शिव) प्रकट हुए।'[2] दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'चुम्बति' एवं 'वृषध्वज' क्रिया-द्रव्य पदों की सक्षात् अवस्थाओं का वर्णन समग्र रूप से उनके बिम्ब-ग्रहण अथवा अर्थ प्रकाश का कारण बनता है। प्रकारान्तर से यह अनेक की एकसामान्यता ही हुई जो दीपक की प्रकृत विधा है।

और जब स्वभावोक्ति भी हो, दीपक भी हो अथवा स्वभावोक्ति से गर्भित दीपक का प्रकार हो तब काव्य का चमत्कार अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन जाता है। आदिकवि का यह वर्षा-वर्णन देखिए, जिनमें स्वभावोक्ति गर्भित पदावृत्ति-दीपक है---वन-प्रदेश मोरों के विचित्र नृत्तों से सुशोभित हुए हैं, कदम्ब के वृक्ष फूलों और

---

१. काव्यादर्श २।१०

कलक्वणित गर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः।
पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम्॥

२. वही २।१२

कण्ठे कालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः।
जटाभिः स्निग्ध-ताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः॥

शाखाओं से भर गये हैं, साँड़ गायों के प्रति काम-वासना से आसक्त हैं और धरती खेतों तथा वनों से हरी-भरी होकर रमणीय दिखायी पड़ती है।[१] इस उदाहरण के चारों वाक्यों में 'जाताः' एक ही क्रिया-पद की आवृत्ति है और अर्थ-बोध भिन्न-भिन्न हैं—सुशोभित होना, भरना, आसक्त होना, दिखायी पड़ना। और यह पदावृत्ति दीपक वर्षाकाल के द्रव्य-स्वभावोक्ति (मयूरनृत्त, पुष्पित कदम्ब, उन्मत्त साँड़ एवं हरी-भरी धरती) के बिम्ब-विधान से सम्पन्न होकर काव्य-बोध को अत्यन्त आवर्जक बना देता है।

भोज ने क्रिया के एक विशिष्ट आवृत्ति प्रकार को लेकर, जिसे आवली संज्ञा दी है, दीपक का एक नया भेद प्रस्तुत किया है, इस भेद में क्रिया, मध्य में एक नयी क्रिया के अन्तर से उसी कर्त्रर्थ और कर्त्ता के साथ पुनः आवृत्त होती है, जैसे—'तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा, तुम पवन, तुम अग्नि, तुम जल, तुम आकाश, तुम धरती, और तुम आत्मा। इस प्रकार तुम से ही सत्ता-प्राप्त सूर्य आदि तुम में ही अपना अलग-अलग अन्वर्थ धारण करते हैं, हम लोग तो इस सृष्टि में किसी ऐसे तत्त्व को नहीं खोज पाते (हे शिव!) जो तुम न हो।'[२] यहाँ पूर्वार्ध में 'तुम' शब्दार्थ की पहली आवृत्ति 'हो' क्रिया के साथ दीप्त हो रही है, मध्य में तुम का अधिकरण कारक

---

१. वाल्मीकिरामायण, किष्किधा० २८।२६

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा॥

२. सरस्वतीकण्ठाभरण ४। उदा० २०२

आवली यथा—

'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वंव्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥'

अत्र पूर्वार्धे त्वमिति शब्दार्थयोः प्रथमावृत्तिः प्रथमपादस्थया 'असि' इति क्रियया दीप्यते। ततस्तृतीयपादे 'त्वयि' इति रूपान्तरेण युष्मदर्थ आवर्त्यमानः क्रियान्तरेण सम्बध्यते, चतुर्थपादे पुनरपि तेनैव रूपेणास्त्यर्थेन भवतिना सम्बध्यत इति, सेयं वृत्तीनामावृत्तिरावलीति दीपकस्यैव भेदो भवति।

का रूप अन्य क्रिया के साथ सम्बद्ध है और अन्त में पुनः 'तुम' कर्त्ता 'हो' क्रिया के साथ आवृत्त हो जाता है। यह 'आवली' नामक दीपक का भेद है तथा भोज की अपनी उद्भावना है।

वामन ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं स्वीकार किया है, वे सभी अलंकारों का मूल उपमा को ही मानते हैं।[1] उन्होंने उपमानोपमेय वाक्यों में एक क्रिया का होना ही दीपक की परिभाषा स्वीकार की है।[2] यह क्रिया साधारण धर्म का स्थानी होती है। वामन के दीपक का यह स्वरूप भामह के दीपक-लक्षण का ही प्रकारान्तर है।[3] बाद में इसी का अनुगमन रुद्रट ने भी किया, जैसा कि पीछे के व्याख्यान से स्पष्ट है। और वामन के विचार से उपमा में जहाँ साधारण धर्म जाति, द्रव्य, गुण रूप होता है वहाँ क्रिया-रूप साधारण धर्म के न होने से ही यदि उपमा की स्वीकृति दी जाती है तो दीपक द्वारा उपमा का सीमा-विस्तार स्वयं सिद्ध है। गुण-बाहुल्य की कल्पना से कल्पित-उपमा का विधान वामन ने किया है, दीपक का उससे भेद यह हो जाता है कि गुण-बाहुल्य की उत्कर्ष-अपकर्ष कल्पना उपमान-उपमेय का स्पष्ट निर्धारण कर देती है जिससे उपमा ही स्फुट होती है, दीपक नहीं। दीपक में एक समान अर्थ-प्रकाश मात्र की अपेक्षा होती है। जैसे उपमा का उदाहरण है—'नारंगी का फल मदिरापान से मत्त हूण की तुरन्त की मुण्डित ठोढ़ी की समानता करता है।'[4] इसमें कपिशता—गुण-रूप साधारण धर्म व्यक्त नहीं है, प्रस्पर्धि (समानता करता है)—वाचक पद को हटाकर यदि साधारण धर्म कपिशता का उभय-अन्वित उल्लेख कर दिया जाय तो यही दीपक का उदाहरण हो जायगा—'नारंगी पक कर कपिशता में शोभित होती है और मदिरापान से मत्त हूण की तुरन्त की मुण्डित ठोढ़ी।'

अब यह अलग प्रश्न है कि दीपक की उद्भावना में प्रस्पर्धि-जैसे वाचक पदों

---

१. काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति ४।२

सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते।

२. वही, ४।३।१८

उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्।

३. दे० काव्यालंकार (भामह) २।२५-२९

४. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।२।२ का उदा०

'सद्योमुण्डित-मत्तहूण-चिबुकप्रस्पर्धि नारंगकम्'

को जोड़ कर उपमा का निर्धारण हुआ अथवा उपमा से प्रस्पर्धि जैसे वाचक पद को हटा कर दीपक का निश्चय किया गया। दण्डी के काव्यादर्श से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने में कुछ सहायता मिलती है। वामन ने उपमा में गुण-बाहुल्य का और दीपक में क्रिया का उल्लेख किया है। दण्डी के मत से जाति, क्रिया, द्रव्य, गुण वाची पद दीपक के ही विषय हैं,[1] उपमा में सादृश्य-साधारण धर्म का आकलन होता है।[2] और इस विश्लेषण को देखते हुए यही कहा जायगा कि जाति, क्रिया आदि का ग्रहण दीपक से उपमा में हुआ। दण्डी की उपमा में ऐसे भी उदाहरण हैं जो दीपक से अभेद रखते हैं। एक उदाहरण तो--**सद्योलुण्डित-मत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारंगकम्'** का ही समयोगी है, दण्डी कहते हैं--'सौ पंखुड़ियोंवाला कमल, शरद् ऋतु का चन्द्रमा और आपका मुखमण्डल तीनों परस्पर विरोधी (प्रस्पर्धी) हैं, इस प्रकार की विरोधोपमा इष्ट होती है।'[3] इस उदाहरण को वामन की सरणि पर यदि उपमा अलंकार के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो इस प्रकार कहा जाना चाहिए--'सौ पंखुड़ियोंवाले कमल और शरद ऋतु के चन्द्रमा का विरोधी (प्रस्पर्धी) आपका मुखमण्डल है।' वामन के अनुसार गुण-बाहुल्य के उत्कर्ष-अपकर्ष से यह उपमा उद्भावित होती है। दण्डी के प्रकृत उदाहरण में तीनों (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) की एक सामान्यता 'परस्पर विरोधी'--इस एक साधारण गुण से, जो तीनों के लिए इष्ट हैं, प्रस्तुत की जाती है। वामन के उदाहरण में विरोधी (प्रस्पर्धी)--यह साधारण गुण अपकर्ष गुणवाले उपमेय के साथ सम्बद्ध हो जाता है और तब सही अर्थ में उपमा की सिद्धि होती है। दण्डी का उदाहरण तीनों वस्तुओं की एकसामान्यता के कारण दीपक के ही निकट है। अतः 'शतपत्रं शरच्चन्द्रस्त्वदाननमिति त्रयम्। परस्पर विरोधीति' के उपमा-प्रकार का ही

---

१. काव्यादर्श २।९७

जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य-वाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं यथा॥

२. वही, २।१४

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं प्रदर्श्यते॥

३. वही, २।३३

शतपत्रं शरच्चन्द्रस्त्वदाननमिति त्रयम्।
परस्परविरोधीति सा विरोधोपमा मता॥

निखार 'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारंगकम्' में हुआ है और इस प्रकार का विकास दीपक से हुआ है।

इस बात को दण्डी का एक दूसरा उदाहरण और भी स्पष्ट करता है—'इन्द्र स्वर्ग की रक्षा के लिए सावधान रहते हैं और आप पृथ्वी की रक्षा के लिए। वे असुरों का विनाश करते हैं और आप दम्भी राजाओं का।'[1] यह उनके मत से तुल्य-योगोपमा है, जिसका लक्षण है—एक क्रिया के विधेय में हीनगुण-वस्तु को अधिक गुणवाली वस्तु के समान बताकर जो कथन होता है उसे तुल्ययोगोपमा कहते हैं।[2] यह एक क्रिया-विधि दीपक की ही प्रकृत विधा है। दण्डी ने तो इसका उल्लेख किया ही है, भामह, वामन, रुद्रट को एक क्रिया-विधि मात्र में ही दीपक की स्थिति स्वीकार है। इस एक क्रिया-विधि दीपक में उपमान-उपमेय की योजना ही तुल्ययोगोपमा है जो अधिक-गुण वस्तु के साथ हीन-गुण वस्तु की होती है। इसी अधिक-गुण और हीन-गुण को गुण-बाहुल्य के उत्कर्ष-अपकर्ष से उपमान-उपमेय की स्थित में कल्पितोपमा का विधान[3] वामन ने निभ, प्रस्पर्धि जैसे उपमा वाचक पदों के माध्यम से स्वीकार किया है। दण्डी की उक्त दोनों उपमाएँ—विरोधोपमा तथा तुल्ययोगोपमा परिमाण में एक ही हैं—अधिक-गुण के साथ हीन-गुण की उपमा का विधान। प्रयोग-भेद से उसके दो प्रकार उन्हें इष्ट हो गये हैं। विरोधोपमा में अधिक-गुण, हीन-गुण दोनों की गुण-कल्पना अधिक स्फुट है, तुल्ययोगोपमा में उनकी गुणकारी क्रिया का समन्वय। स्पष्ट है कि दीपक में विहित गुण-क्रिया की अलग-अलग उद्‌भावना को स्वीकार करते हुए दण्डी ने एक ही उपमा-विधि को दो प्रकार से प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः उपमा और रूपक में उपमानोपमेय का साधारण धर्म दीपक में विहित

---

१. काव्यादर्श २।४९

दिवो जागर्ति रक्षायै पुलोमारिर्भुवो भवान्।
असुरास्तेन हन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपाः॥

२. वही, २।४८

अधिकेन समीकृत्य हीनमेकक्रियाविधौ।
यद् ब्रुवन्ति स्मृता सेयं तुल्ययोगोपमा यथा॥

३. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।२।२

ननु कल्पितायाः लोकप्रसिद्धयभावात् कथमुपमानोपमेयनियमः ?
गुणबाहुल्यस्योत्कर्षापकर्षकल्पनाभ्याम्।

दो वस्तुओं की एकसामान्यता का ही प्रतियोगी है। दीपक की गुण-क्रिया की एकसामान्यता और स्थिति के एककालिक होने की बात को भामह ने उपमा की परिभाषा में दुहराया है—'अपने से भिन्न उपमान से उपमेय की देश, काल, क्रिया आदि के द्वारा गुण-लेश की जो समानता होती है उसे उपमा कहते हैं।'[१] प्रतिवस्तूपमा में दीपक की उक्त एकसामान्यता अत्यन्त स्फुट है, दण्डी, भामह और अन्य आचार्यों की परिभाषाएं इस सम्बन्ध में उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होती गयी हैं। दण्डी कहते हैं—'किसी वस्तु का वर्णन कर उसके समान धर्म-वाली किसी अन्य वस्तु के विन्यास किये जाने पर जो समानता की प्रतीति होती है, वह प्रतिवस्तूपमा है।'[२] अर्थात् दो वाक्यों में उपन्यस्त वस्तुओं में एकसामान्यता की स्थिति होती है जिसे स्फुट होने के लिए साधारण धर्म की भाँति इव-आदि वाचक पदों की अपेक्षा नहीं रहती, और यह पूर्ण स्पष्टीकरण भामह की परिभाषा में हुआ—'यथा, इव आदि वाचक पदों के प्रयोग के बिना भी समान वस्तुओं के विन्यास से गुण की समानता की प्रतीति को प्रतिवस्तूपमा कहते हैं।'[३] पुनः वामन ने दो वाक्यार्थ और एकसमानता को स्फुट करके कहा—उपमेय के कथन पर उस के समान वस्तु का विन्यास प्रतिवस्तु अलंकार है। यहाँ दो वाक्यार्थ होते हैं, उपमा में एक वाक्यार्थ होता है, यह भेद है।[४] अर्थात् दो वाक्यार्थों की एकसामान्यता प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। मम्मट ने इस एकसामान्यता को ही स्पष्ट रूप से प्रतिवस्तूपमा का लक्षण कहा है—'एक सामान्य-धर्म की दो वाक्यों में दो प्रकार से स्थिति प्रतिवस्तू-

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।३०

विरुद्धेनोपमानेन देश - काल - क्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥

२. काव्यादर्श २।४६

वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा॥

३. काव्यालंकार (भामह) २।३४

समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥

४. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।३।२

उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु। अत्र द्वौ वाक्यार्थौ, एको वाक्यार्थ उपमायामिति भेदः।

पमा अलंकार है।' दण्डी और वामन के उदाहरणों में अन्तर यह है कि उक्त एक-सामान्यता एक जगह दीपक की भाँति अभिधात्मा रूप से प्रकट है और दूसरी जगह व्यक्त हो रही है। दण्डी का उदाहरण है—'आज तक उत्पन्न राजाओं में एक भी तुम्हारे समान नहीं है, निश्चिय ही कल्पवृक्ष दूसरा नहीं है।'[1] यहाँ 'नैकोऽपि' 'नास्त्येव' (समान नहीं है, दूसरा नहीं है) इन समान पदों द्वारा एकसामान्यता का स्फुट कथन हो रहा है। वामन के प्रतिवस्तु (प्रतिवस्तूपमा) के उदाहरण में इससे भिन्न स्थिति है—'जिसने पटरानी का पद पाया है वह परिवार में सामान्य रानी के रूप में कैसे सुशोभित होगी? निश्चित है कि देवता के रूप में प्रतिष्ठित रत्न अन्य रत्नों की भाँति उपभोग के योग्य नहीं होता।'[2] यहां 'कथं भजति' 'न परिभोगयोग्यं' (कैसे सुशोभित होगी, उपभोग के योग्य नहीं होता) इन अ-समान पदों द्वारा एकसामान्यता का बोध कराया जा रहा है। मम्मट ने दो उदाहरण दिये हैं, एक उदाहरण तो उनका वामन का ही है और दूसरा उदाहरण उनके लक्षण के ठीक अनुरूप है—'आग सदैव जलने का ही काम करती है तो आश्चर्य क्या है? पहाड़ में सदैव भारीपन ही रहता है तो इससे क्या? महासमुद्र का जल सदा खारा ही है (तो क्या हुआ?) सज्जनों की प्रकृति किसी भी स्थिति से कभी न खिन्न होनेवाली होती है।'[3] 'कभी न खिन्न होना' इस एक क्रिया-सामान्यता की तीन में जो स्थिति है वह वामन का दीपक अलंकार है, उनके 'भूष्यन्ते प्रमदवनानि' उदाहरण से इसकी तुलना की जा सकती है, और यही रुद्रट का औपम्य समुच्चय है, 'जालेन सरसि मीनाः' उदाहरण के समकक्ष ही मम्मट के उक्त उदाहरण को रखा जायगा। तीनों में एक प्रकार से ही एक क्रिया-सामान्यता का उल्लेख हुआ है—खिन्न नहीं होते (अविषादिता), सुशोभित होते हैं (भूष्यन्ते), बाँधे जाते हैं (बध्यन्ते)। इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वामन ने समुच्चय अलंकार नहीं स्वीकार

---

१. काव्यादर्श २।७

नैकोऽपि त्वादृशोऽद्यापि जायमानेषु राजसु।
ननु द्वितीयो नास्त्येव पारिजातस्य पादपः॥

२. काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति ४।३।२ का उदा०

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपांकितं रत्नम्॥

३. काव्यप्रकाश १०।४५४

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता॥

किया है, और रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा। अर्थात् वामन का उक्त दीपक ही रुद्रट का औपम्य समुच्चय है और अन्य आचार्यों के मत में वही प्रतिवस्तूपमा है। दण्डी ने उसी एक विधा को दीपक और प्रतिवस्तूपमा दोनों प्रकार से प्रस्तुत किया है। उनके दीपक-सम्बन्धी ऐसे उदाहरण हैं--'चरन्ति चतुरम्भोधि०' तथा 'श्यामलाः प्रावृषेण्याभिः०'[1] दीपक में एक-सामान्यता अधिक स्फुट है और प्रतिवस्तूपमा में औपम्यता।

केवल विरोधोपमा, तुल्योगोपमा और प्रतिवस्तूपमा की ही बात नहीं है, दण्डी की उपमा के अन्य कुछ भेद भी दीपक-विधा के निकट स्थित हैं, जैसे समानोपमा और प्रशंसोपमा। समानोपमा का लक्षण और उदाहरण है--अर्थ से भिन्न होने पर भी स्वरूप से अभिन्न समान शब्द से साधारण धर्म का कथन किये जाने पर समानोपमा होती है, जैसे--सालकानन से शोभित (साल वृक्ष के वन से शोभित) वन की पंक्ति, सालकानन से प्रसन्न (अलक--केश-पाश-से युक्त मुख से शोभित) वधू के समान है।[2] वस्तुतः यह श्लेषोपमा हुई, जिसमें 'सालकानन-शोभिनी' पद में श्लेष से जाति की एकसामान्यता दोनों वर्ण्य-वस्तुओं का एक समानबोध प्रस्तुत करती है। यही स्थिति प्रशंसोपमा में भी है--'कमल जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा का भी उत्पत्ति स्थान है, चन्द्रमा को शंकर जी शिर पर धारण करते हैं --इस प्रकार ये दोनों महिमाशाली कमल और चन्द्रमा तुम्हारे मुख के समान हैं, इस प्रकार की प्रशंसोपमा कही जाती है।'[3] यहाँ 'समान है'--जाति की यह एकसामान्यता कमल और चन्द्रमा दोनों में स्थित है, जिसके कारण प्रस्तुत उदाहरण में दीपक ही अधिक सम्भव है, उपमा कम। विधा की एकसामान्यता के कारण दीपक और उपमा की परस्पर एकान्विति अलंकार-उद्भावना के प्रारम्भ में ही नहीं रही, है, बाद में भी बनी रही है, न केवल दण्डी के उदाहरणों में ही इसका निदर्शन होता है, ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इसे स्वीकार किया है--कुछ अलंकारों की परस्पर अन्तर्भूत स्थिति भी सम्भव होती है, जैसे उपमा और

---

१. दे० काव्यादर्श २।९९, १००

२. काव्यादर्श २।२९

सरूपशब्दवाच्यत्वात् सा समानोपमा यथा।
बालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनी॥

३. वही, २।३१

ब्रह्मणोऽप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शंभुशिरोद्धृतः।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति सा प्रशंसोपमोच्यते॥

दीपक की। वहाँ उपमा के गर्भ में दीपक की स्थिति प्रसिद्ध है, उपमा भी जब तब दीपक की छाया का अनुसरण करती है, जैसे मालोपमा।[1] ऊपर कही गयी विरोधोपमा तथा प्रशंसोपमा के उदाहरणों में मालोपमा के प्रकार का ही सन्निवेश है और दीपक के कितना निकट है—यह दिखाया जा चुका है।

कदाचित् 'ध्वन्यालोक' के उक्त उपमागर्भत्व पद में उद्भट के **'अन्तर्गतोपमाधर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः।'**[2] कथन की ही स्वीकृति है। ध्वन्यालोक के उक्त उपमा शब्द से लोचनकार को उपमा-विशिष्ट रूपक आदि सभी अलंकार ग्राह्य हैं अथवा उनका कहना है कि यहाँ उपमा शब्द में सर्वसामान्य औपम्य अर्थ है जिससे उपमामूलक सभी अलंकारों को आक्षिप्त समझना चाहिए।[3] लोचनकार का यह विश्लेषण यथार्थ है। दीपक का चमत्कार ऐसे अन्य अलंकारों में भी होता है। दण्डी का श्लिष्टार्थ-दीपक रूपकध्वनि को प्रस्तुत करता है—'हृद्यगन्धवह (गरमी के बाद जल-वर्षा से सोंधी महक की हृदयहारी हवा अपने साथ लाये हुए, हृदय को तृप्त कर गण्डस्थल के दानजल की तीव्रगन्धधारण करनेवाले) ऊँचे आकार के और तमाल के समान काले चमकते हुए आकाश में बादल घुमड़ रहे हैं और पृथ्वी पर ये हाथी।'[4] इस उदाहरण में **'भुवि चैते'** (और पृथ्वी पर ये)—पद से बादल एवं हाथी के तादात्म्य की प्रतीयमानता प्रस्तुत होती है।

ऐसी उद्भावनाओं में जहाँ निषेधात्मक पदों की आवृत्ति अलंकार-चमत्कार को प्रस्तुत करती है, स्वभावतः दीपक की छाया का सन्निवेश हो जाता है—तत्त्वापह्नवरूपक तथा प्राग्ध्वंसाभावहेतु अलंकारों के उदाहरण में यह बहुत स्पष्ट है। तत्त्वापह्नव रूपक का उदाहरण है—'यह तुम्हारा मुख नहीं है यह कमल है,

---

१. ध्वन्यालोक ३।३६

केषांचिदलंकाराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति। यथा दीपकोपमयोः। तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्। उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी। यथा मालोपमा।

२. काव्यालंकार-सार-संग्रह का० १४

३. ध्वन्यालोक ३।३६ का लोचन

उपमागर्भत्व इत्युपमाशब्देन सर्व एव तद्विशेषा रूपकादयः, अथवौपम्यं सर्वसामान्यमिति तेन सर्वमाक्षिप्तमेव।

४. काव्यादर्श २।११३

हृद्यगन्धवहास्तुंगास्तमालश्यामलत्विषः ।
दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतंगजाः॥

आँखें नहीं हैं दो भौंरे हैं, चमकते दाँतों की यह कान्ति नहीं है ये किञ्जलक हैं।[१] और इसी प्रकार प्राग्ध्वंसाभाव-हेतु का उदाहरण लीजिए—'विद्याओं का अभ्यास न करने से , विद्वानों का सत्संग न करने से और इन्द्रियों का संयमन न करने से मनुष्यों में दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।'[२] पहले उदाहरण में तीन निषेधात्मक 'न' पद (जाति) प्रिया की मुख-शोभा के वर्णन से अन्वित होकर एकसामान्यता प्राप्त करते हैं और दूसरे उदाहरण में तीन नञ्-पद (जाति) कर्त्ता रूप से 'व्यसनं जायते' (दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न होती है) एक क्रिया में अन्वित हैं। ऐसे प्रयोग अन्य अलंकारों के उदाहरणों में भी हैं।

दीपक की एकसामान्यता जहाँ-तहाँ अतिशयोक्ति को भी किस प्रकार चमत्कृत करती है, यह इस उदाहरण से प्रकट है—'माधवी पुष्प की माला से सुसज्जित, चन्दन का सर्वांग लेप किये हुए, उज्ज्वल साड़ी पहने अभिसारिकाएँ चाँदनी में देखी नहीं जातीं।'[३] यहाँ चाँदनी के साथ माला, चन्दन और साड़ी में शुभ्र गुण की एकसामान्यता दीपक की ही सरणि है।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा का वह विवादास्पद उदाहरण भी है, जिसमें उपमा की अस्वीकृति के लिए दण्डी को लम्बी व्याख्या करनी पड़ी है—'अन्धकार अंगों में लेपन-सा कर रहा है, आकाश अंजन की वर्षा-सी कर रहा है—इस प्रकार यह उक्ति भी उत्प्रेक्षा के प्रकृष्ट लक्षण से युक्त है।'[४] दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे 'इव' पद के प्रयोग के कारण उपमा का प्रयोग माना था, उसके निराकरण के लिए ही उन्होंने व्याख्या की अवतारणा की है।

---

१. काव्यादर्श २।९४

नैतन्मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ।
एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्चिषस्तव॥

२. वही, २।२४७

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम्।
अनिग्रहेण चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणाम्॥

३. वही, २।२१५

मल्लिकामालभारिण्यः सर्वांगीणार्द्रचन्दनाः।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः॥

४. वही, २।२२६

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम्॥

किन्तु इस उदाहरण में उपमा के निराकरण और उत्प्रेक्षा की स्थापना के समान ही महत्त्वपूर्ण तथ्य दीपक की खोज का है, जिसकी ओर दण्डी का भी ध्यान नहीं गया। उसका कारण था, इस उक्ति की अलंकार-व्याख्या दण्डी के पूर्व उपमा-सम्प्रदाय में हुई थी, उन्होंने इसी सरणि में चल कर उसके उत्प्रेक्षात्व को स्फुट किया। उपमा-विधा के नित्य नूतन प्रयोगों के कारण दीपक के प्रयोगों के प्रति जिज्ञासा नहीं रह गयी थी। समग्र उक्ति यह है जिसके उत्तरार्ध में स्फुट रूप से उपमा ही है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥

'अन्धकार अंगों में लेपन-सा कर रहा है, आकाश काजल-सा बरस रहा है, आँखें कुछ देखने में दुष्ट पुरुष की सेवा के समान असफल हो रही हैं।' इसमें तीन क्रियाएं—लिम्पति, वर्षति, निष्फलतां गता—वर्षाकाल की चन्द्र-विहीन रात्रि के गाढ़ता-कर्त्ता का विधेय हैं, यद्यपि वह कर्त्ता उक्त नहीं है, अतः तीनों क्रियाओं की यह एक विधेय-सामान्यता यहाँ दीपक अलंकार की प्रतीयमानता का हेतु है। उत्प्रेक्षा और उपमा दोनों उसकी अपेक्षा गौण हैं और यदि रात्रि की गाढ़ता को कर्त्ता रूप में न स्वीकार किया जाय तो रात्रि की गाढ़ता रूप एक वस्तु का तीन प्रकार से ग्रहण या उल्लेख उल्लेख अलंकार की प्रतीयमानता है।[1] पर उसके मूल में भी दीपक की ही विधा—अनेक की एकसामान्यता वर्तमान है। दण्डी के एकार्थ दीपक का उदाहरण है—'बादलों की यह सिमटी हुई कतार दिशाओं के विस्तार को घेर रही है, नक्षत्र समूहों को अपने में आत्मसात् कर रही है और मेरे प्राणों को हरण कर रही है।'[2] और उल्लेख की उक्ति इस प्रकार है—'श्रीकण्ठ जनपद मुनियों द्वारा तपोवन, वेश्याओं द्वारा कामायतन, नर्तकों द्वारा संगीतशाला के रूप में ग्रहण हुआ।'[3] दीपक में बादल की कतार की तीन क्रियाओं में लोप-रूप एक

---

१. अलंकार-सर्वस्व, पृष्ठ ५९

यत्रैकं वस्तु अनेकधा गृह्येत स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः।

२. काव्यादर्श २।१११

हरत्याभोगमाशानां गृह्णाति ज्योतिषां गणम्।
आदत्ते चाद्य मे प्राणानसौ जलधरावली।

३. अलंकार-सर्वस्व, पृ० ५९

यस्तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः संगीत-शालेति लासकैः।

ही अर्थ का वर्णन है और इस उल्लेख में एक ही श्रीकण्ठ जनपद की प्रतीति तीन स्वरूपों में प्रस्तुत हुई है। उल्लेख को दीपक से इसलिए भिन्न समझना पड़ रहा है कि दीपक में तीन क्रियाओं के एक कर्तृ-विधेयत्व में चमत्कार है और उल्लेख में तीन स्वरूपों के एकनिष्ठ होने पर भी उनके त्रिधा प्रस्तुतीकरण में ही चमत्कार है अर्थात् दीपक की अनेक की एकसामान्यता विधा ही उलट कर एक का अनेकधोल्लेख बन गयी है और इसे दीपक से अभिन्न इसलिए मानना पड़ता है कि जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य में दीपक की अनेकत्व -एकत्व-प्रस्तुति विधा से भिन्न नूतन विधा में उल्लेख की उद्‌भावना नहीं की जा सकती।

दण्डी का ऊपर कहा गया 'एकार्थ दीपक' 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' की उत्प्रेक्षा का ही प्रतीयमान स्वरूप है, यह इस परिष्कार से समझ में आ जाता है जब हम इसमें उत्प्रेक्षा वाचक इव (सी) शब्द का प्रयोग कर के देखते हैं--'बादलों की यह सिमटी हुई कतार दिशाओं के विस्तार को घेर-सी रही है, नक्षत्र-समूहों को अपने में आत्मसात्-सी कर रही है और मेरे प्राणों को हरण सी कर रही है।' अब यह वही अनुक्त-निमित्ता क्रियोत्प्रेक्षा है, उक्ति में कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ा है, केवल वाचक पद 'इव' (सी) के सन्निवेश के अतिरिक्त। इस प्रकार उक्त उत्प्रेक्षा और इस एकार्थ दीपक की एकता की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

यही स्थिति दण्डी के विरुद्धार्थ दीपक और विरोध अलंकार के कुछ उदाहरणों की है। विरुद्धार्थ दीपक यह है--'बादल काम के गर्व को बढ़ावा देते हैं और हवा में उनके उड़ाये गये जल-कण ग्रीष्म के गर्व को नष्ट करते हैं।'[1] इस उक्ति से अभिन्न ही विरोध के दो उदाहरण लीजिए--'(शरद ऋतु में) राजहंसों का प्रसन्नता से भरा हुआ मंजुल कूजन चारों ओर फैल रहा है और मन्द पड़ता जा रहा है--मोरों का केका-गान सौष्ठव से हीन होकर।[2] यह क्रिया-विरोध की उक्ति है। वस्तु-गत गुण-विरोध को देखिए--'वर्षाकाल के बादलों से आकाश में दुर्दिन (अन्धकार) होता जा रहा है और अनुराग (लालिमा) से आक्रान्त हो रहा है

१. काव्यादर्श २।१०९

अवलेपमनंगस्य वर्द्धयन्ति बलाहकाः।
कर्शयन्ति तु घर्मस्य मारुतोद्धूतशीकराः॥

२. वही, २।३३४

कूजितं राजहंसानां वर्धते मदमंजुलम्।
क्षीयते च मयूराणां रुतमुत्क्रान्तसौष्ठवम्॥

जगत् के प्राणियों का मन।'[1] उक्त तीनों उदाहरणों की विधा अथवा प्रकार में कोई अन्तर नहीं है, (किसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि विरोध के दोनों उदाहरणों में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध—दोनों क्रियाओं के एक कर्त्ता के रूप में शरद्ऋतु एवं वर्षा के बादल प्रत्यक्ष उपात्त नहीं हैं।) तीनों ही उदाहरणों में पूर्वार्ध उत्तरार्ध की क्रियाओं में काल का कोई व्यधिकरण भी नहीं है। इसका अर्थ यह है कि विरोध के ये प्रयोग दीपक-विधा के प्रयोगों से अभिन्न हैं।

दीपक के उक्त प्रकार में ही 'वा' पद का प्रयोग कर 'अलंकार सर्वस्वकार' ने विकल्प अलंकार की उद्भावना की है, तुल्यवल का विरोध विकल्प है[2], जैसे— 'मस्तकों को झुकाइए या धनुष को, आज्ञाओं को कानों तक ले जाइए या धनुष की प्रत्यंचाओं को।'[3] एक काल में दो क्रियाओं का एक कर्त्ता, पृथक् अथवा दो वाक्यों में एक क्रिया का ही अन्वय, यदि 'वा' पद का प्रयोग उसे विकल्प से एक के लिए ही सीमित न कर दे और समुच्चय बोधक किसी अव्यय का प्रयोग हो जाय तो दीपक के प्रकार से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

दीपक-विधा में हमें भाव की प्रवणता अधिक मिलती है और इससे विकसित अलंकार प्रायः अर्थ-प्रधान होते गये हैं। विरोध-मूलक दीपक-विधा के विकल्प अलंकार का एक उदाहरण लीजिए, जिसमें समुच्चय बोधक अव्यय से दीपक की स्थिति है और विकल्प को व्यक्त करनेवाला पद विकल्प का स्वरूप है—'थोड़ा इस पर विचार करो और कुल के व्यवहार के योग्य यश के लिए प्रयत्न करो—कि लज्ज्जा में और समुद्र में दोनों में भी किसका लाँघा जाना तुम्हारे लिए अधिक दुष्कर है।'[4] समुद्र के किनारे विचारमूढ़ वानरसेना के प्रति सुग्रीव के इस कथन के उत्तरार्ध में अपि (समुद्दस्स वि) समुच्चय पद और किम् (किं) विकल्प पद

---

१. काव्यादर्श २।३३५

प्रावृषेण्यैर्जलधरैरम्बरं दुर्दिनायते।
रागेण पुनराक्रान्तं जायते जगतां मनः॥

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० १९८

तुल्यबलविरोधो विकल्पः।

३. वही, पृ० १९८

नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा।

४. सेतुबन्ध ३।२६

चिन्तिज्जउ दाव इमं कुलववएसक्खमं वहन्ताणजसम्।
लज्जाइ समुद्दस्स वि दोह्ण वि किं होइ दुक्करं बोलेउम्॥

दोनों हैं, एक काल में एक कर्त्ता है, एक क्रिया है, कर्म दो हैं––लज्जा और समुद्र। दोनों के साथ, लाँघा जाना (बोलेउम्) क्रिया का समान अन्वय अपि (वि) के प्रयोग के कारण अपने चमत्कार में दीपक का ही प्रस्तुतीकरण है। यदि यहाँ ऐसा कहा जाता कि 'लज्जा को लाँघो या समुद्र को' तो निश्चित ही विकल्प का उक्ति-चमत्कार, भाव से हट कर, ऊपर की उक्ति से हीन हो जाता। विकल्प 'वा' पद का प्रयोग बहुत कुछ विधेय का शब्दतः निर्धारण कर देता है और अपि (वि) उस निर्धारण को अन्तर्हित रख कर भावावृत्त बना देता है।

दीपक के विस्तार की इस व्यापक चर्चा के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि वह स्वभावोक्ति वर्ग का मूल अलंकार है, उसकी विधा का सन्निवेश स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति दोनों वर्गों के अलंकारों में है। परवर्ती आचार्यों ने क्रिया और कर्त्ता मात्र के प्रयोग-वैचित्र्य में दीपक को सीमित कर दिया किन्तु दण्डी ने जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य एवं पद, अर्थ की आवृत्ति के विविध एकसामान्यता-परक प्रयोगों द्वारा दीपक का निदर्शन किया है जिससे अलंकार-उद्भावना के मूल इतिहास में दीपक की महत्त्वपूर्ण स्थिति का पता चलता है।

इन तथ्यों के साथ इस नये आकर्षक पक्ष को उद्घाटित करना भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि उपमा, रूपक, दीपक––अलंकार-उद्भावना की इन तीन आदि विधाओं में सूक्तिकारों द्वारा पहले किस विधा का प्रयोग हुआ होगा।

अलंकार-उद्भावना में दीपक की प्राथमिकता

उक्त प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करना सरल काम नहीं है। अलंकार-प्रयोग काव्य-प्रकार हैं, काव्य-सिद्धान्त नहीं हैं। काव्य-सिद्धान्तों की एक परम्परा और उनका सम्प्रदाय होता है जिससे उनके पूर्वापर क्रम का पता चलता है। तथा सिद्धान्त के शास्त्रीय विश्लेषण में प्रयोग अथवा प्रकार अपनी उद्भावना से गौण होकर उद्धृत होते हैं अतः उनका कोई ऐतिहासिक क्रम तो है नहीं कि कह दिया जाय––यह अलंकार पहले प्रयुक्त हुआ, यह बाद में। दाक्षिणात्यों ने उपमा को प्रथम, औदीच्यों ने रूपक को प्रथम और वक्रोक्तिजीवितकार ने दीपक को प्रथम निरूपित किया है। तीनों अलंकारों के प्राचीनतम प्रयोग भी उपलब्ध हैं। नाट्य शास्त्र में उपमा, दीपक तथा रूपक इस क्रम में ये ही तीन अलंकार उद्धृत हुए हैं, किन्तु निरुक्त में संज्ञा-निर्देश-पूर्वक उपमा के ही वाचक शब्दों की सूची दी गयी है, उस सूची को अभी पीछे उद्धृत किया गया है, निरुक्त का रचना-काल ८वीं शती ई० पू० है। यह भी सत्य है कि अलंकारों के समष्टि रूप से काव्य का आदर्श बनने के पूर्व उपमा, अतिशय, वास्तव, श्लेष––जैसे कुछ अलंकार भावकों द्वारा

काव्य-सिद्धान्त के रूप में निरूपित हुए हैं, जैसा कि राजशेखर की काव्यमीमांसा से स्पष्ट है[1], लेकिन यह अलंकार-उद्भावना के बाद की बात है और उसमें भी पूर्वापर क्रम के विचार के लिए कोई आधार नहीं है। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न के ठीक उत्तर के लिए सैद्धान्तिक कसौटी पर एक संक्षिप्त विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

सूक्ति-काव्य से ही अलंकार का विकास हुआ है। सूक्तियों को अन्तर्भूत कर अलंकारों की उद्भावनाएँ स्थापित हुईं। अलंकारों की उद्भावना के पूर्व सूक्तियों के सौष्ठव की कसौटी उनके वाक्य-प्रयोगों में होती रही होगी—यह एक स्वतः सिद्ध बात है। सूक्ति को चमत्कृत करनेवाले ऐसे वाक्यों की व्युत्पत्ति और उस व्युत्पत्ति को अनुसरण करनेवाले कवियों के सम्प्रदाय अलंकार, गुण, रस, ध्वनि की स्थापनाओं के बाद भी काव्यगोष्ठियों में सुरक्षित रहे अर्थात् उन मान्यताओं का आदर किया जाता रहा। इन व्युत्पत्तियों का परिचय राजशेखर की काव्यमीमांसा में मिलता है। राजशेखर ने काव्योपयुक्त वाक्य और पदों का विवेचन किया है। पदों में अभिलषित अर्थ का संग्रन्थन-रूप सन्दर्भ वाक्य है।[2] पद पाँच प्रकार के होते हैं—सुबन्त, समासान्त, तद्धितान्त, कृदन्त और तिङन्त।[3] इनमें सुबन्त पद का प्रयोग विदर्भ-देश के कवियों को अधिक प्रिय है और गौड कवियों को समासान्त, दाक्षिणात्य तद्धित-प्रिय होते हैं, औदीच्य कवि कृदन्त-प्रयोगों में रुचि रखते हैं और तिङन्त (क्रिया) पदों का प्रयोग सभी सत्कवियों को प्रिय है।[4] कृदन्त पदों को क्रिया पद ही स्वीकार किया जाना चाहिए, इस दृष्टि से क्रियापदों और उससे बने कृदन्त पदों में विशेष रुचि रखने के कारण औदीच्य कवियों में प्रायः आख्यात कवि होते रहे होंगे। उनके विशेष लक्षणों और अनुसन्धानों से तिङन्त पदों में निरन्तर वृद्धि होती रही है। राजशेखर ने इसके प्रमाण में प्राचीन श्लोक भी उद्धत किया है—

विशेषलक्षणविदां प्रयोगाः प्रतिभान्ति ये।
आख्यातराशिस्तैरेष प्रत्यहं उपचीयते॥[5]

अर्थात् विशेष लक्षण जाननेवाले रचनाकारों के जो नये-नये प्रयोग होते जा रहे हैं उन प्रयोगों से तिङन्त (आख्यात) पदों का समूह प्रतिदिन बढ़ रहा है।

---

१. काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय, पृ० ३-४
२. वही, पृ० ५५
३. वही, पृ० ५३
४. वही, पृ० ५५
५. वही, पृ० ५५

क्रिया--(आख्यात) पदों के प्रयोगों को ही लक्ष्य कर राजशेखर ने वाक्य के दश प्रकार बताये हैं—एकाख्यात, अनेकाख्यात, आवृत्ताख्यात, एकाभिधेयाख्यात परिणताख्यात, अनुवृत्ताख्यात, समुचिताख्यात, अध्याहृताख्यात, कृदभिहिताख्यात और अनपेक्षिताख्यात।[1] इनमें अध्याहृताख्यात वाक्य में वाक्य को पूरा करने के लिए क्रिया को ऊपर से लाना पड़ता है, कृदभिहिताख्यात वाक्य में कृदन्त पदों का प्रयोग होता है और अनपेक्षिताख्यात वाक्य क्रिया-पद से रहित रहता है। वाक्यों के शेष सात प्रकार क्रिया-पदों के विविध प्रयोग हैं। इससे यह तथ्य प्रकाश में आता है कि काव्य की सूक्तियों के चमत्कारिक प्रयोगों का आरम्भ क्रिया-पदों के प्रयोगों से ही हुआ। 'आख्यात कवि' संज्ञा से भी काव्य में क्रियापदों के चमत्कार के प्रति कवि के गाढ़ अभिनिवेश का पता चलता है।[2]

कविता के जन्म के सम्बन्ध में मन के संवेग, अर्थात् भाव की मूल स्थिति दूसरे उन्मेष में स्पष्ट की जा चुकी है। भाव का स्वरूप यथार्थतः क्रिया द्वारा प्रकट होता है। व्याकरण में भाव का प्रयोग क्रिया के पर्याय के रूप में हुआ है, पाणिनि का सूत्र है—**यस्य च भावेन भावलक्षणम्** (२।३।३७) और इसकी वृत्ति है—**यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्।**' सिद्धान्त-कौमुदी की बाल-मनोरमा टीका में इसको लक्ष्य कर कहा जाता है—'**भावशब्दौ क्रियापर्यायावित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे —यस्य क्रियेति।**' अर्थात् यहाँ भावेन का अर्थ हुआ क्रिया से और 'भावलक्षण' का अर्थ है—क्रिया का ज्ञापन। यास्क ने भी कहा है कि क्रिया-प्रयोग भाव-प्रधान होते हैं।[3] अतः जब हम कहते हैं कि भाव से काव्य का जन्म हुआ तब उसकी यह व्याख्या अपने आप सिद्ध हो जाती है कि क्रिया के चमत्कार-जन्य प्रयोग ही सूक्ति या अलंकार की प्रथम उद्भावना हैं। ये क्रिया-प्रयोग गुणों की स्फुटता, मधुरता, आदि विशेषताओं के भी कारण रहे हैं—यह तीसरे उन्मेष में कहा जा चुका है।

आदिकाव्य का वर्षा-वर्णन काव्य की, विशेषतः कवि की भावमयी सूक्तियों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है उसमें दीपक, उपमा और स्वभावोक्ति की उत्कृष्ट उद्भावनाएं विद्यमान हैं। और दीपक-अलंकार के प्रयोग क्रियापदों द्वारा ही विहित हैं। राजशेखर के आख्यात-वाक्यों का तथा उनके निरूपित प्रकारों से भी भिन्न आख्यात-वाक्यों का उत्कृष्ट प्रयोग हमें आदि-कवि के वर्षा-वर्णन में मिल

---

१. काव्यमीमांसा पृ० ५७

२. वही, अध्याय ५, पृ० ४२

त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातार्थभेदेन।

३. निरुक्त १।१।१, भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि।

जात। है, कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं, इनसे सूक्ति-काव्य में क्रिया-प्रयोग के अभिनिवेश की बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है—

(क) अनेकाख्यात (सान्तर)—

मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः॥[1]

(ख) आवृत्ताख्यात—

जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा॥[2]

(ग) कृदभिहिताख्यात—

नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः।
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति॥[3]

(घ) समुचिताख्यात—

प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्ध-
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति॥[4]

(ङ) एकाख्यात—

मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता॥[5]

---

१. वा० रा०, किष्किंधा० २८।४३
२. वही, २८।२६
३. वही, २८।४६
४. वही, २८।२८
५. वही, ३०।३२

राजशेखर के वाक्य-प्रकारों से भिन्न आदिकवि का निम्न प्रयोग है, जिसके पूर्वार्ध में निरन्तर अनेकाख्यात हैं और उत्तरार्ध में यथाक्रम से उनके ही कर्त्तापद हैं, तथा उन दोनों क्रमों के अन्वित रूप में अनेक क्रियापदों एवं उनके अनेक कर्त्ताओं की एक काल में स्थिति से दीपक-विधा काव्य का स्वरूप सामने आता है—

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रिया - विहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः॥[1]

दीपक के लक्षण में उसकी विधा—अनेक की एकसामान्यता क्रिया-प्रयोगों में कई प्रकार से सम्भावित होती है—एक काल में अनेक क्रियाएँ, एक क्रिया का अनेक वाक्यों में प्रयोग, एक कर्त्ता की अनेक क्रियाएँ, एक क्रिया का दो कर्त्ताओं के साथ अन्वय, एक क्रिया का अर्थ की द्व्यर्थता से दो वाक्यों में अन्वय, अनेक वस्तु-दर्शन की एक क्रिया। इनको ही राजशेखर ने अनेकाख्यात, आवृत्ताख्यात, एकाभिधेयाख्यात, परिणताख्यात, अनुवृत्ताख्यात, एकाख्यात वाक्य-भेदों के रूप में निरूपित किया है। उन्होंने अनुवृत्ताख्यात के उदाहरण में—

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः।
चक्रवालाद्रिकुंजेषु कुन्दभासो गुणाश्चते॥

दण्डी के क्रिया-दीपक उदाहरण को ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। दीपक-विधा की अनेक की एकसामान्यता रूप इन विशेषताओं में से कई एक और मुख्य रूप से प्रयुक्त होनेवाली विशेषताएँ आदिकवि के वर्षा-शरद्-हेमन्त-वर्णनों में, विशेषतः वर्षा-वर्णन में उद्भावित हुई हैं। ऊपर के उदाहरणों में ये विशेषताएँ हैं। क्रिया-प्रयोगों का एक विशिष्ट प्रकार आवृत्ति अलंकार, जिसका चमत्कार क्रिया-पदों में ही विहित होता था, दण्डी के सामने उपेक्षित हो चला था, उसके तीन स्वरूपों—अर्थावृत्ति, पदावृत्ति और उभयावृत्ति को दण्डी ने दीपक के रूप में ही स्वीकृति प्रदान की है। ऊपर उद्धृत आदिकवि का (ख) श्लोक क्रिया की पदावृत्ति का ही सही प्रयोग है। वस्तुतः काव्य की जन्मभूमि भाव और भाव को व्यक्त करनेवाला क्रिया-पद जैसे परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार क्रिया-पद और सूक्ति की दीपक-विधा भी एक-दूसरे से अन्वित रहे हैं। कृदन्त-वाक्य प्रकारान्तर से क्रिया-पदों का ही प्रयोग होता है, राजशेखर के अनुसार औदीच्य कवि कृदन्त-प्रिय होते हैं। भामह और उद्भट दोनों आचार्यों ने क्रिया-पदों की स्थिति में

---

१. वाल्मीकि रामा०, किष्किन्धा० २८।२७

ही दीपक अलंकार माना है। भामह ने आदि, मध्य तथा अन्त भेद से दीपक के तीन उदाहरण दिये हैं, तीनों में ही उक्त भेद के अनुसार स्थित जनयति[1], अलंकुरुते[2], निनीषति[3] क्रियाएँ ही दीपक की उद्भावनाएँ हैं। उद्भट ने अपने दीपक के व्याख्यान में एक नयी बात कही है कि 'दीपक में अर्थ के सामर्थ्य से उपमानोपमेय धर्म अन्तर्भूत रहते हैं।' इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दीपक में उपमा-धर्म के अन्तर्भूत होने की स्थिति का उल्लेख, दीपक से उपमा के विकास का द्योतक है। इस तथ्य पर आगे उदाहरण के साथ विचार किया जायगा।

क्रिया-पदों के प्रयोग के प्रति कवि का यह अभिनिवेश प्राचीन महाकाव्यों में वस्तु-वर्णन और व्यपार-वर्णन में दिखायी पड़ता है। आदिकाव्य, अश्वघोष के बुद्धचरित, प्रवरसेन के सेतुबन्ध तथा कालिदास की कृतियों में इसके निदर्शन हैं, विशेषतः आदिकवि और अश्वघोष के वस्तु तथा व्यापार वर्णन ऐसे क्रिया-प्रयोगों से भरे पड़े हैं। बाद में सूक्तियों के अन्य प्रकारों की उद्भावनाओं एवं आलंकारिक स्थापनाओं के कारण वर्णनों में दीपक की विधा—क्रिया-प्रयोगों के प्रति अभिरुचि कम होती गयी। क्रिया-पदों का प्रयोग वर्णन के लिए अनुकूल विधा थी, प्रबन्ध या कथा के निबन्धन में उपमा की सूक्तियाँ अनुकूल पड़ती थीं। अतः इस कारण से भी सूक्ति-काव्य के स्थान पर महाकाव्य के उदय से उत्तरोत्तर दीपक के क्रिया-प्रयोग कम होते गये। यह अन्तर कालिदास के ऋतुसंहार एवं प्रबन्ध काव्यों को देखने से भी स्फुट होता है।

क्रिया-प्रयोग दीपक की मुख्य विधा थे, उपमा की उद्भावना से नयी स्थिति पैदा हुई, तब दीपक का उपमा-गर्भित रूप भी सामने आया और दीपक के प्रकार से उन आख्यात-प्रयोगों को अलग समझा जाने लगा, जिनकी पीछे चर्चा की गयी है। इस वस्तु-स्थिति का संकेत 'साहित्य मीमांसा' में मिलता है, जो सम्भवतः गोष्ठियों की चर्चा से शास्त्रीय निरूपण में आ गया है। साहित्यमीमांसाकार दीपक को शाब्द अलंकार मानते हैं,[4] आर्थ नहीं, उद्भट ने उसे अर्थालंकार माना है, उद्भट की कारिका और वृत्ति का उद्धरण देकर वे कहते हैं—'आचार्य कहते हैं, यहाँ आठ अलंकारों का उद्देश्य-पूर्वक कथन किया गया है। उनमें आदि के चार (पुनरुक्तवदाभास,

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।२७

२. वही २।२८

३. वही २।२९

४. साहित्यमीमांसा, पंचम प्रकरण, पृ० ३५
अस्योपमार्गाजत्वेऽपि शब्दनिवेशि निबन्धनं शाब्दत्वम्।

छेकानुप्रास, अनुप्रास, लाटानुप्रास) शब्दालंकार कहे जाते हैं, रूपक आदि (रूपक, उपमा, दीपक, प्रतिवस्तूपमा) चार अलंकारों की अर्थालंकारता इष्ट है। तो फिर दीपक-विधा का शब्दाश्रयत्व कैसे हुआ? बात यह है कि दीपक-विधा के अन्वयों के शब्द-निबन्धन को न देखते हुए यह बात कही गयी है। अच्छा हो सकता है यह, लेकिन यदि शब्दालंकार पद-सन्निवेश मात्र के अधीन है और यदि उसी विधा से आख्यात क्रिया-प्रयोग—अनुवृत्ताख्यात दीपक का भी ग्रहण हो जाता है तो क्यों (दीपक से अतिरिक्त) विपरिणताख्यात, एकाख्यात, समुचिताख्यात, कृदभिहिताख्यात, अध्याहृताख्यात, अनपेक्षिताख्यात, एकान्तराख्यात, निरन्तराख्यात—ये एक और अनेक बार आवृत्त क्रिया-प्रयोग की विधाएँ (स्वतन्त्र रूप से) कही जाती हैं—यदि ऐसा न हो तो इन क्रिया-प्रयोगों द्वारा काव्य की जो अत्यन्त शोभा चमत्कृत होती है (जो दीपक द्वारा सम्भव नहीं है), उसकी हानि होगी।'[1] इस कथन में प्रतिपक्षी का कहना है कि यदि अनुवृत्ताख्यात दीपक है तो अन्य आख्यात-प्रयोग भी दीपक के ही अन्तर्गत हैं, उनका स्वतन्त्र-विधान क्यों? परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि उपमाधर्म से आवृत्त होकर दीपक ने औदीच्य आलंकारिकों द्वारा जो नया रूप पाया, उससे उसकी स्वतन्त्रता का हरण हो गया और उसके मूल विभव (क्रिया-प्रयोग) भी उसके अधिकार-क्षेत्र से स्वतंत्र हो गये।

दण्डी ने स्वभावोक्ति को आदि अलंकृति कहा है, इससे इस निर्धारण में कोई अन्तर नहीं आता कि क्रिया-प्रयोगों को लेकर दीपक की विधा अलंकार की आदि उद्‌भावना है। यह दूसरी बात है कि वह उद्‌भावना पहले स्वभावोक्ति संज्ञा में सामने आयी। स्वभावोक्ति का लक्षण है—जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य शब्दों द्वारा वस्तु की प्रकृति का यथावत् निरीक्षण, यथावत् अर्थात् रूप को साक्षात् प्रस्तुत

---

१. साहित्यमीमांसा, पृ० ३९-४०

इति पठित्वा ए (क ? व) माचार्या व्याचक्षते—'अत्रालंकारा अष्टावुद्दिष्टाः। तत्रादौ चत्वारः शब्दालंकारा निरूपिताः। रूपकादीनां चतुर्णाम (त्रा ? र्था) लंकारते' ति। तत् कथं दीपकस्य शब्दाश्रयत्वम्। एवंविधानामन्वयानां शब्दनिबन्धनत्वमनालोचयत एतद् वचनम्। स्यादेतत्। पदसन्निवेशमात्रायत्तश्चेच्छब्दालंकारस्तत एवानुवृत्ताख्यातस्य दीपकस्यापि परिग्रहश्चेत् किमित्येकानेकावृत्तविपरिणतैकार्थसमुच्चित कृदभिहिताध्याहृतानपेक्षितैकान्तरनि (मित्त ? रन्त) राख्यातानि (?) मुच्यते। एषामत्यन्तशोभाकरत्वहानेः।

कर देनेवाला वर्णन।[1] ऐसा वर्णन क्रिया शब्दों द्वारा जितना सम्भव है उतना जाति, गुण, द्रव्य शब्दों से नहीं, क्योंकि क्रिया-व्यापार में वस्तु की प्रकृति या स्वभाव का पर्याय-सा प्रस्तुत होता है। अन्य शब्दों से वस्तु के रूप का ही, स्वभाव का नहीं, निबन्धन सम्भव होता है। अतः क्रिया शब्दों द्वारा स्वभावोक्ति की उद्‌भावना प्रथम है उसके बाद जाति शब्दों द्वारा रूप-दर्शन की उक्ति की प्रतिष्ठा एक नया प्रयोग था। यद्यपि वस्तु के यथावत् निरीक्षण के अर्थ में स्वभाव का कथन स्वीकार कर क्रिया-शब्दों के साथ जाति-शब्दों की उक्तियों को भी स्वभावोक्ति यह व्यापक नाम दिया गया और उसी व्यापक सीमा में जाति के साथ गुण, द्रव्य की सूक्तियाँ भी समाहित हो गयीं, तो भी सूक्तिकार जाति को स्वभावोक्ति (क्रिया-उक्ति) से अलग प्रतिष्ठा देते रहे, सम्भवतः जाति, गुण, द्रव्य की उक्तियों को जाति ही कहा जाता रहा, क्रिया की उक्तियाँ उनसे अलग मानी जाती रहीं, क्योंकि सूक्ति में उनकी स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी। एक पक्ष सभी का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति (क्रिया-उक्ति) में उचित समझता था, दूसरा पक्ष सभी का अन्तर्भाव जाति (जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया शब्दों) की उक्तियों में संगत मानता था और गोष्ठियों में स्वभावोक्ति तथा जाति दोनों नाम प्रयुक्त होते रहे। दण्डी के 'स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या-लंकृतिर्यथा' इस कथन की पृष्ठभूमि में उक्त इतिहास का अनुमान होता है। दण्डी के सामने उक्ति का ऐसा चमत्कार जाति-गत शब्दों में स्वीकार करनेवाले आचार्य थे इसलिए उन्हें इस अलंकार की जाति संज्ञा का भी उल्लेख करना पड़ा।

भोज ने जाति का दो प्रकारों में——शब्दालंकार जाति, अर्थालंकार जाति——व्याख्यान किया है। शब्दालंकार जाति तो भाषाओं का प्रयोग वैविध्य है। अर्था-लंकार जाति उक्त चर्चित स्वरूप से अभिन्न ही है। उनका कहना है कि 'वस्तु की नानावस्थाओं में अपने प्रकृति भावों से जो रूप उत्पन्न होते हैं उनको जाति कहा जाता है।'[2] इससे प्रतीत होता है कि भोज के सामने भी जाति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा थी।

---

१. काव्यादर्श २।८, १३

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥
जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य - स्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येदीप्सितम्॥

२. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।४

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते॥

दीपक की विधा (क्रिया-प्रयोग) से स्वभावोक्ति अनुप्राणित तो रही, लेकिन क्रिया द्वारा भाव की, मनोगत भाव की गहरी अभिव्यक्ति ने उसे सूक्ति (अलंकार) से दूर कर भाव और रस के अधिक समीप ला दिया और तब क्रिया-प्रयोग विशुद्ध रूप से दीपक की विधा बन गया। स्वभावोक्ति को यह दृष्टिकोण औदीच्य आचार्यों से मिला। भामह और उद्भट दोनों ने स्वभावोक्ति को लक्ष्य कर क्रिया-प्रयोग का निदर्शन किया है, किन्तु उनमें परवर्ती उद्भट का लक्षण-निदर्शन स्वभावोक्ति (अलंकार) में भाव-रस का निरूपण है, उनका कहना है कि 'क्रिया में प्रवृत्त किसी मृगशावक आदि के अपनी जाति के अनुरूप अभिनिवेशों का निबन्धन स्वभावोक्ति है।'[1] यह लक्षण दण्डी से भिन्न है। रूप को नहीं, भाव को व्यक्त करनेवाला उद्भट का उदाहरण इस तथ्य को और भी स्फुट कर देता है—'माता पार्वती के स्नेह में निर्भर यह मृग-शिशु एक क्षण अपने शरीर को आधा मोड़ कर छिपाता हुआ, दूसरे क्षण सींग के अग्रभाग से उन पर प्रहार करता हुआ खिलवाड़ में उनको व्याकुल करता है।'[2]

इसी प्रकार कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अपनी प्रथम (सहज) वस्तुवक्रता के रूप में प्रस्तुत कर स्पष्ट रूप से भाव और रस में इसका विलय कर दिया है।[3] दण्डी की क्रिया-स्वभावोक्ति का उदाहरण जात्यभिनिवेश का निबन्धन होते हुए भी दीपक की विधा में प्रस्तुत हुआ है, इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है।[4]

यही स्थिति भामह के स्वभावोक्ति उदाहरण की है, यद्यपि स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण या मान्यता दण्डी से भिन्न है। वे स्वभावोक्ति को अलंकार स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं, इसका अर्थ है कि उन्हें इसमें सूक्ति का लक्षण नहीं दिखायी देता, जिस सूक्ति में रूपक, उपमा या अतिशय आदि औपम्य या वक्रोक्तिमूलक अलंकारों के विकास की कड़ी अनुस्यूत रही है। परिभाषा उनकी बहुत कुछ दण्डी से मिलती-जुलती है। दण्डी ने स्वभावोक्ति को वस्तु की अनेक

---

१. काव्यालंकार-सार-संग्रह ३।५

क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥

२. वही ३।५ का उदाहरण—

क्षणं नष्ट्वार्धवलितः शृंगेणाग्रे क्षणं नुदन्।
लोलीकरोति प्रणयादिमामेष मृगार्भकः॥

३. दे० वक्रोक्तिजीवित ३।१ और उसकी वृत्ति

४. काव्यादर्श २।८

अवस्थाओं का प्रत्यक्ष स्वरूप-वर्णन कहा है--(**नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती**) और भामह ने वस्तु का उसी अवस्था में प्रस्तुतीकरण।[१] भामह का उदाहरण उनकी अपनी परिभाषा के अनुकूल होकर भी दीपक की विधा को साथ लिये हुए है--चिल्लाते हुए, दूसरे साथियों को पुकारते हुए, चक्कर काटकर दौड़ते हुए बालक चरवाहा खेत में चरती हुई गायों को हाँक रहा है।[२] इसमें गायों द्वारा खेत की फसल को नष्ट होते देख उन्हें रोकने के लिए बालक चरवाहे की जो आकुलता है, उसका तद्वत् वर्णन प्रस्तुत हुआ है और दूसरी ओर आक्रोशन्, आह्वयन्, आधावन् क्रियाओं का एक कर्त्ता--अनेक की एक काल में स्थिति-रूप सामान्यता दीपक की मूल विधा भी यहाँ स्फुट हो रही है। राजशेखर के अनुसार इसे एकाभिधेयाख्यात या कृदभिहिताख्यात वाक्य कहेंगे। इस प्रकार दण्डी और भामह दोनों के क्रिया-स्वभावोक्ति के उदाहरण दीपक की विधा के निकट हैं। लेकिन भामह का दृष्टिकोण भिन्न था, जो उनके परवर्ती औदीच्य आचार्यों के निरूपण में स्पष्ट हुआ। दण्डी ने स्वभावोक्ति की स्वभावोक्ति और जाति दो संज्ञाएँ बतायी हैं और जैसा कि पहले कहा गया है उन्होंने स्वभावोक्ति (क्रिया-उक्ति) को भी 'जाति' संज्ञा के साथ रख कर जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया की समन्वित संज्ञा स्वभावोक्ति की है। स्वभावोक्ति के लक्षण में यह क्रिया का अनादर था। और यह दीपक की विधा से दूर हो रहा था। आगे जैसे-जैसे प्रत्येक अलंकार अपने निजी स्वरूपों में निखरने लगे और दीपक की एकसामान्यता का प्रभाव उनसे दूर होने लगा, स्वभावोक्ति के लिए भी वह स्थिति अपने आप प्राप्त होने लगी। दण्डी के लक्षण में वह स्थिति जाति, गुण, द्रव्य शब्दों के प्रवेश से तथा औदीच्य आचार्यों द्वारा स्वभावोक्ति के भाव-रस में विलय से स्पष्ट है। वास्तव वर्ग के अनेक अलंकार, जैसा कि पीछे दिखाया गया है, दण्डी के काव्यादर्श में निहित अपने उदाहरण में दीपक की विधा से अत्यन्त प्रभावित हैं। यह प्रभाव पीछे कुछ कम हुआ है लेकिन सर्वथा नहीं।

उद्भट के अनुसार दीपक में उपमा-धर्म अन्तर्भूत होता है, यह उपमा-धर्म एक क्रिया द्वारा चाहे उसका एक बार प्रयोग हो, चाहे अनेक बार प्रयोग हो, दो या अनेक

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।९३

अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।

२. वही, २।९४

आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलैरुदन्।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः॥

वाक्यों में एक व्यापार, एक भाव अथवा एक स्थिति के प्रस्तुतीकरण द्वारा सम्भव होता है, यथा आदिकवि का यह उदाहरण लीजिए—

निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति॥[1]

राजशेखर के अनुसार यह आवृत्ताख्यात का उदाहरण होगा—अभ्युपैति एक ही क्रिया चार बार आवृत्त हुई है। सूक्ति की दृष्टि से इसमें दीपक-विधा की अवतारणा की गयी है—केशव के प्रति निद्रा, सागर के प्रति नदी, घन के प्रति बलाका और प्रिय के प्रति कान्ता—इन अनेक में एक ही क्रिया-व्यापार अभ्युपैति (प्राप्त हो रही है) का निबन्धन है। उद्भट की दृष्टि से ऊपर के तीन वाक्यों की चौथे वाक्य के साथ उपमानोपमेय से प्रस्तुति है और यह दीपक स्फुट रूप से उपमाधर्म से गर्भित है। यदि ऊपर के तीन वाक्यों में से अभ्युपैति क्रिया को हटा दिया जाय और तीनों के साथ 'इव' वाचक पद संयुक्त कर दिया जाय तो यह छन्द अच्छी तरह से मालोपमा का उदाहरण बन जायगा। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाव-मूलक दीपक की इन विधाओं से ही सूक्ति की दिशा में, भाषा-प्रयोग की सरणि में 'इव' आदि जोड़कर उपमा अलंकार का विकास हुआ, उस विकास में भाषा-प्रयोग का पक्ष यह है कि एक ही क्रिया का चार बार प्रयोग सूक्ति के सौष्ठव को नहीं चमत्कृत करता, अतः क्रिया का प्रयोग एक बार हो और वह मुख्य विधेय के साथ हो (जैसे यहाँ प्रिय के प्रति सकामा कान्ता मुख्य विधेय है), शेष वाक्यों को समानता बोधक पदों (इव आदि) से मुख्य विधेय के साथ अन्वित कर दिया जाय। इसके साथ ही भाव-प्रयोग का भी पक्ष उसके विकास की एक कड़ी है और वह यह है कि जिन वस्तुओं का वर्णन किया जा रहा है यदि वे सभी प्रत्यक्ष हैं तो उनके उपमा धर्म को प्रकट करने के लिए इव आदि पदों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है जैसा कि ऊपर के उदाहरण में है और यदि किसी प्रत्यक्ष वस्तु के साथ अनुपस्थित वस्तु का वर्णन किया गया तो उसके भाव-बोध की स्फुटता के लिए इव आदि का प्रयोग आवश्यक हो गया है, जैसा कि आदिकवि के ही नीचे के वर्णन में है—

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥[2]

---

१. वा० रामायण, किष्कि० २८।२५
२. वही, २८।९

(फूले हुए अर्जुन वृक्षों से भरा हुआ और केवड़े के फूलों से सुवासित यह पर्वत, शत्रु को नष्ट कर प्रसन्न सुग्रीव के समान जल-धारा से अभिषिक्त हो रहा--स्नान कर रहा--है।)

यहाँ पर्वत और सुग्रीव दोनों वस्तुओं का वर्णन राम को इष्ट है, दोनों वस्तुओं की प्रसन्न-स्थिति राम के हृद्‌गत-भाव का संस्पर्श कर रही है किन्तु पर्वत सामने प्रस्तुत है और सुग्रीव सामने नहीं है, यद्यपि दोनों की यह प्रसन्नावस्था एक काल में ही घटित हो रही है, ऊपर के उदाहरण से इस वर्णन की कोई भिन्नता नहीं है किन्तु आलम्बन के भाव में वस्तुओं (पर्वत-सुग्रीव) की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष द्विधा स्थिति के अधिक उद्‌गत हो जाने से कवि को इव (समान) पद का प्रयोग कर इस सूक्ति को उपमा का रूप देना पड़ा। हम ध्यान दे कर अनुभूति करें, तो प्रस्तुत सूक्ति प्रकृत रूप में दीपक की विधा में ही स्थित है और इसे ऊपर के उदाहरण की भाँति क्रिया का दो बार प्रयोग कर इस प्रकार से कहने में भी वर्णन की उक्त रमणीयता में कोई अन्तर नहीं आता--

'फूले हुए अर्जुन वृक्षों से भरा और केवड़े से सुवासित पर्वत जलधारा में अभिषिक्त हो रहा है, शत्रु को नष्ट कर प्रसन्न सुग्रीव राज्य सिंहासन पर अभिषिक्त हो रहा है।'

वाल्मीकि रामायण के वर्षा-वर्णन में इस प्रकार के कई उदाहरण हैं, जो एक काल में घटित होने पर भी दो वस्तुओं की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष स्थिति के कारण जब कि दोनों का ही वर्णन इष्ट है, उपमा की विधा में प्रस्तुत हुए हैं किन्तु उनकी प्रकृत विधा दीपक है।[1] ऐसे वर्णनों को उपमा के उस वर्णन से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए जिसमें एक उपमान है, दूसरा उपमेय, एक अप्रस्तुत है, दूसरा प्रस्तुत, उनमें एक का वर्णन ही इष्ट है, दूसरा उस वर्णन के तीव्र बोध के लिए सहायक होकर आता है। वहाँ ही उपमा की प्रकृत स्थिति होती है।

उक्त प्रकार से दीपक की विधा में 'इव' आदि प्रयोगों के होने पर भी यह प्रश्न

---

१. वा० रामायण, किष्कि० २८।७, १०, १२

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नव - वारिपरिप्लुता।
सीतेव शोक-सन्तप्ता मही वाष्पं विमुञ्चति॥
मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी॥

उठता है कि काव्य की योजना में वस्तु-वर्णन की कौन-सी अवतारणा पहले सम्भव हुई होगी––जिनका सभी का वर्णन इष्ट है ऐसी समकाल में घटित प्रत्यक्ष वस्तुओं की अवतारणा, अथवा जिनमें एक का ही वर्णन इष्ट है ऐसी प्रस्तुत-अप्रस्तुत वस्तुओं की उपमानोपमेय भाव से अवतारणा। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष वस्तुओं की अवतारणा, जिनमें सभी का वर्णन इष्ट था, काव्य की प्रथम विधा है, यथा आदिकाव्य के उदाहरण हैं––**जाता वनान्ता शिखिसुप्रनृत्ता०,**[1] **निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति०।**[2] पहले में मयूरों का नृत्त, फूले कदम्ब, कामासक्त साँड़, हरियाली से रमणीक धरती––इन चार प्रत्यक्ष वस्तुओं का वर्णन इष्ट है और इनके साथ 'जाताः' क्रिया की भिन्न-भिन्न भावों में आवृत्ति दीपक की उद्‌भावना है। उक्त चारों वस्तुएँ कवि की आँखों के सामने प्रत्यक्ष हैं, इसी भाव में उनका वर्णन भी वह कर रहा है और इस वर्णन से वर्षाकाल की वन-धरती का एक सटीक बिम्ब-ग्रहण हो जाता है, वन-धरती का यह तद्‌वत् वर्णन दूसरे अर्थ में स्वभावोक्ति भी है। स्वभावोक्ति वहाँ न होगी जहाँ वस्तु कवि की आँखों के सामने प्रत्यक्ष न होगी, लेकिन दीपक तब भी होगा। हाँ, उन वस्तुओं को समकाल में घटित होना आवश्यक है, जैसा कि दूसरा उदाहरण है––केशव की निद्रा, नदी और सागर का मिलन, बलाका का मेघ की ओर उड़ान, कान्ता का प्रिय से आलिंगन––ये चारों वस्तुएँ वर्षा-काल में एक साथ घटित हो रही हैं, और चारों वस्तुएं कवि की आँखों के सामने प्रत्यक्ष न होकर भी उसे वर्णन की दृष्टि से इष्ट हैं, **'अभ्युपैति'** क्रिया की प्रत्येक के साथ आवृत्ति से उनकी एककालता और भाव-व्यापार की समानता बतायी जा रही है। यहाँ केवल दीपक है।

इनसे भिन्न दूसरी विधा उपमा की है––अर्थात् उपमानोपमेय भाव से दो वस्तुओं की अवतारणा, जिनमें वर्णन एक का ही इष्ट है। परन्तु दीपक से उपमा की यह भेदक रेखा अत्यन्त सुकुमार है। पहले इस सुकुमार भेदक रेखा की व्याख्या आवश्यक है। कवि ने प्रथम सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं के वर्णन में ही अपनी प्रवृत्ति दिखायी होगी, पुनः आगे चल कर प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष––अप्रस्तुत को समानता की दृष्टि से प्रस्तुत कर उक्ति की नयी विधा उद्‌भावित की होगी। जब सभी वस्तुएं प्रत्यक्ष ही हैं तो उनका बिम्ब-ग्रहण उनकी समान क्रिया से हो जाता है अथवा एक वस्तु है तो उसकी अनेक क्रियाओं से उसका बिम्ब-ग्रहण होगा। अप्रस्तुत या अप्रत्यक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष वस्तु की कोटि में रखने में बिम्ब-ग्रहण में जो

---

१. वा० रामायण, किष्कि० २८।२६
२. वही, २८।२५

बाधा पैदा हुई, उसने उपमा की उद्भावना के मूल वाचक पदों—'इव' आदि के प्रयोग के लिए कवि को बाध्य किया। किन्तु ऐसी उद्भावनाओं में सर्वत्र उपमा की ही मौलिकता सम्भव नहीं होती। बिम्ब-ग्रहण जब दोनों वस्तुओं का इष्ट है और एक काल में है तब दीपक या स्वभावोक्ति से भिन्न उक्ति हो ही नहीं सकती। एक प्रत्यक्ष वस्तु को देख कर हृदय के भाव को जो उत्तेजना मिली, उसने दूसरी समकाल-घटित अप्रत्यक्ष वस्तु को उसकी तुलना में प्रस्तुत कर दिया—इस तुलना के लिए दोनों वस्तुओं की अत्यन्त दूरी, अथवा एक के प्रति भाव की अत्यन्त सपक्षता ही कारण है, यथा आदिकाव्य का यह उदाहरण है—

एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति॥[1]

(गर्मी में तपी हुई धरती आषाढ़ के बादलों की वर्षा में भींग कर शोकसन्तप्त सीता के समान वाष्प-विमोचन (उच्छ्वास का त्याग, आँसू बरसा) कर रही है।) यहाँ वर्षा में भींगी धरती की सोंधी महक ने राम के हृद्गत भाव को स्पर्श कर वियुक्त सीता को कल्पना में प्रस्तुत कर दिया। भींगी धरती राम के सामने थी और सीता वहाँ से बहुत दूर, सीता के प्रति ही राम के भाव का सारा उद्वेलन था अतः मुख्य रूप से राम के लिए सीता का वर्णन इष्ट है, लेकिन यह नहीं कहा जायगा कि उच्छ्वास छोड़ती धरती का वर्णन सीता के वर्णन का सहकारी मात्र है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है अतः वह भी इष्ट है। अतः ऐसे प्रसंग इव आदि के प्रयोग के रहते हुए भी मूलतः दीपक की विधा हैं। और ऐसे वर्णनों से आदिकाव्य की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं।

दो वस्तुओं या अनेक वस्तुओं में भाव की एकसूत्रता, जिससे दोनों का वर्णन इष्ट हो जाता है और उनके समान-धर्म का क्रिया द्वारा प्रस्तुतीकरण, जैसा कि ऊपर के एवं पूर्व के अन्य उदाहरणों में है, तथा वह एक काल में सम्भव होता है, तब वह उक्ति दीपक की विधा से भिन्न नहीं है। यदि हम उक्त उदाहरण में 'इव' पद को हटाकर दोनों वस्तुओं के साथ 'वाष्पं विमुञ्चति' के प्रयोग की आवृत्ति कर दें तो यथार्थतः काव्य का सौन्दर्य विघटित नहीं होता और तब भी दोनों वस्तुएँ अर्थ-बोध में एक दूसरे से अन्वित हो जाती हैं, वह इसलिए कि दोनों वस्तुएँ एक काल में घटित हो रही हैं, दोनों का वर्णन इष्ट है, दोनों की समानता क्रिया में है और राम का वियोगी जीवन धरती तथा सीता दोनों में एक साथ एक समान वियुक्त-भाव की अनुभूति कर रहा है।

समकाल में घटित प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वस्तुओं के ऐसे वर्णन भी कवि की उक्ति

---

१. वा० रामायण, किष्कि० २८।७

का प्रथम स्वरूप हैं। इसके बाद दूसरे स्वरूप की अवतारणा हुई––प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तुओं का निबन्धन, जिनमें वर्णन एक का इष्ट है, दूसरा गौण है, और जो एक काल में घटित नहीं है, यह थी उपमा की विधा। इस उक्ति के रूप में आदिकाव्य के ही उदाहरण लीजिए––

रवि - संक्रान्त - सौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥[1]

(जिसका सौभाग्य––लोकप्रियता-धर्म सूर्य में संक्रमित हो गया है, हिमकणों से आच्छन्न रहनेवाला चन्द्रमा, निःश्वास से मलिन किये गये दर्पण के समान अब नहीं चमकता है।)

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते॥[2]

(इस हेमन्त ऋतु में पूर्णमासी की चाँदनी भी तुषार से भर कर मलिन हो जाती है और चारों ओर उन्मुक्त नहीं बिखरती है, वह अत्यन्त घाम लगने से साँवली हुई सीता के समान अपने रूप में न लक्षित होती है न शोभा पाती है।)

ये दोनों उदाहरण उपमा की विधा के हैं। पहले में तुषारावृत चन्द्रमा की समानता निःश्वास से धूमिल हुए दर्पण से की गयी है, और दूसरे में तुषार से भरी चाँदनी और धूप में चलने से म्लान सीता की तुलना है। यहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत दो वस्तुएँ हैं, यद्यपि दोनों की समानता का धर्म क्रिया-प्रयोग द्वारा ही प्रकट है (जो दीपक की ही प्रकृति है) तथापि वर्णन केवल एक का (चन्द्र और चाँदनी का) ही इष्ट है, पहली उक्ति में दर्पण और दूसरी उक्ति में सीता के वर्णन गौण हैं, वे पहले वर्णन के सहकारी और उक्ति के चमत्काराधान हैं। यहाँ भाव की एक-सूत्रता नहीं, एकपक्षता है, लक्ष्मण के हृदय के भाव हेमन्त-ऋतु के वातावरण से अनुप्रेरित हैं, न कि उसके साथ दर्पण और सीता से भी। हेमन्त-ऋतु के कारण दर्पण और सीता पर किसी प्रभाव का भी संकेत उक्तियों में नहीं ग्रहण किया जा सकता, जैसा कि पूर्वोक्त उदाहरण में है––जब धरती वर्षा से भींग रही है तब सीता भी लंका में राम से वियुक्त रो रही होंगी, यह समकाल में घटित प्रकृत स्थिति थी। यहाँ दोनों वस्तुएँ एक काल में भी नहीं घटित हो रही हैं।

उक्त उद्भावनाएँ दीपक की (क्रिया-प्रयोग) विधा में ही उपमा की स्थापना हैं, आदिकाव्य के उपमा के अनेक उदाहरण ऐसे ही हैं। किन्तु उपमा की सही

---

१. वा० रामायण, अरण्यकांड १६।१३
२. वही, १६।१४

प्रकृति दीपक की विधा से भिन्न होकर भी विकसित हुई है, जिसमें समान धर्म के अन्य रूपों का विस्तार हुआ। उपमा का ऐसा उदाहरण यह है—

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव।
इति धर्मोपमा साक्षात् तुल्यधर्म-प्रदर्शनात्॥[1]

अर्थात् प्रगल्भबाले ! तुम्हारी हथेली कमल के समान लाल रंग की हो कर शोभित है। यहाँ तुल्य धर्म (आताम्र) के साक्षात् प्रस्तुत होने से धर्मोपमा है। समान धर्म के उभय-स्थित ऐसे निबन्धनों में उपमा के प्रकृत स्वरूप की स्थापना हुई।

आदिकाव्य में उपमा के ऐसे उदाहरण भी हैं—

प्रकीर्ण हंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पल मालिनीनाम्।
वाप्युत्तमानामधिकाथ लक्ष्मी—
वरांगनानामिव भूषितानाम्॥[2]

अर्थात् तैरती हुई हंसों की कतारें—जिनकी बजती हुई मेखला (करधनी) हैं, खिले हुए कमल कुवलय—जिनकी मालाएँ हैं उन उत्तम बावड़ियों की उत्कृष्ट शोभा आज गहनों से भूषित युवतियों के समान हो रही हैं। यहाँ उत्तरार्ध में पूर्वार्ध के रूपक से अनुप्राणित उपमा है। उत्कृष्ट शोभा (अधिक लक्ष्मी) बावड़ी और युवती दोनों का एक समान धर्म है।

व्यतिरेक अलंकार यद्यपि उपमान से उपमेय का उत्कर्ष दिखाने के लिए सादृश्य में भेद कथन होता है[3] तो भी दीपक की विधा में भी उसके विकास के सूत्र मिलते हैं, अर्थावृत्ति दीपक में एक क्रिया के साथ नञ् का प्रयोग किस प्रकार व्यतिरेक बन जाता है इसका उदाहरण देखिए—

सीहा सहन्ति बन्धं उक्खअदाढा चिरं धरेन्ति विसहरा।
ण उग जिअन्ति पडिहआ अक्खण्डिअ ववसिआ खणं पि समत्था॥[4]

अर्थात् 'सिंह बंधन सह लेते हैं, दाँत उखाड़े जाने पर भी साँप बहुत दिन जीवन रखते हैं लेकिन जिनके कार्य में कभी विघ्न नहीं हुआ ऐसे समर्थ-जन शत्रु से प्रतिहत होकर

---

१. काव्यादर्श २।१५

२. आदिकाव्य, किष्कि० ३०।४९

३. काव्यादर्श २।१८०

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स उच्यते॥

४. सेतुबन्ध ३।२२

क्षण भर भी नहीं जीवित रहते।' प्रस्तुत उदाहरण में 'सहन्ति' 'धरेन्त' 'जिअन्ति' तीनों क्रियाओं में एक ही अर्थ की आवृत्ति है, तीसरी क्रिया के साथ 'ण' का प्रयोग सिंह और साँप से समर्थ पुरुष की उत्कृष्टता का बोधक बन गया है और तब यह अर्थावृत्ति दीपक व्यतिरेक का उदाहरण हो जाता है।

अर्थावृत्ति का अर्थ है---एक अर्थ और अनेक क्रियाएँ। कवि अवश्य ही क्रिया-प्रयोग में अर्थ की इस साम्यता की खोज करते रहे हैं। निरुक्त में ऐसी क्रियाओं की एक साथ गणना की गयी है जिनका अर्थ एक है; और ऐसी क्रियाओं के कई समूह हैं।[1]

अनेक कर्त्ताओं की एक क्रिया रूप सामान्यता---समुच्चय की इस दीपक विधा का पीछे दीपक के विस्तार में उल्लेख किया गया है। नीचे जो आदिकाव्य का उदाहरण दिया जा रहा है, उसमें---द्रव्य स्वभावोक्ति, शरद् रूप एक आधार में रुद्रट का सुवावह-द्रव्य समुच्चय,[2] अथवा अनेक की एकसामान्यता रूप दीपक-विधा---तीनों ही राजशेखर के एकाख्यात वाक्य के प्रयोग में अन्वित हैं---

जलं प्रसन्नं कुसुमप्रहासं
क्रौंचस्वनं शालिवनं विपक्वम्।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम्॥[3]

अर्थात् 'स्वच्छ जल, खिले हुए कुसुमों का हास, क्रौंच पक्षियों का कलरव, पके हुए धान के खेत, मीठी हवा और चमकता हुआ चन्द्रमा वर्षाकाल के व्यतीत होने की सूचना देते हैं।' यहाँ 'शंसन्ति' इस एक क्रिया के प्रयोग में उक्ति की तीनों उद्‌भावनाएँ स्फुट हो रही हैं।

क्रिया-प्रयोग ने उपमा के प्रस्तुतीकरण अर्थात् वाचक पद का भी काम किया

---

१. निरुक्त १।१६--

भ्राजते, भ्राशते, भ्राश्यति, दीपयति, शोचति, मन्दते.......
इत्येकादश ज्वलतिकर्माणः।

५।१४---

वर्तते, अयते, लोटते....इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः।

२।१९---दम्नोति, श्नथति, ध्वरति.....त्रयस्त्रिंशद् वधकर्माणः।

३।१४---अर्चति, गायति...चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः।

२. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।२१

३. वा० रामा०, किष्कि० ३०।५३

है। दण्डी ने ऐसी क्रियाओं की एक लम्बी सूची दी है—स्पर्धते, जयति, द्वेष्टि, द्रुह्यति, प्रतिगर्जति, आक्रोशति, अवजानाति, कदर्थयति, निन्दति, विडम्बयति, संधत्ते, हसति, ईर्ष्यति, असूयति, तस्य सौभाग्यं मुष्णाति, तस्य कान्ति विलुम्पति, तेन सार्धं विगृह्णाति, तेन तुलामधिरोहति, तत्पदव्यां पतं धत्ते, तस्य कक्षां विगाहते, तम् अन्वेति, तच्छीलम् अनुबध्नाति, तन्निषेधति, तस्य अनुकरोति।[1] उपमा के वाचक पद के रूप में इन क्रियाओं का प्रयोग कभी-कभी दीपक या अर्थावृत्ति दीपक के निकट की विधा बन जाता था। उत्तरकाल में वाचकपद के रूप में क्रमशः इन क्रियाओं के प्रयोग के प्रति अभिरुचि कम होती गयी।

अतः क्रिया-प्रयोग काव्योक्ति की उद्भावनाओं का मूल है और ऐसी उक्तियाँ प्रथमतः दीपक की विधा में हैं। क्रिया-प्रयोग तथा (हृदय के) भाव परस्पर पर्याय रूप से उस आदि कवि की सूक्ति-रचना के कारण बने हैं जिसके लिए भरत ने कहा है—'**कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।**' सचमुच आदिकवि वाल्मीकि की उक्तियाँ हमारे इस सिद्धान्त को चरितार्थ करती हैं। पुनः आगे चल कर भाव के प्रति भाषा की क्रान्ति ने उक्तियों में भाव के स्थान पर विचार एवं क्रिया के स्थान पर कारक, लिंग, तद्धित, कृदन्त आदि अन्य पद-प्रयोगों को प्रतिष्ठापित किया।

दण्डी के अलंकार-विवेचन के अन्य विशिष्ट प्रसंग

दण्डी का अलंकार-विवेचन व्याख्या कम, प्रयोग अथवा निदर्शन अधिक है। प्रत्येक अलंकार के कितने प्रकार के प्रयोग सम्भव हो सकते थे उन सब का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए दण्डी ने प्रयास किया। ऐसी प्रवृत्ति विदग्ध-गोष्ठियों की काव्य-चर्चा का परिचायक है, इन गोष्ठियों में ही कवित्व के व्यवहार की सार्थकता भी दण्डी को इष्ट है।[2] प्रयोगों का जो आदर्श दण्डी ने प्रस्तुत किया है उनके प्रकारों का लेखा-जोखा करने से अलंकार-उद्भावना की पृष्ठभूमि समग्र रूप से सामने आती है।

अलंकार की मूल उद्भावना पर पीछे प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः वस्तु-दर्शन और भाव-निदर्शन ही अलंकार-उद्भावना को विस्तार देते हैं और ये क्षेत्र असीम हैं। रसवादी आलंकारिकों ने इनको रस का उद्दीपन एवं आलम्बन विभाव कहा

---

१. काव्यादर्श २।६१-६५

२. वही, १।१०५

कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते।

है। शुद्ध वस्तुदर्शन तो दण्डी के स्वभावोक्ति, दीपक, हेतु अलंकारों के उदाहरणों में है। भाव-दर्शन और वस्तुदर्शन का सम्मिलित रूप श्रृंगार रस के निदर्शन में सामने आया। दण्डी के अलंकार-प्रयोगों की बड़ी संख्या श्रृंगार के भावों का ही प्रस्तुतीकरण है। उनके उपमा, रूपक तथा आक्षेप अलंकारों के उदाहरण, जिनके प्रयोगों की अनन्तता स्वीकार की गयी है एवं सूक्ष्म और लेश के उदाहरण मुख्य रूप से तरुणी के स्वरूप अथवा तरुण-तरुणी के आसक्ति-भावों के चित्र हैं। प्रायः सभी अलंकारों के उदाहरणों में उक्त विषय के प्रसंगों की यथाकथंचित् अवतारणा की गयी है, केवल, उदात्त, ऊर्जस्वि, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, परिवृत्ति तथा आशीः अलंकार इसके अपवाद हैं जिनके उदाहरणों में श्रृंगार-भावों का प्रसंग नहीं आया। अलंकारों के अनेक भेद ऐसे हैं जो नाम से ही श्रृंगार-भावों या संचारी भावों की साक्षी देते हैं, जैसे——मोहोपमा, निन्दोपमा, अद्‌भुतोपमा, संशयोपमा, प्रशंसोपमा, चटूपमा, आक्षेप रूपक, समाधान रूपक, अनुज्ञाक्षेप, साचिव्याक्षेप, रोषाक्षेप, मूर्च्छाक्षेप, सानुक्रोशाक्षेप, संशयाक्षेप। बहुत से भेदों के नाम भिन्न होते हुए भी उनके स्वरूप का निदर्शन श्रृंगार-भावों का ही है। आक्षेप के सामान्य तीनों भेद——वृत्ताक्षेप, वर्तमानाक्षेप एवं भविष्यदाक्षेप ऐसे ही हैं, इनके जो उदाहरण दण्डी ने प्रस्तुत किये हैं[1] उनको क्रमशः वितर्क, गर्व और अमर्ष भावों की कोटि में रखा जायगा।

अलंकारों की उद्‌भावना का दूसरा संसार राज-प्रशंसा है। तरुणी के बाद राजा की महिमा उन सूक्ति-कवियों का दूसरा विधेय रहा है, राज-महिमा के साथ पौराणिक देवताओं के प्रति निष्ठाओं की भी गिनती की जानी चाहिए। दण्डी के व्यतिरेक, श्लेष, व्याजस्तुति अलंकारों में मुख्य रूप से राजमहिमा ही विधेय है।

दण्डी के अलंकार-प्रयोगों की एक पृष्ठभूमि लोक-व्यवहार और जीवन-दर्शन

---

१. काव्यादर्श २।१२१, १२३, १२५

अनंगः पंचभिः पुष्पैर्विश्वं व्यजयतेषुभिः।
इत्यसम्भाव्यमथवा विचित्रा वस्तुशक्तयः॥
कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि।
किमपांगमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे॥
सत्यं ब्रवीमि न त्वं मां द्रष्टुं वल्लभ लप्स्यसे।
अन्य - चुम्बनसंक्रान्तलाक्षारक्तेन चक्षुषा॥

भी है। समासोक्ति, विशेषोक्ति, उदात्त, अर्थान्तरन्यास अलंकारों की उद्भावना का मुख्य क्षेत्र यही है।

अलंकार-प्रयोगों के निबन्धन में व्याकरण और न्यायशास्त्र से भी दण्डी प्रभावित हुए हैं। इन दोनों शास्त्रों की प्रौढ़ता उनके युग में आ चुकी थी। अष्टाध्यायी के भाष्यकार पतंजल के जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य शब्दों[१] को लेकर ही स्वभावोक्ति, दीपक तथा विशेषोक्ति के चतुर्धा भेद दण्डी को इष्ट हुए हैं। विरोध का क्रिया-विरोध और गुण-विरोध भी यही है। एवं सहोक्ति के गुण, कर्म भेद भी उक्त गुण-क्रिया शब्द से भिन्न नहीं है। न्याय का प्रभाव व्यापक पड़ा है, वह तो उपमा के नियमोपमा, अनियमोपमा भेद में भी है, जो प्रतीप अलंकार के पूर्वरूप हैं, किन्तु दण्डी का हेतु अलंकार पूर्णरूप से न्याय शास्त्र की ही अवतारणा है जो उसके भेदों के नामों से ही स्पष्ट है——प्राप्य हेतु, ज्ञापक हेतु, प्रागभाव हेतु, प्रध्वंसाभावहेतु, अन्योन्याभाव हेतु, अभावप्रतियोगिक हेतु।[२]

इस प्रकार दण्डी के अलंकार-प्रयोग अलंकार-उद्भावना के उस आरम्भ काल की सूचना देते हैं जिसमें काव्य-गोष्ठी में अलंकार विशेष को लेकर उसके प्रकार-भेदों का अनेक प्रकार से प्रस्तुतीकरण किया जाता था और ऐसी स्थिति में उस अलंकार की लक्षण-सीमा से बाहर के निदर्शन भी उसी सीमा में समेट उठते थे अथवा अधिक से अधिक काव्य-व्यवहारों को उसी एक सीमा में घटाया जाता था। गोष्ठी-विशेष के ऐसे अलंकारों में कुछ अलंकारों को अलग-अलग काव्यशास्त्र का रूप प्राप्त हुआ जिनमें अनुप्रास, श्लेष, यमक, चित्र, वास्तव (स्वभावोक्ति), उपमा और अतिशयोक्ति का काव्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न भाग के रूप में उल्लेख राजशेखर की काव्यमीमांसा में[३] हुआ है। तब दीपक और रूपक क्रमशः स्वभावोक्ति तथा उपमा में अन्तर्भूत रहे होंगे। पर आरंभ में इन सब की भी अपने गोष्ठी-क्षेत्र में स्वतन्त्र काव्य के रूप में सत्ता थी।

दीपक और स्वभावोक्ति के निदर्शनों को लेकर अब तक विस्तार से चर्चा हो चुकी है। अलंकार की मूल उद्भावना तथा वर्गीकरण और दीपक का विस्तार ——इन प्रसंगों में कई मुख्य अलंकारों के भी स्वरूप पर प्रकाश डाला जा चुका है।

---

१. महाभाष्य अ० १।पा० १।आ० २
चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः,—जाति शब्दाः, क्रिया शब्दाः, गुण शब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्च।

२. दे०, काव्यादर्श २।२३५—२५९

३. काव्यमीमांसा, पृ० १-२

अब कुछ अन्य अवशिष्ट प्रमुख अलंकारों की विशिष्टता के लेखा-जोखा के साथ यह उन्मेष समाप्त किया जाता है।

उपमा

उपमा और रूपक संभवतः पहले एक ही अलंकार थे। दाक्षिणात्यों ने उपमा-मुख से, औदीच्यों ने रूपक-मुख से उसकी व्याख्या का आरंभ किया। विवेचन और निरीक्षण के साथ दोनों ने दोनों को अलग-अलग स्वीकृति दी। किन्तु दाक्षिणात्यों के उपमा-विवेचन ने समग्र रूप से औदीच्यों को भी प्रभावित किया, उन्होंने भी रूपक की अपेक्षा उपमा को अधिक विस्तार से प्रस्तुत करना उचित समझा।

उपमा और रूपक की अभिन्नता दण्डी तथा भामह की परिभाषाओं से ही मुखरित है। दण्डी कहते हैं––जिस किस प्रकार से प्रकट सादृश्य जहाँ दिखायी पड़ता है वह उपमा अलंकार है।[१] (अति सादृश्य प्रदर्शन के लिए) उपमा का तिरोधान ही रूपक है।[२] भामह का लक्षण इस प्रकार है––'उपमान के साथ उपमेय का जो तादात्म्य, गुणों की समता देखकर निरूपित होता है उसको रूपक अलंकार जानना चाहिए।'[३] 'देश, काल, क्रिया आदि से भिन्न उपमान के साथ उपमेय की गुण-लेश से जो समता है, वह उपमा है।'[४] अर्थात् भामह के मत में गुणों की समग्र समता रूपक है तथा गुण-लेश की समता उपमा है। निश्चित है कि सादृश्य अथवा समता के एक सामान्य लक्षण में ही पहले ये दोनों अलंकार एक नाम से आदि की कवि-गोष्ठियों में उद्भावित एवं चर्चित हुए होंगे।

दण्डी ने उपमा के ३२ प्रकार दिये हैं––धर्म, वस्तु, विपर्यास, अन्योन्य,

---

१. काव्यादर्श २।१४

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते॥

२. वही, २।६६

उपमैव तिरोभूता रूपकमुच्यते।

३. काव्यालंकार (भामह) २।२१

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥

४. वही, २।३०

विरुद्धेनोपमानेन देश - काल - क्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥

नियम, अनियम, समुच्चय, अतिशय, उत्प्रेक्षित, अद्‌भुत, मोह, संशय, निर्णय, श्लेष, समान, निन्दा, प्रशंसा, आचिख्यास, विरोध, प्रतिषेध, चटु, प्रत्याख्यान, असाधारण, अभूत, असंभावित, बहु, विक्रिया, माला, वाक्यार्थ, प्रतिवस्तु, तुल्ययोग, हेतु——उपमाएँ। इन प्रकारों में कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं हैं, ऐसे ही भेद अन्य अलंकारों के भी किये गये हैं, विशेषतः रूपक और आक्षेप के। ये प्रकार अधिकांशतः रस के भावों और संचारी भावों का निबन्धन होने से उसी नाम से अभिहित किये गये हैं; और कुछ प्रकार ऐसे हैं जो अन्य अलंकार-विधाओं की सीमा में हैं किन्तु औपम्य धर्म के निबन्धन से उनकी गिनती उपमा के भेदों में कर दी गयी है, वस्तुतः ये सब भेद विदग्ध-गोष्ठियों के काव्य-प्रयोगों का ब्यौरा हैं।

दण्डी की उद्‌भावना में जिन अलंकारों का नामकरण नहीं है उनमें से कई एक उपमा और रूपक के भेदों में प्रकारान्तर से उद्‌भावित हुए हैं, जैसे प्रतीप अलंकार[1]——विपर्यासोपमा,[2] नियमोपमा, अनियमोपमा में, भ्रान्तिमान् अलंकार[3]——मोहोपमा[4] में और उल्लेख[5] अलंकार——हेतुरूपक[6] में देखने को मिलता है।

---

१. काव्यप्रकाश १०।सू० २०१

आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कार-निबन्धनम्॥

२. काव्यादर्श २।१७

त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति।
सा प्रसिद्धिविपर्यासाद्विपर्यासोपमोच्यते॥

३. काव्यप्रकाश १०।सू० २००

भ्रान्तिमान् अन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने॥

४. काव्यादर्श २।२५

शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वंगि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता॥

५. अलंकारसर्वस्व, पृ० ५८

एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः।

६. काव्यादर्श २।८५, ८६

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः।
कामदत्वाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः॥
गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरो गिरिः।
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम्॥

अनन्वय और ससंदेह के लिए दण्डी स्वयं कहते हैं कि मैं इन्हें उपमा के भेदों में निरूपित कर चुका हूँ।[१] उनकी असाधारणोपमा[२] अनन्वय[३] तथा संशयोपमा[४] ससंदेह[५] अलंकार है। इसी प्रकार भामह की उपमेयोपमा[६] भी दण्डी की अन्योन्योपमा[७] है। स्वयं दण्डी के ही अन्य अलंकार-प्रकार उक्त अलंकार-भेदों में घटित होते हैं। विरोधोपमा, तुल्ययोगोपमा आदि किस प्रकार दीपक की विधा में है, यह पीछे दिखाया जा चुका है। अद्‌भुतोपमा[८] और तत्त्वापह्नव रूपक[९] क्रमशः

---

१. काव्यादर्श २।३५८

अनन्वय - ससंदेहावुपमास्वेव दर्शितौ।

२. वही, २।३७

चन्द्रारविन्दयोः कान्तिमतिक्रम्य मुखं तव।
आत्मनैवाभवत् तुल्यमित्यसाधारणोपमा ॥

३. काव्यालंकार (भामह) ३।४५

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्य - विवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥

४. काव्यादर्श २।२६

किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा ॥

५. काव्यालंकार (भामह) ३।४३

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा ॥

६. वही, ३।३७

उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते तां यथोदिताम् ॥

७. काव्यादर्श २।१८

तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी ॥

८. वही, २।२४ यदि किंचिद् भवेत् पद्मं सुभ्रु विभ्रान्तलोचनम्।
तत् ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्‌भुतोपमा ॥

९. वही, २।९४ नैतन्मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ।
एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्चिषस्तव ॥
मुखादित्वं निवर्त्यैव पद्मादित्वेन रूपणात्।
उद्‌भावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापह्नव-रूपकम् ॥

अतिशयोक्ति[१] तथा अपह्नुति[२] के ही प्रकार हैं। चटूपमा[३] भी विशेषोक्ति[४] के लक्षण में घटित होती है।

दण्डी ने उपमा के जैसे भेद किये हैं, उसी सरणि में उपमा के अनेक भेदों की उद्भावना की जा सकती है, इसे उन्होंने भी स्वीकार किया है कि रूपक और उपमा की उद्भावनाओं का अन्त नहीं है।[५] ऐसे नये भेदों में स्वभावोक्ति-अन्वित उपमा के उदाहरण आदिकाव्य में मिलते हैं, जैसे—'पके हुए धान की बालों को खा कर सारसों की सुन्दर कतार, हवा से उड़ायी गयी गूँथी पुष्पमाला के समान तीव्र वेग में आकाश को आक्रान्त कर रही है।'[६] इसे क्रिया-स्वभावोक्तिउपमा कहा जा सकता है। दूसरा उदाहरण है—'कुमुद के फूलों से भरे हुए विस्तृत सरोवर का स्वच्छ

---

१. काव्यप्रकाश १०।सू० १५३

प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।
···विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।

२. काव्यादर्श २।३०४

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति॥

३. वही, २।३५

मृगेक्षणांकं ते वक्त्रं मृगेणैवांकितः शशी।
तथापि सम एवासौ नोत्कर्षीति चटूपमा॥

४. वही, २।३२३

गुण-जाति-क्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते॥

५. वही, २।९६

न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्॥

६. आदिकाव्य, किष्कि० ३०।४७

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारस - चारुपंक्तिः।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला।

जल, जिसमें एक हंस सोया हुआ है, रात में बादलों से निरवच्छिन्न, चन्द्रमा से युक्त तथा तारागणों से व्याप्त नीले आकाश के समान शोभित हो रहा है।[1] इसे हम द्रव्य-स्वभावोक्त्युपमा कहेंगे।

यह पहले कहा गया है कि उपमा अलंकार का विवेचन कभी समग्र काव्यशास्त्र के रूप में किया गया था अतः उपमा-अलंकार के निबन्धन में संभावित दोषों की भी छानबीन की गयी। दण्डी के सामने उन दोषों का स्वरूप था, उन्होंने लिंग, वचन की भिन्नता, धर्म की हीनता और अधिकता का उल्लेख कर उनको तभी उपमा के दूषण में समर्थ माना है जब सहृदय काव्य-बोद्धा को उसकी अनुभूति में उद्वेग हो।[2] दण्डी ने इन दोषों को बहुत महत्त्व नहीं दिया, लेकिन आगे इन पर विमर्श होता रहा और इनकी संख्या में भी वृद्धि हुई, भामह ने मेधावी के कहे हुए उपमा के सात दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया है, वे हैं—उपमेय की हीनता, असम्भव, लिंग-भेद, वचन-भेद, विपर्यय, उपमान की अधिकता तथा उपमान का असादृश्य।[3]

उपमा-वाचक पदों की एक लम्बी सूची दण्डी ने दी है, जिनकी संख्या बहुव्रीहि समास के साथ ६० से ऊपर है—इव, वत्, वा, यथा, समान, निभ, संनिभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्वि, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, संवादि, सजातीय, अनुवादी, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम, संमित, सलक्षण, सदृक्षाभ, सपक्ष, उपमित, उपम, कल्प, देशीय, देश्य (तीनों तद्धित प्रत्यय), प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित, अन्यूनार्थवादी शब्द, स्पर्धते, जयति, द्वेष्टि, द्रुह्यति, प्रतिगर्जति, आक्रोशति, अवजानाति, कदर्थयति, निन्दति,

---

१. आदिकाव्य, किष्कि० ३०।४८

सुप्तैक - हंसं कुमुदैरुपेतं
महाह्रदस्थं सलिलं विभाति।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम्॥

२. काव्यादर्श २।५१

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाताधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

३. काव्यालंकार (भामह) २।३९, ४०

हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।

विडम्बयति, संधत्ते, हसति, ईर्ष्यति, असूयति, तस्य सौभाग्यं मुष्णाति, तस्य कान्तिं विलुम्पति, तेन सार्धं विगृह्णाति, तेन तुलाम् अधिरोहति, तत्पदव्यां पदं धत्ते, तस्य कक्षां विगाहते, तम् अन्वेति, तच्छीलम् अनुबध्नाति, तन्निषेधति, तस्य अनुकरोति।[1] निरुक्त में उपमा-वाचक १२ पद ही गिनाये गये थे, यद्यपि वे सभी इस सूची में नहीं हैं तो भी उपमा की उद्‌भावना और उसके प्रकारों की अवतारणा के नये माध्यमों के प्रति कवियों एवं काव्य के आलोचक--भावकों की कितनी रुझान थी, वह इस लम्बी सूची से अनुमान होता है। इस सूची के अनेक पदकाव्य-गोष्ठियों के ही विलास थे, उनके उदाहरण हमें प्रसिद्ध काव्यों में प्राप्त नहीं होते हैं।

उत्प्रेक्षा

'प्रस्तुत किसी चेतन अथवा अचेतन की गुण-क्रिया-स्वरूप अन्यथा स्थिति की सम्भावना उत्प्रेक्षा अलंकार है। जैसे मध्याह्न के सूर्य से संतप्त होकर हाथी कमलों से भरे सरोवर का आलोड़न कर रहा है, मानता हूँ कि वह सूर्य के गृह--इन कमलों का उन्मूलन करने के लिए सन्नद्ध है।'[2] इस प्रकार उत्प्रेक्षा का विषय उपमा से भिन्न है, उपमा में प्रस्तुत-अप्रस्तुत दो पक्ष होते हैं, उत्प्रेक्षा में एक ही पक्ष प्रस्तुत होता है, उसकी ही स्थिति की अन्यथा संभावना की जाती है। लेकिन अन्यथा सम्भावना से उपमा का भ्रम भी उत्प्रेक्षा के लिए बना रहा, और प्रथमतः यह अलंकार उपमा से अलग नहीं समझा गया। उपमा के भ्रम का प्रमाण भामह की परिभाषा से मिलता है, वे मेधावी के अनुयायी हैं, उनका कहना है कि मेधावी ने कहीं उत्प्रेक्षा अलंकार का उल्लेख नहीं किया है लेकिन उत्प्रेक्षा अलंकार माना जाता है।[3] उनकी परिभाषा है--'जिसमें सादृश्य विवक्षित न हो, फिर भी

---

१. काव्यादर्श २।५७-६५

२. वही, २।२२१-२२२

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥
मध्यन्दिनार्क-सन्तप्तः सरसीं गाहते गजः।
मन्ये मार्तण्ड-गृह्याणि पद्मान्युद्धर्तुमुद्यतः॥

३. काव्यालंकार (भामह) २।८८

यथा संख्यनयोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्॥

उपमा से युक्त निबन्धन हो और अतिशय कल्पना से अन्वित गुण-क्रिया का ऐसा व्यवहार-कथन, जो वस्तुतः है नहीं––उत्प्रेक्षा अलंकार है।'[1]

भामह का उक्त कथन उनके मत की आलोचना-सा है जो उत्प्रेक्षा को सर्वथा स्वतंत्र अलंकार मान रहे थे। सम्भवतः दण्डी के मत पर उनका आक्षेप था। लेकिन दाक्षिणात्यों में उत्प्रेक्षा की स्वीकृति के प्रति कोई विवाद नहीं था, विवाद था केवल उपमा और उत्प्रेक्षा के विषय-विभाग का। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता रहा और उसमें उपमा अलंकार स्वीकार किये जाने का आग्रह था। वह उदाहरण भी ऐसा था कि उसमें पूर्वार्ध में तो उत्प्रेक्षा है किन्तु उत्तरार्ध में उपमा का ही निबन्धन है।[2] इसलिए भी विवाद को अधिक बल मिला। इस विवाद का समुचित समाधान दण्डी ने काव्यादर्श में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा ––'अन्धकार अंगों में लेपन-सा कर रहा है आकाश अंजन की वर्षा-सी कर रहा है––इस प्रकार यह उक्ति भी उत्प्रेक्षा के प्रकृष्ट लक्षण से युक्त है।' आगे दण्डी ने पूर्व-उत्तर पक्ष के साथ एक लम्बी व्याख्या प्रस्तुत की और इस उक्ति में 'इव' पद के प्रयोग के कारण सम्भावित उपमा की स्वीकृति का सैद्धान्तिक निराकरण किया। उनका पूरा विवेचन इस प्रकार है––'कुछ लोगों को इस उक्ति में 'इव' शब्द के प्रयोग से उपमा की भ्रान्ति होती है, (क्योंकि इव उपमा का वाचक पद है किन्तु ऐसा संभव नहीं है, उपमान यहाँ है ही नहीं।) उनकी यह भ्रान्ति, उपमान का अभिधान तिङन्त से नहीं होता––पतंजलि के इस आप्त कथन को अतिक्रमण करके ही सम्भव है। उपमान और उपमेय की स्थिति तुल्यधर्म (साधारण धर्म) की विद्यमानता पर निर्भर है और यदि लिम्पति उपमान है, तमः उपमेय है तो तुल्य धर्म क्या होगा? अथवा 'लेपन' व्यापार को साधारण धर्म माना जाय, जो उचित भी है, क्योंकि क्रिया भाव-प्रधान होती है, तब यह 'लेपन' 'लिम्पति' इस क्रिया का ही तो अर्थ-बोध है, पुनः इसी 'लिम्पति' की 'उपमान'––यह दूसरी संज्ञा कैसे हो सकती है? क्या एक ही पदार्थ के लिए धर्म और धर्मी दोनों संज्ञाएँ अन्वर्थ हो सकती हैं, विचारवान् तो ऐसा नहीं कहते हैं। जो लोग 'लिम्पति' क्रिया का दो प्रकार से अर्थबोध प्रस्तुत करते हैं––(१) तिङर्थकर्त्ता (उपमान) (२) धात्वर्थ लेपन (साधारण धर्म) अर्थात् लिम्पति के कर्त्ता के समान तम का

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।९१, अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥

२. पूरा उदाहरण है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।

लेपन-व्यापार (लिम्पतिकर्तृसदृशतमः-कर्तृकं लेपनम्), और इस प्रकार उपमा की सिद्धि स्वीकार करते हैं, उनकी व्युत्पत्ति भी उचित नहीं है। वह इसलिए कि विशेष्य रूप से प्रतिपाद्य क्रिया के व्यापार में 'लिम्पति' का कर्त्ता विशेषण रूप से अन्वित है, यदि वह उपमान स्वीकार किया जाता है तो उसकी स्थिति बड़ी निरीह हो जायगी, एक ओर वह अप्रधान रूप से क्रिया की सिद्धि में लगा हुआ है फिर वह प्रधान बन कर अन्यत्र उपमान के रूप में प्रस्तुत होने के लिए समर्थ नहीं हो सकता। नैयायिकों के प्रथमान्तविशेष्यक शाब्द बोध का अनुसरण करते हुए यदि हम अर्थबोध को उपमा की सिद्धि के लिए इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'जो लेपन का कर्त्ता है उसके तुल्य अन्धकार' तो यहाँ उपमेय अन्धकार के लेपन में 'अंगों' का सम्बन्ध नहीं हो पाता। और पुनः अंग कर्म के साथ लेपन-रूप उभयगत साधारण धर्म हमें खोजना होगा, जिसके बिना उपमा की सिद्धि असम्भव है, क्योंकि 'अंग' कर्म है, लेपन उसी से अन्वित है, जब तक तमः के साथ अंग सम्बद्ध नहीं होता यह उपमेय-तमः साधारणधर्म-लेपन से शून्य ही रह जायगा। धर्मलुप्तोपमा भी इसे हम नहीं मान सकते, जैसे यह कहा जाता है कि 'चन्द्रमा के समान तुम्हारा मुख' तो यहाँ 'कान्ति' साधारण धर्म की प्रतीति अपने आप हो जाती है वैसे यहाँ 'लिम्पति' उपमान से उसके लेप-रूप के अतिरिक्त उपमा की सिद्धि के लिए किसी साधारण धर्म की प्रतीति सम्भव नहीं है।[1]

---

१. काव्यादर्श २।२२६-२३२

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम्॥
केषांचिदुपमाभ्रान्तिरिव - श्रुत्येह जायते।
नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम्॥
उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया।
लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्मः कोऽत्र समीक्ष्यते॥
यदि लेपनमेवेऽष्टं लिम्पतिर्नाम कोऽपरः।
स एव धर्मो धर्मी चेत्यनुन्मत्तो न भाषते॥
कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे।
स्वक्रियासाधन-व्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम्॥
यो लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शंसतः।
अंगानीति न सम्बद्धं सोऽपि मृग्यः समो गुणः॥
यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते।
न तथा लिम्पतेर्लेपादन्यदत्र प्रतीयते॥

'इसलिए लिम्पति क्रिया का अर्थ यहाँ व्याप्त करना है, अन्धकार कर्त्ता है, और अंग कर्म है, कविनिबद्ध-वक्ता ऐसी सम्भावना कर रहा है—यह सिद्धान्ततः अंगीकार कीजिए। और उसी के साथ एक बात यह भी कि मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् आदि शब्दों से उत्प्रेक्षा का बोध होता है, उनके समान 'इव' शब्द भी उत्प्रेक्षा का बोधक है। (अतः यहाँ 'इव' शब्द के कारण उपमा की ही सिद्धि के लिए दुराग्रह नहीं करना चाहिए।),'[1]

दण्डी के परवर्ती आलंकारिकों में प्रायः अनेक ने इस उक्ति को अनुक्त-विषया क्रियोत्प्रेक्षा के निदर्शन में दिया है और उपमा-सम्बन्धी कोई संशय नहीं प्रकट किया है। उपमा और उत्प्रेक्षा को लेकर दण्डी का यह मौलिक विवेचन था, जिसकी स्पष्टता के कारण उपमा को लेकर उत्प्रेक्षा की मान्यता में पुनः कोई विवाद न खड़ा हुआ।

आक्षेप

'प्रतिषेध की उक्ति आक्षेप है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल-भेद से मुख्यतः इसके तीन प्रकार हैं। और पुनः आक्षेप्य विधि के अनन्त भेद होने से इसके प्रकार भी अनन्त हैं।'[2] दण्डी के निरूपित अलंकारों में उपमा, रूपक तथा दीपक के बाद यह प्रमुख अलंकार है। इसके कुल २४ प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं—वृत्त, वर्तमान, भविष्यत्, धर्म, धर्मी, कारण, कार्य, अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, आशीः, परुष साचिव्य, यत्न, परवश, उपाय, रोष, मूर्च्छा, सानुक्रोश, श्लिष्ट, अनुशय, संशय, अर्थान्तिर, हेतु-आक्षेप।[3] इन उदाहरणों में अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, परुष, साचिव्य आदि भाव संचारी-भाव के ही प्रकारान्तर हैं और भाव से ही अलंकार की उद्भावनाएँ अनुप्राणित हैं—यह सिद्ध करते हैं।

---

१. काव्यादर्श २।२३३-२३४

तदुपश्लेषणार्थोऽयं लिम्पतिर्ध्वान्तकर्तृकः।
अंगकर्मा च पुंसैवमुत्प्रेक्ष्यत इतीष्यताम्॥
मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥

२. काव्यादर्श २।१२०

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता॥

३. दे०, काव्यादर्श २।१२१-१६७

आक्षेप के उदाहरणों में वक्रोक्ति का स्फुट रूप सामने आता है। राजशेखर ने काव्य-विधा के जिस औक्तिक प्रकरण को उक्तिगार्भ द्वारा लिखे जाने का निर्देश किया है,[1] वह औक्तिक काव्यशास्त्र यद्यपि हमारे सामने नहीं है तो भी यह अनुमान करना गलत न होगा कि आक्षेप के उदाहरण तथा औक्तिक प्रकरण का व्याख्यान दोनों एक हैं।

उपमा की भाँति आक्षेप में भी अन्य अलंकारों की अन्विति देखने को मिलती है लेकिन वह आक्षेप में ही परिणत है। संशयाक्षेप का यह उदाहरण देखिए, जिसका पूर्वार्ध ससन्देह अलंकार का रूप है—'क्या यह शरत्काल का शुभ्र मेघ है अथवा हंसों का समूह है? नूपुर के समान ध्वनि सुनी जा रही है इसलिए मेघ नहीं है।'[2], किन्तु उत्तरार्ध की आक्षेप-उक्ति उस सन्देह का निवारण कर देती है।

हेतु

आक्षेप के बाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अलंकार हेतु है, यद्यपि यह न्याय शास्त्र से प्रभावित है तथापि 'काव्यादर्श' में इसके आये उदाहरण ध्वनि के रूपों का परिचय देते हैं, यह एक ऐसी बात है जो ध्वनि-स्थापना के इतिहास को प्रभावित करती है।

हेतु की प्रस्तावना दण्डी ने इस प्रकार की है—'हेतु, सूक्ष्म, लेश वाणी के प्रमुख अलंकार हैं। हेतु के कारक और ज्ञापक दो प्रकार हैं, इन दोनों प्रकारों की पुनः अनेक विधाएँ सम्भव होती हैं।'[3] इस प्रस्तावना से साफ प्रकट है कि हेतु अलंकार की, न्यायशास्त्रान्तर्गत कारक-ज्ञापक हेतु प्रकारों के अतिरिक्त कोई अलग

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० १

औक्तिकमुक्तिगर्भः।

२. काव्यादर्श २।१६७-१६४

किमयं शरदम्भोदः किंवा हंसकदम्बकम्।
रुतं नूपुरसंवादि श्रूयते तत्र तोयदः॥
इत्ययं संशयाक्षेपः संशयो यन्निवर्त्यते।
धर्मेण हंससुलभेनास्पृष्टघनजातिना॥

३. वही, २।२३५

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा॥

परिभाषा नहीं है। भोज ने इसी में अभाव और चित्र हेतु दो अन्य प्रकारों का कथन कर इस अलंकार को चतुर्विध बताया है।[1] परन्तु भोज ने यह कोई नयी बात नहीं की है, दण्डी ने यद्यपि प्रस्तावना में कारक, ज्ञापक हेतुओं का ही उल्लेख किया है लेकिन वे उदाहरण में अभाव और चित्र हेतुओं के सभी प्रकारों का भी निदर्शन करते हैं।[2] उन्होंने हेतु के कुल १५ उदाहरण दिये हैं—प्रवृत्तिकारक, निवृत्तिकारक, विकार्य, प्राप्य, ज्ञापक, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव, अभावप्रतियोगिक, (चित्रहेतु—) दूरकार्य, सहज, कार्यान्तरज, अयुक्तकार्य, युक्तकार्य।

हेतु अलंकार के इन उदाहरणों में ध्वनि के स्वरूप अनायास प्रकाशित हो रहे हैं, 'काव्यादर्श' के हेतु-उदाहरणों का यह अपना मौलिक प्रसंग है। जैसे, विकार्य-हेतु को लीजिए—'नये लाल किसलयों से भरे वन, फूले हुए कमलों से भरी बावड़ियाँ और पूर्णमण्डल चन्द्रमा—तीनों काम द्वारा राही की आँखों में विष कर दिये गये हैं।'[3] यहाँ वन आदि का विष होना विकार्य हेतु है। परन्तु वस्तुतः 'विष कर दिये गये हैं' (विषकृतम्) में 'विषम्' पद अपने जहर अर्थ को तिरस्कृत कर, वियोगी राही उन आह्लादकारक वस्तुओं को देखने में असमर्थ हो रहा है, इस अर्थ का बोध कराता है, और यह अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि है।

इसी प्रकार अन्योन्याभावहेतु का उदाहरण भी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि है—'ये वन हैं घर नहीं हैं, ये नदियाँ हैं स्त्रियाँ नहीं हैं, ये मृग हैं दायाद नहीं हैं—इसलिए मेरा मन प्रसन्न होता है।'[4] यहाँ घर, स्त्रियाँ तथा दायाद पद अपने सामान्य अर्थों से हट कर नाना जंजालों के आगार, वासना और मोह के मूल, द्वेष-ईर्ष्या के जनक अर्थों में संक्रमित हो रहे हैं। हेतु-अलंकार के पक्ष में वन आदि अन्योन्य भाव से मन के सन्तोष के कारण हैं।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण ३।१२

क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः।
अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते॥

२. दे०, काव्यादर्श २।२४६-२५९

३. काव्यादर्श २।२४२

उत्प्रवालान्यरण्यानि वाप्यः संफुल्लपंकजाः।
चन्द्रः पूर्णश्च कामेन पान्थदृष्टेर्विषं कृतम्॥

४. वही, २।२४९

वनान्यमूनि न गृहाण्येता नद्यो न योषितः।
मृगा इमे न दायादास्तन्मे नन्दति मानसम्॥

ज्ञापक हेतु का प्रसिद्ध उदाहरण, जिसकी अलंकारता का भामह ने निषेध किया है और उसे वार्त्ता काव्य कहा है[1], अपनी कालावस्था के निवेदन में व्यंग्य अर्थ के नानात्व का उदाहरण है—'सूर्य अस्ताचल को गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोसलों को जा रहे हैं—यह उक्ति काल-विशेष के निवेदन में आलंकारिक चमत्कार प्रस्तुत करती है।'[2] इस ज्ञापक हेतु से अधिक चमत्कार-जनक यहाँ वह व्यंग्य अर्थ है जो कालावस्था-निवेदक—ज्ञापक के आधार पर प्रकरण-वक्तृ-प्रतिपत्तृ आदि की दृष्टियों से अनेकविध अभिव्यक्त होने लगता है।[3] सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर आ रहे हैं अर्थात् अब रात हो रही है, यह प्रेमिका से मिलने का समय है, अथवा अब कार्य करना बन्द करो, या गायों को घर में ले जाओ, अथवा विरहिणी चिन्तित हो रही है कि सूर्य डूब गया पर प्रिय नहीं आये, आदि।

प्रायः दण्डी के सभी हेतु-उदाहरण ध्वनितत्त्व का संस्पर्श करते हैं। उनका यह हेतु-विषयक व्याख्यान सर्वथा मौलिक है। बाद में भी अलंकार की दृष्टि से किसी ने उसे उपस्थित नहीं किया है।

रुद्रट ने हेतु-अहेतु की जो परिभाषाएँ दी हैं या उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे दण्डी के विवेचन से नहीं मिलते।[4]

---

१. काव्यालंकार (भामह) २।८६, ८७

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

२. काव्यादर्श २।२४४

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने॥

३. काव्यप्रकाश, उ० ५।६९

न हि 'गतोऽस्तमर्कः इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति, प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते।

४. काव्यालंकार (रुद्रट) ७।८२

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद्यत्र।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः॥

९।५४—बलवति विकारहेतौ सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम्।
यस्मिन्नर्थः स्थैर्यान्मन्तव्योऽसावहेतुरिति॥

श्लेष

'अभिधा से अनेक अर्थों का प्रतिपादक किन्तु एक रूप से युक्त अथवा समान वर्ण--वाक्य श्लेष है।'[१]

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अलंकार है। दण्डी ने इसे सभी अलंकारों का उपस्कारक माना है, विशेषतः वक्रोक्तिमूलक अलंकारों की शोभा को श्लेष बहुत चमत्कृत करता है।[२] श्लेष के निरूपण के पूर्व ही दण्डी को उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि के उदाहरणों में स्थित चमत्कारी श्लेष का निदर्शन करना पड़ा है।[३]

सच बात यह है कि श्लेष की उद्भावना के मूल में उपमा और रूपक का विधान है, जहाँ दो वर्ण्य वस्तुओं के समान-धर्म को एकरूप कथन करने के लिए, जब वे एक न रहे होंगे, श्लिष्ट वाणी का सहारा लेना पड़ा और श्लेष का जन्म हुआ।

दण्डी ने श्लेष के इन प्रकारों का वर्णन किया है--अभिन्नपद, भिन्नपद, अभिन्नक्रिया, अविरुद्धक्रिया, विरुद्धकर्मा, नियमवान् श्लेष। नियमाक्षेपोक्ति, अविरोधी, विरोधी श्लेष।[४] इन भेदों में भी उपमा का पुट आसानी से देखा जा सकता है। दो अर्थों की उपस्थिति करने के कारण श्लेष की उपमा से निकटता अपने आप

---

१. काव्यादर्श २।३१०

श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा॥

२. वही, २।३६३

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।

३. वही २।३१३

उपमा--रूपकाक्षेपव्यतिरेकादि--गोचराः।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे॥

४. वही, २।३१४-३१५

अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोऽपरः।
विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः श्लेषो नियमवानपि॥
नियमाक्षेपरूपोक्तिरविरोधी विरोध्यपि।
तेषां निदर्शनेष्वेव रूपमाविर्भविष्यति॥

हो जाती है, अभिन्नक्रिया—श्लेष का उदाहरण लीजिए जिसमें आँखें और दूती परस्पर उपमित हो रही हैं—'रमणियों के द्वारा प्रेषित आँखें और दूतियाँ वक्र (टेढ़ी चितवनवाली, वक्रोक्तिवचन में निपुण) एवं स्वभावमधुर (स्वभावतः मनोहर, मीठे स्वर..ववाली) होकर प्रौढ़ राग (ललाई, आतुरता, प्रेम) सूचित करती हुई प्रियों को खींच लाती हैं।'[1]

रसवत्

दण्डी ने प्रेयः, रसवद् तथा ऊर्जस्वि अलंकारों की एक साथ प्रस्तावना की है—'अतिशय प्रीतिकर कथन प्रेयः, रस से (अन्वित) आनन्दकर उक्ति रसवद्, जिसमें अहंकार व्यक्त हो ऐसा वचन ऊर्जस्वि—ये अलंकार-संज्ञा के व्यवहार के उपयुक्त शोभा के उत्कर्षकारक तीन अलंकार हैं।'[2]

रसवद् अलंकार की यह परिभाषा आनन्दवर्धन की रसवद्-व्याख्या से सर्वथा भिन्न है। जैसा कि आगे दण्डी ने अपना मत व्यक्त किया है, अन्य लक्षण-ग्रन्थों में वर्णित सभी काव्य-चमत्कार उन्हें अलंकार रूप में ही इष्ट हैं, उसके अनुसार नाट्य के रसों को भी उन्हें अलंकार रूप में प्रस्तुत करना इष्ट हुआ, उन्होंने वैसा कर दिया, और संज्ञा 'रसवद्' कर दी। 'रसवद्' संज्ञा से यह बोध अपने आप प्रकट हो जाता है कि नाट्य के अभिनय में गृहीत 'रस' काव्य में अपने उस स्वरूप में नहीं रह जाते, वे रस के समान उक्ति-चमत्कार के विशिष्ट प्रकार बन जाते हैं। दण्डी ने इस रूप में उनको अलंकार कोटि में रख दिया है। काव्य रस के उदाहरणों और दण्डी के रसवद्-उदाहरणों में बोध, अभिव्यक्ति की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। उनके रसवद् अलंकारों में **रौद्र—'निगृह्य केशेष्वाकृष्टा०'** (२।२८२), **वीर—'अजित्वा सार्णवामुर्वीम्०'** (२।२८४), **करुण—'यस्याः कुसुमशय्यापि०'** (२।२८६), **वीभत्स—'पायं पायं तवारीणाम्०'** (२।२८८), **हास्य—'इदमम्लानमानायाः०'** (२।२८९), **अद्भुत—'अंशुकानि प्रवालानि०** (२।२९०), **भयानक—'इदं मघोनः०'** (२।२९१) के यही उदाहरण इन रसों के उदाहरण में 'साहित्यमीमांसा'

---

१. काव्यादर्श २।३१६

वक्राः स्वभावमधुराः शंसन्त्यो रागमुल्बणम्।
दृशो दूत्यश्च कर्षन्ति कान्ताभिः प्रेषिताः प्रियान्॥

२. वही, २।२७५

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्॥

में व्यवहृत हुए हैं,[१] और वे गलत नहीं, युक्ति-युक्त हैं। इससे दण्डी के रसवद् अलंकार का स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि यह रसवद् रस ही है, अलंकार-संज्ञा में प्रस्तुत कर दिया गया है। अन्त में उन्होंने कहा है—'माधुर्य गुण के प्रसंग में वाक्य के अ-ग्राम्यता-मूलक रस का निदर्शन हुआ है और यहाँ केवल आठ प्रकार के रसके अधीन वाणी (उक्ति) की रसयुक्तता (रसवदलंकारता) का प्रस्ताव हुआ है।'[२] (माधुर्य गुण के रस और इसमें अभेद नहीं है।)

दण्डी की रसवद् परिभाषा तो केवल संकेत मात्र है, उदाहरण से ही उनके अभिमत का पता चलता है, जो रसवद् नहीं, रस है। भामह का विचार भी रसवद् के सम्बन्ध में यही है।[३] रसवद् अलंकार का सही स्वरूप तब सामने आया जब ध्वनि और रस का युक्तियुक्त-विवेचन प्रस्तुत किया जाने लगा, आनन्दवर्धन कहते हैं कि 'यद्यपि दूसरे लोगों ने रसवद् अलंकार के विषय का निदर्शन किया है तथापि जिस काव्य में अन्य अर्थ प्रधान होकर वाक्यार्थीभूत होता है और रस आदि उस अर्थ के अंगभूत होते हैं, वे काव्य ही रसादि की अलंकारता (रसवद्) के विषय हैं—यह मेरा पक्ष है।'[४]

रसवद् अलंकार को लेकर बहुत लम्बा व्याख्यान कुन्तक ने किया और उनके पूर्व जितनी भी परिभाषाएँ रसवद् अलंकार की हुई थीं, सब का खण्डन करके तब अन्त में अपनी अभिमत परिभाषा दी है। आनन्दवर्धन के रसवद्-लक्षण के विरोध में विस्तार से उनकी व्याख्या है। दण्डी के लक्षण को भी आड़े हाथों उन्होंने लिया है—'कुछ लोगों ने रस-संश्रय से रसवत् अलंकार होता है

---

१. दे० साहित्यमीमांसा, षष्ठ प्रकरण, पृ० ६४, ७०, ७१, ७२

२. काव्यादर्श २।२९२

वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्॥

३. काव्यालंकार (भामह) ३।६

रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धर्मस्करिण्यतिरोहिता॥

४. ध्वन्यालोक २।५ की वृत्ति

यद्यपि रसवदलंकारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापियस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चांगभूता ये रसादयस्ते रसादेरलंकारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः।

(रसवद् रससंश्रयात्)——यह लक्षण किया है, वह भी ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि रस जिसका संश्रय है, वह है रस-संश्रय और उस कारण से यह रसवदलंकार निष्पन्न होता है, तब यह बताना होगा कि रस संश्रय है जिसका, वह रस से अतिरिक्त कौन पदार्थ है, यदि काव्य है तो काव्य अलंकार नहीं होता, उसका एक देश ही अलंकार हो सकता है। काव्य तो सदा अलंकार्य है। इसलिए उसे अलंकार कहने में तो उसकी अपनी स्थिति में ही विरोध पैदा होगा।

'अथवा षष्ठी-तत्पुरुष से रस-संश्रय की दूसरी व्याख्या करें कि रस का संश्रय या रस जिसका आश्रय ले, वह है रस-संश्रय, और उससे है रसवदलंकार की व्युत्पत्ति, तब यहाँ भी यह प्रश्न उठेगा कि रस का संश्रय, या रस जिसका संश्रय ले रहा है, वह कौन पदार्थ होगा? इसका समाधान नहीं है, क्योंकि वह पदार्थ काव्य नहीं होगा।

'इसी प्रकार **'रसवद रसपेशलम्'** पाठ मान लेने पर भी कोई दूसरी स्थिति नहीं आती।[1] (कुन्तक ने काव्यादर्श की रसवद् व्याख्या को लेकर सम्भवतः **'रसवद् रससंश्रयात्'** **'रसवद्रसपेशलम्'** दो पाठों को उद्धृत किया है।)

कुन्तक की अपनी सही परिभाषा यह है—'रसवत्त्व के विधान से सहृदयों को आह्लादकारक बन कर जो कोई अलंकार रस के तुल्य प्रस्तुत होता है, वह रसवद् है।'[2] आनन्दवर्धन से कुन्तक का लक्षण-सम्बन्धी ही वैमत्य है, और उदाहरण में, जैसा कि ध्वनिकार मानते हैं, अलंकार के प्रधान-वाक्यार्थीभूत हो जाने से और रस को उसकी अंगता प्राप्त होने पर रसवद्

---

१. वक्रोक्तिजीवित ३।११ की वृत्ति

यद्यपि—रसवद् रससंश्रयात् ॥३८॥ इति कैश्चिल्लक्षणमकारि, तदपि न सम्यक् समाधेयतामधितिष्ठति। तथा हि रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः, तस्मात्कारणादयं रसवदलंकारः सम्पद्यते। तथापि वक्तव्यमेव कोऽसौ रसव्यतिरिक्तवृत्तिः पदार्थः। काव्यमेवेति चेत् तदपि पूर्वमेव प्रत्युक्तम्। तस्य स्वात्मनि क्रियाविरोधादलंकारत्वानुपपत्तेः।
अथवा रसस्य संश्रयो रसेन संश्रीयते यस्तस्मात् रससंश्रयादिति।
तत्रापि कोऽसाविति व्यतिरिक्तत्वेन वक्तव्यतामेवायाति।
रसपेशलम् ॥३९॥ इति पाठे न किंचिदत्रातिरिच्यते।

२. वही, ३।१५

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लाद-निर्मितेः॥

अलंकार होता है, दोनों एक हैं। कुन्तक को ध्वन्यालोक (२।५) के उदाहरण —'क्षिप्तो हस्तावलग्नः०' में रसवद् अलंकार की स्थिति अस्वीकार नहीं है।[1] किन्तु कुन्तक की इन मान्यताओं के अनुसार दण्डी के उदाहरण रस के हैं, रसवत् के नहीं।

अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा

ये दो अलंकार ऐसे हैं, जिनकी उद्भावना का इतिहास दण्डी के सामने बहुत पुराना नहीं था। विशेषतः अतिशयोक्ति की उद्भावना यदि पुरानी होती और विदग्धगोष्ठियों में उसके अनेक प्रयोग हुए होते तो दण्डी उसके केवल चार उदाहरण मात्र न देते, जब कि वे उसकी प्रशंसा में कहते हैं—'वाचस्पति द्वारा प्रतिष्ठित इस अतिशय नाम की उक्ति को आचार्यों ने दूसरे अलंकारों का भी एकमात्र उपस्कारक कहा है।'[2] जिस अलंकार की इतनी प्रशंसा की जाये उसके उदाहरणों की संख्या १० से कम नहीं होनी चाहिए थी। भामह तथा औदीच्य आचार्य आनन्दवर्धन आदि ने भी अतिशयोक्ति की यही प्रशंसा की है, पीछे इसका उल्लेख किया गया है।

अतिशयोक्ति का लक्षण है—'विशेष रूप से प्रस्तुत वस्तु की, लोकसीमा को अतिक्रान्त करनेवाली जो वर्णन-कल्पना है वह अलंकारों में उत्तम अतिशयोक्ति है।'[3]

अतिशयोक्ति की भाँति अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी ध्वनिसंस्पर्शी और

---

१. वक्रोक्तिजीवित ३।१५ की वृत्ति

तदेवमनेन न्यायेन 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यत्र रसवदलंकार-प्रत्याख्यानमयुक्तम्।

सत्यमेतत्। किन्तु विप्रलम्भशृंगारता तत्र निवार्यते शेषस्य पुनस्तुल्यवृत्तान्ततया रसवदलंकारत्वमनिवार्यमेव। न चालंकारान्तरे सति रसवद्‌व्यपदेशानिबन्धनः संसृष्टिसंकरव्यपदेशप्रसंगः प्रत्याख्येयतां प्रतिपद्यते।

२. काव्यादर्श २।२२०

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥

३. वही, २।२१४

विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा॥

अत्यन्त चमत्काराधायक माना गया है लेकिन काव्यादर्श में उसका लक्षण और एक उदाहरण मात्र है। प्रस्तुत की निन्दा के लिए जो अप्रस्तुत की स्तुति की जाती है वह अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है। जैसे—दूसरे की सेवा से विमुख रह कर वनों में बिना यत्न के सुलभ तृण तथा कुशों के अंकुर आदि खा कर हरिण सुख से जीवन बिताते हैं।[1] राजसेवा से क्लिश्यमान किसी सेवक की यह उक्ति है; जो हरिणों की प्रशंसा के व्याज से अपनी दुःस्थिति की निन्दा कर रहा है।

संभवतः दण्डी ने अपने समासोक्ति अलंकार के ही प्रस्तुत के आत्म-निन्दा-विषयक प्रकार को लेकर जो अप्रस्तुत की प्रशंसा के व्याज से व्यक्त होता है, स्वतंत्र रूप से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का अभिधान कर दिया है। उनकी समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा के लक्षणों में भी 'उक्ति' और 'स्तुति' का ही अन्तर है। दोनों अलंकार अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में होते हैं।

समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—किसी वस्तु (प्रस्तुत) को लक्ष्य कर उसके तुल्य अन्य वस्तु की उक्ति, संक्षेप रूप में होने के कारण समासोक्ति कही जाती है।[2] परवर्ती आचार्य इन अलंकारों के लक्षण में एक मत नहीं हैं, उद्भट और मम्मट के मत में प्रस्तुत से अप्रस्तुत का कथन समासोक्ति है[3] और अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध अप्रस्तुतप्रशंसा है।[4] किन्तु रुद्रट और भोज दण्डी के ही अनुयायी हैं वे उपमान से ही उपमेय की (अति प्रसिद्धि के कारण) होनेवाली प्रतीति में समा-

---

१. काव्यादर्श २।३४०, ३४१

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादपक्रान्तेषु या स्तुतिः॥
सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः॥
अन्नैरयत्नसुलभैस्तृण—दर्भाङ्कुरादिभिः ॥

२. वही, २।२०५

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥

३. काव्यालंकार-सार-संग्रह २।१०

प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥

काव्यप्रकाश, सू० १४८—परोक्तिः भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।

४. काव्यप्रकाश सू० १५२

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पंचधा॥

सोक्ति स्वीकार करते हैं।[1] वस्तुतः औदीच्य आचार्यों की समासोक्ति में ही अन्तर हुआ, अप्रस्तुतप्रशंसा की विधा प्रायः वही है। भामह की अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण भी दण्डी के समान ही रहा है।[2]

दण्डी ने समासोक्ति के जो उदाहरण दिये हैं उन सब में केवल प्रशंसा-निन्दा की प्रतीति को छोड़कर प्रकृतिगत किसी न किसी वस्तु के व्याज से पुरुष-विशेष की स्थिति को ही अभिव्यक्त किया गया है। अपूर्व समासोक्ति का उनका उदाहरण है—प्रकृतितः मधुराशय (मीठे जलवाला, मृदु चित्तवृत्ति), जिसका कभी व्यालों (साँपों, दुष्टों) से संसर्ग न रहा, हाय! यह अपूर्व जलसागर समय के चक्र से सूख रहा है (विनाश को प्राप्त हो रहा है)।[3] यहाँ महिमावान् पुरुष (प्रस्तुत) की विनाशावस्था की मर्मान्तक सूचना मीठे जलवाले सरोवर (अप्रस्तुत) के सूखने के व्याज से दी जा रही है। दोनों की एक समान स्थिति के वर्णन से यहाँ समासोक्ति है। यदि यहीं किसी वर्णन-प्रकार से सरोवर के सुरक्षित रहने और मधुराशय पुरुष के नष्ट होने का संकेत किया जाता तो यह भी अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता, जैसे—'व्यालों के संसर्ग से रहित, मनुष्यों से दूर वन के बीच यह मधुर जलवाला सरोवर ही अच्छा है, जो कभी नहीं सूखता।'

रुद्रट ने इसी अप्रस्तुतप्रशंसा को अन्योक्ति कहा है—'जहाँ असमान विशेषण होकर भी उपमेय समान-इतिवृत्त रहने से वर्णनीय उपमान द्वारा व्यक्त हो जाता

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ८।६७

सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः॥

सरस्वतीकण्ठाभरण ४।४६

यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिर्मनीषिणः।

२. काव्यालंकार (भामह) ३।२९

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा॥

३. काव्यादर्श २।२१२

निवृत्तव्यालसंसर्गो निसर्गमधुराशयः।
अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशुष्यति॥

है, वह अन्योक्ति अलंकार है।'[1] और उनका उदाहरण दण्डी की अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण के ही बहुत कुछ समकक्ष है--कलरव-किलोल करनेवाले हंसों से भरा, फूले हुए कमलों से आच्छन्न मीठे जलवाले सरोवर को छोड़ कर मित्र! तुम बगुलों द्वारा बार-बार अलोड़ित छिछले जलवाले गड्ढे को नहीं चाहोगे, क्योंकि हंस हो?[2]

दण्डी की समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में सब कुछ समानता होने पर भी 'उक्ति' और 'स्तुति' का अन्तर था, रुद्रट की समासोक्ति और अन्योक्ति में सकलसमान-विशेषण और असमान-विशेषण का भेद है, दोनों आचार्यों के मत में अप्रस्तुत (उपमान) से प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति में ही उक्त अलंकार होते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा या अन्योक्ति अलंकार जीवन की आकस्मिक परिवर्तित स्थितियों को ही वर्ण्य विषय बनाकर उद्भावित हुआ है, इसलिए इतिहास की संक्रान्ति में संस्कृत तथा हिन्दी के समर्थ कवि अन्योक्ति की पद्धति पर जीवन की स्थितियों को बहुशः ललित मुक्तकों में निबद्ध करने में प्रवृत्त हुए हैं।

दण्डी के निरूपित **पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, परिवृत्ति** तथा **भाविक** अलंकार हमें इसलिए आकृष्ट करते हैं कि वे दण्डी के निरूपित स्वरूप में पीछे की शताब्दियों में भी स्वीकार किये जाते रहे। समाहित अलंकार की व्याख्या गुणों की चर्चा एवं अलंकारों के वर्गीकरण के प्रसंग में की गयी है, दण्डी-कृत उसका उदाहरण मम्मट तक ने लिया है। उदात्त के विधा-स्वरूप की जो व्याख्या दण्डी ने दी, उसका ही अनुसरण भामह से मम्मट तक अनेक आचार्यों ने किया है। उदात्त का भी परिचय पीछे दीपक के प्रसंग में दिया गया है, उसका प्रथम उदाहरण किस प्रकार दीपक की विधा में ही है, यह वहाँ दिखाया जा चुका है।

दण्डी ने **संसृष्टि** अलंकार का निरूपण किया है, संकर का नहीं। यही भामह ने भी किया है। संकर का प्रथम निरूपण उद्भट ने किया। दण्डी का लक्षण है--'अलंकारों का परस्पर अंगांगिभाव अथवा उनकी समप्रधान-स्थिति--अलंकारों की

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ८।७४

असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः॥

२. वही, ८।७५

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम्।
बक-लुलित-जलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि॥

संसृष्टि की ये दो विधाएँ सम्भव होती हैं।'[1] अंगागिभाव का उदाहरण है--'मुग्धे ! तुम्हारी मुख-शोभा को कमल तिरस्कृत कर रहे हैं। कोश (कुड्मल, धनराशि) और दण्ड (नालदण्ड, दण्डनीति) से परिपूर्ण इनके लिए क्या दुष्कर है ?'[2] यहाँ पूर्वार्ध में उपमा है, और उत्तरार्ध में श्लेषानुप्राणित हेतु अलंकार उसका अंग है। और 'अन्धकार अंगों का लेपन-सा कर रहा है, आकाश अंजन की वर्षा-सी कर रहा है। (ऐसी स्थिति में) असज्जन पुरुष की सेवा के समान आँखें निष्फल हो रही हैं।'[3] इस उक्ति में भी क्रमशः उत्प्रेक्षा और उपमा समप्रधान--संसृष्टि में स्थित हैं।

भामह ने दण्डी की अपेक्षा संसृष्टि के लक्षण करने तथा उसके अन्य लक्ष्यों के निर्देश के प्रति विशेष रुचि दिखायी है और उसे सुन्दर अलंकार कहा है।[4]

उक्त अलंकारों में कुन्तक ने प्रेयः, ऊर्जस्वी, उदात्त अलंकारों की अलंकारता का खण्डन किया है और इन्हें वर्ण्यमान वस्तु का स्वभाव अलंकार्य माना है।[5]

दण्डी के अलंकार-निरूपण की उनकी अपनी विशेषता भाव-परत्व है, औदीच्य आचार्यों का निरूपण सिद्धान्तोन्मुख और उक्ति-परत्व हो गया है। औदीच्यों के व्यापक प्रभाव के विपरीत भी भोज ने दण्डी की सरणि का पालन किया है और उनकी अनेक कारिकाओं एवं उदाहरणों को ज्यों का त्यों अलंकारों के विवेचन में ले लिया है। दक्षिण और उत्तर का यह भेद दोनों परम्परा के आचार्यों द्वारा किये गये अलंकार-लक्षणों में अत्यन्त स्पष्ट देखा जा सकता है।



---

१. काव्यादर्श २।३६०

अंगांगिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः॥

२. वही, २।३६१

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्।
कोशदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्॥

३. वही, २।३६२

४. काव्यालंकार (भामह) ३।४९, ५२

५. दे० वक्रोक्तिजीवित २।११, १२, १३ और उनकी वृत्ति

उन्मेष सात | चित्रमार्ग

परीक्षण

चित्रमार्ग के अनेक रूप मिलते हैं—यमक, चित्रबन्ध, प्रहेलिका, विन्दुमती, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, गूढ़पाद, प्रश्नोत्तर आदि। 'काव्यादर्श' में प्रथम तीन चित्र-मार्गों का निरूपण हुआ है। लेकिन उसके प्रहेलिका-भेदों में प्रश्नोत्तर, गूढ़पाद आदि के भी लक्षण मिलते हैं। स्पष्ट है कि अन्य का विभाग पीछे हुआ, पर ये अन्य विभाग भी प्रहेलिका के ही प्रकार हैं और उनके भेद-निरूपण वर्ण, मात्रा, पद आदि के लोप पर आधारित हैं, जो विनोद और कौतूहल पैदा करते हैं अतः इनको विनोद-चित्रमार्ग कहना अयुक्ति न होगा। विनोद-गोष्ठी की इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में बाणभट्ट की कादम्बरी में उल्लेख आता है।[1]

प्रश्न उठता है कि क्या चित्रमार्ग काव्य है? यमक के साथ इन्हें काव्य कहा जाता है, किन्तु चित्रबन्धों के इसमें अधिक चमत्कारक होने से इनकी संज्ञा चित्रकाव्य हुई। बाद में आनन्दवर्धन ने यमक, आदि को तो शब्दचित्र कहा है और उत्प्रेक्षा आदि ऐसे वाच्य अलंकारों को भी चित्र काव्य ही कहा है जिनमें व्यंग्यार्थ का संस्पर्श न हो। उनके मत में शब्द-चित्र और वाच्य-चित्र—ये दोनों विभाग हैं। यद्यपि यह चित्रकाव्य प्रतीयमान अर्थ से सर्वथा रहित होता है तथापि प्रत्येक काव्य में वस्तु-वर्णन का होना अनिवार्य है और वस्तु वर्णन अन्ततः विभाव रूप में पर्यवसित होकर किसी न किसी रस या भाव का अंग अवश्य हो जाता है अतः काव्य में सर्वत्र रस या भाव की स्थिति में कोई व्यभिचार नहीं आता, नहीं तो आनन्दवर्धन के मत में भाव के अभाव से काव्य-सत्ता का ही तिरोधान हो जायगा। ऐसी स्थिति में वे उस काव्य को चित्रकाव्य कहते हैं जिसकी रचना में कवि रसभावादि की विवक्षा से शून्य होकर प्रवृत्त होता है और भाव-विवक्षा-शून्य हो कर शब्दालंकार या अर्था-

---

१. कादम्बरी, कथामुख, पृ० २०-२१

कदाचित् अक्षरच्युतक-मात्राच्युतक-बिन्दुमती- गूढ़चतुर्थपाद-प्रहेलिकाप्रदानादिभिः...दिवसमनैषीत्।

लकार का निबन्धन करता है।[१] वहाँ रचनाकार कवि ही भाव-विवक्षा से शून्य रहता है, काव्य भाव-संस्पर्श अपेक्षित होता है।

औदीच्य आलंकारिकों को चित्रकाव्य की सीमा में यमक और चित्रबन्ध (पद्मबन्ध आदि) दो ही इष्ट हैं, प्रहेलिका तथा अक्षरच्युतक आदि को वे चित्रकाव्य भी नहीं मानते। आनन्दवर्धन के 'तत्र किंचिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करयमकादि' में आदि से चित्रबन्ध का ही ग्रहण है क्योंकि 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।' की टीका करते हुए लोचनकार ने कहा है—'यमक, चक्रबन्ध आदि चित्र रूप से प्रसिद्ध हैं ही। उनके तुल्य ही अर्थचित्र को मानना चाहिए, यह भाव है।'[२]

इनके पूर्ववर्ती रुद्रट ने शब्दालंकारों में यमक और चित्र को अलग-अलग विधा स्वीकार किया है।[३] तथा चित्र-काव्य में वे केवल चक्रबन्धों आदि की ही गणना करते हैं। उनके चित्र-अलंकार का लक्षण है—'भंग्यन्तर से विशेष क्रम में वर्णों का विन्यास होने के कारण जिस काव्य में चक्र आदि वस्तुओं के विचित्र रूप अपने चिह्न के साथ रचे जाते हैं वह चित्र अलंकार है।'[४] उनके इस चित्र में प्रहेलिका आदि नहीं आते, न रुद्रट उनको अलंकार ही स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि 'पहले के कहे गये शब्दालंकारों से भिन्न ये मात्राच्युतक, विन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ़, क्रियागूढ़, प्रश्नोत्तर आदि गोष्ठियों में क्रीड़ा-विनोद मात्रा के लिए उपयोगी हैं। अतः मैंने शब्द-अलंकारों के बीच इनको संगृहीत करना उचित नहीं समझा है।'[५] काव्यादर्श में भी इसी से मिलती-जुलती प्रहेलिका के उपयोग की

---

१. ध्वन्यालोक ३।४१-४२ की वृत्ति

२. ध्वन्यालोक ३।४२ की लोचन टीका

शब्दचित्रमिति। यमकचक्रबन्धादिचित्रतया प्रसिद्धमेव तत्तुल्यमेवार्थ-चित्रं मन्तव्यमिति भावः।

३. काव्यालंकार (रुद्रट) २।१३

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु॥

४. वही, ५।१

भंग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि।
सांकानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्॥

५. वही, ५।२४

मात्रा-बिन्दुच्युतके प्रहेलिका-कारक-क्रियागूढ़े।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगिमिदम्॥

बातें कही गयी हैं—'(१) क्रीड़ा के लिए आयोजित गोष्ठी के विनोदों में, (२) समाज की भीड़-भाड़ में गुप्त-मन्त्रणा में और (३) बोद्धव्य (कथन के अभिप्रेत) पुरुष से भिन्न व्यक्ति को अर्थ का बोध न होने देने में प्रहेलिका के प्रयोग उपयोगी होते हैं।'[1] प्रहेलिका के ऐसे प्रयोग और उपयोग की ओर कामसूत्र में भी संकेत मिलते हैं।[2]

लेकिन ये यमक, चित्रबन्ध और प्रहेलिका मूलतः सौशब्द्य काव्य की विकृति हैं। सौशब्द्य काव्य का पहला रूप अनुप्रास में आया और उसी के समानान्तर यमक की उद्‌भावना हुई, यह घटना तो वाच्य-अलंकारों के भी पूर्व की है। तब यमक का यह रूप नहीं था, जो काव्यादर्श के चित्रमार्ग में आया है, यमक सौशब्द्य का अंग किस विधा के प्रस्तुतीरण में बनता है, यह हम कालिदास के रघुवंश—नवम सर्ग में यमक के प्रयोग से समझ सकते हैं, जहाँ प्रत्येक छन्द के चौथे चरण में ही वर्णसंघात की एक अव्यपेत आवृत्ति यमक अलंकार के उद्देश्य से हुई है, इस आवृत्ति के चौथे चरण में होने से छन्द की समाप्ति होते-होते श्रवण-जन्य मधुरता का प्रभाव अपने वैशिष्ट्य से वस्तु-वर्णन के अर्थ-बोध में हमारे भाव को अभिभूत कर लेता है।[3] काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में यमक को 'नैकान्त मधुर' कह कर दण्डी ने जो इसे माधुर्य गुण के लिए अनुपयोगी बताया था, वह अनुपयोगिता रघुवंश के नवम सर्ग के वस्तु-वर्णन में प्रयुक्त यमक को देखते हुए ठीक नहीं जंचती।[4] ऐसा अनुमान है कि माधुर्य गुण के लिए यमक के ऐसे प्रयोग, जैसे कालिदास ने किये हैं, कवि-परिपाटी में पहले स्वीकृत थे और ऋतु तथा माधुर्य-सम्मत वस्तु-वर्णनों में उनका उपयोग रूढ़ि बन गया था। कालिदास के परवर्ती कवियों ने इस परिपाटी का पालन तो किया, पर वे प्रयोग में यमक की मधुर-प्रकृति का अभिज्ञान ठीक-ठीक न आँक सके।

---

१. काव्यादर्श ३।९७

क्रीडा-गोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥

२. कामसूत्र ३।१।१५

प्रहेलिका (२८)...अक्षरमुष्टिका कथनम् (४५)....मानसी काव्यक्रिया (५३)...।

३. दे० रघुवंश नवम सर्ग

४. रघुवंश नवम सर्ग (४७) का उदाहरण—

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न चतुरं पुनरेति गतं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः॥

प्रवरसेन ने सुवेल शैल के वर्णन में यमक का प्रयोग किया है लेकिन वह यमक अर्धाभ्यास (समुद्ग) यमक है,[1] जिसमें वह निश्चित ही न केवल शैल-वर्णन के माधुर्य-पक्ष की हानि करता है अपितु अर्थ-बोध को दुरूह बना कर केवल शब्द-चमत्कार मात्र रह जाता है।[2] यमक के ऐसे विरस दुरूह प्रयोगों का आरम्भ देख कर ही 'काव्यादर्श' के आचार्य को माधुर्य गुण के लिए उसकी अनुपयोगिता का सिद्धान्त स्थिर करना पड़ा। काव्यादर्श की जब रचना हुई तब 'सेतुबन्ध' में प्रयुक्त यमक की ओर कवि उन्मुख हो ही रहे थे, क्योंकि स्वयं प्रवरसेन ने भी संभवतः शब्द-रचना की विदग्धता दिखाने के लिए ही नवम आश्वास में अर्धाभ्यास यमक का प्रयोग किया है, इसके विपरीत प्रथम आश्वास में उन्होंने बहुत कुछ कालिदास की शैली में माधुर्य-सहायक यमक का विन्यास किया है जो वस्तु-वर्णन को सरसता और छन्द को श्रवण-जन्य लयमयता प्रदान करता है।[3] प्रवरसेन के पश्चात् भट्टि, भारवि और माघ ने दुष्कर यमकों का प्रयोग किया, उस प्रयोग में त्रिरभ्यास, श्लोकाभ्यास और प्रतिलोम यमकों के उदाहरण हैं। केवल भट्टि ने प्रतिलोम यमक का प्रयोग नहीं किया है, अन्त्यानुप्रास की भाँति उनका मध्यान्त यमक का प्रयोग अपने वर्ण्य विषय (लंका-दहन के उपरान्त कृतकार्य हनुमान् का राम के निवास-स्थान माल्यवान् पर्वत पर आशा के प्रकाशपुंज की भाँति जाने की सीता से अनुज्ञा) को अधिक उदात्त रूप में प्रस्तुत करता है।[4] इसे देख कर कालिदास के यमक-प्रयोग की याद आती है।

---

१. काव्यादर्श ३।५३

अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः।
पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निदर्शनैः॥

२. दे० सेतुबन्ध नवम आश्वास के छन्द ४३, ४४, ४७, ५०। उनमें ४७वाँ छन्द है—

रम्म अन्दरा अच्छमं रम्म अन्दराअच्छअम्।
सग्गग्गहणिं सामग्गअं सग्गग्गहणि सामग्गअम्॥

३. सेतुबन्ध, प्रथम आश्वास, छन्द ५९, ६२। उनमें ६२ वाँ छन्द है—

तो तरुणसिप्पिसंपुडदरदाविअ जलणिहित्त मुत्तावअरम्।
पत्ता पत्तलवउलं गअदाणसुअन्धिरअणवेलं वेलम्॥

४. भट्टिकाव्य १०।१७

मितमवददुदारं तां हनूमानमुदाऽरं
रघुवृषभसकाशं यामि देवि! प्रकाशम्।
तव विदितविषादो दृष्टकृत्स्नाऽऽमिषादः
श्रियमनिशमवन्तं पर्वतं माल्यवन्तम्॥

चित्रबन्धों की उद्‌भावना का मार्ग प्रतिलोम यमक के प्रयोग के बाद सूझा और उसकी अन्तिम परिणति द्व्यक्षर, एकाक्षर पद्यों में हुई। यह एक विचित्र बात थी कि प्रतिलोम यमक के सान्तर वर्ण-विन्यास ने चित्र-बन्धों की कल्पना का मार्ग तो प्रकट किया, लेकिन स्वयं प्रतिलोम यमक जिस कमल-बन्ध के निकट था, उसकी उद्‌भावना बहुत पीछे की गयी। 'काव्यादर्श' अथवा उसके परवर्ती निकट के महाकाव्यों में अन्यान्य चित्र-बन्धों के साथ कमलबन्ध का प्रयोग नहीं है। प्रतिलोम यमक में छन्दःचरण की बड़ाई-छोटाई को देखते हुए उतने ही कम या अधिक पंखुड़ियोंवाला कमल-बन्ध बन जायगा। इसमें कमल-बन्ध की उस विधा से जो भोज और विश्वनाथ ने रखी है, थोड़ा अन्तर अवश्य होगा। कमल-बन्ध का निदर्शन किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध दोनों में नहीं है, रुद्रट ने अनेक चित्रबन्धों का लक्षण और उदाहरण दिया है लेकिन कमल-बन्ध उनमें भी नहीं हैं। प्रतिलोम-विधा के छन्दों का निदर्शन उन्होंने इस चित्र-प्रकरण में अवश्य किया है,[1] 'काव्यादर्श' की तरह यमक के साथ नहीं। इससे प्रतिलोम यमक के चित्रबन्धों का सजातीय होने की बात सिद्ध होती है। भोज ने यमक के भेदों का विस्तार से वर्णन किया है लेकिन प्रतिलोम यमक उसमें नहीं है, बल्कि कमल-बन्ध के छह प्रकार हैं।[2] प्रतिलोम यमक की कमल-बन्ध के रूप में परिणति कैसे होगी, 'काव्यादर्श' के ही प्रतिलोम यमक का उदाहरण ले कर इसे स्पष्ट किया जाता है। काव्यादर्श में प्रतिलोम यमक के तीन प्रकार हैं––पाद-प्रतिलोम, श्लोकार्ध-प्रतिलोम, समस्त-श्लोक-प्रतिलोम।[3] इनमें श्लोकार्ध प्रतिलोम का उदाहरण है––

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) ५।१७

अथ प्रतिलोमानुलोमपाठं स्रग्धरावृत्तमाह––

वेदापन्ने स शक्ले रचितनिजगुरुच्छेदयत्नेऽरमेरे।
देवासक्तेऽमुदक्षो बलदमनयदस्तोदडुर्गासवासे।
सेवासर्गाद्दुदस्तो दयनमदलवक्षोदमुक्ते सवादे
रेमे रत्नेऽयदच्छे गुरुजनितचिरक्लेशसन्नेऽपदावे॥

तथा इसी अध्याय में छन्द २२, २३ में इस विधा के अन्य प्रयोग भी देखिए।

२. दे० सरस्वतीकण्ठाभरण २। उदा० २८४-२९५

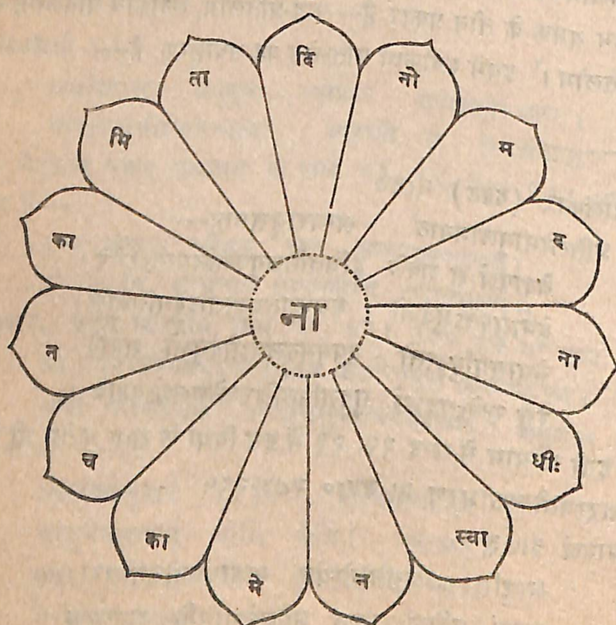
३. काव्यादर्श ३।७२

आवृत्तिः प्रातिलोम्येन पादार्धश्लोकगोचरा।
यमकं प्रतिलोमत्वात् प्रतिलोममिति स्मृतम्॥

नादिनोमदना धीः स्वा न मे काचन कामिता।
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना॥ (३।७५)

इस श्लोकार्ध में कुल १६ वर्ण हैं जो प्रतिलोम से उत्तरार्ध में आवृत्त होते हैं। आदि के प्रथम वर्ण को कमल के पराग स्थान (बीच) में स्थापित कर शेष पन्द्रह वर्णों के लिए पन्द्रह पंखुड़ियाँ कल्पित कर ली जायें और उनमें उनको स्थापित कर दिया जाय, तो यह एक प्रकार का कमलबन्ध ही होगा यद्यपि भोज और विश्वनाथ के कमल-बन्ध से भिन्न है। इसे हम पराग स्थान से पढ़ना आरम्भ करेंगे और जहाँ पूरा होगा वहीं से फिर उल्टा आरम्भ करके पराग स्थान के वर्ण पर समाप्त करेंगे। यहाँ आधा श्लोक लिख कर पूरे श्लोक का पाठ, पराग-स्थान से आरम्भ कर फिर वहीं समाप्ति—–वर्ण-विन्यास के ये वैचित्र्य इसको चित्रबन्ध का रूप देंगे।[1] इसी प्रकार अन्य प्रतिलोम यमकों का भी यह चित्रबन्ध बन जायगा, आवृत्ति के चरण में जितने वर्ण हों, उनमें से एक को परागस्थान के लिए छोड़कर शेष वर्णों की संख्या की पंखुड़ियाँ कल्पित कर ली जायेंगी। यह श्लोकार्ध या श्लोक-प्रतिलोम यमक की बात है, पाद-प्रतिलोम यमक में परागस्थान को दो भागों में तथा पंखुड़ियों को दो अर्धवृत्तों में बाँटकर यह चित्रबन्ध कल्पित होगा। पाद-प्रतिलोम को कमलबन्ध की अपेक्षा सूरजमुखी-बन्ध में विन्यस्त करना अधिक अच्छा होगा, क्योंकि उसमें

१. इस कमल-बन्ध को इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे—–



पराग-स्थान अधिक विस्तृत होता है (जिसमें दो वर्ण स्थापित करने होंगे) और पंखुड़ियाँ (जिनमें एक ही वर्ण रखने होंगे) छोटी होती हैं।[1]

चित्रबन्धों के साथ स्वर, स्थान (अक्षरों के उच्चारण स्थान) और वर्णों के नियम में बद्ध श्लोक की रचना अर्थात् समस्त श्लोक में केवल एक स्वर का प्रयोग, दो स्वरों का प्रयोग, एक स्थान से उच्चरित वर्णों का प्रयोग, दो स्थान से उच्चरित वर्णों का प्रयोग, एक ही वर्ण का प्रयोग, दो वर्णों का प्रयोग-आदि वैचित्र्य[2] मूलतः उस सौशब्द्य काव्य की विकृति हैं जो श्रुत्यनुप्रास के रूप में माधुर्य गुण का उपकारक धर्म काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में स्वीकार किया गया है। वहाँ यह बात कही गयी थी कि कण्ठ-तालु आदि किसी एक उच्चारण स्थान से उच्चारित होने के कारण श्रवण में वर्णों की जो एकसमानता अनुभूत होती है उस प्रकार के सादृश्य प्रयोग से अन्वित पदों का अव्यवहित प्रयोग माधुर्य गुण में रस का परिपोषक होता है।[3] यहाँ चित्र-मार्ग में श्रुत्यनुप्रास माधुर्य गुण का उपकारक धर्म न होकर स्वयं प्रधान (विधेय) हो गया है, अतः वह काव्य न रह कर काव्य-चित्र है। इस प्रसंग में ऐसे पद्य का भी उदाहरण रखा गया है जिसमें एक मात्र कण्ठ से ही उच्चरित वर्णों का प्रयोग है[4] और ऐसी रचना श्रुत्यनुप्रास के रहते हुए भी रसावहा न होकर चित्रावहा बन गयी है।

इस प्रकार सौशब्द्य काव्य के रूप---अनुप्रास और यमक, जो मूलतः काव्य के उत्कर्ष के हेतु थे, चित्रमार्ग में अपनी प्रकृति से च्युत हो गये। उन्होंने काव्य के जन्म-स्थान---भाव-भूमि से निर्वासन लिया और व्याकरण के धातु-प्रत्यय वाले चित्र-वन में प्रवेश किया, उसी के परिणाम स्वरूप चित्रमार्ग की अन्य विधाएँ भी सामने आयीं। यह स्वाभाविक था कि व्याकरण के सर्वथा आश्रित होकर काव्य-रचना यमक के अतिरिक्त अन्य गूढ़ रूपों की भी उद्भावना करती, वह ही चित्र-बन्ध, प्रहेलिका, च्युताक्षर आदि थे।

मम्मट ने जिसे अवर (चित्र) काव्य कहा है, उस रचना में व्यंग्य-रहित गुण-

---

१. सूरजमुखी-बन्ध के लिए काव्यादर्श (३।४७) का यह छन्द उपयुक्त है—

यामताश कृतायासा सा याता कृशता मया।
रमणारकता तेऽस्तु स्तुतेताकरणामर॥

२. काव्यादर्श ३।८३

३. वही, १।५२

४. वही, ३।९१ आगा गाङ्गाङ्गकाकाकगाहकाघककाकहा।
अहाहाङ्क खगाङ्कागकङ्कागखगकाकक॥

अलंकार का निबन्धन माना जाता है,[१] किन्तु 'काव्यादर्श' का चित्रकाव्य तो केवल यमक को छोड़ कर (उसमें भी प्रतिलोम यमक की गणना न की जायगी) उस परिभाषा में भी स्वीकार न होगा। और भी आचार्य मम्मट के मत में चित्र-काव्य शब्द-चित्र (यमक आदि शब्दालंकार) और अर्थ-चित्र (व्यंग्य-विवक्षा-शून्य वाच्य अलंकार) दो प्रकार का है,[२] पर यहां 'काव्यादर्श' के चित्रमार्ग में केवल शब्द-चित्र का ही व्याख्यान है, शब्द-चमत्कृति प्रधान इस विधा की सही संज्ञा पण्डितराज जगन्नाथ के विश्लेषण में अधम काव्य है।[३]

भट्टि, भारवि और माघ के काव्य में जो प्रश्रय यमक और चित्रबन्धों को मिला, परवर्ती कवि-परम्परा में वही आदर श्लेष-काव्य का हुआ। वैसे भारवि और माघ ने भी अर्थत्रयवाची श्लोक का प्रयोग चित्र-काव्य के निबन्धन के साथ किया है।[४] लेकिन उस एक-दो प्रयोग से श्लेष काव्य की स्वच्छता वहाँ नहीं आ पायी है। वह स्वच्छता परवर्ती कवियों द्वारा ही सम्भव हुई, विशेषतः कथा-काव्य के कवियों से। श्लेष-काव्य में भी यद्यपि व्याकरण-व्युत्पत्ति और शब्द-प्रयोग का वैचित्र्य ही अपेक्षित है तो भी वह अधिकांश में काव्य का आक्षिप्त (वक्रोक्ति) मार्ग है एवं यमक की अपेक्षा काव्य-संज्ञा का उपयुक्त अधिकारी है। इसीलिए श्रीहर्ष ने माघ की तरह दुष्कर यमक का निबन्धन जहाँ नहीं किया, वहां श्लेष ही नहीं, श्लेष से पांच अर्थोंवाला काव्य[५] लिखने में भी उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई, यद्यपि

---

१. काव्यप्रकाश १।सू० ४

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।

२. वही, ६।सू० ७०

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम्।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः॥

३. रसगंगाधर, पृ० २३

यत्रार्थ-चमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिप्रधानं तदधमं चतुर्थम्।

४. दे० किरातार्जुनीय १५।४५ तथा
शिशुपालवध १९।११६

५. नैषधीयचरित १३।३४

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो
यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते॥

था वह भी शब्द-प्रयोग-वैचित्र्य ही। शब्द-प्रयोग-वैचित्र्य होने पर भी भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होने के कारण श्लेष में उक्ति-वैचित्र्य और प्रतीयमानता का संस्पर्श होता है, यमक में वह संभव नहीं है। जहाँ तक कवि के रचना करने का प्रश्न है--श्लेष भी दुष्कर मार्ग है पर वह 'काव्यादर्श' के रचयिता के सामने कवि-समाज में अस्तित्व में नहीं था, तब वह उपमा आदि अलंकारों के साथ प्रयुक्त होता था।

यमक, चित्रबन्ध और प्रहेलिका के निरूपण में काव्यादर्श की १२४ कारिकाएँ व्यवहृत हुई हैं। इन तीनों विधाओं के प्रभेदों का वर्णन किसी सैद्धान्तिक निश्चय में नहीं, प्रयोग के प्रकार मात्र में निहित है।

भेदों का विस्तार

यमक

यमक की प्रथम परिच्छेद में दी गयी परिभाषा--वर्ण-समूह में दिखायी पड़नेवाली आवृत्ति को यमक जानते हैं[1]--से तृतीय परिच्छेद की परिभाषा में विस्तार और अन्तर है--'वर्णसमूह की अव्यवहित, व्यवहित पद-प्रयोग में विशिष्ट आवृत्ति यमक है और वह छन्द के चरण के आदि, मध्य, अन्त में दिखायी पड़ता है।'[2] यमक का प्रभेद-निदर्शन ७७ कारिकाओं में है, यह एक विचित्र बात है, 'काव्यादर्श' में किसी एक विधा को लेकर इतना विस्तार नहीं किया गया है।

छन्दःचरण के आदि, मध्य और अन्त में यमक का प्रयोग तो एक सामान्य निर्देश है, वस्तुतः उसके सुकर एवं दुष्कर भेदों की संख्या की इयत्ता नहीं है जो भेद अन्य संभेदों (सजातीय-विजातीय-मिश्र भेदों) के भी कारण बनते हैं।[3] कुल ५५ भेदों के उदाहरण काव्यादर्श में हैं।

---

१. काव्यादर्श १।६१

आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः।

२. वही, ३।१

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम्॥

३. वही, ३।३

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते तत्र केचन॥

इन प्रभेदों की आधारभूत मुख्य आठ प्रवृत्तियाँ हैं—

१. छन्द के एक से लेकर प्रत्येक चरणों में अव्यवहित वर्णसंघात की आवृत्ति। (देखिए, काव्यादर्श ३।४–१८)

२. छन्द के एक से लेकर प्रत्येक चरणों में व्यवहित वर्णसंघात की आवृत्ति। (दे० काव्यादर्श ३।२०—३२)

यहाँ पहले से दूसरे में यह भेद है कि अव्यवहित वर्णसंघात की आवृत्ति एक प्रकार से ही संभव है, व्यवहित वर्णसंघात की तीन प्रकार से। अव्यवहित वर्णसंघात की यदि पूरे छन्द में आवृत्तियाँ हों तो वह दुष्कर महायमक का रूप हो जायगा।[1]

३. उक्त दोनों प्रकारों का मिश्रण (दे० काव्यादर्श ३।३४–५०, ७२)। ऐसा मिश्रण जब चारों चरणों में हो जाता है तब वह प्रयोग और अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त दुष्कर काव्य है।[2]

४. चरण के अन्तर्गत अन्तिम वर्ण-संघात की अग्रिम चरण के आदि वर्ण-संघात के रूप में आवृत्ति हो, इसे संदष्ट यमक कहते हैं। (दे० काव्यादर्श ३।५२)

५. छन्द के दो चरणों की आवृत्ति अन्य दो चरणों के रूप में हो, इसे अर्धाभ्यास या समुद्ग यमक कहते हैं, (दे० काव्यादर्श ३।५४–५६) भट्टि, भारवि, माघ ने इसका प्रयोग किया है।[3] (केवल पूर्वार्ध की उत्तरार्ध में आवृत्ति के रूप में।)

६. छन्द के एक चरण की दूसरे अन्य चरण के रूप में एक, दो, तीन आवृत्ति, (पादाभ्यास यमक)। (दे० काव्या० ३।५७–६६) इनमें तीन आवृत्ति

---

१. काव्यादर्श ३।७१

समानयासमानया समानया समानया।
स मा न यासमानया समानयासमानया॥

२. वही, ३।५०

कालकालगलकालकालमुखकाल—
कालकालपनकालकालघनकालकाल—
कालकालसितकालका ललनिकालकाल–
कालकालगतु कालकाल कलिकालकाल॥

३. दे० भट्टिकाव्य १०।७; किरातार्जुननीय १५।१६, ५०; शिशुपालवध १९।५८, ११८

(चरण के त्रिरभ्यास) का यमक दुष्कर प्रयोग है। भट्टि और भारवि ने इस यमक का प्रयोग किया है।[1] इसका निबन्धन अनुष्टुप से भिन्न ११ वर्ण या इससे अधिक वर्ण के छन्द में ही हुआ है।

७. पूरे छन्द की दूसरे छन्द के रूप में आवृत्ति––श्लोकाभ्यास। (दे० काव्यादर्श ३।६८–६९)।

८. प्रतिलोम आवृत्ति, जो यमक से अधिक चित्र-बन्ध के निकट है। (दे० काव्यादर्श ३।७४–७७) इसका प्रयोग भट्टि-काव्य में नहीं है, भारवि और माघ के काव्यों में है।[2]

माघ ने प्रतिलोम का एक नया प्रकार प्रदर्शित किया है, जिसमें छन्द का अनुलोम-प्रतिलोम दोनों अवस्थाओं में प्रायः एक ही रूप रहता है। अतः एक ही अर्थ भी होता है।[3] उनका यह प्रयोग अत्यन्त चमत्कारिक तथा उतना ही दुष्कर है।

चित्र-बन्ध

चित्रबन्ध की दो प्रवृत्तियाँ हैं––

१. पद्य में आकृति का विधान और

२. अक्षरों का विशिष्ट सन्निवेश।

आकृति-विधान में काव्यादर्श में तीन आकृतियों के लक्षण और उदाहरण हैं––गोमूत्रिका, अर्धभ्रम और सर्वतोभद्र।[4] इन तीन प्रकारों से आकृति-विधान के दो स्रोत प्रकट होते हैं––(१) गोमूत्रिका के स्वरूप में अक्षर-विन्यास द्वारा पद्य-रचना लोक-जीवन के सम्पर्क की सूझ है। (२) अर्धभ्रम एवं सर्वतोभद्र यज्ञ और कर्मकाण्ड समाज की विनोदमयी उद्भावनाएँ हैं।

---

१. दे० भट्टिकाव्य १०।१९ तथा
किरातार्जुनीय १५।५२

२. दे० किरातार्जुनीय १५।२० तथा
शिशुपालवध १९।३३, ३४, ४०

३. शिशुपालवध १९।९०

विदिते दिवि केऽनीके तं यातं निजिताऽऽजिनि।
विगदं गवि रोद्धारो योद्धा यो नतिमेति न॥

४. काव्यादर्श ३।७८-८२

अक्षर-सन्निवेश तीन नियमों में बँटा है--(१) स्वर-नियम (२) स्थान-नियम और (३) वर्ण-नियम। प्रत्येक के चार-चार सुकर प्रभेदों के उदाहरण हैं[1]--

१. पद्य में चार स्वरों का प्रयोग, चार स्थान से उच्चरित वर्णों का प्रयोग, चार वर्णों का प्रयोग।

२. पद्य में तीन स्वरों का प्रयोग, तीन स्थान से उच्चरित वर्णों का प्रयोग, तीन वर्णों का प्रयोग।

३. पद्य में दो स्वरों का प्रयोग, दो स्थान से उच्चरित वर्णों का प्रयोग, दो वर्णों का प्रयोग।

४. पद्य में एक स्वर का प्रयोग, एक स्थान से उच्चरित वर्णों का प्रयोग, एक वर्ण का प्रयोग।

ऊपर के कहे गये आकृति-बन्धों का ही प्रयोग 'किरातार्जुनीय' में है, 'शिशुपालवध' में दो नये आकृति-बन्ध--मुरज[2] और षडर चक्र[3] है। 'शिशुपालवध' में वर्ण-नियम के अन्तर्गत असंयोग वर्ण--यह नया प्रयोग है,[4] यद्यपि काव्यादर्श के एक स्वर और द्विवर्ण[5] के प्रयोग--पद्य भी असंयोगवर्ण वाले हैं तथापि इस विधा की सूझ तब नहीं थी, न उक्त दोनों उदाहरण असंयोग वर्ण का चमत्कार वहन करते हैं। स्थान-नियम में चतुःस्थान--नियम का प्रयोग 'दशकुमार चरित' का सम्पूर्ण सप्तम उच्छ्वास है जो ओष्ठयवर्ण-रहित है।

'किरातार्जुनीय' और 'शिशुपाल वध' के देखने से यह पता चलता है कि उस युग में चित्रमार्ग का प्रयोग भी महाकवि होने की एक कसौटी थी, दोनों महाकाव्यों के एक-एक सर्ग केवल चित्रमार्ग के प्रदर्शन में समाप्त हुए हैं। दोनों महाकाव्यों के

---

१. काव्यादर्श ३।८३

यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ।
इष्टश्चतुःप्रभृत्येषु दर्श्यते सुकरः परः॥

२. शिशुपालवध १९।२९

३. वही, १९।१२०

४. वही, १९।६८

निपीडानादिव मिथो दानतोयमनारतम्।
वपुषामदयापातादिभानामभितोऽगलत्॥

५. काव्यादर्श ३।८७, ९४; इनमें से ९४ का उदाहरण

सूरिः सुरासुरासारिसारः सारसंसारसाः।
ससार सरसीः सीरी ससूरुः स सुरारसी॥

लेखक दाक्षिणात्य कवि-सम्प्रदाय की परम्परा में हैं। वर्ण और स्वर के नियमों की अपेक्षा स्थान-नियम अधिक सुकर और कम संकुचित है, गद्य-काव्य में पद्य की तरह आकृति-बन्ध नहीं प्रस्तुत किये जा सकते थे अतः चित्रमार्ग के प्रदर्शन के लिए 'दशकुमार-चरित' में ओष्ठ्य-वर्ण-रहित रचना का ही उपक्रम किया गया।

प्रहेलिका

प्रहेलिका का व्यवहार हिन्दी-काव्य में भी संस्कृत की तरह पहेली और कूटपद के नाम से हुआ है। जो अर्थ इष्ट है उसे छिपा कर, अव्यवहृत (जो अपेक्षित नहीं है) अर्थ को प्रकट रूप में कहने के प्रकार ही प्रहेलिका हैं, अर्थात् कूट पद। काव्यादर्श में लक्षण और उदाहरण के साथ १५ प्रहेलिकाएँ बतायी गयी हैं और एक सोलहवाँ प्रकार भी बताया गया है, जिसमें उक्त पन्द्रह में से ही दो या दो से अधिक का मिश्रण होता है। इनके अतिरिक्त अन्य और भी भेद प्रहेलिकाओं के थे, जिनको दुष्ट-प्रयोग और लक्षण-हीन समझ कर नहीं कहा गया है।[१]

अर्थ की उक्त प्रच्छन्नता प्रायः चार प्रकार से सम्भव होती है—

(१) पदों की सन्धि से।

(२) अर्थ-विशेष में रूढ शब्द की भ्रान्ति से।

(३) अन्वय की दुर्बोधता से।

(४) अनेकार्थता से, जो प्रकृति-प्रत्यय आदि से विहित होती है।

प्रहेलिकाओं के लक्षण परस्पर बहुत मिलते-जुलते और अभिन्न हैं। सूक्ष्मेक्षण करने पर उनको पन्द्रह भेदों में भी नहीं बाँटा जा सकता, उनके उदाहरणों से प्रकट है कि वे पद-प्रच्छन्नता के विविध प्रयोग मात्र हैं, भेद नहीं है। जैसे—व्युत्क्रान्ता[२] (अति व्यवहित पदों—दूरान्वय का प्रयोग) और परिहारिका[३] (अनेक पदों के दूरान्वय-योग से इष्ट अर्थ का कथन) के प्रयोग में अर्थ की प्राप्ति के लिए अन्वय तथा पदार्थ के संयोग की ही छानबीन करनी पड़ती है, एक में पदों का अन्वय

---

१. काव्यादर्श ३।१०

साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणाः॥

२. वही, ३।९९

व्युत्क्रान्तातिव्यवहितप्रयोगान् मोहकारिणी ।

३. वही, ३।१०४

योगमालात्मिका नाम या स्यात् सा परिहारिका।

गूढ (छिपा) रहता है और दूसरे में अर्थ का अन्वय। और यह केवल अन्वय का प्रयोग-भेद है, विधा का भेद नहीं है। व्युत्क्रान्ता का उदाहरण है--

दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्टके।
मुखं वल्गुरवं कुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन्॥[1]

यहाँ अन्वय के अतिक्रान्त हो जाने से--हंस पद्मिनी के दण्ड में चुम्बन करता है (दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः)--अर्थ की यह भ्रान्ति होने लगती है, तब सही अन्वय ढूंढना पड़ता है--कर्कशकण्टके दण्डे अंगानि घट्टयन् वल्गुरवं कुर्वन् हंसः तुण्डेन पद्मन्या मुखं चुम्बति।

परिहारिका का उदाहरण है--

विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति॥[2]

यहाँ 'विजितात्म-भवद्वेषि-गुरुपादहत जन' आदि से किसी अर्थ की संगति नहीं बैठती और हमें अर्थ के अन्वय की खोज करनी पड़ती है, जो पदों की संयोग-परम्परा में निहित है, अर्थात्--विजित (विना-पक्षिणा--गरुड से, अमृत के हरण में जो, जितः--विजय किया गया) इन्द्र, उनका आत्मभव--पुत्र अर्थात् अर्जुन, अर्जुन-द्वेषी--कर्ण, कर्ण के गुरु (पिता)--सूर्य, उनका पाद-हत--सूर्य की गरम किरणों से सताया गया, जन--धूप से क्लान्त आदमी, हिमापह--शीत को नाश करनेवाला अग्नि, अग्नि का अमित्र (शत्रु)--जल, उसको धारण करनेवालों (धरैः)--(बादलों) से, व्याप्तं व्योम--भरे हुए आकाश का, अभिनन्दति--अभिनन्दन (स्वागत) करता है।

अन्य प्रहेलिकाओं में भी विधा-गत साम्यता और प्रयोग-गत भेद का यही क्रम है।

समानरूपा प्रहेलिका समासोक्ति[3] अलंकार की विधा के निकट है। उसका लक्षण है--'गौण अर्थ में आरोपित पदों से गुम्फित कथन, जो मुख्य और गौण अर्थ का समान रूप से बोध प्रस्तुत करता है, समानरूपा प्रहेलिका है।'[4] गौण से

---

१. काव्यादर्श ३।११०

२. वही, ३।१२०

३. वही, २।२०५

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षेपरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते॥

४. वही, ३।१००

समानरूपा गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता पदैः।

मुख्य अर्थ का बोध, प्रकारान्तर में अप्रस्तुत (उपमान) से प्रस्तुत (उपमेय) की उक्ति हुई, जो समासोक्ति में होती है। समानरूपा का उदाहरण है—

अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी पंचपल्लवा।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा यस्यां कुसुममंजरी॥[1]

यहाँ उद्यान, उसकी वल्लरी, वल्लरी के पल्लव और ताम्र कुसुममंजरी गौण अर्थ है, जो मुख्य अर्थ—नायिका, उसके हाथ, हाथों की अंगुली और अंगुली के नखों में आरोपित है। यहाँ यही मुख्य अर्थ प्रच्छन्न होने के कारण प्रहेलिका का लक्षण बन गया है।

इस प्रहेलिका का दण्डी के समासोक्ति के साथ जितना साम्य है, उससे अधिक साम्य मम्मट की निगीर्णातिशयोक्ति[2] (रूपकातिशयोक्ति) से है, वस्तुतः दोनों एक हैं। यह उनके निगीर्णातिशयोक्ति के उदाहरण से अत्यन्त स्पष्ट है, जो उक्त प्रहेलिका का-सा ही वस्तु-अर्थ उसी पद्धति में प्रस्तुत कर रहा है—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥[3]

अर्थात् जल-रहित स्थान में कमल है, उस कमल में दो कुवलय खिले हैं, पुनः वे सभी कनकलता में स्थित हैं और वह लता सुकुमार एवं दर्शनीय है। कौन-सी उत्पात-परम्परा यह लता है?

संख्याता, नामान्तरिता और निभृता[4] प्रहेलिकाएँ प्रश्नोत्तर के रूप में, वंचिता, समानशब्दा, संमूढा, परिहारिका, एकच्छन्ना और उभयच्छन्ना[5] गूढ़-पाद के रूप में उनके उन स्वरूपों के निकट हैं जिनका उल्लेख रुद्रट ने किया है।[6]

●

---

१. काव्यादर्श ३।११२
२. काव्यप्रकाश १०।सू० १५३ की वृत्ति
उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका।
३. काव्यप्रकाश १०।४४९
४. दे० काव्यादर्श ३।११४, ११६, ११७
५. दे० वही, ३।१०९, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२
६. दे० काव्यालंकार (रुद्रट) ५।२८-३२

उन्मेष आठ | काव्य-दोष

काव्यशास्त्र के प्रकृत चिन्तन में दोष, उसका कोई विभाग या अंग नहीं है। जिन दोषों का काव्य में न रहने का निर्देश किया जाता है सम्भवतः उनके दो ही प्रकार लक्षित होते हैं---(१) व्याकरण-सम्बन्धी दोष[1] और (२) दूसरा मुख्यार्थ (काव्य के प्रकृत स्वरूप) का विनाश अथवा अनुदात्तीकरण[2]। इन में पहले प्रकार व्याकरण-सम्बन्धी व्युत्पत्ति की हीनता का सम्बन्ध काव्य से जोड़ा नहीं जाना चाहिए, व्याकरण-ज्ञान का अर्थ है भाषा पर अधिकार और जिस कवि का भाषा पर अधिकार होगा वह ही तो काव्य-रचना में प्रवृत्त हो सकता है। समर्थ कवि यदि व्याकरण के विरुद्ध भी कोई प्रयोग कर देता है तो वह अपवाद के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। दूसरे प्रकार के दोष जो काव्य के मुख्यार्थ या उसके प्रकृत स्वरूप की हानि करते हैं, उनकी स्थिति तभी सम्भव है जब काव्य अर्थात् मुख्यार्थ नष्ट होगा, काव्य होगा ही नहीं। काव्य के अभाव में उनको काव्य-दोष की संज्ञा देना ही अनुपयुक्त है। और काव्य यदि अपने स्वरूप में चमत्कृत है तो काव्य की विच्छित्ति की छाया दोष कैसे छू सकेंगे? आचार्य मम्मट ने च्युतसंस्कृति, अवाचक, अविमृष्टविधेयांश, पुनरुक्त और सन्दिग्ध जैसे दोषों के अन्तर्गत जो ख्यातिप्राप्त कवियों के छन्दों को उदाहृत किया है[3], उनके काव्याह्लाद---आस्वादन में सहृदय पाठक को कोई परेशानी नहीं है और न इन रचनाओं को अकाव्य कहा जायगा। दूसरी ओर अनुचितार्थ, नेयार्थ (अर्थव्यक्ति का अभाव) और क्लिष्ट जैसे दोषों के

---

१. काव्यालंकार (भामह) ४।२२

सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद्योऽन्यथा भवेत्।
तनाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा॥

२. काव्यप्रकाश, सूत्र ७१

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥

३. दे० काव्यप्रकाश ७। उदा० १४२, १४८, १४९, १५०, १५९, १६०, १६१, १६२, १८२, १८३, १८४, २५८, २५९, २६२।

उदाहरण में जो छन्द दिये गये हैं,[1] उनमें आह्लादपरक किसी वस्तु-अर्थ की उक्ति के अभाव से उनके काव्यत्व का प्रश्न ही नहीं उठता, तब उनमें शब्द-अर्थ की व्युत्पत्ति से सम्बन्धित दोषों को काव्यदोष की संज्ञा ही क्यों दी जाय? सच बात यह है कि समर्थ कवि की रचना में व्युत्पत्ति आदि से सम्बन्धित दोष उसके चमत्कृत उदात्त काव्य-स्वरूप में ही घुल-मिल जाते हैं।

काव्य-शास्त्र में दोष की इस नगण्य स्थिति के कारण ही आनन्दवर्धन और कुन्तक ने अपने प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थों में इसे स्थान नहीं दिया है। काव्य के जिस शब्द या अर्थ के आश्रित दोषों की स्थिति हो सकती है काव्य के उस शब्द और अर्थ की, कुन्तक ने ऐसी व्याख्या की है कि वहां दोष का नाम लेने का भी अवसर नहीं है। शब्द-अर्थ ही उनका काव्य है—'कवि के वक्र-व्यवहार से युक्त सहृदयों के लिए आनन्दकर रचना-बन्ध के गुम्फन में व्यवस्थित मिले-जुले शब्द और अर्थ काव्य हैं।'[2] आगे पुनः कुन्तक इस शब्द-अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं—सामान्यतया यद्यपि प्रसिद्ध है कि वाच्य अर्थ और वाचक शब्द होता है तथापि इस काव्य-मार्ग में इन शब्द, अर्थ का वास्तविक अर्थ यह है—अन्य पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोध करानेवाला एक शब्द ही शब्द कहा जा सकता है और सहृदयों को आह्लाद देनेवाला अपने बोध में फड़कता हुआ रमणीक अर्थ ही अर्थ है।[3] अर्थात् ऐसा शब्द और अर्थ कभी दोषयुक्त हो ही नहीं सकता एवं न ऐसे शब्द-अर्थ के अभाव में काव्य की स्थिति है। आनन्दवर्धन के मत में भी ऐसे शब्द-अर्थ की खोज ही महाकवित्व है।[4] उन्होंने श्रुतिकटु आदि दोषों को अनित्य माना है और

---

१. दे० काव्यप्रकाश ७। उदा० १४६, १५७, १५८

२. वक्रोक्तिजीवित १।७

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

३. वही, १।८, ९

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥

४. ध्वन्यालोक १।८

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥

केवल ध्वन्यात्मभूत शृंगार में ही उनके प्रति सावधान रहने का निर्देश किया है।[1] और ऐसे स्थलों पर जहाँ अलंकार का निबन्धन रसानुगुण नहीं होता अपने आप रसभंग दोष की स्थिति आ जाती है लेकिन काव्य-बन्धों में ऐसे दोषों के रहते हुए भी कवियों ने अपने सूक्तिचमत्कार से उसे चमत्कृत रखा है।[2] दोषों की इस अनित्य स्थिति ने अन्ततः अनौचित्य की संज्ञा प्राप्त की और आचार्य ने काव्य के आह्लाद-मय स्वरूप को विरस या अनगढ़ न होने देने के लिए कवि को काव्य-रचना के पूर्व उसकी परा उपनिषत् औचित्य का चिन्तन अनिवार्य बताया।[3] कुन्तक ने इस औचित्य को उचित कथन का संयोग मात्र माना,[4] पुनः सिद्धान्त के रूप में इसका तिरोधान करने के लिए ही उन्होंने काव्य के शब्द-अर्थ की विलक्षण परिभाषा (जो पीछे उद्धृत है) प्रस्तुत कर दी, जिसमें औचित्य अपने आप अन्तर्भुक्त हो जाता है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य को नया काव्य-सिद्धान्त निरूपित किया।

काव्यादर्श और भामह के काव्यालंकार को देखने से यह संकेत मिलता है कि इन काव्यदोषों की चर्चा का आरम्भ काव्य-गोष्ठियों में वैयाकरण एवं अन्य शास्त्रज्ञों के प्रवेश से हुआ। भामह के समय न्यायशास्त्र और व्याकरण के प्रति विद्वानों की रुझान अधिक हो चली थी, अतः उन्होंने विस्तार से दो परिच्छेदों में इनसे सम्बन्धित काव्य-दोषों पर विचार किया है। काव्यादर्श में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त न्याय-दोषों का (जो सम्भवतः उस समय आरम्भ हो रहे होंगे) दोष-निरूपण में स्थान नहीं है,

---

१. ध्वन्यालोक २।११

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः॥

२. ध्वन्यालोक २।१९ की वृत्ति

स एवमुपनिबध्यमानोऽलंकारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्त-प्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभंगहेतुः सम्पद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकवि प्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्।

३. ध्वन्यालोक ३।१४ की वृत्ति

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

४. दे० वक्रोक्तिजीवित २।२६, ३।१७

उक्त न्याय-तथ्यों की हानि काव्य में दोष है या नहीं---ऐसे कर्कश विचार को काव्य-चर्चा के ही अनुपयुक्त बताया गया है।[1]

काव्यादर्श में कुल दश काव्य-दोषों का निरूपण है[2], जो चार प्रमुख स्रोतों में विभक्त हैं। उनको विभाग-क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है---

(क) व्याकरण के दोष

१. अपार्थ---समग्र वाक्य-समुदाय में अर्थ के अन्वय का अभाव।

२. शब्द-हीन---व्याकरण के लक्ष्य-लक्षण को उपेक्षित कर पद, वाक्य का प्रयोग।

३. विसन्धिक---छन्द में अक्षर-पूर्ति के लिए संहिता को विवक्षाधीन बता कर सन्धि न करना।

(ख) छन्दःशास्त्र के दोष

४. यतिभ्रष्ट---छन्द के लक्षण के अनुसार छन्द-पाठ में रुकने के लिए स्थान नियत होते हैं, पदच्छेद (पद---शब्द का विराम) भी वहीं होना चाहिए। यदि पदच्छेद उस स्थान को लाँघ जाय तो छन्द में यतिभ्रष्ट हो जायगा।

५. भिन्नवृत्त---छन्द के लक्षण के अनुसार उसमें नियत वर्ण या मात्रा का अतिक्रमण करना।

(ग) काव्य-बोद्धा के बोध-पक्ष के दोष

६. व्यर्थ---एक वाक्य में या प्रबन्ध में परस्पर पूर्वापर-विरुद्ध बातों का कहा जाना।

७. एकार्थ---पहले कही हुई बात को अर्थ से या शब्द से पुनः दुहराया जाना।

८. ससंशय---निर्णय के लिए कही गयी बातों से ही संशय पैदा होना।

९. अपक्रम---विषय या अर्थ के उद्देश्य से कथन में व्यवस्थित क्रम को भंग करना।

---

१. काव्यादर्श ३।१२७

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्॥

२. वही, ३।१२५-१२६

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः॥

(घ) लोक-व्यवहार और अन्य शास्त्रों से सम्बन्धित दोष

लोक-व्यवहार, देश, काल, कला, न्यायशास्त्र और आगम (स्मृति आदि) के विरुद्ध निबन्धन को एक साथ दशम दोष के रूप में गिनाया गया है---

१०. देश-काल-कला-न्यायागम-विरोधि च।[१]

इनमें कला-विरोध विशेष महत्त्व का है, उसका उदाहरण देते हुए कहा गया है कि 'वीर और शृंगार रसों के स्थायी भाव क्रोध और विस्मय हैं। पूर्ण सप्त-स्वरोंवाला संगीत का यह भिन्न मार्ग प्रवर्तित हो रहा है।'[२]

इनमें से प्रथम में नाट्यरसों के गलत स्थायीभाव कहे गये हैं, दूसरे में सप्तस्वरों का सांकर्य होने पर भी भिन्न मार्ग कहा गया है, जबकि भिन्न मार्ग एक से अधिक का सांकर्य होने पर ही नहीं होता---पहला नाट्य-कला विरोध का उदाहरण है और दूसरा संगीत-कला-विरोध का। आगे कहा गया है---'ऐसे ही चौंसठ कलाओं के विरोध को समझना चाहिए, जिनका समग्ररूप से कलापरिच्छेद में निरूपण होगा।'[३]

नाट्य-कला और संगीत-कला के विरुद्धार्थ का जो उदाहरण ऊपर दिया गया है, वह न तो सूक्ति है, न किसी काव्य-प्रबंध का अंश। अतः काव्य के प्रसंग में ऐसे विरुद्धार्थ का कोई महत्त्व नहीं है। इस निरूपण के किये जाने का अर्थ यह है कि उस समय नाट्य-कला और संगीत-कला नागरक समाजों से आगे बढ़कर काव्य-गोष्ठियों का भी सामान्य विषय बन रही थीं।

उक्त दोषों का दूसरा पक्ष भी है अर्थात् प्रसंग विशेष के निबन्धन से वे काव्य के अनुगुण चमत्कार भी पैदा करते हैं, इसीलिए तो काव्य में उनकी अनित्य स्थिति है। इस प्रसंग का एक आकर्षक उदाहरण है, इसमें व्यर्थ दोष का गुणत्व बताया गया है---'मुझ आर्य का दूसरे की स्त्री के लिए अभिलाषा करना कैसे उचित

---

१. काव्यादर्श ३।१२६

२. वही, ३।१७०

वीरशृंगारयोर्भावौ स्थायिनौ क्रोधविस्मयौ।
पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नमार्गः प्रवर्तते॥

३. वही, ३।१७१

इत्थं कलाचतुःषष्टिविरोधः साधु नीयताम्।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति॥

है ? हाय, कब उसके चंचल अधरों का पान करूँगा ?'[1] यहाँ पूर्वापर विरुद्ध बातें कही गयी हैं, लेकिन मूल में वे एक भाव (शृंगार——रति) से ही अनुप्राणित हैं और रमणी के लिए विरह-कातर की इस उक्ति में, जो एक बार शान्त भाव में विवेक है और दूसरी बार शृंगार-भाव में औत्सुक्य, भाव-शबलत्व के कारण विशिष्ट काव्य-चमत्कार आ गया है। इस उदाहरण का महत्त्व यह है कि 'काव्यादर्श' के इस निरूपण के अनुसार ही आगे संचारी भावों की यह बाध्य-उक्ति काव्य का विशेष अनुगुणत्व स्वीकार की गयी।[2]

परवर्ती आचार्यों द्वारा काव्य-दोषों के विवेचन का जो विस्तार हुआ, उसमें इन दश दोषों की कोई गिनती न रह गयी। छन्दःशास्त्र, लोक, काल, देश, न्याय, आगम और कला के दोषों की ओर से आचार्यों की दृष्टि हट गयी, अथवा यह कहना चाहिए कि कवि-समाज स्वतः इनके प्रति जागरूक हो गया, दोष के दो ही स्रोत बाद में रहे——(१) व्याकरण-प्रयोग की मर्यादा (२) काव्य का बोध-पक्ष। इनकी सीमा में पद, पदांश, वाक्य, अर्थ, रस के सम्भावित दोषों का भेद-प्रभेद-सहित लगभग सौ की संख्या में निरूपण हुआ।[3]

●

---

१. काव्यादर्श ३।१३४

परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते।
पिबामि तरलं तस्याः कदा नु दशनच्छदम्॥

२. काव्यप्रकाश सू० ८४

संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्योक्तिर्गुणावहा।

३. दे० काव्यप्रकाश, उल्लास ७

उन्मेष नौ | दण्डी का ऐतिहासिक मूल्य

'काव्यादर्श' में प्रतिपादित काव्यशास्त्र एवं उसकी मान्यताओं की पिछले अध्यायों में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। साथ ही काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक क्रमिक विकास में उपलब्ध विचार और चिन्तन की कसौटी पर दण्डी की मान्यताओं का एवं संस्कृत काव्यशास्त्र की ऐतिहासिक स्थापनाओं का लेखा-जोखा भी होता रहा है। यहाँ दण्डी के मूल्यांकन का एक संक्षिप्त सिंहावलोकन प्रस्तुत किया जाता है।

काव्य-विद्या या सूक्ति-रचना के सम्बन्ध में जिन छिट-पुट विचारों या लक्षणों की चर्चा नागरक अथवा विदग्ध-गोष्ठियों में हुआ करती थी, उन्हें पहली बार एक समन्वित काव्य का आदर्श अथवा शास्त्र का रूप दण्डी ने प्रदान किया। विदग्ध-गोष्ठियों में सम्भवतः तब तक काव्य-रचना का अभिधान सूक्तिमार्ग से हुआ करता था, यह इसलिए नहीं कि काव्य-संज्ञा तब थी ही नहीं, काव्य-संज्ञा के पुरातन होने पर भी काव्य-रचना का लोक-भाषा और लौकिक छन्दों में नया उत्थान हुआ था, उन्मेष--दो में काव्य की इस कहानी पर प्रकाश डाला गया है। लोक-जीवन की गोष्ठियों में उसे काव्य के साथ सूक्ति भी कहा जाता रहा, समुद्र गुप्त के प्रयाग-अभिलेख (३५० ई०) में कहा गया है कि उसकी सूक्ति-मार्ग की रचनाएँ लोक में चाव से सुनी जाती थीं।[1] उस सूक्तिमार्ग को शास्त्रीय काव्यादर्श का रूप देकर दण्डी ने युगान्तरकारी चिन्तक का काम किया। इसके पूर्व नाट्य-विद्या का शास्त्रीय चिन्तन और उसकी प्रतिष्ठा भरत द्वारा हुई थी, काव्य-विद्या की शास्त्रीय प्रतिष्ठा का वही काम 'काव्यादर्श' के रचनाकार ने किया।

काव्यादर्श का महत्त्व पाँच प्रकार से है--

---

१. हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ७३

अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्।
को नु स्यात्रोऽस्य न स्याद्गुणमिति विदुषां ध्यानपात्रं य एकः॥

१. काव्यलक्षण अथवा काव्यशास्त्र का इतिहास कहाँ से आरम्भ होता है, उस इतिहास को मूर्त्त रूप देनेवाले समाज के कौन-से तत्त्व हैं, इस सन्दर्भ के सत्य संकेत काव्यादर्श में मिलते हैं। विदग्ध-गोष्ठी के लिए काव्य-प्रतिभा की आवश्यकता, कवि-मार्गों के कवियों के वैशिष्ट्य की पहचान, नाटक के सन्ध्यंग आदि की भी काव्य में अलंकार-विधा के रूप में स्वीकृति, महाकाव्य में पुराण, राजनीति और कामशास्त्र के विषयों को साज-सँवार कर मुख्यतया निबन्धन और आदि-राजाओं के यशोबिम्ब के लिए वाङमय-आदर्श की कल्पना आदि ऐसे ही विवेचन स्थल हैं। यद्यपि काव्य-रचना और लोक-काव्यरचना की बुनियाद नाटक से पूर्व है तो भी शास्त्रीय निबन्धन नाटक का पहले हुआ, क्योंकि समाज के यज्ञ-समारोहों का स्थान नाटच-समारोहों ने ले लिया था।[1] तब काव्य छोटी-छोटी गोष्ठियों के आश्रय में पल्लवित हो रहा था, नाटक के संवादों में उसकी उपयोगिता थी तो उसका कुछ विवेचन अंग-रूप से नाटचशास्त्र में हो गया। दण्डी को स्वतन्त्र सत्तावाले काव्य का यह अंग-धर्म अभिमत नहीं हुआ, उन्होंने काव्य का प्रामाणिक शास्त्रीय निबन्धन प्रस्तुत किया और नाटच के कुछ लक्षणों को काव्य के अलंकार का ही रूप माना।

२. 'काव्यादर्श' का दूसरा महत्त्व उसके स्वयं के इतिहास-जीवन का है। उसका प्रणयन यद्यपि बहुत पहले हुआ और अपनी लोकप्रियता के कारण वह लोक की काव्य-गोष्ठियों में चर्चा का विषय भी बना रहा, तथापि कुछ राजनीतिक कारण ऐसा था कि नागरक-गोष्ठियों और राजसभा के आचार्यों की विचार-वीथी में उसका अभ्युदय बहुत बाद में हुआ। दण्डी का पहला उल्लेख स्वयंभू कवि (८ वीं शती ई०) ने हरिवंशपुराण तथा पउमचरिउ की प्रस्तावनाओं में किया, पुनः प्रतिहारेन्दुराज (१० वीं मध्य शती ई०) ने अपनी लघुवृत्ति में उपमान के प्रस्तुतीकरण को लेकर, तिङन्त से उपमान नहीं होता है, दण्डी के इस मत का नाम-निर्देश-पूर्वक सोदाहरण उल्लेख किया। इन दोनों उल्लेखों के साथ दण्डी के काव्यादर्श का अनुवाद ९ वीं शती ई० के मध्य में 'कविराजमार्ग' नाम से कन्नड़ भाषा में और 'सियवसलकर' नाम से सिंहली-भाषा में हो चुका था। यह आश्चर्य की बात है कि राजशेखर (१० वीं पूर्वार्ध शती ई०) ने अपने प्रदेश के आचार्य दण्डी का नाम अपनी प्रसिद्ध कृति 'काव्यमीमांसा' में कहीं नहीं लिया है, जब कि कश्मीर के निवासी आचार्य अभिनवगुप्त (१० वीं उत्तरार्ध शती ई०) ने ध्वन्यालोक-लोचन में चम्पू-काव्य के प्रसंग में दण्डी की परिभाषा का ही प्रमाण दिया है—'यथाह

---

१. दे० नाटचशास्त्र, अध्याय १, ४, ३६

दण्डी—'गद्यपद्यमयी चम्पूः। इति' (३।७)।[1] काव्यादर्श की अनेक कारिकाओं को 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोज (११ वीं शती ई०) ने ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है यद्यपि दण्डी के नाम या उनके मत की चर्चा नहीं की है। यह सब देखते हुए दण्डी और उनके काव्यादर्श का इतिहास-जीवन अत्यन्त लोकप्रिय और कौतुकपूर्ण मालूम पड़ता है।

१३ वीं शती ई० में तिब्बत के शोङ-स्तोन् दोर्-ग्यंल (वज्रध्वज) ने काव्यादर्श का अनुवाद भोटभाषा में किया, सम्भवतः बौद्ध आचार्यों के साथ ही 'काव्यादर्श' तिब्बत में पहुँचा और वहाँ वह इतना पसन्द किया गया कि उसका अनुवाद तक भोट भाषा में कर लिया गया। संस्कृत काव्यशास्त्र के किसी अन्य लक्षण-ग्रन्थ को विदेशी भाषा में अनूदित होने का सौभाग्य नहीं मिला है। यह भी एक अद्भुत बात है कि दण्डी ने जहाँ ब्राह्मण-प्रिय राजा के विजयश्री प्राप्त होने पर प्रसन्नता प्रकट की थी[2] वहाँ ब्राह्मण-विरोधी बौद्धों ने ही उनकी कृति का प्रचार-प्रसार किया।

काव्यादर्श के इतिहास-जीवन की उक्त घटनाएँ सामान्य नहीं, विशेष हैं और हमें हठात् अनुशीलन के लिए आकर्षित करती हैं।

३. काव्य में भाषा ही सब कुछ है—इस बात को काव्य के आलोचकों का एक वर्ग आज सिद्धान्त के रूप में रख रहा है। ऐसे आलोचक अपने सिद्धान्त की यथार्थता के पक्ष में कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को भी रखते हैं। हमें यह जानना चाहिए कि कुन्तक की वक्रोक्ति दण्डी के गुण-सिद्धान्त का ही अभिनव उन्नयन है। उन्मेष—दो में हमने भाव और भाषा-कान्ति के प्रसंग में भाषा-कान्ति के जो तीन रूप दिखाये हैं उनमें दूसरा गुण है और अन्तिम है वक्रोक्ति। दण्डी के दश गुणों की मूल प्रेरणाएँ रसवादी के तीन गुणों से सर्वथा भिन्न हैं—यह हम उन्मेष–तीन में दिखा चुके हैं, मम्मट ने काव्य के तीन गुणों, दोषाभावों एवं दोषों में जो दश गुणों का अन्तर्भाव दिखाया है वे दश शब्दगुण और दश अर्थगुण वामन के हैं, दण्डी के नहीं। दण्डी और वामन के गुणों की भिन्नता भी उन्मेष—तीन में दिखायी जा चुकी है, उसे यहाँ पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं है। वामन के गुणों का अन्तर्भाव

---

१. काव्यादर्श की कारिका १।३१ का अंश—

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते॥

२. काव्यादर्श १।४३

एव राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मण-प्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्॥

दिखाने से प्रायः दण्डी के गुणों का भी अन्तर्भाव समझ लिया जाता है, जो गलत है। पण्डितराज ने तो इस प्रसंग में गुणों की नामावली दण्डी की कारिका में प्रस्तुत कर भ्रम पैदा कर दिया है और पुनः कहते हैं---ये दश शब्द गुण हैं और दश ही अर्थगुणों की प्रतिष्ठा की जाती है, नाम वहीं हैं, लक्षण भिन्न हैं।[1] किन्तु उनके इन बीस गुणों के लक्षण वामन के हैं, दण्डी के नहीं। केवल श्लेष के प्रसंग में अपनी अभिमत परिभाषा देने के बाद दण्डी की परिभाषा का उल्लेख मात्र कर दिया है। अर्थात् दण्डी की कारिका उद्धृत हो जाने से वामन के साथ उनके गुणों का भी अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है---यह पण्डितराज का लक्ष्य है। मौलिक तथ्यों का अन्वेषण करनेवाला कोई भी इस पद्धति की सराहना नहीं करेगा।

दण्डी के दशगुण काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य की मौलिक सरणि के उद्भावक एवं दूरगामी प्रभाव रखनेवाली असमान्य घटना है। क्योंकि इसी शब्द-वैचित्र्य-मूलक काव्य के रचना-पक्ष को लेकर कुन्तक ने पुनः वक्रोक्ति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का आधा मूल दण्डी के गुण-सिद्धान्त में ही है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं---

दण्डी के गुणों के दश प्रकार हैं---श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति और समाधि। कुन्तक की वक्रोक्ति के छह प्रकार हैं---वर्ण-विन्यास-वक्रता, पदपूर्वार्ध-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता। पुनः इन वक्रताओं के भेदोपभेदों में ही काव्यशास्त्र की सम्भावित समस्त विधाओं का व्याख्यान हो जाता है। वर्ण-विन्यास-वक्रता का अर्थ है---एक, दो या बहुत से वर्णों का थोड़ा अन्तर दे कर पुनः पुनः गुम्फन।[2] अर्थात् अनुप्रास और तत्समकक्ष पेशलताशालि वर्ण-विन्यास, जिसमें, दण्डी के महाप्राण-अक्षर-प्रधान शैथिल्य-रहित श्लेष, मृदु-विकट वर्णों के संयोग से

---

१. रसगंगाधर (प्रथम आनन) पृ० ६८-६९

जरत्तरास्तु---

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः - कान्तिसमाधयः॥

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति। नामानि पुनस्तान्येव, लक्षणं तु भिन्नम्।

२. वक्रोक्तिजीवित २।१

एको द्वौ बहवो वर्णा बध्यमानाः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरास्त्रिधा सोक्ता वर्णविन्यास-वक्रता॥

अविषम-बन्ध समता, निष्ठुर-अक्षरों से रहित सुकुमारता और माधुर्यगुण का श्रुत्यनुप्रास--एक समन्वित सिद्धान्त का रूप ले लेते हैं। दण्डी के--अर्थ का अनेयत्व धर्म अर्थव्यक्ति, वाणी एवं वर्ण्यवस्तु में रस की स्थिति माधुर्य, उत्कर्षवान् गुण का द्योतक उदारत्व और लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न करनेवाला कन्ति गुणों के लक्षण पदपूर्वार्द्धवक्रता, प्रत्यय-वक्रता और प्रकरण वक्रता में[1] बिना किसी तारतम्य के मिले-जुले हैं। कुन्तक की वाक्य-वक्रता सम्पूर्ण काव्य-वाङ्मय की आत्मा है[2], इसी वाक्य-वक्रता (वस्तुवक्रता) की परिधि में उन्होंने समस्त रस, भाव और अलंकारों का निरूपण किया है; दण्डी का समाधि गुण भी काव्य का सर्वस्व है (तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः १।१०९), समाधि गुण वस्तुतः चेतन के धर्म का अचेतन में आरोप-रूप वैचित्र्य है, इस वैचित्र्य का विस्तार कितना है यह उन्मेष--तीन में स्पष्ट किया जा चुका है। सूक्ष्म तुलना करने पर कुन्तक की वाक्य-वक्रता का बहुत-सा अंश दण्डी के समाधि गुण का ही प्रकारान्तर है अथवा उससे अनुप्राणित है। इस थोड़े से तुलनात्मक-निर्देश का अर्थ केवल यही है कि जैसे सौशब्द्य काव्य ने दण्डी के गुण-सिद्धान्त में विस्तार प्राप्त किया, वैसे ही वक्रोक्ति-सिद्धान्त के मूल-बीज उक्त गुण-सिद्धान्त में निहित हैं। दोनों की अवयवात्मक तुलना नहीं की जा सकती है, मूल बीज और विकसित वृक्ष के रूप में ही दोनों का निदर्शन हो सकता है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में दण्डी की एक और भी विशेषता है। इन गुणों ने ही अपने प्रयोग की भिन्नता के कारण दाक्षिणात्य और अदाक्षिणात्य (पौरस्त्य) कवि-सम्प्रदायों का विभाग किया। उन्मेष--तीन में इस सम्बन्ध में चर्चा की जा चुकी है।

तथा गुणों के ही प्रसंग में दण्डी के आचार्यत्व का अपना एक अन्य वैशिष्ट्य भी है, वे एक ही अर्थ को वैदर्भ तथा गौड मार्ग--दो काव्य-सरणियों के दो काव्य-रूपों में प्रस्तुत करते हैं[3] और प्रयोगात्मक तुलना द्वारा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं। सिद्धान्त की ऐसी प्रयोगात्मक व्याख्या अन्यत्र काव्य-लक्षण-ग्रन्थ में नहीं है।

---

१. दे० वक्रोक्तिजीवित २।९, २६, ३२, ३३, ३।३

२. वक्रोक्तिजीवित ४

एवं सकलसाहित्यसर्वस्वकल्प-वाक्यवक्रता-प्रकाशनानन्तरम्......।

३. दे० काव्यादर्श, परिच्छेद १।४३-४४, ४५-४६, ८२-८४

४. अलंकारों के निरूपण में, दण्डी ने पूर्व आचार्यों के प्रदर्शित बीज-विकल्पों का ही विस्तार किया है, उनका अलंकार-निदर्शन उस समय की काव्यगोष्ठियों का याथातथ्य प्रयोग और उद्भावनाओं की सम्भावित आदि-प्रकृति है। दण्डी ने उसे जैसा का तैसा रख कर काव्य-गोष्ठियों और अलंकारों के इतिहास का एक पृष्ठ सदा के लिए सुरक्षित बचा लिया है। हमें इस पृष्ठ की सहायता से अलंकार-उद्भावना के मूल की खोज में और मूल के विभिन्न स्रोतों की छान-बीन में पूरी सहायता मिलती है।

५. काव्यादर्श का पाँचवाँ महत्त्व उसके उत्कृष्ट काव्य-पक्ष का है। यद्यपि अन्य कवियों के उदाहरण भी काव्यादर्श में हैं, पर वे नहीं के बराबर हैं। लक्षणों के साथ प्रायः सभी के उदाहरण दण्डी के ही हैं। ये उदाहरण अनुष्टुप छन्दों में लिखे गये हैं, आदिकाव्य के अनुष्टुप छन्दों में जैसा उत्कृष्ट काव्यत्व पाया जाता है, वैसे ही काव्यादर्श के इन छन्दों में वैदर्भमार्ग की विशेषताएँ, लालित्य, सुबोधता और भाषा का नाद-युक्त प्रवाह---दण्डी के कवित्व को बहुत ऊँचे प्रतिष्ठित करते हैं।

इन उदाहरणों में वस्तु-वर्णन, ऋतु-वर्णन, राज-वर्णन, ऐतिहासिक प्रसंगों के वर्णन, जीवन की अनुभूतियों के वर्णन और विशेषतः युवा-युवतियों के रति-अनुराग के वर्णन की कारिकाएँ हैं। अनेक अनुष्टुप मुक्तक होकर भी प्रबन्धायमाण हैं। उनकी उत्कृष्टता का प्रमाण यह है कि वे सूक्ति-संग्रहों में अपनी लोकप्रियता के कारण संगृहीत हुए हैं।[१]

इन ऐतिहासिक महत्त्वों और विशेषताओं के साथ काव्यादर्श में सिद्धान्त की दृष्टि से अनुशीलन करने पर कमी या दोष भी हमें दिखायी पड़ेंगे, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है, पुनः उस बात को यहाँ दुहरा दिया जाता है--'काव्यादर्श' का अनुशीलन काव्य-सिद्धान्तों के बोध के लिए नहीं, काव्य-सिद्धान्तों के जन्म की कहानी जानने के लिए ही करना चाहिए।

●

१. दे० शार्ङ्गधरपद्धति ५६९, ५७०, ३०८०, ३३६६, ३३९३, ३३९४, ३६४२, ३९९७, ४०२३

परिशिष्ट—१

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद का कर्तृत्व

काव्यादर्श में कुल तीन परिच्छेद हैं। तीसरे परिच्छेद का विषय यमक, चित्रबन्ध, प्रहेलिका, दोष और दोषाभाव रूप गुणों का निरूपण है। मद्रास की ताड़पत्र पर लिखी पोथी में और एस० रंगाचार्य द्वारा ब्रह्मवादिमुद्रणालय मद्रास से १९१० ई० में प्रकाशित प्रति में दोष और दोषाभाव-गुणों को अलग से चतुर्थ परिच्छेद में रखा गया है।[१] इस प्रकार काव्यादर्श के चार परिच्छेदों की बात भी हमारे सामने है।

उक्त तीसरे परिच्छेद या तीसरे-चौथे परिच्छेद की विषय-सूची का मिलान जब हम ग्रन्थ के आरम्भ में विवेच्य विषय-निर्देश से करते हैं तब दोनों में भेद मालूम पड़ता है। इसके अतिरिक्त तीसरे परिच्छेद की श्लथ भाषा-वृत्ति, जिसमें वैदर्भ वृत्ति का लालित्य नहीं रह गया है, और प्रथम-द्वितीय परिच्छेद के कुछ विधा-अंशों का ही तृतीय परिच्छेद में प्रकारान्तर से प्रस्तुतीकरण—आदि कुछ ऐसे प्रसंग हैं जो हमें यह सोचने को बाध्य करते हैं कि 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद का कर्त्ता क्या वही है, जो प्रथम-द्वितीय परिच्छेद का कर्त्ता है? यह प्रश्न नया है तथा अकाट्य प्रमाणों की अपेक्षा रखता है, फिर भी अनुशीलन में प्रकट ऐसे तथ्य सामने हैं जो उक्त सन्देह को सत्यता में परिवर्तित करते हैं। उनको यहाँ दिया जा रहा है—

विषय-प्रवर्तन का भेद

१. प्रथम परिच्छेद में कारिका २ से कारिका १० तक विवेच्य विषय का निर्देश हुआ है, और वहाँ इन विषयों का नाम लिया गया है—वाणी का सम्यक् प्रयोग[२], काव्य की दुष्टता[३] (अर्थात् गुण-दोष)[४], विचित्र मार्ग,[५] काव्यों के शरीर और अलंकार।[६]

---

१. दे० काव्यादर्श, प्रभाटीका, भूमिका पृ० १ और पृ० ३७४ की पादटिप्पणी।
२. काव्यादर्श १।६— गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
३. वही, १।७— तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
४. वही, १।८— गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
५. वही, १।९— वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।
६. वही, १।१०— तैः शरीरं च काव्यानाम् अलंकाराश्च दर्शिताः।

इस विषय-सूची में चित्रमार्ग अथवा उसके उपभेदों का निर्देश नहीं है। गुण-दोष का जो नाम लिया गया है उसको मार्गों के गुण और तृतीय परिच्छेद में निर्दिष्ट काव्य के दश दोषों से सम्बन्ध नहीं करना चाहिए। वस्तुतः यहाँ गुण-दोष का अभिप्राय मार्गों के गुण और गुणों के अभाव में या उनके प्रयोग में होनेवाले दोषों से है। वे दोष हैं--अनतिरूढ[1], वर्णनाद का वैषम्य[2], बन्धपारुष्य, शैथिल्य[3], ग्राम्यता[4], निष्ठुराक्षर[5], और नेयत्व[6]। दश गुणों के स्वरूप-निदर्शन के साथ इन दोषों का भी विवेचन हो गया है, इनमें से कुछ दोषों का अभाव ही गुण का स्वरूप है, जैसे निष्ठुराक्षर का अभाव सुकुमारता और अर्थ के नेयत्व का अभाव अर्थव्यक्ति गुण है। भामह ने भी काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में इन दोषों में से कुछ का निरूपण वैदर्भ, गौड काव्यों की व्याख्या में और कुछ का ठीक उसी के पश्चात् किया है।[7] अतः दण्डी ने जो 'गुणदोषानशास्त्रज्ञः' का उल्लेख किया है, उसकी व्याख्या प्रथम परिच्छेद में ही गुणों के साथ स्पष्ट हो गयी है, तृतीय परिच्छेद के 'इति दोषा दशैवैते' के साथ वह उल्लेख सम्बद्ध नहीं है।

२. तीसरे परिच्छेद के अन्त में भी निरूपित विषयों की सूची दी गयी है-- 'शब्द-अर्थ की अलंक्रिया, सुकर, दुष्कर चित्रमार्ग और काव्यों के गुण-दोष यहाँ संक्षेप में दिखाये हैं।'[8] इस कथन में गुण-दोष का नाम चित्रमार्ग के बाद लिया गया

---

१. काव्यादर्श १।४६

व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते।

२. वही, १।५०

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरौ।

३. वही, १।६०

इत्यादिबन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति।

४. वही, १।६३

इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय कल्पते।

५. वही, १।६९

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।

६. वही, १।७३

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य......।

७. काव्यालंकार (भामह) १।३५-५९

८. काव्यादर्श ३।१८६

शब्दार्थालङ्क्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह संक्षिप्य दर्शिताः॥

है और इस अभिधान का लक्ष्य काव्य के दश दोषों एवं दोषों के स्थिति-विशेष में गुण-रूप हो जाने से है। काव्यादर्श में मार्ग और उसके दश गुणों का विवेचन मुख्य अभीष्ट है, ग्रन्थ के आरम्भ में इसकी ओर निर्देश भी है लेकिन ग्रन्थान्त की इस सूची में मार्ग और उसके गुण का नाम नहीं लिया गया है, जब कि प्रथम परिच्छेद में विवेचन के उपक्रमों में अभिरुचि-पूर्वक मार्ग का नाम दुहराया जाता है---वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् (१।९), अस्त्यनेको गिरां मार्गः (१।४०), इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् (१।१०१)। तृतीय परिच्छेद के अन्त की सूची में शब्दालंकार से मार्ग और गुणों का निर्देश किया गया है, ऐसा कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि दण्डी के 'काव्यादर्श' के प्रथम-द्वितीय परिच्छेद में कहीं भी शब्द-अर्थ के विभाग में अलंकारों के वर्गीकरण का उल्लेख नहीं है, उन्होंने वस्तुतः मार्ग-विभागार्थ---अलंकार (काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः, २।३) और वाणी के अलंकार (इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः, २।७) का ही निर्देश किया है जो गुणों और उपमा आदि अलंकारों का बोधक है। अलंकारों का शब्द और अर्थ मूलक वर्गीकरण दण्डी के परवर्ती भामह के काव्यालंकार में पहली बार हुआ है।[१] इसलिए तृतीय परिच्छेद के अन्त में निरूपित विषयों की यह सूची ग्रन्थारम्भ में दिये गये विषय-निर्देश से भिन्न है।

३. काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की अन्तिम दोनों कारिकाएँ (३६७–३६८) ग्रन्थ की समाप्ति बतलाती हैं, जिनमें काव्य की सभी वैशिष्ट्य-विधाओं को अलंकार के रूप में ही स्वीकार किया गया है[२] तथा अन्तिम निवेदन जैसा यह कथन है कि 'अलंकारों के भेदोपभेदों का बड़ा विस्तार है, उनको इकट्ठा कर मैंने एक निश्चित सीमा में उनके व्याख्यान का मार्ग प्रकट किया है। वस्तुतः शास्त्र-रूप से अलंकारों का समग्र व्याख्यान नहीं किया जा सकता, उनके विशदीकरण का सही मार्ग

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।१५

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥

२. काव्यादर्श, २।३६७

यच्च संध्यंगवृत्त्यंग - लक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः॥

अभ्यास है।"[1] काव्यादर्श के आरम्भ में व्याख्यान के लिए जो विषय निर्दिष्ट हैं, उनमें अलंकार ही अन्तिम था--'तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः' (१।१०)। अतः अलंकारों का समग्र व्याख्यान कर उक्त रूप में अन्तिम निष्कर्ष दिये जाने के साथ ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

४. तृतीय परिच्छेद की उपसंहार-कारिका में वाणी की तुलना मदिरेक्षणा युवती से की गयी है और स्वयं आयी हुई रमणी की तरह वशवर्तिनी वाणी के साथ रमण एवं समाज में कीर्ति की प्राप्ति कवि के लिए काव्य के दो लाभ बताये गये हैं।[2] काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद की उपसंहार-कारिका से यह कथन बहुत भिन्न पड़ जाता है क्योंकि उसमें ज्ञान एवं अभ्यास से निरलस होकर वाणी (सरस्वती) की उपासना का निर्देश है जिससे विदग्ध-गोष्ठी में बैठने की क्षमता प्राप्त हो और कीर्ति मिले।[3] कहाँ तो वाणी की उपासना का निर्देश, कहाँ युवती की भाँति वाणी के साथ रमण का रूपक। ये दोनों उपसंहार एक लेखक के नहीं हो सकते हैं। कविता और वनिता की समानता पहली बार भामह के काव्यालंकार में कही गयी है[4] और उसी का अनुकरण इस तृतीय परिच्छेद में हुआ।

---

१. काव्यादर्श २।३६८

पन्थाः स एव विवृतः परिमाणवृत्त्या
संहृत्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम्।
वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना—
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान्॥

२. वही, ३।१८७

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोष - गुणयोर्वशवर्तनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम्।

३. वही, १।१०४, १०५

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता।
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

४. काव्यालंकार (भामह) १।१३, ३।५८

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमण्डना॥

५. काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में अनुप्रास को माधुर्य गुण का पोषक बताकर वर्णसंघात की आवृत्ति यमक को नैकान्तमधुर कह कर अनुपयुक्त कहा गया है, वहाँ यह वाक्य है--तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते (१।६१) इसका अर्थ यह किया जाता है कि उसमें निर्भर माधुर्यता का अभाव है इसलिए उसका विचार बाद में करेंगे। और इसी आधार पर हम कहते हैं कि इस कथन में तृतीय परिच्छेद में किये गये यमक-विवेचन के ही प्रति निर्देश है। यहाँ दो बातें हैं--(१) उक्त कारिकार्ध का वह अर्थ संगत नहीं है जो हम करते हैं तथा (२) उक्त कारिका में यमक का जो लक्षण किया गया है, तृतीय परिच्छेद में किया गया यमक का लक्षण उससे भिन्न है। कारिकार्ध की 'विधास्यते' क्रिया में लृट् का प्रयोग अभिज्ञावचन-विषयक (जैसा कि लक्षणकारों ने यमक को माधुर्य से अलग कर दिया था, उसकी स्मृति करते हुए) भूतकाल के लिए है[१] और यमक की यथास्थिति की सूचना है, अतः सही अर्थ यों होना चाहिए--'वह यमक एकान्ततः मधुर नहीं है इसलिए (पूर्व लक्षणकारों ने) उसका निरूपण पश्चात् (अनभिमत रूप में) किया है।' पशचात् के दो अर्थ होते हैं--(१) पश्चिम दिशा (२) अन्तिम।[२] यहाँ पश्चिम दिशा का ही लक्षणया 'अनभिमत' अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। प्रथम परिच्छेद में यमक का लक्षण है--'वर्ण-समूह में दिखायी पड़नेवाली आवृत्ति को यमक जानते हैं।'[३] तृतीय परिच्छेद की परिभाषा इस प्रकार है--'वर्ण-समूह की अव्यवहित और व्यवहित रूप में विशेष आवृत्ति यमक है।'[४] पहले लक्षण से दूसरे लक्षण में नियमों का विस्तार हुआ है और दोनों की भिन्नता स्पष्ट है। अतः प्रथम परिच्छेद में हुई यमक की चर्चा को तृतीय परिच्छेद के यमक-निरूपण से सम्बद्ध करना उचित नहीं है।

६. ताड़पत्र वाली पोथी और एम० रंगाचार्य द्वारा सम्पादित संस्करण में प्रहेलिका-निरूपण के साथ तीसरा परिच्छेद समाप्त हो जाता है, वहाँ उक्त निरूपण

---

१. अष्टाध्यायी ३।२।११२

अभिज्ञावचने लृट्।

२. अमरकोश ३।३।२४३

प्रतीच्यां चरमे पश्चात्.... ॥

३. काव्यादर्श १।६१

आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः॥

४. वही, ३।१

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः।
यमकं तच्च... ॥

की समाप्ति-सूचक कारिकाएँ हैं[1], पुनः चतुर्थ परिच्छेद के विषय––गुण-दोष का एक कारिका में उपक्रम किया गया है।[2] इससे बहुत ही स्पष्ट है कि गुण-दोष का नया उपक्रम कर नया परिच्छेद जोड़ा गाया है। संस्कृत-लक्षण-ग्रन्थों में प्रायः आरम्भ के परिच्छेद में ही निरूपित होनेवाले विषयों की सूचना दे दी जाती है, विषय की नयी सूचना अन्य लेखक द्वारा मिलाये गये क्षेपक का प्रमाण है। यह भी सम्भव है कि यमक, चित्रबन्ध, प्रहेलिका एक लेखक की कृति हो, तथा काव्य-दोषों का निरूपण अन्य लेखक ने किया हो। इस प्रकार पूरा तीसरा परिच्छेद तीसरे-चौथे परिच्छेद के रूप में दो लेखकों द्वारा दो बार में लिखा गया प्रतीत होता है और काव्यादर्श तीन लेखकों की कृति है।

भाषावृत्ति (शैली) का भेद

७. प्रथम परिच्छेद में वैदर्भ मार्ग के प्रति लेखक ने अत्यन्त अभिरुचि प्रकट की है, वह स्वयं वैदर्भ वृत्ति (दाक्षिणात्य कवि-सम्प्रदाय) का कवि है और उसी वृत्ति के अनुरूप उसकी कारिकाओं में कवि-सुलभ प्रौढ़ता के साथ सहज-बोध, प्रवाह और लालित्य मिलते हैं, यह वैशिष्ट्य तृतीय परिच्छेद की कारिकाओं में नहीं दिखायी पड़ता।

यद्यपि हम यह कह सकते हैं कि तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध, प्रहेलिका एवं काव्य-दोषों के उदाहरणके कारण भाषा-लालित्य से युक्त कारिकाओं के लिए

---

१. काव्यादर्श––प्रभा टीका, पृ० ३७३-३७४, ताड़पत्र की पोथी में––

इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मा प्रदर्शितः।
विद्वत्प्रयोगको ज्ञेयो न हि प्रश्नोत्तराश्रयः॥

इत्याचार्य दण्डिनः कृतौ यमकप्रहेलिकाप्रकारो नाम तृतीयः परिच्छेदः॥

एम० रंगाचार्य द्वारा संपादित प्रति में––

इतिप्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः। विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः॥ इति प्रहेलिकाचक्रम्॥

विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकरदुष्करमार्गमवैति हि।
न हि तदन्यनयेऽपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना॥

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे सुकरदुष्करो नाम तृतीय परिच्छेदः॥

२. उक्त दोनों प्रतियों में––

काव्ये दोषगुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः।
दोषा विपत्तयस्तस्य गुणाः सम्पत्तयस्तथा॥

अवसर ही नहीं था तथापि जो कारिकाएँ विषय-निर्वचन के लिए लिखी गयी थीं, उनमें तो वह लालित्य होना ही चाहिए था। परन्तु लालित्य की बात तो दूर रही, छन्दोभंग भी है, जो कि प्रथम-द्वितीय परिच्छेद की कारिकाओं में कहीं देखने को को नहीं मिला। विषय-निर्वचन-सम्बन्धी तृतीय परिच्छेद की इस कारिका को देखिए—

इति पादादियमकविकल्पस्येदृशी गतिः।
एवमेव विकल्प्यानि यमकानीतराण्यपि ॥ (३।३७)

इसके प्रथम चरण का छठवाँ वर्ण लघु है जबकि उसे गुरु होना चाहिए। विषय-निर्वचन-सम्बन्धी प्रथम परिच्छेद की निम्न कारिका से इस कारिका को मिलाइए—

इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल॥
नायकेनव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा। (१।२३-२४)

प्रथम परिच्छेद की कारिका का मृदु-स्फुट वर्ण-विन्यास तृतीय परिच्छेद की कारिका में कहाँ है? जब कि प्रथम परिच्छेद की यह कारिका उदात्त भाषा-वृत्ति की दृष्टि से अपने साथ की अन्य कारिकाओं से अवर है।

एक ही वर्ण्य-विषय के स्वरूप में अन्तर

८. प्रथम परिच्छेद में वराह का वर्णन आया है—'(वराहरूपी) विष्णु ने अपने खुर से चोट पहुँचाये गये साँपों के रक्त से लोहित धरती को समुद्र से निकाला।'[१] यह वर्णन ऐसी प्रतिमाओं को लक्ष्य कर किया गया है जो लेखक के सामने या पूर्व बन रही थीं। बाद में प्रतिमा की रूपरेखा में परिवर्तन हुआ, उदयगिरि में वराह की जो प्रतिमा पायी जाती है, वह उसी परिवर्तित रूपरेखा की है, जिसमें नीचे शेष नाग का आकार बना है और नारी-रूप पृथ्वी वराह की दंष्ट्रा पर है।[२] तृतीय परिच्छेद में भी वराह का वर्णन है, वह वर्णन उदयगिरि की प्रतिमा से ही साम्य

---

१. काव्यादर्श १।७३

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता।
भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति॥

२. भिलसा के पास उदयगिरि में गुहा-मन्दिरों के बाहर इस विशाल वाराहमूर्ति का निर्माण लगभग ४०० ई० में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कराया था। नारीमूर्ति पृथ्वी ध्रुवस्वामिनी का भी प्रतीक है, जिसकी रक्षा चन्द्रगुप्त ने की थी। (भारतीय इतिहास का उन्मीलन, पृष्ठ २१६)

रखता है—'जिस पृथ्वी को वराह ने (समुद्र से) निकाल कर शेषनाग के ऊपर प्रतिष्ठित किया था, (हे राजन्) वही पृथ्वी आज राजसमूह से उद्धारकर आपकी भुजाओं से धारण (पालन) की जा रही है।'[1] इस प्रकार एक ही वर्ण्यवस्तु का ऐतिहासिक सन्दर्भ के दो भिन्न प्रकारों में चित्रण दो भिन्न लेखकों के कृतित्व का मापक है।

विधाओं का प्रकारान्तर से प्रस्तुतीकरण

९. माधुर्य गुण के प्रसंग में दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास को रसावह कहा है[2] और यमक को वर्णसमूह की आवृत्ति के कारण नैकान्तमधुर कह कर उपेक्षित कर दिया है,[3] अर्थात् श्रुत्यनुप्रास उनकी वह अभिमत विधा है जो माधुर्यगुण की सहयोगी है, उसी रूप में उसका प्रयोग उनको इष्ट है। पुनः यह सम्भव नहीं है कि स्थान-नियम के चित्र-बन्ध के रूप में वे श्रुत्यनुप्रास की मधुरता को विकृत करते, जहाँ एक स्थान से ही उच्चरित वर्णों का पूरे पद्य में प्रयोग कर कलाबाजी दिखायी गयी है। यदि श्रुत्यनुप्रास का ऐसा चित्र-प्रयोग प्रथम परिच्छेद के लेखक के सामने रहा होता तो वह माधुर्य गुण के प्रसंग में उसे भी वैसे ही तिरस्कृत कर देता, जैसे यमक को कर दिया है।

१०. इसी प्रकार की स्थिति समानरूपा प्रहेलिका की है,[4] उसमें अप्रस्तुत के वर्णन में ही प्रस्तुत का वर्णन निगीर्ण होता है, वस्तुतः यह विधा आरोपण या संक्षेप उक्ति है। प्रथम-द्वितीय परिच्छेद का लेखक इसे रूपक या समासोक्ति की ही किसी विधा के रूप में प्रस्तुत करता, प्रहेलिका के रूप में नहीं।

उक्त कारण कम से कम इतने पर्याप्त अवश्य हैं जिनसे हमें यह निश्चित धारणा बनानी पड़ती है कि काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद का लेखक वह नहीं है जिसने प्रथम और द्वितीय परिच्छेद लिखा था। प्रथम-द्वितीय परिच्छेद के लेखक

---

१. काव्यादर्श ३।२५

उद्धृत्य राजकादुर्वी ध्रियतेऽद्य भुजेन ते।
वराहेणोद्धृता यासौ वराहेरुपरि स्थिता॥

२. वही, १।५२

३. वही, १।६१

४. वही, ३।११२

निश्चित रूप से दण्डी हैं क्योंकि ग्रन्थ के आरम्भ में उक्त सरस्वती-वन्दना को[१] लेकर दण्डी के लिए नाम-निर्देश-पूर्वक विज्जका ने उपालम्भ दिया है कि 'नीलकमल की पंखुड़ियों के समान श्यामवर्ण मुझ विज्जका को न जानते हुए दण्डी ने झूठे ही सरस्वती को सर्वांग शुक्ल वर्ण कहा है।'[२] तृतीय परिच्छेद का रचना-काल मूल काव्यादर्श से एक शती के बाद होना सम्भव है। अनुमानतः उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि भट्टि, भारवि और भामह के अनन्तर तथा माघ के पूर्व उसकी रचना हुई होगी। माघ के 'शिशुपाल-वध' में चित्रमार्ग की नूतन विधाओं के दर्शन होते हैं जो इस तृतीय परिच्छेद में नहीं हैं। 'काव्यादर्श' काव्य-लक्षण का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है,इसलिए किसी काव्य-गोष्ठी-मर्मज्ञ ने वर्तमान चित्रमार्ग की विधा के विवेचन से पूर्ण कर उसे सर्वांग बनाने का प्रयास किया है। कलाओं के विवेचन से सम्बन्धित चतुर्थ---कला-परिच्छेद भी, वह इस काव्यादर्श में जोड़नेवाला था, या जोड़ चुका था, जैसा कि उसने कला-विरोध के प्रसंग में संकेत किया है।[३]



---

१. काव्यादर्श १।१

चतुर्मुखमुखाम्भोज - वनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ।।

२. शार्ङ्गधर-पद्धति १८०

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता ।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ।।

३. काव्यादर्श ३।१७१

इत्थं कलाचतुःषष्टि-विरोधः साधु नीयताम् ।
तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ।।

परिशिष्ट—२

काव्यादर्श का रचना-काल

डा० सुशीलकुमार डे ने कहा है—'अलंकार-साहित्य के काल-क्रम में 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डिन् का काल-निर्णय एक अत्यन्त कठिन समस्या है।'[१] उनका कहना सत्य था और वह कठिन समस्या कई रूपों में हमारे सामने आती है—

(क) दण्डी और भामह में प्रथम आचार्य कौन है?

(ख) राजशेखर की एक उक्ति दण्डीकृत प्रबन्धों की तीन संख्या के सम्बन्ध में सूक्ति-संग्रहों में मिलती है, वे तीन प्रबन्ध कौन हैं?

(ग) क्या 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' का कर्त्ता एक व्यक्ति है?

(घ) 'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद की २७९ वीं कारिका में समकालिक राजा रातवर्मा का नाम आया है, यह राजा कौन है और इसका समय क्या है?

(ङ) कवयित्री विज्जका ने दण्डी को उपालम्भ दिया है कि 'उन्होंने कुवलय दल के समान श्यामाभ साक्षात् सरस्वती विज्जका को न जानते हुए सरस्वती को शुक्लवर्ण क्यों कहा?' इस विज्जका का समय क्या है? और क्या 'कौमुदी-महोत्सव' नाटक की कर्त्री विज्जका है?

(च) प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन है। पर वाकाटक-सम्राट् दो प्रवरसेनों में वह कौन-सा प्रवरसेन है? दण्डी ने सेतुबन्ध की सूक्तियों की बड़ी प्रशंसा की है। सेतुबन्ध का रचना-काल दण्डी के समय-निर्धारण की पूर्व-सीमा है।

उक्त समस्याओं एवं 'काव्यादर्श' के रचना-काल पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है—

(क) दण्डी और भामह में पूर्ववर्ती कौन है?

दण्डी के 'काव्यादर्श' और भामह के 'काव्यालंकार' में निरूपित विषयों की

---

१. History of Sanskrit poetics Vol. I Page 57.
The date of Dandin, author of the Kāvyādarśa, is one of the most difficult problems in the chronology of Alaṇkāra literature.

साम्यता और कहीं एक दूसरे के मत का खंडन देख कर इनके काल के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करनेवाले विद्वानों के तीन वर्ग बन गये हैं—

(१). वे विद्वान् जो दण्डी को पूर्व मानते हैं—

काव्यालंकार (रुद्रट) के टीकाकार नमिसाधु (११ वीं शती ई०)।

श्री एम० टी० नरसिंह आयंगर (जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी ग्रेट ब्रिटेन, १९०५ ई०), प्रो० ए० बी० कीथ (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर)।

(२) वे विद्वान् जो भामह को पूर्व मानते हैं—

'काव्यादर्श' की हृदयंगमा टीका लिखनेवाले तरुण वाचस्पति (१२ वीं शती ई०)।

श्री के० पी० त्रिवेदी (प्रतापरुद्र-यशोभूषण की भूमिका में), डा० याकोबी, प्रो० रंगाचार्य (काव्यादर्श की भूमिका में), श्री गणपति शास्त्री ('स्वप्नवासवदत्तम्' की भूमिका में), प्रो० पाठक ('कविराजमार्ग' की भूमिका में), डा० सुशीलकुमार डे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स)।

बाद में प्रोफेसर पाठक ने अपना मत परिवर्तित कर दिया और दण्डी को पूर्ववर्ती माना।

(३) जो दण्डी और भामह को समकालीन मानते हैं—महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स)।

यह बात सर्वसम्मत है कि दण्डी और भामह दोनों संस्कृत काव्य-शास्त्र के आदियुग के आचार्य हैं। दोनों में कौन प्राक्तन है इसमें विवाद है। प्राय: यह कहा जाता है कि अमुक स्थल पर भामह दण्डी की आलोचना कर रहे हैं, अथवा दण्डी भामह की आलोचना कर रहे हैं किन्तु न तो भामह ने दण्डी का नाम लिया है और न दण्डी ने भामह का। यह भी सत्य है कि एक ही प्रसंग में और एक ही उदाहरण के सम्बन्ध में दोनों ग्रन्थों में परस्पर विरुद्ध बातें कही गयी हैं। अत: इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि यह वैमत्य दण्डी और भामह का नहीं था वरंच दो काव्य-सम्प्रदायों के अपने-अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं का था, जिसका उल्लेख दण्डी ने गुण-निरूपण के प्रसंग में दाक्षिणात्य और अदाक्षिणात्य (पौरस्त्य) के नाम से किया है, एवं उनकी मान्यताओं के स्वरूपों की भिन्नताओं को भी स्पष्ट किया है। दण्डी के सामने दाक्षिणात्य काव्यसम्प्रदाय की मान्यताएँ बहुत ऊँचे उठ चुकी थीं, पीछे अदाक्षिणात्यों (पौरस्त्यों) के सिद्धान्त का भी विस्तार हुआ और बाद में वह औदीच्य मत के रूप में परिवर्तित हो गया।

यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जहाँ-कहीं दण्डी-भामह का जो विरोध है वह काव्य-सम्प्रदायों की मान्यता का है तो दण्डी के दाक्षिणात्य सम्प्रदाय

की पूर्ववर्तिता और भामह की परवर्तिता अपने आप सिद्ध है, क्योंकि वैदर्भ मार्ग के अनुयायी दाक्षिणात्यों का काव्य-जगत् में अभ्युदय पहले हुआ है, यह न केवल दण्डी के 'काव्यादर्श' से सिद्ध होता है जिसमें वैदर्भ मार्ग के गुणों की संख्या दश है और गौड मार्ग में उससे कम गुण पाये जाते हैं वरंच भामह का 'काव्यालंकार' भी इसका संकेत देता है कि उनके सामने वैदर्भ मार्ग अधिक प्रसिद्ध एवं प्रशंसित था---वैदर्भ-मन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियो परे। (१।३१), जो उनको स्वीकार नहीं था और इसीलिए अपने विरोध के फलस्वरूप वे गौडमार्ग को भी कम अच्छा नहीं समझते थे---गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। (१।३५)

भामह ने गौडीय काव्य को ऊँचा उठाने के लिए उसमें जिन वैशिष्टयों के समावेश की सलाह दी है, वे वैशिष्टय वस्तुतः दण्डी के सामने वैदर्भ काव्य में ही पाये जाते थे---जैसे, अग्राम्यता, अनाकुलता (वर्णों के जटिल बन्ध का अभाव), अर्थ की सम्भावित कल्पना जो लोकसीमा को न लाँघ जाय।[1] और दूसरी ओर गौड-मार्गी कवि आकुल वर्ण-बन्ध, अनुप्रास का आडम्बर, अर्थ में लोकसीमा का अति-क्रमण ही पसन्द करते थे।[2] केवल अग्राम्यता के सम्बन्ध में वैदर्भ और गौड एकमत थे।[3] भामह ने निष्पक्ष होकर गौडीय कवियों को तीनों दोषों से मुक्त होने के लिए सलाह दी है---यदि गौडीय काव्य भी अलंकारवान्, ग्राम्यता-रहित, न्याय्य (लोक-सम्भावित), अर्थ से युक्त और अनाकुल (जटिलता-रहित) है तो अच्छा है।

---

१. काव्यादर्श १।६०, ८३, ८५

इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुंजते।।
इति पद्येऽपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः।
अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा।
कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।।

२. वही, १।५०, ५४, ९२

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरौ।
अवेक्षमाणा ववृधे पौरस्त्या काव्यपद्धतिः।।
इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद् गौडोपलालितम्।।

३. वही, १।६७

खरं प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति।
एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।।

एवं इन विशेषताओं से रहित होने पर वैदर्भ भी अच्छा काव्य नहीं है।[1] इन विशेषताओं के अतिरिक्त वैदर्भ काव्य में श्रुत्यनुप्रास और सुकुमारबन्ध के प्रयोग भी विशिष्ट अभिज्ञान थे जिनकी चर्चा दण्डी ने माधुर्य (१।५२) और सुकुमार (१।६९) गुण के प्रसंग में की है, भामह ने इन विशेषताओं से युक्त वैदर्भ काव्य को केवल श्रुतिपेशल संगीत माना है, काव्य नहीं-- **प्रसन्नमृजु कोमलम्। भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।** (१।३४)

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट है कि दण्डी ने गौड काव्य में जिन अभावों की ओर निर्देश किया था, भामह ने उनको स्वीकार किया और उन अभावों को दूर कर गौडीय काव्य के रूप में सच्चे काव्य का अभिज्ञान प्रस्तुत किया। अपने श्रुत्यनुप्रास तथा कोमलबन्ध के लिए जो वैदर्भ काव्य दण्डी द्वारा प्रशंसित हुआ था, भामह ने उन्हीं विशेषताओं के कारण उसे संगीत (**गेयमिवेदम्**) कह दिया और काव्य नहीं माना। भामह की मनोवृत्ति स्पष्ट है --वे काव्य के क्षेत्र में दाक्षिणात्यों (वैदर्भों) की प्रशंसा और मान्यता का तिरस्कार करना चाहते हैं। गौड कवियों को उनकी तुलना में ऊँचे उठाना चाहते हैं। नहीं तो जहाँ उन्होंने **गौडीयमपि साधीयः**--कहा, वहाँ **वैदर्भमपि साधीयः**--कह सकते थे। काव्य-विद्या के क्षेत्र में वैदर्भों के प्रतिनिधित्व को समाप्त करने का-जैसा उनका संकल्प है। दण्डी अपने काव्यादर्श में वैदर्भ काव्य के प्रति इतने पक्षारूढ नहीं हैं, जितने भामह गौडीय काव्य के प्रति। दण्डी ने दोनों मार्गों की समानताओं का भी उल्लेख किया है, उनके समाधि गुण का अनुसरण सभी कवि करते हैं, न कि केवल वैदर्भ कवि। अर्थात् भामह ने वैदर्भ, गौड मार्गों के सम्बन्ध में दण्डी की मान्यताओं की आलोचना की है, और दण्डी उनके पूर्ववर्ती हैं।

इसी प्रकार भामह द्वारा दाक्षिणत्य काव्य-सम्प्रदाय की मान्यताओं की आलोचना के अन्य प्रसंग भी हैं, जो दण्डी के काव्यादर्श में उसी रूप में निबद्ध हैं, उनमें से कुछ मुख्य प्रसंग ये हैं--

१. दण्डी ने स्वभावोक्ति को आदि और अत्यन्त प्रसिद्ध अलंकार माना है--

स्वाभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ॥

(२।८)

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।

(२।१३)

---

१. काव्यालंकार (भामह) १।३५

अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥

दण्डी की इस मान्यता की उपेक्षा करते हुए भामह ने कहा है––कुछ लोग स्वभावोक्ति को भी अलंकार कहते हैं––

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते। (२।९३)

२. दण्डी का कान्ति गुण वार्ता काव्य में व्यवहृत होता है (१।८५) और गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः। (२।२४४), पद्य इनके कारक-हेतु अलंकार का उदाहरण है।

भामह ने एक ही साथ न तो वार्ता को काव्य माना है और न उक्त उदाहरण में कोई अलंकारता––(क्योंकि उनकी दृष्टि में वह वक्रोक्ति-हीन उक्ति है और दण्डी की मान्यता में वह स्वभावोक्ति से अनुप्राणित है)

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते॥
(२।८६-८७)

३. उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्यों का प्रिय अलंकार है, दण्डी ने न केवल उसका निरूपण किया है, वरंच ऐसे स्थल में जहाँ उपमा की भ्रान्ति हो सकती है उन्होंने उपमा-उत्प्रेक्षा की सीमा-रेखाओं को स्पष्ट कर दिया है––(२।२२६–२३३)

भामह ने सम्भवतः दण्डी के इसी निरूपण से उत्प्रेक्षा को अलंकार स्वीकार कर लिया है, क्योंकि भामह के पूर्ववर्ती मेधावी ने, जिनके मतों का उन्होंने सम्मान के साथ उल्लेख किया है, उत्प्रेक्षा की चर्चा नहीं की है––

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्। (२।८८)

४. दण्डी ने उपमा के चार दोषों की ओर निर्देश किया है––

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥
(२।५१)

और मेधावी ने सात दोषों की ओर। भामह मेधावी के मत को उद्धृत करते हैं––

हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
(२।३९-४०)

जबकि स्थिति यह है कि दण्डी के जैसा उपमा-प्रयोगों का निरूपण किसी ने किया नहीं। अतः मेधावी, जो उपमा के सात दोषों की खोज करते हैं, चार दोषों की ओर

निर्देश करनेवाले दण्डी के परवर्ती हैं और भामह मेधावी के परवर्ती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यालंकार (रुद्रट) के टीकाकार नमिसाधु (११ वीं शती ई०) ने इन आचार्यों का जो क्रमोल्लेख किया है वह बहुत सही है—
ननु दण्डिमेधाविरुद्र-भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि, तत्किमर्थमिदं पुनररिति पौनरुक्त्यदोषं क्रियाविशेषणेन निरस्यन्नाह—'यथायुक्तीति' (१।१२)
और दण्डी सर्वप्रथम आचार्य हैं।

५. दाक्षिणात्य काव्य-सम्प्रदाय की मान्यताएँ गौडों से होकर औदीच्यों में पहुँची हैं। इसका कारण था, पाटलिपुत्र गुप्तसाम्राज्य की राजधानी थी, किसी समय सम्राटों की राजधानी होने के कारण ही उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र में काव्यकारों एवं शास्त्रकारों की परीक्षा होती थी।[1] वैदर्भों का केन्द्र उज्जयिनी है और गौडों का पाटलिपुत्र। गौडीय कवि सर्वथा वैदर्भों के अनुगामी नहीं होते थे, उन्होंने दण्डी के निरूपित उपमा अलंकार के समस्त भेदों को नहीं स्वीकार किया, कुछ को ही स्वीकार किया, जिनको स्वीकार किया, उनकी ही चर्चा, पांचाल (औदीच्य) काव्य-गोष्ठियों में हुई। भामह को दण्डी की मान्यताएँ गौडों के माध्यम से मिली हैं। इसीलिए उन्होंने दण्डी के निरूपित उपमाभेदों में चार का ही नाम-निर्देश पूर्वक खण्डन किया है—

यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।
निन्दाप्रशंसाचिख्यासा - भेदादत्राभिधीयते॥
समानगुण - निर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु।
मालोपमादिः सर्वोऽपि ज्यायान्विस्तरो मुधा॥
(२।३७-३८)

अन्य भेदों को गौडों ने ही न स्वीकार किया होगा अतः भामह के लिए उनके प्रत्याख्यान की आवश्यकता नहीं थी। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दण्डी और भामह के काल का अन्तर एक शती से कम न रहा होगा।

६. पीछे परिशिष्ट—१ में यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है कि 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद भी किसी अन्य की रचना है। अतः उस परिच्छेद में निरूपित यमक को यदि छोड़ दिया जाय तो प्रथम परिच्छेद में दण्डी ने जो यमक को माधुर्य गुण के अनुकूल नहीं कहा है, वह कथन यमक को दण्डी की दृष्टि में हेय नहीं ठहराता, केवल नैकान्तमधुरम् (१।६१) निर्दिष्ट करता है। यह ठीक भी था, क्योंकि

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० १३४-१३५
श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा, श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा।

वैदर्भ जब श्रुत्यनुप्रास के अतिरिक्त वर्णावृत्ति अनुप्रास को भी माधुर्य गुण का पोषक नहीं मानते (१।५५,६०), तब वर्णसंघात की आवृत्ति यमक को उसका पोषक कैसे स्वीकार करते? (१।६१)

भामह के सामने दण्डी की अपेक्षा यमक के गूढ़ रूप प्रयुक्त हो रहे थे, जिसकी उन्होंने निन्दा की है और ऐसे यमक रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' में प्रयुक्त हुए थे—

नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥
(२।१९-२०)

७. दण्डी के सामने अलंकारों का शब्द-अर्थ-गत कोई विभाग नहीं था। उन्होंने काव्यशरीर, अलंकार, मार्ग और गुणों का निरूपण किया है।

भामह के समय तक काव्य-चिन्तन आगे बढ़ चुका था, शब्दालंकार और अर्थालंकार के सौष्ठव को लेकर परपर खींचा-तानी हो रही थी कि कौन श्रेष्ठ है? भामह ने उस खींचा-तानी पर अपना मत व्यक्त किया है—

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥
(१।१५)

८. दण्डी ने प्रेक्षार्थ काव्य के तीन भेदों का ही उल्लेख किया है—

लास्य-च्छलितशम्पादि प्रेक्षार्थम्। (१।३९)

भामह के सामने प्रेक्षार्थ काव्य के अन्य भेदों की भी अवतारणा बहुत स्फुट रूप से हो चुकी थी और उसे नाटक (दृश्य काव्य) के ही समीप माना जा रहा था—

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
(१।१८)

नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः॥
(१।२४)

९. कथा और आख्यायिका के सम्बन्ध में दाक्षिणात्यों तथा गौडों का विवाद रहा होगा। गौड दोनों को अलग-अलग विधा स्वीकार करते थे, उनमें से एक लक्षण यह भी था कि आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है और कथा का दूसरा। दण्डी ने इस विवाद का पटाक्षेप किया और इन दोनों संज्ञाओं को काव्य की एक ही जाति (विधा) स्वीकार की—

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम्॥
(१।२५)

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयांकिता।
(१।२८)

भामह ने दण्डी की मान्यताओं का विरोध किया और आख्यायिका तथा कथा की स्वरूप-भिन्नता को स्फुट रूप में रखने का प्रयत्न किया। लेकिन वस्तुतः वे दाक्षिणात्यों के मान्य आचार्य की स्थापना के विरोधभाव में ही प्रेरित थे, अतः आख्यायिका में जहाँ वे नायक द्वारा अपना इतिवृत्त-कथन उसका लक्षण मानते हैं वहाँ कथा के लक्षण में कहते हैं कि कथा का वक्ता स्वयं नायक नहीं हो सकता, क्योंकि कुलीन व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन स्वयं कैसे करेगा—

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
(१।२६)

स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥
(१।२९)

भामह के निरूपण से एक बात और स्पष्ट होती है कि अब आख्यायिका इतिहास या राजचरितों के वृत्त को लेकर लिखी जाती थी और कथा में आदर्श के अनुसार कल्पित चरित और वस्तु का निबन्धन होता था, जो दण्डी के परवर्ती काल की स्थिति थी।

१०. किसी विधा को पहली बार शास्त्रीय रूप देने में अपने से पूर्व के आचार्यों के निरूपण का आधार लेना पड़ता है, और उसी को विस्तार कर शास्त्रीय रूप दिया जाता है। दण्डी के सामने यही स्थिति थी, वे कहते हैं—'पूर्व के शास्त्रों का संग्रह कर, उनके प्रयोगों को देख कर यथाशक्ति काव्य-लक्षण का विवेचन करता हूँ।' (१।२), 'अलंकारों के भेदों का आज भी विकल्प होता है। विशेष रूप से उनका व्याख्यान भला कौन कर सकता है, किन्तु पूर्व के आचार्यों ने उनके भेद-विकल्पों के बीज का निर्देश किया है, उसी के परिमार्जन के लिए मेरा यह परिश्रम है।' (२।१-२)

किन्तु भामह के समक्ष स्थिति दूसरी थी। काव्यलक्षण को शास्त्रीय रूप मिल चुका था। अतः अब नया आचार्य पूर्व के शास्त्रों के संग्रह करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझ सकता था, संगृहीत शास्त्र में तथ्य एवं अतथ्य के विभाजन तथा स्थापनाओं की नयी सूझ-बूझ की ओर ही उसकी प्रतिभा का झुकाव

होगा। भामह ने अपने ऐसे संकल्प का स्वयं कथन किया है--'मैंने अपनी बुद्धि से स्वयं निश्चय कर वाणी के अलंकार-प्रकार का विस्तार से वर्णन किया है।'[1]

दोनों आचार्यों के ग्रन्थ-निर्माण-सम्बन्धी उक्त संकल्पों को समझते हुए इस निर्णय पर सन्देह ही नहीं किया जाना चाहिए कि दण्डी पहले हुए और भामह बाद में।

ऊपर दण्डी और भामह के ग्रन्थों से विषय-निरूपण, स्थापना और आलोचना के जो अंश उद्धृत हुए हैं उनसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि भामह गौडीय काव्य की उत्कृष्टता स्थापित करना चाहते हैं, जो दण्डी के समक्ष वैदर्भ काव्य से व्यापकता में न्यून था और स्वयं उनकी दृष्टि में अनभिमत काव्य था। भामह ने वैदर्भ (दाक्षिणात्य) काव्य की उन मान्यताओं की आलोचना की है जो दण्डी के काव्यादर्श में स्थापित की गयी हैं। ये तथ्य स्वयं यह इतिहास प्रकट करते हैं कि दण्डी पहले हुए और भामह बाद में।

किन्तु भामह का समय भी कम अनिश्चित नहीं है। प्रेफेसर ए० बी० कीथ और म० म० पां० वा० काणे भामह को ७०० ई० के पहले नहीं मानते। डा० गणेश त्र्यम्बक देशपांडे अपने 'भारतीय साहित्य शास्त्र' में भामह का समय ६०० ई० के आसपास स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भामह का समय बाणभट्ट के पूर्व और दिङ्नाग (४००ई०) के बाद ५०० ई० से ५५० ई० के बीच माना है।[2] अतः दण्डी को इसके पहले होना चाहिए।

राजशेखर की उक्ति--दण्डी के तीन प्रबन्ध

राजशेखर ने अपनी एक उक्ति में दण्डी की प्रशस्ति की है--

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥[3]

यह उक्ति काव्यमीमांसाकार राजशेखर की है, जो वैदर्भ-काव्यपद्धति के अनुयायी

---

१. काव्यालंकार (भामह) ३।३८

गिरामलंकारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।

२. दे० काव्यालंकार (भामह), हिन्दी भाष्य के साथ, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित, पृष्ठ १७५-१७७

३. शार्ङ्गधरपद्धति १७४, सूक्तिमुक्तावली ४।७४

रहे हैं, और जिनकी समाधिगुण-शालिनी रचनाओं की प्रशंसा हुई है। राजशेखर का समय पहले कन्नौज के प्रतिहार नरेशों—महेन्द्रपाल और महिपाल के आश्रय में बीता था। राष्ट्रकूट और कलचुरि नरेशों की सम्मिलित सेना ने जब प्रतिहार-नरेश महिपाल को पराजित किया तब से वे कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी में आकर रहने लगे और यहीं (१० वीं शती ई० के आरम्भ में) काव्यमीमांसा की रचना की।[१] काव्यमीमांसा में उन्होंने कहीं भी दण्डी का नाम नहीं लिया है, न तो दण्डी के नाम से किसी मत-सिद्धान्त का उल्लेख किया है। जब कि त्रिपुरी में रहने और वैदर्भ मार्ग का अनुयायी होने से दण्डी का उल्लेख उनके लिए आवश्यक था। कदाचित् 'आचार्याः' नाम से मतों के निर्देश में उनको दण्डी आदि प्राक्तन आचार्य अभीष्ट रहे हों। हाँ, काव्यादर्श के दीपक अलंकार का एक उदाहरण (चरन्ति चतुरम्भोधि० २।९९) उनकी काव्यमीमांसा में बिना किसी नाम के अनुवृत्ताख्यात के उदाहरण (पृ० ५९) में दिया गया है। सम्भवतः शास्त्रीय ग्रन्थों को लक्षण-ग्रन्थ कहने की परिपाटी है, प्रबन्ध ग्रन्थ कहने की नहीं। अतः उक्त प्रशस्ति में दण्डी के तीन प्रबन्धों के उल्लेख से 'काव्यादर्श' और उसके कर्त्ता दण्डी का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

एक बात और है। राजशेखर की यह प्रशस्ति यथार्थ उक्ति नहीं है। उन्होंने एक ही दण्डी के नाम से ख्यात तीन ग्रन्थों की लोकप्रसिद्धि को अतिरंजना के साथ वर्णन किया है अर्थात् तीनों लोकों में इनकी प्रसिद्धि है—तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव, तीन गुण और दण्डी के तीन प्रबन्ध। और जैसे वेद, देव और गुण के रहस्यों का कोई अन्त नहीं मिलता, वैसे ही दण्डी के नाम से प्रसिद्ध तीनों कृतियाँ भी रहस्यमय हैं। सम्भवतः ये तीन प्रबन्ध हैं—दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरी-कथा और भोज के शृंगारप्रकाश में उल्लिखित द्विसन्धानमहाकाव्य[२] (जो आज मिलता नहीं)। इनमें कोई भी रचना काव्यादर्श के रचयिता की नहीं है और 'द्विसन्धानमहाकाव्य' तो बिल्कुल नहीं, क्योंकि उसमें श्लेष से सम्पूर्ण काव्य का प्रत्येक छन्द रामायण—महाभारत-परक दो-दो अर्थों का बोध कराता है। काव्यादर्श में काव्य के ऐसे जटिल निबन्धन की ओर संकेत भी नहीं है, वहाँ तो श्लेष

---

१. दे० कलचुरि-नरेश और उनका काल, पृ० १६

२. शृंगार-प्रकाश अध्याय ११, (शृंगार-प्रकाश—डा० वें० राघवन्, पृ० ६७८-६७९)

तृतीयस्य (द्विसंधानप्रकारस्य) उदाहरणं यथा दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धान-प्रबन्धौ—रामायणमहाभारतार्थां वनुबध्नाति।

उपमा आदि अलंकारों में विशेषतः वक्रोक्तिमूलक अलंकारों में, श्लिष्टार्थ एक-दो शब्दों के सन्निवेश से छटा उत्पन्न करने के लिए होता है (काव्यादर्श २।३६३)। अवन्तिसुन्दरी-कथा बाणभट्ट (७ वीं पूर्वार्ध शती ई०) के बाद की रचना है[1] और जब दण्डी भामह (५५० ई०) के पूर्व सिद्ध होते हैं तब यह कथा 'काव्यादर्श'-कार दण्डी की कृति कैसे हो सकती है?

अतः राजशेखर की उक्ति को लेकर 'काव्यादर्श' के रचयिता दण्डी की तीन कृतियों की खोज नहीं करनी चाहिए। दण्डी नाम के और भी लेखक थे—सत्य यह है।

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित'

उक्त दोनों ग्रन्थ एक ही दण्डी की कृति माने जाते रहे हैं। सन् १९१५ ई० में श्री गणेश जनार्दन आगशे ने यह प्रश्न उठाया कि 'काव्यादर्श' का रचयिता 'दशकुमारचरित' का लेखक नहीं हो सकता।[2] क्योंकि 'काव्यादर्श' में जिन दोषों से, विशेषतः ग्राम्यता दोष और जटिल शब्द-गुम्फ से काव्य को मुक्त रखने का निर्देश किया गया है, वे सब 'दशकुमारचरित' में पाये जाते हैं। उन्होंने 'काव्यादर्श' का रचना-काल ७वीं शती ई० उत्तरार्ध और 'दशकुमार चरित' का १२वीं शती ई० उत्तरार्ध माना है।[3] यहाँ श्री आगशे महोदय ने 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में चतुःस्थान-नियम शब्दचित्र की चर्चा नहीं की है, जिसका ही पालन कर 'दशकुमारचरित' का सप्तम उच्छ्वास ओष्ठ्य वर्णों से रहित लिखा गया है। इस सम्बन्ध में परिशिष्ट—१ में उल्लेख किया जा चुका है। श्री आगशे महोदय का कथन अपने स्थान पर ठीक है। 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद बाद में चित्र-मार्ग के निरूपण से उसे पूर्ण करने के लिए किसी अन्य द्वारा लिखा गया है और वह प्रथम-द्वितीय परिच्छेद के लेखक दण्डी की कृति नहीं है। तृतीय परिच्छेद का रचना-काल और 'दशकुमारचरित' के लेखक का समय प्रायः

---

१. अवन्तिसुन्दरी कथा, आरम्भ-श्लोक १९ तथा पृ० २०

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः.........॥
न प्रमदस्पृशः कादम्बरी - रसावितृष्णाश्च...।

२. दि इण्डियन एण्टिक्वेरी, मार्च १९१५, में—ह्व रोट दि दशकुमारचरित—नामक लेख, पृ० ६७-६८

३. दशकुमारचरित (बाम्बे संस्कृत सीरीज, द्वि० सं०) भूमिका।

एक ही है। तृतीय परिच्छेद का स्थान-नियम प्रथम परिच्छेद के श्रुत्यनुप्रास-नियम के, जो माधुर्य गुण का सहयोगी है, विपरीत (एवं परवर्ती) पड़ता है और इस श्रुत्यनुप्रास का यही विरोध 'दशकुमारचरित' के ओष्ठचवर्ण-रहित सप्तम उच्छ्वास से है, जो शब्द-चित्र के निदर्शन की ओर उन्मुख है। श्री आगशे महोदय का प्रश्न उचित भूमिका रखता है। और हमें इस सम्भावना की ओर उन्मुख होना पड़ता है कि 'काव्यादर्श' की रचना के कम से कम एक शती के अनन्तर 'दशकुमारचरित' लिखा गया।

डा० रांगेय राघव ने भी श्री आगशे महोदय के कथन को दुहराया है कि 'दशकुमार चरित' का लेखक यथार्थ परिस्थितियों के चित्रण में रुचि रखता है और 'काव्यादर्श' शिष्ट साहित्य के नियम प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है अतः दोनों ग्रन्थ एक ही लेखक की कृति नहीं है। किन्तु डा० रांगेय राघव 'दशकुमारचरित' का रचना-काल छठी शती ई० के बाद नहीं मानते। उनका मत तो यह है कि 'दशकुमारचरित' भास के बाद और कालिदास के पूर्व 'मृच्छकटिक' की समकालीन रचना है।[१]

म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी ने 'दशकुमार चरित' के अष्टम उच्छ्वास में वर्णित राजनीति के आधार पर उसका ऐतिहासिक लेखा-जोखा करते हुए 'दशकुमार चरित' के लेखक दण्डी को ५५० ई० के बाद का नहीं माना है।[२] आगे विवेचन के प्रसंग में यह स्पष्ट हो जायगा कि 'दशकुमार चरित' की रचना के समय देश की राजनीतिक स्थिति में जैसी उथल-पुथल चल रही थी, काव्यादर्श के कुछ प्रसंग उसकी विपरीत स्थिति के द्योतक हैं। मिराशी जी ने अपने उस लेख में काव्यादर्श या काव्यादर्शकृत् दण्डी की चर्चा भी नहीं की है। और हमारी इस स्थापना से उनके लेख का कोई विरोध नहीं होता कि काव्यादर्श की रचना दशकुमारचरित से कम से कम १०० वर्ष पूर्व हुई होगी। अन्यत्र मिराशी जी अपने एक ग्रन्थ 'वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख' में दण्डी को आद्य आलंकारिक स्वीकार करते हैं और उनका यह भी कहना है कि दण्डी ने वैदर्भी रीति को, जो उत्कृष्ट रीति (मार्ग) कह कर स्तुति की है, वह उस इतिहास का परिणाम है जो वाकाटक राजाओं की स्वयं की

---

१. दशकुमारचरित (हिन्दी रूपान्तर) की भूमिका, पृ० २४

२. एनाल्स भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९४५ ई०, म० म० वा० वि० मिराशी का लेख—'हिस्टारिकल डेटा इन दण्डीन्ज दशकुमार चरित', पृ० ३१

संस्कृत काव्य-रचना और संस्कृत-कवियों के आश्रय से निर्मित हुआ है, क्योंकि वाकाटक विदर्भ के शासक थे, अतः विदर्भ के राजाओं से प्रोत्साहित काव्य-मार्ग वैदर्भ मार्ग कहा जाकर आदृत हुआ।[1] अगर हम मिराशी जी की इस स्थापना से सहमत हैं तो काव्यादर्श के रचयिता की तिथि की खोज हमें वाकाटक-सम्राटों के शासन में करनी चाहिए।

रात (राज) वर्मा का उल्लेख

वक्तृप्रेयोऽलंकार का उदाहरण दण्डी ने शिव-भक्त राजा रातवर्मा (राज वर्मा) के स्वकथन के रूप में दिया है—

सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्॥
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्॥
(काव्यादर्श २।२७८-२७९)

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रात वर्मा दण्डी के आश्रय रहे हों। किन्तु यह रातवर्मा कौन थे, इतिहास से इसका पता नहीं चलता, अतः ये कोई माण्डलीक या अधीनस्थ राजा रहे होंगे। यहाँ दो पाठ हैं—रात वर्मा, राज वर्मा। प्रभा टीकाकार ने रातवर्मा पाठ को स्वीकार किया है। किसी के मत से यह उल्लेख पल्लव-नरेश नरसिंह वर्मा द्वितीय (६९०-७१५ ई०) के लिए है, जिसने राजवर्मा का विरुद धारण किया था। किन्तु यह केवल अटकल है, इसकी संगति न समय के विचार से संभव है, न नाम के विचार से।

ऐसी स्थिति में रात वर्मा के उल्लेख से हमें दण्डी के समय-निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती।

---

१. वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, पृ० ७९
श्रीधरदास के 'सदुक्तिकर्णामृत' में युवराज दिवाकर के नाम से एक सुभाषित दिया हुआ है। इस युवराज दिवाकर की पहचान दिवाकरसेन के साथ की जानी चाहिए, जिसके नाम से प्रभावती गुप्ता लगभग तेरह वर्ष तक राज्य-कार्य देखती रही। इससे यह अनुमान होता है कि कुछ वाकाटक राजा स्वयं संस्कृत में काव्य-रचना किया करते थे। वाकाटकों के उदार आश्रय के फलस्वरूप उस काल में विदर्भ में अनेक उत्कृष्ट संस्कृत-काव्यों का निर्माण हुआ होगा। अन्यथा दण्डी जैसे आद्य आलंकारिक अपने ग्रन्थों में वैदर्भी रीति को उत्कृष्ट रीति कह कर स्तुति न करते।

विज्जका और 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक

वस्तुतः काव्यादर्श के लेखक दण्डी हैं, इसकी पहली सूचना हमें विज्जका की निम्न उक्ति से ही मिलती है, जिसमें उसने काव्यादर्श की प्रथम कारिका 'सरस्वतीवन्दना' को लेकर दण्डी को उपालम्भ दिया है--

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥[१]

इस विज्जका का कई नामों से उल्लेख होता है--विज्जका, विज्जाका[२], विजयांका[३], विजया।[४] सूक्ति-संग्रहों में इसके पद्य मिलते हैं। राजशेखर ने इसे कालिदास के अनतर वैदर्भी का श्रेष्ठ कवि माना है।[५] संस्कृत-कवयित्रियों में सबसे अधिक ख्याति इस विज्जका की है। इसीलिए 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की स्त्रीलेखिका को, जिसके नाम के अक्षरों में केवल अन्तिम 'कया'[६] को छोड़कर प्राप्त हस्तलिखित पोथी में शेष सभी कीट-भक्षित हो गये हैं, विज्जका समझा जाता है।

विज्जका ही इस नाटक की रचयित्री है, इसके सम्बन्ध में हमें अधिक तथ्य तब प्रकाश में आते हैं जब हम 'कौमुदीमहोत्सव' के वर्ण्य विषय--इतिहास की घटना का अध्ययन करते हैं। यह तो बहुत निश्चित है कि यह नाटक समकाल की बीती घटनाओं को ही लेकर लिखा गया है जैसा कि उसके इन अंशों से संकेत मिलता है--यतस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य (अंक १), केण कारणेण विरत्ता पकिदिए चंडसेणहदअस्स, तेनैव शीलापराधेन। '' 'तदो तदो कहिं

---

१. शार्ङ्गधरपद्धति १८०, सूक्तिमुक्तावली ४।९६

२. सूक्तिमुक्तावली ४।९६

३. सूक्तिमुक्तावली ४।९३

सरस्वतीव कर्नाटी विजयांका जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥
(राजशेखरस्य)

४. कौमुदीमहोत्सव ४।१९

जयति प्रथमं विजया जयन्ति देवाः स्वयं महादेवः।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्तनारायणौ जयतः॥

५. सूक्तिमुक्तावली, ४।९३

६. कौमुदीमहोत्सव, अंक १ प्रस्तावना,

भवतु, यत्तदस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य (.......) कया निबद्धं नाटकम्....

एरितव्रंगस्स से राअसिरी ? · ·ततः संप्रवृत्ते संग्रामे वधपात्रमप्येनं पुत्रीकृतत्वादप-हस्तयित्वा लिच्छविकुलमन्तःक्षपितवान् देवः। (अंक ४) पुनरपि यदृच्छया गतैस्तापसैर्नीतास्तपोवनमिति पर्यवसिता कथा (अंक ४)। इन उद्धरणों में काले अक्षर के पद वक्ता की आँखों के सामने घटित घटना का संकेत देते हैं। और नाटक की वर्ण्य घटनाओं की पृष्ठभूमि में डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार यह नाटक ३४० ई० में लिखा गया।[1]

डा० जायसवाल ने इस नाटक की चर्चा गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त और उसके पिता चन्द्रगुप्त के इतिहास के प्रसंगों में सर्वथा संशय-रहित मान्यताओं के साथ की है। उस चर्चा के मुख्य भाग ये हैं—'कौमुदीमहोत्सव में वर्णित कल्याण वर्मा की पाटलिपुत्र में राज्याभिषेक की घटना, नाटक-रचयित्री के सामने घटित हुई है और इस कार्य में उसने स्वयं भी हाथ बँटाया है। कल्याण वर्मा का पिता सुन्दर वर्मा वर्णाश्रम धर्म-पालक था, जिसको समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से संग्राम में जीतकर मगध का राज्य ३२० ई० में हस्तंगत कर लिया। 'कौमुदीमहोत्सव' का चण्डसेन चन्द्रगुप्त ही है। उस समय मध्य और दक्षिण भारत में वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन प्रथम का शासन था जो ब्राह्मण-धर्म का समर्थक था। चन्द्रगुप्त की जाति कारस्कर थी, धर्मशास्त्र के अनुसार जिसके यहाँ ब्राह्मणों का जाना तक निषिद्ध था। चन्द्रगुप्त ने जब मगध राज्य को जीत लिया और सुन्दर वर्मा उसमें मारा गया तब सुन्दर वर्मा के एकमात्र शिशु को उसके रक्षक किसी प्रकार बचा कर किष्किवा (पंपासर) ले गये और वहाँ उसका बीस वर्ष तक पालन पोषण किया गया। कल्याण वर्मा के वयस्क होने के साथ उसके हितैषी मंत्रियों ने उसको पुनः मगध राज्य पर अभिषिक्त करने की बात सोची। प्रजा चन्द्रगुप्त को नहीं चाहती थी, उसे अपने राजकुमार के प्रति स्नेह था। सन् ३४० में चन्द्रगुप्त जब विद्रोही शबरों का दमन करने के लिए अमरकण्टक की ओर गया था, कल्याण वर्मा के सहायकों ने प्रजा के सहयोग से पाटलिपुत्र के सुगांग प्रसाद में उसका राज्याभिषेक कर दिया, संभवतः इस कार्य में वाकाटक ब्राह्मण-सम्राट् प्रवरसेन का भी हाथ था और मगध-राज्य के अधिकार से चन्द्रगुप्त च्युत हो गया। कुछ दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो गयी। राज्याभिषेक के साथ कल्याणवर्मा का विवाह मथुरा के राजा कीर्तिषेण की पुत्री के साथ हुआ। सन् ३४४ ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हो गयी। तब चन्द्रगुप्त के होनहार उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को पुनः मगध पर अधिकार करने और पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने का अवसर मिल गया।

---

१. अंधकारयुगीन भारत, पृ० २५६

उसने मगध को विजय करने के लिए सेना भेज दी और स्वयं कौशाम्बी में उन राजाओं के साथ युद्ध किया जो कल्याण वर्मा की सहायता के लिए जा रहे थे--(गणपति नाग, नाग सेन, अच्युतनन्दी, बलवर्मा) और सभी युद्ध में मारे गये। मगध का कल्याण वर्मा (जिसे समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख में कोतवंश का राजा कहा गया है, उसके नाम वाला अंश अभिलेख में नष्ट हो गया है) खेल ही खेल में पकड़ लिया गया। और इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने पिता के राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया।[1]

डा० जायसवाल ने 'कौमुदीमहोत्सव' के आधार पर जिस इतिहास की खोज की है उसमें संशय का स्थान नहीं है और यह नाटक ३४० ई० में लिखा गया। किन्तु कुछ विद्वानों ने, जिसमें श्री विण्टर निट्ज भी हैं, इस नाटक को बहुत बाद की रचना माना है। पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने श्री विण्टरनिट्ज के समर्थन में 'दि डेट आफ कौमुदीमहोत्सव'[2] नाम से एक लम्बा लेख लिखा है और इस नाटक को आठवीं शती ईसवी से पूर्व की रचना नहीं स्वीकार किया है। वे डा० काशी-प्रसाद जायसवाल के इस नाटक के आधार पर किये गये ऐतिहासिक उन्मीलनों को भी असत्य ठहराते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि श्री चट्टोपाध्याय जी पूर्वग्रह से युक्त होकर इस विवेचन में प्रवृत्त हुए हैं और प्रत्येक ढंग से अपनी ही बात सिद्ध करना चाहते हैं। जैसे उनका एक विशेष आग्रह यह है कि 'कौमुदी महोत्सव' के प्रथम मंगल-श्लोक[3] में, जो शिव की वन्दना में कहा गया है, प्रयुक्त पद—

---

१. दे० अन्धकारयुगीन भारत, पृ० २०७, २४८-२४९, २५६-२५७; २८९-२९२ और दे० हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स (समुद्रगुप्त का अभि-लेख) पृ० ७३, ७४

रुद्रदेव-मतिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म-गणपतिनाग - नागसेनाच्युतनन्दिबलव-र्माद्यनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्त-प्रभावमहतः।

दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता सूर्ये नित्य.....

२. देखिए, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली, वाल्यूम १४ (सन् १९३८) पृ० ५८२-६०६

३. कौमुदीमहोत्सव १-१

श्रीमद् वैयाघ्रचर्मास्तररचिततले स्थण्डिले संनिषण्णः
कृत्वा पर्यंकबन्धः फणमणिकिरणक्षारिणा तक्षकेण।
नानात्वग्रन्थभेत्रीं धियमिव विकिरन् दन्तकान्तिच्छलेन
ब्रह्मव्याख्याननिष्ठस्तव भवतु तमःकृत्तये कृत्तिवासः॥

'श्रीमद्वैयाघ्रचर्मास्तररचिततले स्थण्डिले संनिषण्णः' और 'ब्रह्म-व्याख्यान निष्ठः' --आदि-शंकराचार्य की ओर लक्ष्य करते हैं, और आदि शंकराचार्य का जन्म ७८८ई० अथवा ८०५ ई० में माना जाता है, अतः यह नाटक आठवीं शती ईसवी के बाद लिखा गया। उक्त सम्भावना युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मव्याख्यान-निष्ठः' से शंकराचार्य की ओर लक्ष्य समझा जाता है तो **वेदान्तेषु यमाहुरेक-पुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी**[1] कालिदास के इस मंगल-श्लोक में 'वेदान्तेषु' पद का प्रयोग भी वैसी भ्रान्ति पैदा कर सकता है। जैसे शंकराचार्य के लिए ब्रह्म-व्याख्यान करने की कल्पना की जा सकती है वैसे ही वह भगवान् शंकर के लिए भी संभव है। बृहत्कथा की अद्भुत विद्याधर-कथाएँ शिव के मुँह से ही निःसृत हुई हैं। वेदान्त और ब्रह्म की व्याख्या उपनिषत्-काल से ही लोक-प्रसिद्ध विषय रहे हैं। पं० चट्टोपाध्याय जी नाटक में वर्णित घटनाओं को लेखिका के समक्ष घटित नहीं मानते हैं, इस सम्बन्ध में पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि नाटक के पात्रों के संवादों में वर्णित घटनाएँ नाटकीय भूमिका में नहीं, ऐतिहासिक भूमिका में आती हैं। नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार बहुत स्पष्ट शब्दों में कहता है--'जो इस राजा के बीते हुए चरित को लेकर(. . .)द्वारा रचित नाटक को।'[2] वह राजा कल्याण वर्मा है, जिसका राज्याभिषेक और विवाह इस नाटक में वर्णित है और चौथे अंक में उसके बाल-जीवन की विपत्तियों की भी चर्चा की गयी है।

पं० चट्टोपाध्याय जी का यह भी कहना है कि यह पांचाली रीति की रचना है। पर हम उसमें दण्डी के निरूपित वैदर्भ-मार्ग के ही लक्षण पाते हैं और क्योंकि यह नाटक पाटलिपुत्र के लिए लिखा गया था अतः लेखिका ने इसकी प्रस्तावना में गौड-सम्मत अनुप्रास-युक्त माधुर्य गुण के एक उत्तम श्लोक का निबन्धन कर दिया है--(कृष्णशाराम्०)।[3]

नाटक के चौथे अंक में जब कल्याणवर्मा पाटलिपुत्र में प्रवेश करता है, उसका स्वामिभक्त मंत्री मन्त्रगुप्त प्रसन्नता में विजया देवी की भी जयकार करता

---

१. विक्रमोर्वशीय १।१

२. कौमुदीमहोत्सव, प्रस्तावना

भवतु यत्तदस्यैव राज्ञः समतीत चरितमधिकृत्य (....) कया निबद्धं नाटकम्।

३. कौमुदीमहोत्सव १।३

कृष्णशारां कटाक्षेण कृषीबल - किशोरिका।
करोत्येषा कराग्रेण कर्णे कलम - मंजरीम्॥

है, यह विजया कोई देवता नहीं है और न नाटक में इसके पूर्व और बाद में कहीं इसका उल्लेख हुआ है, यह नाटक की कर्त्री विजया (विज्जका) ही है, जो पंपासर कर्णाटक प्रदेश से आकर कल्याण वर्मा के साथ पाटलिपुत्र में प्रवेश कर रही है, और कल्याण वर्मा के राज्याभिषेक कराने में जिसका हाथ रहा है, उसका जो स्वागत पाटलिपुत्र की जनता ने किया होगा उसी की एक झलक नाटक के निम्न श्लोक में उसने चित्रित कर दिया है—

जयति प्रथमं विजया जयन्ति देवाः स्वयं महादेवः।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्तनारायणौ जयतः॥ (४।१९)

अतः 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की लेखिका विज्जका ही है और इसकी रचना ३४० ई० में समुद्रगुप्त के अभ्युदय के पूर्व हुई।

विज्जका दण्डी के समकाल की है। दण्डी की सरस्वती-वन्दना को लेकर उसने जो उपालम्भ दिया है उसमें यह सूचित होता है कि दोनों एक दूसरे से परिचित थे। वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन प्रथम के किन्हीं अधीनस्थ राजाओं के दोनों आश्रित थे और यह सम्भव है कि दण्डी के आश्रय रातवर्मा रहे हों। कल्याण वर्मा के अभ्युदय के लिए विज्जका ने जो प्रयास किया है उसमें दण्डी का भी सहयोग हो सकता है। कौमुदीमहोत्सव में कल्याणवर्मा के अभ्युदय के लिए जैसी प्रसन्नता व्यक्त की गयी है—

प्रह्वानां नयनमहोत्सवः प्रजानां
सम्प्राप्तो मगधकुलांकुरः कुमारः॥[1]
प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्।[2]

अर्थात् अनुरागी प्रजा की आँखों के उत्सव मगध राजकुल के अंकुर राजकुमार आ गये।...जिसने वर्णाश्रम धर्म का मार्ग पुनः प्रकट किया और चंडसेन के राजकुल का उन्मूलन किया (उस राजकुमार कल्याणवर्मा को)।

दण्डी का निम्न श्लोक भी उसी प्रसन्नता को लेकर लिखा जान पड़ता है—

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत्॥[3]

अर्थात् ब्राह्मण-प्रिय इस राजा ने जब से राज्यलक्ष्मी प्राप्त की, तब से प्रजा के बीच धर्म (वर्णाश्रमधर्म) के उत्सव आरम्भ हो गये।

और इस प्रकार दण्डी तथा विज्जका एक काल के ही निश्चित होते हैं।

---

१. २. कौमुदीमहोत्सव ४।१८, ५।१
३. काव्यादर्श १।५३

'सेतुबन्ध' और प्रवरसेन

'सेतुबन्ध' की सूक्तियों की दण्डी ने बड़ी प्रशंसा की है। 'सेतुबन्ध' महाराष्ट्री प्राकृत का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसका रचयिता विद्वत्-जन कालिदास को मानते हैं, जिसने वाकाटक-सम्राट् द्वितीय प्रवरसेन के लिए इसको लिखा था। द्वितीय प्रवरसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पुत्र था, प्रभावती का विवाह वाकाटक-सम्राट् रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। विद्वानों की यह भी कल्पना है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने कालिदास को प्रवरसेन की शिक्षा-दीक्षा के लिए भेजा था। यह समस्त सम्भावना इस पर आधारित है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सभा-कवि थे।

किन्तु दूसरा पक्ष भी है। वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन प्रथम अत्यन्त प्रतापी शासक हुआ, है उसने ६० वर्ष तक राज्य किया (२८४–३४४ ई०)। उसके किये गये चार अश्वमेध यज्ञों की सूचना है।[१] उसने सिन्ध शक-स्थान को भी अपनी सेनायें भेजी थीं।[२] वाकाटक-नरेश जाति से ब्राह्मण थे और उनका गोत्र विष्णुवृद्ध था।[३] 'सेतुबन्ध' का आरम्भ विष्णु की वन्दना से होता है। 'सेतुबन्ध' में राम की जिस विजय की और जितने विस्तार से गाथा गायी गयी है वह सब सम्राट् प्रवरसेन की विजयों और विक्रमों का ही प्रकारान्तर से गुण-गान है। वायुपुराण में भी प्रवरसेन की चर्चा प्रवीर नाम से की गयी है।[४] इसलिए सेतुबन्ध की रचना ३४० ई० के पहले वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन ने या उनके नाम पर किसी सभा-कवि ने की। यथा कालिदास के रघुवंश की दिग्विजय किसी समाट् के विजय-गान का प्रकारान्तर है वैसे ही सेतुबन्ध की प्रबन्ध-कल्पना में भी संग्राम तथा विजय का निबन्धन किसी यशस्वी सम्राट् के विक्रम के इतिहास की अन्तरित कहानी है। वह प्रवरसेन द्वितीय के लिए सम्भव नहीं है, जो गुप्त-सम्राट् की कृपा के आश्रित था।

३४४ ई०[५] में सम्राट् प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद समुद्रगुप्त का अभ्युदय

---

१. अन्धकारयुगीन भारत, पृ० १४३

२. भारतीय इतिहास का उन्मीलन, पृ० २०६

३. अन्धकारयुगीन भारत, पृ० १४४, २४९

४. वायुपुराण ९९।३७१-३७२

५. म० म० वा० वि० मिराशी के मत से यह तिथि १४ वर्ष पूर्व ३३० ई० होनी चाहिए। दे०, वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख, पृष्ठ १०, २५

हुआ। ३४० ई० में मगध में कल्याणवर्मा का अभिषेक हुआ था। जैसा कि डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है गुप्त-नरेश कारस्कर जाति के थे, अतः प्रथमतः ब्राह्मणों की दृष्टि में उनके प्रति आदर नहीं था। समुद्रगुप्त की विजय के बाद भी, जो ३४४ ई० में हुई, उसको नीचा दिखाने के लिए प्रयत्न राजाओं द्वारा हुए होंगे। 'काव्यादर्श' के व्यतिरेक अलंकार के उदाहरण में तीन श्लोक ऐसे आते हैं जिसमें वर्णनीय राजा की सागर से उत्कृष्टता दिखायी गयी है, एक श्लोक में स्पष्ट ही समुद्र नाम आया है, यह बहुत सम्भव है कि दण्डी ने अपने आश्रय राजा की यह प्रशंसा समुद्रगुप्त की तुलना में की हो—

धैर्यलावण्यगाम्भीर्य - प्रमुखैस्त्वमुदन्वतः।
गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते॥
अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि।
असावञ्जनसंकाशस्त्वं तु चामीकरद्युतिः॥
त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ।
अयं तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान्॥[1]

अतः यह निश्चित होता है कि दण्डी ने अपना 'काव्यादर्श' समुद्रगुप्त के इसी अभ्युदय के आस-पास लिखा होगा। अभी पीछे वाकाटक राजाओं द्वारा संस्कृत-काव्य को प्रोत्साहन, वैदर्भी रीति की प्रतिष्ठा और दण्डी द्वारा वैदर्भी रीति की स्तुति के समर्थन में म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी के अभिमत का उल्लेख किया गया है। उनके विचार से सहमत होकर हमको 'काव्यादर्श' के प्रणेता दण्डी की तिथि वाकाटक-शासन में अनुसन्धान करनी चाहिए और यदि उस तिथि का सम्राट्-प्रवरसेन प्रथम के शासन में युक्तियुक्त मेल बैठ जाता है तो वैदर्भी रीति की प्रतिष्ठा को ७० वर्ष और पीछे ले जा कर इस तथ्य को स्वीकार कर लेने में कोई हानि नहीं है, काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का इतिहास बनने में शती बीत जाती है। दिवाकर सेन (४०५-४२० ई०) के समय में वैदर्भी रीति की प्रतिष्ठा मिराशी जी तो स्वीकार करते ही हैं।[2]

विज्जका की भी एक राजस्तुति प्राप्त होती है, जिसमें उसने अपने वन्दनीय राजा को चन्द्र-सूर्य-वंशियों से अधिक माना है और एक मात्र पृथ्वी का भर्तार कहा

---

१. काव्यादर्श २।१८१, १८३, १८५
२. दे० वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, पृष्ठ ७९

है, अंग देश से लेकर कुन्तल, चोल तक जिसका राज्य है।[1] यह स्तुति सम्राट्-प्रवरसेन प्रथम पर घटित होती है। दूसरा ऐसा कोई सम्राट् इस बीच नहीं हुआ, जिसका प्रताप दक्षिण चोल -कुन्तल से लेकर अंग देश तक रहा हो।

दण्डी का वराह-वर्णन

उक्त विवेचनों के साथ एक और आधार दण्डी के काल-निर्णय में सहायक होता है. वह है उनका वराह-वर्णन। अर्थव्यक्ति गुण के उदाहरण में उन्होंने लिखा है—

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता।
भूः खुरक्षुण्ण-नागासृग्लोहितादुदधेरिति ।।[2]

अर्थात् 'वराह विष्णु ने अपने खुर के आघात से आहत साँपों के रक्त से लोहित पृथिवी को समुद्र से निकाला।' आगे वे कहते हैं कि यदि यहाँ पर केवल इतना कहा जाय—

मही महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः।[3]

अर्थात् 'महावराह विष्णु द्वारा लोहित पृथ्वी समुद्र से निकाली गयी।' तब

'नेयत्वमुरगासृजः'[4]

'साँपों के रक्त' का अध्याहार वहाँ करना पड़ेगा। वराह के पृथ्वी उद्धार-वर्णन में इतने वस्तु-विन्यास के प्रति आग्रह का जो संकेत दण्डी ने किया है उसका अर्थ है कि वराह की ऐसी वस्तु-विशिष्ट मूर्ति की कल्पना और निर्माण उनके समक्ष था, जो पीछे उपेक्षित हो गया। उदयगिरि (भिलसा) में वराह की जो मूर्ति (४०० ई०) पायी जाती है, जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने करवाया था,[5] उसमें नीचे केवल शेषनाग को उट्टंकित किया गया हैं। परवर्ती काल में भी

---

१. सुभाषितावलि २५१५, सदुक्तिकर्णामृत १४४१

भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नाम नासादिता,
भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देव मन्यामहे।
येनांगं परिमृज्य कुन्तलमथाकृष्य व्युदस्यायतं,
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना कांच्यां करः पातितः।।

२. काव्यादर्श, १।७३

३. वही, १।७४

४. वही, १।७४

५. भारतीय इतिहास का उन्मीलन, पृ० २१६

वराह का जो वर्णन आता है वह इतना वस्तु-विशिष्ट नहीं है, जितना दण्डी का उक्त वर्णन। प्रकट है कि दण्डी का वराह-वर्णन ४०० ई० से पहले का है।

इन समस्त विवेचनों से अन्त में हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं—दण्डी भामह के पूर्ववर्ती हैं। उनकी एकमात्र रचना 'काव्यादर्श' है। वे विज्जका के समकालीन हैं और विज्जका 'कौमुदी महोत्सव' नाटक की लेखिका है। प्रवरसेन प्रथम ने ही 'सेतुबन्ध' की रचना की या करायी होगी। दण्डी के समक्ष वराह की मूर्तियाँ जैसी बनती थीं, उनमें परिष्कार करके ही उदयगिरि (भिलसा) की वराह मूर्ति (४०० ई०) का निर्माण हुआ है। अतः दण्डी के काव्यादर्श की रचना का काल ३४० ई० से ३५० ई० के बीच होना चाहिए। यह समय संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास-सम्बन्धी पर्यालोचन में भी दण्डी के मार्ग-गुण-विवेचन को देखते हुए ठीक जँचता है। यतः दण्डी और विज्जका दोनों समुद्रगुप्त के विरोध में मगध के राजा कल्याणवर्मा के समर्थक थे, ये दोनों जिस राज्य के थे और जिस राजा के आश्रित थे उनका भी पराभव समुद्रगुप्त के द्वारा हो गया होगा, प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु (३४४ ई०) के बाद वाकाटक-नरेश निर्बल हो गये, अतः इन दोनों के लिखे ग्रन्थों को समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के सामने राजसभाओं में आदर न प्राप्त हुआ और ये शताब्दियों तक विद्वानों के पास उपेक्षित पड़े रहे।

●

परिशिष्ट—३

काव्यशास्त्र का विच्छिन्न अध्याय काव्य-लक्षण

नाट्यशास्त्र में ३६ काव्य-लक्षणों का वर्णन आया है।[1] डाक्टर गणेश त्र्यम्बक देशपांडे इन काव्यलक्षणों से ही अलंकारों का विकास मानते हैं,[2] दण्डी के '**यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्**' से भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

वास्तविक बात यह है कि छत्तीस लक्षणों की उद्भावना नाट्य-संवादों के प्रकार के रूप में कभी (सम्भवतः ई० पू० की शताब्दियों में) की गयी थी। और उनका उपयोग नाट्य-संवादों, कथा-संवादों में तब तक होता रहा है जब तक नाट्य कला शास्त्रीय होकर कवियों के हाथ में नहीं पहुँच गयी। भट्ट तौत ने और अभिनवभारती लिखते हुए उनके शिष्य अभिनव गुप्त ने जब इनकी व्याख्या की ओर ध्यान दिया तब पुनः इनकी विवेचना की ओर दृष्टि गयी।

ये लक्षण प्रदेश विशेष की नाट्यगोष्ठी की उद्भावना थे, नाट्यशास्त्र में यदि इनका लक्षण निबद्ध न कर दिया गया होता तो हम इनकी रूप-रेखा से भी न परिचित होते। फिर भी नाट्यशास्त्र में इनके उदाहरण नहीं है। प्रदेश विशेष की नाट्यगोष्ठी में इनकी उद्भावना हुई और वहीं से ये भुला भी दिये गये। नाट्यकला जब कवि के हाथ में आयी तब उसने संवादों में अलंकारों और गुणों का निबन्धन किया, लक्षण की ओर उसका ध्यान भी नहीं गया।

अतः लक्षणों से अलंकारों का विकास हुआ—ऐसा कहना अटकल मात्र ही है। लोकनाट्य के साथ लोककथा-प्रबन्धों में भी ये कभी अपनी प्रियता रखते थे, क्योंकि स्वयम्भू (८ वीं शती ईसवी) और अब्दुर्रहमान (११ वीं शती ई०)

---

१. दे० नाट्यशास्त्र, अध्याय १७

२. भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० ७४-७५

दोनों ने लक्षण का उल्लेख अलंकार से अलग किया है।[1] यदि लक्षणों को लेकर अलंकारों का विकास हुआ होता तो पुनः अलंकार के साथ लक्षण की सत्ता क्यों बनी रहती? दण्डी ने भी उपेक्षा के साथ इस लक्षण का उल्लेख वहाँ किया है जहाँ काव्य के निरूपित अलंकारों के अतिरिक्त नाट्य की अन्य सभी विधाओं को भी वे अलंकार के रूप में ही स्वीकार करते हैं।[2]

अभिनवगुप्त ने लक्षणों की स्थिति के सम्बन्ध में दश प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख किया है जो अतीत के शास्त्र का उद्धार-जैसा लगता है। चन्द्रालोक और साहित्यदर्पण में उनकी जो परिभाषाएँ तथा उदाहरण हैं वे शब्द-अर्थ के उक्तिविशेष, विशेषण-विशेष्य आदि से कुछ अधिक नवीनता नहीं रखते, जो काव्य के विकसित सिद्धान्तों की तुलना में पीछे छूटे हुए विस्मृत अध्याय का परिचायक है।



---

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० २२ (पउम चरिउ—स्वयम्भू)

णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु॥
णउ भामह दंडिय लंकारु॥

सन्देश रासक—(प्रस्तावना—६, अब्दुर्रहमान)

अवहट्ठय-सक्कय पाइयंमि-पेसाइयंमि भासाए।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥

२. काव्यादर्श २।३६७

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ऐतिहासिक नाम, काव्यशास्त्रीय शब्दावली

(अंक पृष्ठ-संख्या के द्योतक हैं)

अ

अंगहार--२३४.

अक्कादी साहित्य--२०७.

अक्षरमुष्टिका कथन--२१२.

अग्नि--४८-५८, ११९, २०९.

अग्निपुराण--४१, २५१.

अग्राम्यता--१३६, १७२-१७३, २६७, ४११.

अग्राम्यसूक्ति--२८५.

अच्युतोत्तर (काव्य)--४१५.

अतिशय (अलंकार वर्ग)--१६८, २८०, २८७, २८८.

अतिशयोक्ति--१८२, २५९, २६३, २७१, २७२, २७३, २७७, २८२, २९४, २९६, २९७, ३०३, ३२८, ३३२, ३४०, ३५१, परिभाषा--३६८.

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि--१०८, ३६२.

अत्युक्ति--१३३, १३९, १७२-१७३.

अदाक्षिणात्य--३३, १०१, १३८, ३९८, ४१०

अद्‌भुत रस--१५५, ३६५.

अधम काव्य--३८०.

अनतिप्रसिद्ध--१३२.

अनन्तलाल ठाकुर--४४, ४५.

अनन्वय--२७०, २७४.

अनपेक्षिताख्यात--३०३.

अनियमोपमा--३५१.

अनुकूलचन्द्र बनर्जी--३८.

अनुक्तनिमित्ता क्रियोत्प्रेक्षा--३३०.

अनुप्रास--३३, १५२, १७२-१७३, २५८, २६७, २७०, ३०१, ३५१, ३७५, ३७९, ३९७.

अनुमितिवाद--११०, २४७.

अनुवृत्ताख्यात--३३६, ३३८, ४१८

अनेकाख्यात--३०३, ३३५, ३३६.

अनेयत्व धर्म --१८१.

अनौचित्य--१११, ३९०.

अन्योक्ति--परिभाषा एवं स्वरूप--३७०-३७१.

अपभ्रंश--३८, ६८, ९७, १०४, १२२, १२४, २३२, २३५, २४०.

अपभ्रष्टा--२३९.

अपरवक्त्र--२२८, २३२.

अपह्नुति--२५८, ३०३.

अपूर्वसमासोक्ति--३७०.

अप्रस्तुतरूपविधान--२८५.

अप्रस्तुतप्रशंसा--२५८, ३५०, परिभाषा एवं स्वरूप ३६८-३६९,

समासोक्ति के साथ साम्य ३६९-३७०, रुद्रट की अन्योक्ति से साम्य ३७०-३७१, वर्ण्यवस्तु ३७१.
अब्दुर्रहमान—४३२
अभावहेतु—३६२
अभिज्ञानशाकुन्तल—२१४.
अभिधानकोष-छन्दोज्ञान—२१२.
अभिधा शक्ति—११०.
अभिधावृत्तिमातृका—११०.
अभिनवगुप्त—४०, १०७, १२१, २००, २३३, २३४, २४४, ३२७, ३९५, ४३१.
अभिनवभारती—१०७, २३३-२३४, २३५.
अमरकोष—२२३, २६१.
अमरुक कवि—११३.
अमृतदत्त—७१ (पा०टि०).
अरोचकी—९२-९३, २४३, २५३.
अर्चितदेव—७१ (पा० टि०).
अर्थकवि—८४.
अर्थक्रियोपेत—११४, ११५.
अर्थगुण—१४२, १६८-१७०, ३९६, ३९७.
अर्थवाद—१६३.
अर्थव्यक्ति—१३७, १४५, १४८, १५२, १५४, १६६, १८०, ३९८, ४२९.
अर्थश्लेष—२८०, ३०३.
अर्थान्तरन्यास—३५१.
अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि—१०८, ३६२.
अर्थालंकार—२८१, २८७, ३००, ३०१, ३०२, ३३८.
अर्थावृत्ति दीपक—३४७, ३४८, ३४९.
अर्धभ्रम—३८३.
अर्धाभ्यास यमक—३७६.
अलंकार—३४, ४३, ७७, ८२, ८४, ८५, ८८, ९४, १०३, १०७, ११३, ११५, १६१, १६३, १६८, २१६, २१७, २५६, —संज्ञा की प्रियता २५७-२६०, —लक्षण २६०-२६५, दण्डीकृत वर्गीकरण २६८-२६९, भामह का क्रम २७३, उद्भट का क्रम २७५-२७६, वामन का क्रम २७७, रुद्रट का वर्गीकरण—वास्तव, औपम्य, अतिशय २७८, श्लेष २७९, वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र २७९, भाषाश्लेष २७९, कुन्तक का वर्गीकरण २८२-२८३, भोज का वर्गीकरण २८६-२८७, रुद्रट और भोज के वर्गीकरण की तुलना २८७-२८९, दण्डी और भोज के वर्गीकरण की तुलना २८९-२९२, साहित्यमीमांसा का वर्गीकरण २९२-२९४, रुय्यक का वर्गीकरण २९४-२९६, रुय्यक का दृष्टिकोण २९६-२९७, वर्गीकरण की विभिन्न मान्यताओं की तुलनात्मक सारणी २९८-३००, आदि प्रयोग के उल्लेख और अभिज्ञान ३००-३०३, शृंगार-भावों से अभिनिविष्ट अलंकार-प्रकार ३५०, ३९५.
अलंकार कवि—८४.

अलंकार कौस्तुभ--२४४.
अलंकारसर्वस्व--२९२, २९४--२९७, ३३१.
अलंकार्य--२६५, २८४, २९३, ३७२.
अलंकृति--२६४, २६५.
अल्ब्रेट वेबर--४१.
अवन्तिसुन्दरी कथा--४१, ४४, ४१८-४१९.
अवर काव्य--३७९.
अविवक्षितवाच्य ध्वनि--१०८.
अश्वघोष--३३७.
असुर बनिपाल--२०७.
अहेतु (अलंकार)— ३६३.

आ

आंगिरस--४८, ५०, ५१.
आकृति बन्ध--३८४.
आक्षेप (अलंकार)--२५८, २७४, २८१, परिभाषा एवं प्रकार ३६०-३६१, ३६४.
आख्यात कवि--८३, ३३३, ३३४.
आख्यातवाक्य--३०४, ३०५, ३३४, ३३८.
आख्यान--२३०.
आख्यायिका--११३, १३०, १३८, १८४, १८६, १८८, २१७, २२७-२३२, ४१५-४१६.
आदिकाव्य--दे० रामायण.
आदित्य--११९.
आनन्द (आचार्य)--२५३, २५४.
आनन्दवर्धन (ध्वनिकार)--४०, ४२, ७०, ७२, ७३, ७७-७८, ८२, ८५, ८८, १०६, १०७, १०८-११३, ११४, ११६, १५६, १५७, १५९, १६०, १६७, १७६-१७९, २४४, २४६, २४७, २४९, २५०, २५१, २५४, २५५, २५६, २५९, २६१, २६५, २७२, २८१, २९१, २९९, ३२६, ३६६, ३६८, ३७३, ३७४, ३८९.
आनुप्रासिक--२८१.
आपस्तम्ब धर्मसूत्र--१९३.
आभिजात्य (गुण)--१६५, १६६.
आभ्यन्तर (गुण) --१६९.
आरभटी--९९, १००.
आर्या--२२८.
आर्षवाक्य--१४८, १५१.
आवली (अलंकार)--३२०-३२१.
आवृत्ताख्यात--१५२, ३०३, ३३५, ३३६, ३४२.
आवृत्ति दीपक--३१०.
आशीः--३५०.
आश्वास--१८७.

इ

इतिहास--१९४, १९५, २०८-२०९.
इन्द्र--३८, ५१ ५२, ५५-५६, ५८, ५९, १२०, १४५.
इला--११९.

ई

ईशावास्योपनिषद्--५७.
ईर्ष्याविप्रलम्भ--१७८.

उ

उक्तिकवि--८४.
उक्तिगर्भ (आचार्य)--२८१.
उच्छ्वास--२२८, २३२.

उज्जयिनी--४१४.
उतथ्य (आचार्य)--२८०.
उत्तर--२८०.
उत्प्रेक्षा--३८, २२४, २७०, ३०३, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३२८-३३०, परिभाषा ३५७-३५८, उपमा से पृथक्करण ३५८-३६०, ३७३, ४१३.
उत्प्रेक्षावयव--२७०, २७४.
उत्प्रेक्षावल्लभ--७१ (पा० टि०)
उदयगिरि--४०६, ४२९, ४३०.
उदात्त--२७४, ३१५-१३६, ३५०, ३५१, ३७१, ३७२.
उदारत्व (गुण)--१३७-१३८, १४९, १७९.
उद्भट--१०७, १५३, २७०, २७३, २७४-२७६, ३०१, ३०२, ३१३, ३२७, ३३६, ३३७, ३४०, ३४१-३४२.
उपनिषद्--५७, ५८, ९३, १४४, १५४, २१२.
उपमा--३५, ३८, ८६, १७६, १७७, १७८, १७९, २२४, २७०, २७३, २७४, २७७, २८१, २८२, २८७, ३०१, परिभाषा ३०३-३०४, ३०६, ३२१-३२३, ३२४, ३२६-३२७, ३२८, ३२९, ३३२, ३३४, ३३७, ३४०, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३४१-३४७, ३५१, भेद अथवा प्रयोग ३५२-३५३, भेद-प्रकारों में अन्य अलंकारों की लक्षण-संगति ३५३-३५५, नये प्रकारों की सम्भावना ३५५-३५६, दोष ३५६, वाचक-पदों की सूची ३५६-३५७, ३५७, ३५८, ३६४, ४१३-४१४, ४१९.
उपमान--३५८-३५९, ३९५.
उपमारूपक--२७०, २७४.
उपमेयोपमा--२७०, २७४.
उभयालंकार--२८७, २८९, ३०३,
उभयालंकारिक--२८१.
उल्लेख--३२९-३३०.
उशना--५१, ५५, ५६, ६२, ८९.

ऊ

ऊर्जस्वि--२७४, ३५०, ३६६, ३७२.

ऋ

ऋग्वेद--४७-५६, ५८, ११९, १२०.
ऋजूक्ति--२९३, २९४.
ऋतुसंहार --३३७.
ऋषि--५८-५९, ६७, २२५.

ए

एकाख्यात--३०३, ३३५, ३३६, ३४८.
एकाभिधेयाख्यात--३०३, ३३६, ३४१.
एकार्थदीपक--३२९, ३३०.
ए० बी० कीथ--४१, २३६, ४१०, ४१७.
ए० संकरन् ४४.

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण--१२०.

ओ

ओजस् (गुण)--३३, १३८, १४५, १४९, १५२, १५३, १५४, १५५,

१५८, १६०, १६२, १६६, १६७, १७०, १८०.
ओ० बोथलिंक--४४, ४६.
ओसर --१८७.

औ

औक्तिक--६६, २८१,३६१.
औचित्य--१११-११२, १५९, २६३, ३९०.
औचित्य (गुण) १६५.
औदीच्य--१६१. १६२, १६३,२६३, २९२, २९८, २९९, ३३२, ३३३, ३३६, ३३८, ३५२, ३७३, ४१४
औपकायन (आचार्य)--२७७, २८०.
औपनिषदिक--९३.
औपम्य (अलंकार-वर्ग)--१६८, २८०, २८८, २८९, ३०८.
औपम्य (काव्य-प्रकरण)--२७७.
औपम्य समुच्चय--३२६.
औपम्योक्ति--२९४.

क

कक्षीवान्--५५.
कठोपनिषद् --५७.
कथा--११३, १३०, १८४, १८६, १८८,२१७, २२७-२३२, ४१५-४१६.
कथारस--११३.
कथासरित्सागर--१९९.
कन्हैयालाल पोद्दार--४१.
कमलबन्ध--३७७-३७८.
कयमा (नृत्य)--९९.
करम्भक --२३९.
करुणरस--१५५, ३६५.
कलापक--२१९.
कलापरिच्छेद--४०८.
कल्याणवर्मा--४२३, ४२४, ४२६, ४३०.
कल्हण--६४, ९७, १२७, २१०.
कवि--३३, ऋग्वेद का कवि ४७-५८, ६०, ६१, ६७, ६८, ९०, २४२, २४३, २४५, २४७, २५०, ३३४, ३७३, ३७४, ३८८-३८९.
कविकल्पना प्रौढ़ वस्तु-वक्रता--२९४-
कवित्व की आठ माताएँ--२५५.
कविप्रिया--३९.
कविराजमार्ग--३७-४४, ३९५.
काकु--१४९.
काकुवक्रोक्ति--२८१.
कादम्बरी--२०१, २३२, ३७३.
कान्त, कान्ति (गुण)--१३८-१४०, १४६, १५१, १५३, १५४, १७९, २२०, २२२, २२३, २२६, ३९८, ४१३.
कामशास्त्र--२११-२१४.
कामसूत्र--९३, ११८, १२०, १२५, २१२-२१३.
कारयित्री प्रतिभा--९०.
कारिकावली--२०१.
कालिदास--६३-६४, ८०, ८९, ९०, ९१, ९२, ९७, ११२, ११४, ११५, १७९, १८४, १९८, २०२, २०३, २०४, २०६, २०८, २०९, २२४, ३३७, ३७५, ४२०, ४२५, ४२७.
काव्यतत्त्व कौमुदी--४५.

काव्यदोष—अनुपयुक्तता ३८८-३९१, काव्यादर्श में निरूपित भेद और स्वरूप ३९१-३९२, अनुगुणत्व ३९२-३९३.

काव्यप्रकाश—२२१, २४४, २९१.

काव्यमीमांसा—६८, ८९, ९१, १४८, १५०, १६९, १९२, २४०, २४२, २४५, २५३, २५४, २६६, २७७, २८०, ३३३, ३३४, ३९५, ४१७, रचनाकाल ४१८.

काव्यलक्षण—११४, १२४, ४३१-४३२.

काव्यलक्षण रत्न-श्री—४५.

काव्यविद्या—६६.

काव्यशरीर—११०, १२९, १३०, १३१, १८३-१८८.

काव्यसमस्या पूरण—२१२.

काव्यादर्श—युगान्तरकारी रचना ३३-३७, संस्करण एवं टीकाएँ ४४-४५, ४६, ९५, १०२-१०६, ११७-११८, १२०, १३२, १९१, २३०, २४१, ३५८, ३६९, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३८०, ३८३, ३९०, ३९१, ३९३, ३९४, ३९५, ३९९, तृतीय परिच्छेद के भिन्न-कर्तृत्व का प्रश्न ४००, चतुःपरिच्छेदात्मक स्वरूप की सम्भावना ४००, पहले दो परिच्छेदों से तृतीय परिच्छेद की कर्तृत्व-भिन्नता के आधारों का विवेचन ४००-४०८, रचनाकाल-निर्धारण की समस्याएँ ४०९, उनका परीक्षण ४०९—४३०, निष्कर्ष ४३०.

काव्यानुशासन—२२२, २२७.

काव्याभ्यास—२२५-२५६.

काव्यालंकारसार-संग्रह—३८, ३०१.

काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति—१०१, २४२, २६३, २७७.

काशीप्रसाद जायसवाल—४२३-४२४.

किरातार्जुनीय—२०१, २२९, ३७७, ३८४.

कीर्तिषेण—४२३.

कुचमार (आचार्य)—९३.

कुट्टनीप्रयोग—२१४.

कुत्स—५५.

कुन्तक—७०, ७४, ७५, ८२, ८५, ८८, १०७, १६३, १६७, २४४, २४७, २५७, २६१, २६५, २८२-२८५, २९३, २९४, २९७, २९९ ३००, ३०३, ३०४, ३०५, ३०७, ३४०, ३६६-३६८, ३७२, ३८९, ३९०, ३९५, ३९७.

कुबेर (आचार्य)—२८०.

कुभग्राम राग—२३४.

कुमारसम्भव—११२, १९८, २०६, २१४, २२४.

कुलक—१८५, २१९, २२५, २२६.

कुवलयानन्द—१७६.

कुसुमप्रतिमा (टीका)—४५.

कृदन्त पद—३३३, ३३६, ३४९.

कृदभिहिताख्यात—३०३, ३३५, ३४१.

कृष्ण (भगवान्)—५६, ६२.

कृष्णकिंकर—४५.

के० पी० त्रिवेदी—४४, ४१०.

केशवदास—३९.
कैशिकी वृत्ति—९८, ९९, १००.
कोनो—२३६.
कोष—१८५, २१९, २२५.
कौमुदीमहोत्सव—४०९, रचनाकाल तथा रचयित्री-विषयक समाधान ४२२-४२६, काव्यादर्श में समानार्थक छन्द ४२६, ४३०.
कौशाम्बी—२११, २१२, ४२४.
क्रिया—११४, १६३.
क्रिया-कल्प—११४, २१२.
क्रिया दीपक—३३६.
क्रिया-प्रयोग—३०३, ३०४, ३०८, काव्य में वाक्य-भेद का आधार ३३४, ३३५, दीपक-उद्भावना का मूल ३३६-३३९, ३४१-३४२, ३४६, उपमा के वाचक-पद के रूप में ३४८-३४९.
क्रिया-विरोध (अलंकार)—३५१.
क्रिया-स्वभावोक्ति (अलंकार)—३४०, ३४१.
क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय—४२४, ४२५.
क्षेमेन्द्र—८८, १०७, १११-११२, १९९, ३९७.

ख

खण्ड कथा—२२९.

ग

गणपति शास्त्री—४४, ४१०.
गणपाठ—३०८, ३१०.
गणेश जनार्दन आगाशे—४२, ४१९.
गणेश त्र्यम्बक देशपांडे—४३, ११४-११५, ४१७, ४३१.
गलितक—१८७.
गाथा सप्तशती—६६.
गिरनार शिलालेख (रुद्रदामन्)—३५, १४४, १५३, ३०१.
गिलमेश काव्य—२०७.
गीतक—२३४.
गीतगोविन्द—२३१, २३२, २३३.
गीता—७५.
गीतिनाट्य—२३३, २३५.
गुण—३३, ८३, ८४, ९४-९५, ९६, १०७, ११३, १२३, १२५, १२९-१३२, उद्गम-विकास-स्थिति १४१-१५४, ३०१, ३९६, कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त से साम्य ३९७-३९८.
गुण-विरोध (अलंकार)—३५१.
गुण-स्वभावोक्ति—१७१.
गुणाढ्य—१९९, २००.
गूढ़पाद प्रहेलिकाएँ—३८७.
गूढ़ार्थ प्रतीतिपर अलंकार—२९६.
गेय—१६२, २३५.
गोमूत्रिका—३८३.
गोष्ठी (गेय काव्य)—२३५.
गौड (मार्ग, काव्य)—३३, ९६, ९७, १०१, १०३, १३१-१३२, १३३, १३४-१३५, १३७, १३८, १३९, १४१, १४९, १६१, १६४-१६५, २३८, २६७, २६८, २७०, ३३३, ३९८, ४११, ४१२, ४१४, ४१५, ४१७, ४२५.
गौडी—९७, १८७, २३७, २३८.

ग्राम्यता--१३६, १६१.
ग्रियर्सन--२३६.

च

चक्रबन्ध--३७४.
चन्द्रलोक--४३२.
चमत्कारचन्द्रिका--१०६.
चम्पू--१८६, २३२-२३३, ३९५.
चाणक्य--७१ (पा० टि०).
चित्र (काव्य-प्रकरण)--२८१, ३५१.
चित्रबन्ध--१०५-१०६, २७९, ३७५, स्वर, स्थान तथा वर्ण-सम्बन्धी नियम ३७९, प्रवृत्ति एवं विस्तार ३८३-३८५.
चित्रमार्ग--२६३, २८६, प्रकार ३७३, ३७५.
चित्रहेतु--३६२.
चित्रांगद (आचार्य)--२८१.
चेतन वस्तु-वृत्तान्त--१७६-१७९.
चौबीस गुण--१८६.

छ

छन्दःशास्त्र--२१७-२१८.
छलित--१८७, २३३.
छान्दोग्योपनिषद्--१४५, १९५.
छायावाद--१७९.
छेकानुप्रास--३०२.

ज

जगन्नाथ--४५.
जगन्नाथ (पंडितराज)--७२, ७४, २४४, ३८०, ३९७.
जयरथ--२९२.
जल्हण--९७.
जाति--३०१, शब्द-प्रयोग और अलंकार ३३८, ३३९.
जाति शब्दालंकार--२३७, २९२, ३३९.
जाति स्वभावोक्ति--१७१.
जानभान--४१.
जीवानन्द विद्यासागर--४५.
ज्ञापक हेत्वलंकार --२२०.
ज्ञाप्य अभाव हेत्वलंकार--२२०.

ठ

ठक्क राग--२३४.

ड

डोम्बिका--२३३, २३५.

त

तण्डि, तण्डी--३९.
तत्त्वापह्नवरूपक--३२७-३२८.
तत्त्वाभिनिवेशी--९२-९३.
तद्धितप्रत्यय--३०६-३०७.
तद्धितान्त पद--३३३, ३४९.
तरुणवाचस्पति--३८, ४५, ४१०.
तर्कसंग्रह--२०१.
तात्पर्यमुद्रा--६९.
तात्पर्यशक्ति--११०.
तिङन्त पद--३३३, ३९५.
तीन गुण--१५४, १९६.
तुलसीदास--२०४.
तुल्ययोगिता--२७४, ३१०, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३१३-३१६, ३१८, ३१९.
तुल्ययोगोपमा--३२३.
तैत्तिरीयोपनिषद्--५७.
त्रिभुवनाचार्य--४५.

द

दण्डी—- युगान्तरकारी आचार्य ३३-३७, लोकप्रियता ३७-४०, आधुनिक अध्ययन ४०-४४, ४६, ६१, ६३, ६४, ६५, ६९, ७२, ८२, ९२, ९४, ९५, ९६, १००, १०१ १०२, १०३, १०४-१०६, ११० ११६, ११७, १२१, १२२, १२४, १२५, १२६, १२९, १३०-१३१, १३४, १३७, १४१, १४७, १५३, १५८, १५९, १६०, १६३, १६६, समाधि गुण के व्याख्याता १७३-१७९, काव्यशरीर के व्याख्याता १८३-१८८, १९१, १९६-१९८, २०४, २०६, २०७, २०८, २१०, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२२, २२६-२२७, कथा-आख्यायिका के अभेद-प्रतिष्ठाता २२७-२३२, २३३, २३५, २३६-२३७, २३८, २३९, २४१, २५०-२५१, २५२-२५३, २५५-२५६, २५८, २६०, २६२, २६४, २६६, –का अलंकार-विभाग २६८-२७१, २७४, २८१, २८३, २८५, २८८, २८९-२९१, २९२, २९८, २९९, दीपक-अलंकार-विधा के व्याख्यान का परीक्षण ३०८-३४९, ३५२, ३५६, ३६८, ३७०, ३७१, ३७२, ३९४, ३९६, गुण-सिद्धान्त की मौलिकता ३९७-३९८, काव्य-सिद्धान्त के प्रयोगात्मक-तुलनात्मक व्याख्याता ३९८, काव्यगोष्ठियों के इतिहास-साक्षी ३९९, उत्कृष्ट काव्यपक्ष ३९९, ४०८, भामह से पूर्ववर्ती होने के साक्ष्य ४०९-४१७, तीन प्रबन्धों के कृतित्व का परीक्षण ४१७-४१९, विज्जका के समकालिक ४२६, –का विशिष्ट वराह-वर्णन ४२९, समय-निर्णय ४३०, ४३२.

दरद—-२३६

दशकुमारचरित–४२, ४३, ४४, ३८४, ३८५, ४०९, ४१८, ४१९-४२०.

दशगुण–१०५, १३०, १३२, १४१-१४२, १४४, तीन गुणों से विभेद, १५४-१६३, शब्द-अर्थ-गत विभाग १६४, २७६, ३९६.

दशरूपककार–११०, २०७.

दाक्षिणात्य–३३-३७. १०१, १०२, २९२, २९८, २९९, ३३२, ३३३, ३५२, ३५८, ३९८, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, दे० वैदर्भ.

दिङ्नाग–४१७.

दिवाकर सेन–४२८.

दीपक—-३५, ८६, २५८, २५९, ३०१ ३०२, परिभाषा ३०४-३०६, व्यापकता ३०८-३३२, उद्भावना में प्राथमिकता ३३२-३४९, ३५०, ३५१. ३७१, ४१८.

दुर्गासप्तशती–१५१ (पा० टि०).

देवराज उपाध्याय–७९-८०.

देववाक्य–१४९.

देवेन्द्रनाथ शर्मा–४१७.

देशकाल कला विरोधि—३९२.
देशभाषा—२३८, २४०.
देशभाषाविज्ञान—२१२.
द्रव्य स्वभावोक्ति—१७१, ३४८.
द्राविड़—२३६.
द्विपदी—२३३.
द्विसन्धान महाकाव्य—४१८.

ध

धनञ्जय—११०.
धनपाल—१७९.
धर्मलुप्तोपमा—३५९.
धर्मशास्त्र—२०९-२१०.
धावक—१२८.
ध्वनि—८२, ८३, १००, १०६, १०७, १०९-११२, १६४, १७६, १७७, २४६, २४७, २५०, २५६, २५९, २६०, २६५, ३६२-३६३, ३६८,
ध्वनिकार—दे० आनन्दवर्धन.
ध्वन्यालोक—१०७, १७६, २४४, २४५, २४६, २४७, ३२७, ३६८.

न

नमिसाधु—३७, १६७-१६८, ४१०.
नरसिंह—४५.
नरसिंह वर्मा—४२१.
नाटक (नाट्य)—९८, १८४, २०४, २३२, २३३, २३४, २३५, २५७, २५८, ३९२.
नाट्यरस—८३, ८४, ३९२.
नाट्यशास्त्र—१०७, १०८-१०९, ११२, ११४-११५, १४२, २३४, ३०१, ३३२, ३६५, ४३१-४३२.
नाट्यसन्धि—२१५-२१६.
नामकवि—८३.
नामाख्यात कवि—८३.
नायक—२०७, २०८, २१४-२१५, २२८, २३२, ४१६.
नायिका—२१४-२१५.
नासदीय सूक्त—५७.
निर्णीतातिशयोक्ति—३८७.
निदर्शन—२३०.
नियमोपमा—३५१.
निराला (सूर्यकान्त त्रिपाठी)—९५.
निरुक्त—३०६, ३३२, ३४८, ३५७.
निहतार्थ दोष—१३३.
नृत्त—२३४.
नृसिंह देव शास्त्री—४५.
नेता—२०७.
नैषधीय चरित—२०२, २०९.
न्यायभाष्य (वात्स्यायन)—१९३.
न्यायमूल (अलंकार-वर्ग)—२९५.
न्यायशास्त्र—३५१, ३९०.

प

पउमचरिउ—३८, ३९५.
पतंजलि—१२४, ३५१.
पदक्रिया—१९५.
पद-प्रकार—३३३.
पदार्थविबोधिनी (टीका)—४५.
परिकथा—२२९.
परिकर—२५९.
परिणताख्यात—३०३, ३३६.
परिवृत्ति—३५०, ३७१.
परिहारिका—३८५, उदाहरण ३८६.
पर्यायोक्त—२५८, २५९, ३७१.

पर्सानिफिकेसन (मानवीकरण अलंकार) --१७९.
पांचाली रीति-९५, १०१, १४९, ४२५.
पाडुरंग वामन काणे-४२, ४१० ४१७.
पाटलिपुत्र-४१४.
पाठ्य-२३५.
पाणिनि--३०६, ३०७, ३३४.
पाणिनीय शिक्षा-७८-७९, ११९.
पादप्रतिलोम यमक--३७८.
पाराशर (आचार्य)-२८०.
पिंगल-३८.
पितर-५६.
पिशेल-४४.
पी० एन्० पाटनकर-४५.
पुनरुक्तवदाभास-३०२, ३३७.
पुराकल्प-१९५.
पुराण-१९२-२०९.
पुराण का लक्षण-१९२.
पुलस्त्य (आचार्य)--२८०.
पृथक् अलंकार--२९६.
पैशाची-दे० भूतभाषा.
पौरस्त्य--३३-३७, १०१, १३३.
प्रकरण--२३५.
प्रकाश (टीका)-४५.
प्रजापति--१४५.
प्रतिभा--२५१-२५२, २५३, २७२.
प्रतिलोम यमक-३७७.
प्रतिवस्तूपमा-२७०, ३०२, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३२४-३२६.
प्रतीप अलंकार-३५१.
प्रतीहारेन्दुराज-३८, ११०, ३०२, ३९५.
प्रत्यनीक-२५९.
प्रबन्ध-११३.
प्रभाटीका-४५, २१७, २२०, २२६, २६८, ४२१.
प्रभावती गुप्ता-४२७.
प्रयाग-स्तम्भ लेख-४२४.
प्रवरसेन, वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन प्रथम-६५, ६६, ८०, २०६, २०८, ३७६, ४०९, ४२३, ४२६, ४२७· ४२९, ४३०.
प्रवाह्लिका-२३०.
प्रशंसोपमा-३२६, ३२७.
प्रशस्तिरत्नावली-२३९.
प्रश्नोत्तर प्रहेलिकाएँ-३८७.
प्रसाद (गुण)-१३२, १४८, १५३, १५४, १५५, १५८, १५९, १६२, १६५, १७०, १८०.
प्रस्तुत रूप विधान-२८५
प्रहेलिका-९४, १०५, २७९, ३७३, ३७४, उपयोग के अवसर ३७५, ३७९, स्वरूप और प्रयोग का विस्तार ३८५-३८७.
प्राकृत-६८, ९७, १०४, १२२, १२४, १८६, १८८, २३५-२४०.
प्राग्ध्वंसाभाव हेतु-३२७-३२८.
प्रेक्षार्थ-१८६, २३३-२३५, ४१५,
प्रेक्ष्य-२३५.
प्रेमचन्द (टीकाकार)-४४.
प्रेयस्-२७४, ३६५, ३७२, ४२१.

प्रो० के० बी० पाठक–४४, ४१०.
प्लेटो–५९, ६०.

ब

बन्ध शैथिल्य–१३८.
बाण–३८, ७१ (पा० टि०), ८०, ९४ ९९, १०२, १२१, २१८, ४१७, ४१९.
बात–२२६.
बाबूराम सक्सेना–२३६.
बाह्य (गुण)–१६९.
बिम्बग्रहण–७६.
बिल्हण–६४, ६९, ९७, १२७, २०३.
बीभत्स रस–१५५, ३६५.
बुध–२४९.
बृहत्कथा–९७, १०४, १८८, १९९, २००, २०३, २०९, २३०, २३५, २३७.
बृहत्कथा मंजरी—१९९.
बृहस्पति–५४-५५, ५६, १४५.
ब्रजरत्नदास– ४५.
ब्रह्म–५६, ५९.
ब्रह्मा–११९-१२०.
ब्राह्मण–५७, २१२.

भ

भट्ट तौत–४३१.
भट्टनायक–११०, २५० (पा० टि०).
भट्टि–१०६, ३०२, ३७६, ३८०, ३८३, ४०८.
भयानक रस–१५५, ३६५.
भरत (आचार्य)–३८, ७५, ८५, ८७, ९८, १३०, १४१, ३०१, ३९४.
भर्तृहरि–१०२, २१२.
भविष्यदाक्षेप–३५०.
भाण–२३५.
भाण्डारकर प्राच्य विद्या मन्दिर पूना–४५.
भामह–३७, ३८, ४२, ७२, १०६, १२६, १५६, १६१, १६६, १९०, १९१, १९६, १९७, २१६, २१८, २२०-२२२, २२७, २३०, २३२, २३६, २४२, २७१-२७४, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०६, ३१३, ३२३, ३२४, ३३६, ३३७, ३४०, ३४१, ३५२, ३५६, ३५७, ३५८, ३६३, ३६६, ३६८, ३७०, ३७१, ३७२, ३९०, ४०२, ४०३, ४०८, दण्डी से परवर्ती होने के साक्ष्य ४०९-४१७, ४३०.
भारती–११९.
भारती वृत्ति–९७, १००.
भारवि–८०, २०१, २०२, २०६, ३७६, ३८०, ३८३, ४०८.
भाव–११३, क्रिया का पर्याय ३३४, ३४२, ३४९, ३५०, ३७२, ३७९.
भावक (आलोचक)–३३, ६८-६९, ८८-९३, ११३, २४०, २४२, २४३, २५३, ३०५, ३३२.
भावयित्री (प्रतिभा)–९०.
भाविक–२७४, ३७१.
भाषा-क्रान्ति–३६-३७, ७९-८०, ८२, ८३, ८४, ९५, ११६, १६४, ३९६.
भाषाश्लेष–२९२.
भाषासम अलंकार–२३९.

भास–४२०.
भुवनेश्वरी स्तोत्र–६७, १६२.
भूतभाषा–६८, ९७, १०४, १८६, २३५-२४०.
भूतार्थशंसी––२३१.
भोटभाषा–३८.
भोज–४०, १०६, १०७, १२२, १३४, १५३, १५५, १६८–१७१, १७४-१७५, २०१, २०४-२०६, २३७-२३९, २८५-२९२, २९८, ३००, ३१५, ३२०, ३३९, ३६२, ३७०, ३७२, ३७७, ३७८, ३९६, ४१८.
भौजंगम वाक्य–१४९.
भ्रम (अलंकर)–३०३.

म

मंखक–२९२.
मंगल (आचार्य)–८१, २४३, २५३, २५४.
मंगलाचरण (काव्यसुख)–१९६-२०६.
मत्सरी–९२-९३, २४३.
मत्स्यपुराण–१९३.
मध्यम (मार्ग) –१६५.
मध्यान्त यमक–३७६.
मम्मट–४०, ७४, ७५, १०६, १०७, १२१, १२२, १२८, १५४, १६०, १८०, २४४, २४८-२४९, २५२-२५३, २५५, २५९, ३००, ३१६-३१७, ३१८, ३२४, ३२५, ३७१, ३७९, ३८०, ३८८, ३९६.
मरुत–५०, ५१, ५२, ५८, ११९.
मल्लिनाथ सूरि–४०.
मल्लिनाथ (जगन्नाथ के पुत्र)––४५.
महाकाव्य–११३, १३०, १८४, मूल लक्षण १८८-१९२, स्वरूपगठन के विभिन्न स्रोत १९२-२१८, अन्तर्भूत काव्य-विधाएँ २१९, २२०, २२५, २२६-२२७, २३१.
महाभारत–१२६, १४४, १४५, १४७, १४८, १५२, १५४, १७५, १८९, १९४, १९५, १९८, १९९, २०३, २०४, २०६, २२४, २३१.
महाभाष्य––१२४.
महाराष्ट्री प्राकृत––१०३, १८७, २३१.
महिपाल–४१८.
महिम भट्ट–१०७, ११०, २४४.
मही (भारती)–११८.
महेन्द्रपाल–४१८.
मागध (मागधी भाषा)–२३७, २३८.
माघ–८०, २०२, २०६, ३७६, ३८०, ३८३, ४०८.
माधवानल नाटक–३९.
माधुर्य (गुण)–१३३-१३६, १४५, १४७, १५१, १५३, १५४, १५५, १५६, १५९, १६०, १६२, १६४, १६५, १६६, १८०, २६६, २६७, ३७९, ३९८, ४१२.
मारीच-वध––२३४.
मार्ग (कवि-मार्ग)–८३, ८४, ९३-१०२, १०३, ११६, १२४, १२९-१३२, १४१-१४५, १६५-१६६, २५६, २६६, २६७.
मार्गकवि–८४.

मार्जन (टीका)–४५.
मालविकाग्निमित्र–२१४.
मालवी–२३६.
मालिन्य प्रोञ्छनी (टीका)–४४,४५.
मालोपमा–३२७, ३४२.
मिट्टी का ठीकरा (कौशाम्बी)–२१२.
मित्रावरुण–५४, ५६.
मिश्र भाषा–१०४, २३५-२४०, २७९.
मिश्रा–२३९.
मुकुलभट्ट–११०.
मुक्तक–११३, १८५, २१९, २२५, २२६, ३७१.
मुरजबन्ध–३८४.
मृच्छकटिक–४२०.
मेघदूत–१७९, २२६, २३१.
मेधाविन्–३७, ३५६, ३५७, ४१३, ४१४.
मेबिल बोड–३९.
मैकडानल–४४.
मैक्समूलर–४४.
म्लेच्छ भाषा–२३८.

य

यजुर्वेद–१२०.
यथावद्वस्तु-वर्णन (अलंकार-वर्ग)-२९६.
यम (आचार्य)–२८१.
यमक–८६, १०५, २६७, २७०, २७९, ३०१, ३५१, ३७३, ३७४, मधुर-प्रयोग का अभिज्ञान ३७५, ३७७, ३७९, ३८१, स्वरूप, प्रकृति एवं भेदों का विस्तार ३८१-३८३, ४०४, ४०७, ४१४-४१५.
याकोबी–४४.
युग्मक–२१९.

र

रंगाचार्य–४४, ४५, ४१०.
रंगाचार्य बी० रेड्डी–४५.
रघुवंश–११२, १९७, १९८, २०८, २११, २२४, २२५, ३७५.
रचना-कवि–८३.
रत्नश्रीज्ञान–४४, ४५.
रत्नश्रीटीका–४४, ४५.
रत्नावली–१२८.
रस, रससिद्धान्त–४३, ६९, ९४, १००, १०६, १०७, १०९-११२, १३४, १५५, १६४, १७८, २१५, २५०, २५६, २५९-२६०, २९३, २९७, ३४९-३५०, ३६५-३६६, ३७३, ३९७.
रस-कवि–८४.
रसगंगाधर–२४४.
रस-निष्पत्ति–११३.
रसवदलंकार–४०, ४३, १३३, १३४, १३६, १७६-१७८, २७४, २९६, परिभाषा एवं प्रकार ३६५-३६६, आनन्दवर्धन तथा कुन्तक की व्याख्याएँ ३६६-३६८.
रांगेय राघव–४४, ७९, ४२०.
रागकाव्य–१८५, १८७, २३३, २३४, २३५.
राघव-विजय–२३४.
राजतरंगिणी–२१०.
राजनीति–२१०-२११.
राजशेखर–६२, ६५, ६६-६७, ७५,

८०, ८१, ८२, ८३, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, १००, १०७, ११५, १२६, १२८, १४८, १४९, १५०, १५१, १५३, १६९, १७९, १८८, १९२, २१३, २४०, २४२, २४३, २४५, २५३, २५४, २६६, २७७, २८०, २८१, ३००, ३०४, ३३३, ३३४, ३३६, ३४१, ३४२, ३५१, ३९५, ४०९, ४१७,-४१९.

रात (ज) वर्मा–४०९, ४२१.

रामचरित मानस–२०४.

रामधारीसिंह 'दिनकर' –९५.

रामशर्मा–४१५.

रामायण (आदि काव्य)–६३, १२६, १४४, १५०, १५२, १५४, १७५, १८९, १९५, १९८, १९९, २०३, २०६, ३३४-३३६, ३४३-३४७, ३४८, ३५५, ३५६.

रासक–२३३, २३५.

रीति–४२, ४३, ९७, १००, १०५, ११३, ११६, १४९, १६३, १६५, १६८.

रुद्रट–३७, ७३, ७४, १०७, ११४, १२६, १२७, १६७-१६८, १९०, १९७, २०७, २१०, २११, २१६, २२७, २४४, २४५, २५२-२५३, २७१, २७८-२८१, २८७-२८९, २९२, २९९, ३०८-३१३, ३१४, ३१६-३१८, ३२३, ३२६, ३६३, ३७०, ३७१, ३७४.

रुय्यक–४०, ८६, २९४, -२९७, ३००.

रूपक (अलंकार)–३५, ९८, २२४, २७४, २७७, २८१, ३०१, परिभाषा ३०३-३०४, ३०६, ३२३, ३२७, ३४०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५५, ३६४.

रूपकध्वनि–३२७.

रूपकातिशयोक्ति–१७५.

रेचक–२३४.

रौद्र रस–१५५, १५९, १८०, ३६५.

ल

लघुवृत्ति–३८, ३०२, ३९५.

लटभ (गुर्जर)–२३८.

लम्भ–२२८.

लाटानुप्रास–३०२.

लाटी–९७, १८७, २३७.

लावण्य (गुण)–१६५, १६६.

लास्य–१८४, १८७, २३३.

लुप्तोपमा–१७५.

लुम्बक–२८८.

लेश (अलंकार)–२२०.

लोककवि–६१, ६५.

लोचन–१०७, २००, २३३, २४४, ३९५.

लोचनकार–दे० अभिनवगुप्त.

व

वक्त्र (छन्द)–२२८, २३२.

वक्रोक्ति–४२, १०५, १०९- ११०, ११३, १६१, १६३, १६४, १८२, २२१, २४७, २५६, २५७, २६०, अलंकार - उद्भावना का मूल २७०-३००, ३०३, ३३२, ३४०, ३६१, ३८०, ३९६, गुणसिद्धान्त के साथ तुलना ३९७-३९८, ४१३, ४१९.

वक्रोक्तिजीवित—१०७, १०९, १६५, २४४, २४७, २४८, ३३२.
वक्रोक्ति सिद्धान्त—८३, ८५, ८७.
वचनसम्पन्न—१४५-१४६.
वज्रध्वज (दोरग्यल)—३८, ३९६.
वराह-वर्णन—४०६-४०७, ४२९-४३०.
वरुण—१४५.
वर्णगीत अलंकार—१०८.
वर्णना—१३९, २२२—२२६.
वर्णानुप्रास—१३३, २६७-२६८.
वर्तमानाक्षेप—३५०
वल्लभदेव—७१ (पा० टि०).
वस्तुवक्रता—२८२-२८४.
वाकाटक—४२०-४२१, ४२७, ४२८, ४३०.
वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख—४२०.
वाक्य-विशारद—१४५-१४६.
वागंग सत्त्वज अलंकार —१०८.
वाच्य चित्र—७७, ३७३.
वादिघिंघल—४४.
वात्स्यायन—९३, ११८, १२६, २१२-२१३.
वामदेव—५५, ५६.
वामन—७३, ८१, ९५, १००, १०१, १०५, १०६, १२६, १४२, १६०, १६३-१६६, १६९ १७३, २४२, २४३, २५३, २६३, २६४, २६५, २७६-२७७, २९९, ३१३, ३२१, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३९६, ३९७.
वायु—११९, १२०, १४५.
वायुपुराण—४२७.
वार्ता (काव्य)—१३९, १८५, २२०-२२६, ३६३, ४१३.
वाल्मीकि (आदिकवि)—६१-६२, ६७-६८, १२८, १५०, १५१, ३३५-३३६, ३३७, ३४२-३४९.
वासुदेव विष्णु मिराशी—४३, ४२०-४२१, ४२८.
वास्तव—१६८, २८०, २८७, २८८-२८९, २९८, ३०३, ३०८, ३३२, ३४१, ३५१.
विकल्प (अलंकार)—३३१-३३२.
विक्रमांकदेव चरित—९७, २०३.
विक्रमोर्वशीय—२१४.
विजयानन्द—४५.
विज्जका (विजया, विजयांका)—४०८, ४०९, 'कौमुदी-महोत्सव' की रचयित्री तथा दण्डी की समकालिक ४०२-४०६, ४२८, ४३०.
विण्टरनिट्ज—४२४.
विदग्ध-गोष्ठी—३३-३७, ९१, ९३, ९४, १०३, ११०, १११, १२४, १२५, २२१, २४२, २४३, २५०, २६३, २७९, २८०, ३४९, ३६८, ३९४, ३९५.
विद्वान्—५८, २४९, २८०.
विप्रलम्भ शृंगार—१५९, १७७.
विभावना—३०३.
विभ्रम—१६२—१६३.
विरुद्धार्थ दीपक—३३०.
विरोध अलंकार—३३०-३३१, ३५१.
विरोधगर्भ अलंकार—२९५,

विरोधोपमा—३२३, ३२७.
विशेषोक्ति—२५८, २५९, २७१, ३५१.
विश्वनाथ—१२२, १९०, १९७, २०२, २०३, २०७, २१५, २१६, २२७, २३७, २३९, ३७८.
विश्वेश्वर कविचन्द्र—१०६.
विश्वेश्वर पांडे—२४४.
वी० नारायण अय्यर—४५.
वीर रस—१५५, ३६५.
वृत्ताक्षेप—३५०.
वृत्ति (नाट्य वृत्ति)—९७-१००.
वेंकटेश राघवन्—४३, १४४.
वैचित्र्य (मार्ग)—१६५, १६६.
वैदर्भ (मार्ग, काव्य)—३३, ९७, १०१, १२९, १३१-१३२, १३४-१३५, १३७, १३८, १३९, १४१, १४९, १५५, १५६, १६१, १६४ -१६५, १६७, २६७, २६८, २७०, ३९८, ३९९, ४०५, ४११, ४१२, ४१४, ४१७, ४२५.
वैदर्भी रीति—४२०, ४२१ (पा० टि०), ४२८.
वैभक्त वाक्य—१५३.
वैमल्यविधायिनी (टीका)—४५.
वैशेषिक (गुण)—१६९.
वैष्णव वाक्य—१४९-
व्यक्ति विवेक—४०, ११०, २४४, २४७.
व्यतिरेक—२७४, ३०३, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३४७-३४८, ३५०, ३६४, ४२८.
व्याजस्तुति—३५०.
व्यास—३८, ६१, १९३, १९४, १९७, १९९.
व्युत्क्रान्ता—३८५, उदाहरण ३८६.
व्युत्पत्ति—२५२-२५५, ३८९.

श

शंकर वर्मा—७१ (पा० टि०).
शंकराचार्य—४२५.
शक्ति विभक्तिमय वाक्य—१५३.
शतपथ ब्राह्मण—१२०, २०७.
शब्दकवि—८३.
शब्दगुण—१६८, १७०, ३९६, ३९७.
शब्दचित्र—७७, ३७३.
शब्दश्लेष (काव्य-प्रकरण)—२८१.
शब्दसमय—१४४, १४८, ३०१.
शब्दालंकार—२८१, २८७, ३०१, ३०२, ३३८.
शम्पा—१८४, १८५, २३३.
शम्या—२३३.
शाक्त वाक्य—१५३, १७०.
शान्त रस—१५५.
शार्ङ्गधर पद्धति—७१ (पादटिप्पणी).
शास्त्रार्थ कवि—८४, १७०.
शिंग—२३५.
शिशुपालवध—२०२, २२९, ३७७, ३८४, ४०८.
शुद्धा—२३९.
शृंखलाबद्ध अलंकार—२९५.
शृंगार तिलक—१२८.
शृंगार प्रकाश—४३, २९९, ४१८.
शृंगार रस—१५५, ३५०, ३९३.
शेष (आचार्य)—२८१.
शोभा—२६१, २८६.
शौरसेनी—९७, १८७, २३७, २३८.

श्रव्य–१८६, २३३-२३५.
श्रव्यकाव्य–(भोज-कृत छह भेद) २०४-२०६.
श्रीगदित–२३५.
श्रीहर्ष– २०३, ३८०.
श्रुतानुपालिनी (टीका)–४४.
श्रुत्यनुप्रास–१३४, १३५, १६०, २६७-२६८, ३७९, ४०७, ४१२.
श्लेष (अलंकार-वर्ग, अलंकार)–१६८, २३९, २७०, २७३, २७४, २७७, २७९, २८०, २८७, २९८, ३३२, ३५०, ३५१, परिभाषा एवं प्रकार ३६४-३६५, ३८०, ३८१, ४१८.
श्लेष (गुण)–१३२, १४६, १५१, १५२, १५३, १६१, १६६, १७०, ३९७.
श्लिष्टार्थ दीपक–३२७.
श्लेषोपमा–३२६.
श्लोकार्ध प्रतिलोम यमक–३७८.

ष

षडर चक्र–३८४.

स

संकीर्ण–२३९.
संक्षेप गुण–१७०.
संगीत–३९२.
संघटना–११४, १५६-१६०.
संघात—१८५, २१९, २२५.
संचारी भाव–३६०.
संप्रस्थान–२३५.
संवेग–७६, ३३४.
संशय–३०३.
संसृष्टि–परिभाषा एवं स्वरूप ३७१-३७२.
संस्कृत–९७, १०४, १२२, १२४, २३२, २३५-२४०.
सकल कथा–२२९.
एस्० के० वेलवलकर–४५.
सतृणाभ्यवहारी–९२-९३, २४३, २५३.
सन्त (काव्यालोचक)–८९, ९०.
सन्दानितक–२१९.
समता (गुण)–१३३, १५१, १५३, १५४, १६१, १८०, ३९८.
समवकार–२३५.
समाज (सरस्वती-समाज)–९७, ११८, १२१-१२२.
समाधि (गुण)–४३, १०५, १४०-१४१, १६५, १७०, १७३-१७९, १८०, २९०-२९१, २९२, ३९८.
समाधि-उक्ति–२९०, २९१.
समानरूपा प्रहेलिका–३८६.
समानोपमा–३२६.
समास–३०६, ३०७, ३०८.
समासान्त पद–३३३.
समासोक्ति २५९, ३५१, परिभाषा ३६९, ३७०, ३८६, ३८७, ४०७.
समाहित–१७५, १७६, २९०, २९१, २९२, ३७१.
समुचिताख्यात–३३५.
समुच्चय–२८०, ३०३, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३०८-३१३, ३१४. ३१६-३१९.
समुच्चयोपमा–३१७.

समुद्रगुप्त—६६, १३०, ३९४, ४२३, ४२४, ४२६, ४२७, ४२८, ४३०.
सम्पाठ्य—२१२.
सरस्वती—११८-१२२, १२४, ४०८.
सरस्वतीकंठाभरण—१०६, २०१, २८५, २९९, ३९६.
सर्ग—१९५, पुराण संज्ञा का नये अर्थ में व्यवहार १९६.
सर्गबन्ध—१८७, १९६, २१७, २२९.
सर्वतोभद्र—३८३.
सर्वसेन—६६.
ससंदेह—२७०, ३०३.
सहज वस्तु-वक्रता—२९४.
सहोक्ति—२७४, २८०, ३५१.
सातवाहन—१९९, २००.
सात्वती वृत्ति—९८, १००.
साधर्म्यमूलक अलंकार—२९५.
साधारणी—२३९.
साधारणीकरण—७६.
साम्य—३०३.
साहित्यदर्पण—४२, २९१, ४३२.
साहित्यमीमांसा—४०, २५०, २९२-२९४, २९७, ३००, ३०३, ३०४, ३३७, ३६५.
साहित्यविद्या—९४, ११५, १२६.
सिद्धान्त कौमुदी—३३४.
सियवसलकर—३७, ३९५.
सुकुमार (मार्ग)—१६५, १६६.
सुकुमारता (गुण)—१३६-१३७, १४९, १५१, १५३, १५४, १६१, १६६, १७०, १८०, ३९८, ४१२.
सुखावह द्रव्य समुच्चय (अलंकार)—३४८.
सुन्दर वर्मा—४२३.
सुबन्त पद—३३३.
सुभाषित रत्नकोष—७१ (पा० टि०).
सुशब्दता (गुण)—१५३, १७०.
सुशीलकुमार डे—४२, ४०९, ४१०.
सूक्ति (सुभाषित)—६५-७५, ७६, ८३, ८४, ९१, ९४, १०५, ११२, ११३, ११५, १३०, १८२, ३०३, ३३३, ३३९, ३४०, ३९४.
सूक्ति-मुक्तावली—७१ (पा० टि०).
सूक्तिरस—७०, ७२.
सूर्य—५३, ५४.
सूक्ष्म (अलंकार)—२२०.
सेतुबन्ध—६५, १०४, १८८, १९७, २०९, २१७, २२७, २३०, २३७, ३३१, ३३७, ३४७, ३७६, ४०९, रचयिता कौन ४२७-४२९, ४३०.
सोम—५२-५४, १४५.
सोमदेव—१९९.
सौभाग्य (गुण)—१६५.
सौशब्द्य काव्य—३४, ८०, ८१, ८३, ८४, ९४, १५५, १५६, १५९, १६१, १६२, १७०, १८२, २७३, ३००, ३७५, ३७९, ३९८.
स्कन्ध—१८७, २३७.
स्कन्धक—१८७, २३३.
स्फोट—२६५.
स्वतःसम्भवी वस्तु - व्यंग्य—२२१.
स्वप्नवासवदत्त—२१४.
स्वभावोक्ति—१०५, ११०, १७१,

१८२, २५६, अलंकार-उद्भावना का मूल २७०-३००, ३०३, ३३२.
स्वभावोक्ति (अलंकार)—३१९-३२०, ३२१, ३३४, दीपक के साथ तुलनात्मक विवेचन ३३८-३४१, ३४४, ३४५, ३५०, ३५१, ३५५, ४१२-४१३.
स्वयम्भू—३८, २१८, २४०, ४३१.

ह

हरिनाथ (टीकाकार)—४५.
हरिवंशपुराण—३८, ३९५.
हर्ष (नृप)—१२८.
हर्षचरित—१०२, २३२.
हास्य रस—१५५, ३६५.
हिन्दी—९५, १७९.
हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स (काणे, डे)—४२, ४१०.
हृदयंगमा (टीका)—४५.
हृदयदर्पण—११०.
हेतु अलंकार—२२०.
हेमचन्द्र—१९०, १९७, २०२, २०३, २२२-२२३, २२७, २३५.

•